जैन विश्वभारती संस्थान

लाडनूँ – 341306 (राजस्थान)

दूरस्थ शिक्षा निदेशालय

एम.ए. (पूर्वार्द्ध)

जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म–दर्शन

तृतीय पत्र

ध्यान योग एवं कर्म मीमांसा

---

laoxZ-I % tSu ;ksx

laoxZ-II % izs{kk/;ku dk Lo:i

laoxZ-III % ikratty ,oa ckS) ;ksx

laoxZ-IV % deZ dk Lo:i

laoxZ-V % deZ vkSj iqutZUe

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विशेषज्ञ समिति

प्रो. दयानन्द भार्गव
पूर्व विभागाध्यक्ष संस्कृत
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. अरूण मुखर्जी
पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शन
जादवपुर विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. कुसुम जैन
विभागाध्यक्ष, दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

डॉ. विमला भण्डारी
पूर्व विभागाध्यक्ष दर्शन
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर (राज.)

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

प्रो. समणी चैतन्यप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष, जैनविद्या विभाग
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

प्रो. समणी ऋजुप्रज्ञा
विभागाध्यक्ष
प्राच्यविद्या एवं भाषा विभाग,
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूँ

डॉ. समणी शुभ प्रज्ञा
सहायक आचार्य
दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

लेखक दलः

प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं

डॉ. समणी स्थितप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

मुनिश्री चन्द्र 'कमल'
लाडनूं

साध्वी यशोधरा
साध्वी सिद्धप्रज्ञा

समणी जयन्तप्रज्ञा
समणी शारदाप्रज्ञा

समणी डॉ. हिमप्रज्ञा
सहा. प्रोफेसर, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं

समणी चिन्मयप्रज्ञा
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय
लाडनूं

डॉ. अशोक कुमार जैन
सह–आचार्य, जैनविद्या
बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

प्रो. जिनेन्द्र जैन
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. जे.आर. भट्टाचार्य
विभागाध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत
जैन विश्वभारती वि.वि., लाडनूं

प्रो. हरिशंकर पाण्डेय
सह–आचार्य, संस्कृत एवं प्राकृत
डॉ. सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय
वाराणसी

प्रो. आनन्द प्रकाश त्रिपाठी
निदेशक, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय लाडनूं

सम्पादक मण्डल– 1. प्रो. समणी चैतन्य प्रज्ञा
विभागाध्यक्ष – जैनविद्या विभाग,
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

2. डॉ. समणी शुभप्रज्ञा
सहायक–आचार्य, दूरस्थ शिक्षा निदेशालय
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूं

कॉपीराइट :
जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनूँ –341306 (राजस्थान)

संस्करण : 2016

मुद्रण संख्या : ...

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विषयानुक्रमणिका

संवर्ग	पाठ	पृष्ठ संख्या
संवर्ग–1	**जैन योग**	1–5
	इकाई–1. जैन योग स्वरूप	
	इकाई–2. हरिभद्र की योग दृष्टियाँ	6–12
	इकाई–3. ध्यान का स्वरूप	13–19
	इकाई–4. सालम्बन ध्यान एवं धारणा (पिण्डस्थ एवं पार्थिवी आदि)	20–26
संवर्ग–2	**प्रेक्षाध्यान के स्वरूप**	
	इकाई–5. प्रेक्षाध्यान	27–40
	इकाई–6. प्रेक्षाध्यान के आगमिक स्रोत	41–52
	इकाई–7. अनुप्रेक्षा	53–65
	इकाई–8. लेश्या का स्वरूप एवं भेद	66–77
संवर्ग–3	**पतंजलि एवं बौद्ध योग**	
	इकाई–9. योग का स्वरूप	78–84
	इकाई–10. सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि	85–89
	इकाई–11. क्रियायोग	90–96
	इकाई–12. अष्टांग योग	97–104
	इकाई–13. समाधि की अवधारणा और भेद	105–111
	इकाई–14. दस पलिबोध एवं चर्या	112–118
	इकाई–15. ध्यान का विषय कर्मस्थान	119–124
संवर्ग–4	**कर्म के स्वरूप**	
	इकाई–16. कर्म स्वरूप, बंध के हेतु एवं प्रक्रिया	125–145
	इकाई–17. कर्म के भेद प्रभेद	146–155
	इकाई–18. कर्म की पौद्गलिकता एवं कर्म की दस अवस्थाएं	156–171
	इकाई–19. आत्मा एवं कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध एवं मुक्ति की प्रक्रिया	172–180
संवर्ग–5	**कर्म और पुनर्जन्म**	
	इकाई–20. कर्मवाद और आध्यात्मिक साधना	181–205
	इकाई–21. मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कर्मवाद	206–218
	इकाई–22. कर्मवाद और पुनर्जन्म	219–234
	इकाई–23. नियति आदि पांच घटक	235–250
	इकाई–24. गुणस्थान	251–257

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–1 : जैन योग

इकाई–1 : जैन योग स्वरूप

संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 प्राग्ऐतिहासिक अवशेष व साधना
1.3 प्राचीन साहित्य में योग साधना
1.4 जैन साधना पद्धति : आगमि व दार्शनिक आधार
1.5 जैन साधना पद्धति का आगमेतर साहित्य
1.6 जैन पद्धति का ऐतिहासिक सिंहावलोकन
1.7 जैन योग का द्वितीय युग
1.8 जैन योग का तृतीय युग
1.9 जैन योग का चतुर्थ युग
1.10 योग का वर्तमान युग
1.11 सारांश
1.12 अभ्यास प्रश्नावली

1.0 प्रस्तावना

विश्व में अनेक धार्मिक परम्पराएं हैं। प्रत्येक की अपनी-अपनी धारणाएं और मान्यताएं हैं। एक बात सामान्य रूप से सबके साथ जुड़ी हुई है और वह है साधना पद्धति। कोई भी धार्मिक परम्परा ऐसी नहीं है जिसकी अपनी साधना पद्धति न हो। बौद्ध साधना पद्धति का नाम है विशुद्धि मार्ग। सांख्य दर्शन की साधना पद्धति का नाम है अष्टांग योग और जैन साधना पद्धति का नाम है मोक्ष मार्ग। ये नाम भिन्न–भिन्न हैं पर तात्पर्य से भिन्नता नहीं है।

1.1 उद्देश्य– इन सबका उद्देश्य है चित्त को निर्मल करना, मनुष्य को अन्तर की गहराइयों में ले जाना।

1.2 प्राग्ऐतिहासिक अवशेष व साधना

वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में भारतीय पुरातत्त्व विभाग की ओर से सिन्धु प्रान्त के लरकाना जिले में तथा पश्चिमी पंजाब के मान्टगुमरी जिले में जो महत्त्वपूर्ण खुदाई एवं खोज-शोध हुई है उससे भारत में एक अत्यन्त प्राचीन एवं उत्कृष्ट नागरिक सभ्यता के अस्तित्व पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा है। सिन्धु घाटी की मोहनजोदड़ो (मुर्दों का टीला) नाम से विख्यात उक्त सभ्यता ऐतिहासिक रूप से मानव की प्राचीनतम सभ्यता मानी जाती है। वैज्ञानिकों के मतानुसार इस सभ्यता का जीवनकाल ई.पू. 6000 से लेकर 2500 ई.पू. वर्ष तक रहा प्रतीत होता है।[1] मोहनजोदड़ो का काल प्राग्वैदिक है।[2]

मोहनजोदड़ो के अवशेषों में नग्न पुरुषों की आकृतियों से अंकित मुद्राएं बहु संख्या में मिलती हैं। जान मार्शल के अनुसार वे प्राचीन योगियों की मुद्राएं हैं।[3] अन्य विद्वानों के भी समान मत प्राप्त होते हैं—मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त एक मुद्रा पर अंकित चित्र में त्रिशूल, मुकुट विन्यास, नग्नता, कायोत्सर्ग मुद्रा, नासाग्र दृष्टि एवं ध्यानावस्था में लीन मूर्तियों से ऐसा सिद्ध होता है कि ये मूर्तियां किसी मुनि या योगी की हैं जो ध्यान में लीन हैं।[4] रामप्रसाद चांदा का कथन है—"सिन्धु घाटी की अनेक मुद्राओं में न केवल बैठी हुई देवमूर्तियां योग मुद्रा में है और उस सुदूर अतीत में सिन्धु घाटी में योगमार्ग के प्रचार को सिद्ध करती हैं। बल्कि खड्गासन देवमूर्तियां भी कायोत्सर्ग मुद्रा में हैं। वह कायोत्सर्ग ध्यान मुद्रा विशिष्टतया जैन हैं।"[5]

---

1 भारतीय इतिहासः एक दृष्टि (1966), डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, द्वितीय संस्करण
2 History of Anciant India : page 25
3 भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (1966)
4 Mohanjodaro and the civilizations: Part I, page 53
5 भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (1966)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.3 प्राचीन साहित्य में योग-साधना

भारतीय वाङ्मय में योग साधना विषयक विचार अपने मूलरूप में अत्यन्त प्राचीन हैं। अथर्ववेद में योग द्वारा प्राप्त अलौकिक शक्तियों का वर्णन, कठ-तैतिरियादि उपनिषदों में योग की परिभाषा, महाभारत, गीता तथा बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित योग विषयक सामग्री से योग-साधना की प्राचीनता एवं अतिव्यापकता का अनुमान सहज ही लग जाता है। महर्षि पतंजलि ने योग की सुव्यवस्थित और सर्वग्राही पद्धति प्रस्तुत की। उनका योग दर्शन बहुत प्रसिद्ध हुआ। उसकी प्रसिद्धि ने प्रत्येक साधना पद्धति के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि अमुक धर्म में योग है या नहीं? ध्यान की पद्धति है या नहीं? जैन परम्परा की साधना पद्धति का 'नाम' योग नहीं है। उसका नाम मोक्षमार्ग है। पर जैन परम्परा में 'योग' शब्द मिलता है। जैन आगम साहित्य में 'ध्यान योग' 'समाधि-योग' और 'भावना योग'—इस प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। फिर भी योग शब्द को जितना उत्कर्ष और महत्त्व पतंजलि के योग दर्शन के बाद मिला उतना संभवत: पहले नहीं मिला।

1.4 जैन साधना पद्धति : आगमिक व दार्शनिक आधार

जैन साधना पद्धति का नाम मोक्ष-मार्ग रहा है। उसके तीन अंग हैं—1. सम्यग् दर्शन 2. सम्यग् ज्ञान एवं 3. सम्यग् चारित्र। उत्तराध्ययन के 28वें अध्ययन में मोक्ष-मार्ग का संक्षिप्त किन्तु व्यवस्थित प्रतिपादन है। उसके 29, 30, 32वें अध्ययन में भी साधना पथ के निर्देश हैं। प्राचीन आगमों में आचारांग का स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है उसमें जैन धर्म की साधना का बहुत सूक्ष्म व मार्मिक प्रतिपादन है। सूत्रकृताङ्ग. व भगवती में भी भावना, आसन व ध्यान आदि के निर्देश मिलते हैं। औपपातिक में तपोयोग का व्यवस्थित प्रतिपादन है। तपोयोग सम्यक् चारित्र का ही एक प्रकार है। आगम साहित्य में साधना तत्त्वों के बीज मिलते हैं उनका विस्तार व प्रक्रियाएं प्राप्त नहीं हैं। विधि-तंत्र प्राप्त नहीं है।

जैन योग का दार्शनिक आधार है—द्वन्द्वात्मक अस्तित्व का स्वीकार। आत्मा और पुद्‌गल (पदार्थ) दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। यह स्वीकृति जैन साधना पद्धति का मूल आधार है। संसारी आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में नहीं है, वह पुद्‌गल से जुड़ी हुई है। यही उसकी अशुद्धि है। इस अशुद्धि को दूर कर मूल आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाना, जैन साधना पद्धति का साध्य या लक्ष्य है। इसे ही मोक्ष कहा गया है।

इसकी साधना पद्धति को मोक्ष मार्ग कहा गया है। इसके चार अंग बताये गये हैं—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।[1] इन चारों द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है, इसलिए इनके समवाय को मोक्ष का मार्ग कहा गया है। जैनदर्शन ज्ञान योग, भक्ति योग (श्रद्धा), कर्मयोग (चारित्र और तप)—इन तीनों को संयुक्त रूप में मोक्ष का मार्ग मानता है, किसी एक को नहीं। इस चतुरंग मार्ग को प्राप्त करने वाले जीव ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

मोक्ष प्राप्ति का पहला साधन है—ज्ञान। ज्ञान पांच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवल। ज्ञान के विषय हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय। द्रव्य छ: हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, काल, पुद्‌गलास्तिकाय और जीवास्तिकाय। गुण और पर्याय अनन्त हैं।

मोक्ष-प्राप्ति का दूसरा साधन दर्शन है। उसका विषय है तत्त्व की उपलब्धि। वे नौं हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष।

मोक्ष प्राप्ति का तीसरा साधन चारित्र है। वे पांच हैं: 1. सामायिक चारित्र, 2. छेदोपस्थापनीय चारित्र, 3. परिहार-विशुद्धि चारित्र, 4. सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र, 5. यथाख्यात चारित्र।

मोक्ष प्राप्ति का चौथा साधन तप है—वह दो प्रकार का है—बाह्य और आभ्यंतर। प्रत्येक के छह-छह विभाग हैं।

बाह्य तप—अनशन, ऊनोदरी, वृत्ति-संक्षेप, रस-परित्याग, काय-क्लेश और प्रतिसंलीनता।

आभ्यन्तर तप—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग।

दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं आता। चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना निर्वाण नहीं होता।[2] ज्ञान से तत्त्व जाने जाते हैं। दर्शन से उन पर श्रद्धा होती है। चारित्र से आश्रव का निरोध होता है। तप से शोधन होता है।[3] जब आत्म-शोधन पूर्ण होता है तब जीव सिद्ध-गति को प्राप्त हो जाता है।

---

[1] उत्तरज्झयणाणि – 28/2

[2] उत्तरज्झयणाणि – 28/30

[3] उत्तरज्झयणाणि – 28/35

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.5 जैन साधना पद्धति का आगमेतर साहित्य

शताब्दी	ग्रन्थकर्त्ता	ग्रन्थ
प्रथम	आचार्य कुन्दकुन्द	समयसार, प्रवचनसार
दूसरी-तीसरी	आचार्य उमास्वाति	तत्त्वार्थसूत्र
चौथी-पांचवीं	भद्रबाहुस्वामी (द्वितीय)	आवश्यकनिर्युक्ति का कायोत्सर्ग-अध्ययन
चौथी-पांचवीं	पूज्यपाद देवनंदि	समाधि-तंत्र, इष्टोपदेश
छठी	जिनभद्रगणि	ध्यान शतक
आठवीं	आचार्य हरिभद्र	योग बिन्दु, योगदृष्टि समुच्चय, योगशतक, योगविंशिका
नवीं	आचार्य जिनसेन	महापुराण (में यत्र तत्र सामग्री)
ग्यारहवीं	आचार्य रामसेन	तत्त्वानुशासन
ग्यारहवीं	आचार्य शुभचन्द्र	ज्ञानार्णव
ग्यारहवीं	सोमदेव सूरि	योगसार
बारहवीं	आचार्य हेमचन्द्र	योगशास्त्र
तेरहवीं	पंडित आशाधरजी	अध्यात्म रहस्य
पन्द्रहवीं	सुन्दरसूरि	अध्यात्म कल्पद्रुम
अठारहवीं	विनयविजयजी	शान्तसुधारस
अठारहवीं	उपाध्याय यशोविजय जी	अध्यात्मोपनिषद् अध्यात्मसार योगावतार द्वात्रिंशिका
उन्नीसवीं	जयाचार्य	बड़ो ध्यान, छोटो ध्यान
बीसवीं	आचार्यश्री तुलसी	मनोनुशासनम्
इक्कीसवीं	आचार्यश्री महाप्रज्ञ	जैनयोग एवं इससे सम्बन्धित लगभग 60 पुस्तकें

1.6 जैन साधना पद्धति का ऐतिहासिक सिंहावलोकन

भारतीय साधना पद्धतियों में योग-साधना और उसके अन्तर्गत ध्यान साधना का महत्त्व विशेष रूप से रहा है। जैनागमों में योग के अर्थ में अधिकतर ध्यान शब्द प्रयुक्त हुआ है। ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन अनेक जैनागमों में मिलता है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार जैन परम्परा में ध्यान विषय को चार भागों में विभक्त किया जा सकता है[1]:—1. भगवान् महावीर से आचार्य कुन्दकुन्द तक (विक्रम की प्रथम शताब्दी तक), 2. आचार्य कुन्दकुन्द से आचार्य हरिभद्र तक (विक्रम की आठवीं शताब्दी तक), 3. आचार्य हरिभद्र से आचार्य यशोविजय तक (विक्रम की अठारहवीं शताब्दी तक), 4. आचार्य यशोविजय से आज तक (विक्रम की अठारहवीं शताब्दी से आज तक)

पहले युग में ध्यान की मौलिक पद्धति प्राप्त थी—कायोत्सर्ग, भावना, विपश्यना और विचय। इन चार तत्त्वों के आधार पर समूची ध्यान की प्रक्रिया चलती थी। यह पद्धति धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान—इन दो भागों में विभक्त थी। भगवान् महावीर स्वयं ध्यान करते थे। उन्होंने साढ़े बारह वर्ष तक के साधना काल में अधिकांश समय ध्यान में बिताया।[2] अनेक दिनों तक निरन्तर ध्यान किया। भगवान् महावीर के समय मुनि भी उपरोक्त पद्धति से ध्यान करते थे। उनके सैकड़ों शिष्य केवलज्ञानी, अवधिज्ञानी और मन:पर्यवज्ञानी थे। पूर्वजन्म की स्मृति वाले श्रमणों और श्रमणोपासकों की संख्या बहुत बड़ी थी। सैंकड़ों-सैंकड़ों की संख्या में लब्धिधर (योगविभूति-सम्पन्न) मुनि थे। चतुर्दशपूर्वी मुनि भी बहुत थे। ध्यान की विशिष्ट साधना के बिना ये उपलब्धियां संभव नहीं थीं। भगवान् के निर्वाण की दूसरी शताब्दी तक यह क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। बाद में परिवर्तन का क्रम प्रारम्भ हो गया।

1 महावीर की साधना का रहस्य

2 आयारो 9/2/4

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिवर्तन के कुछ कारण बनें—प्राकृतिक प्रकोप, राजनैतिक उथल-पुथल व संघ-सुरक्षा का प्रश्न। परिवर्तन का प्रारम्भ वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। उस समय बारह वर्षीय भयंकर अकाल पड़ा। हजारों मुनि जो श्रुत के पारगामी थे वे अनशन कर दिवंगत हो गये। जैन संघ में बहुत बड़ी रिक्तता आ गई। नंद वंश ओर मौर्य वंश के बाद जैन संघ के लिए उतनी अनुकूलता नहीं रही जो पहले थी। इससे भी साधना की चालू परम्परा में व्यवधान उत्पन्न हुआ। वीर निर्वाण की चौथी-पांचवीं शताब्दी में महर्षि गौतम का न्याय-दर्शन और महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन स्थापित हुआ। इन दर्शनों की स्थापना से 'दर्शन युग' या सूत्रयुग का प्रारम्भ हो गया। परस्पर शास्त्रार्थ होने लगे। वाद-विवाद को मान्यता प्राप्त हो गई। अन्य धर्मसंघ अपने-अपने धर्म संघ के विस्तार के लिए दूसरे धर्मसंघों पर प्रहार करने लग गये।

1.7 जैन योग का द्वितीय युग

उपरोक्त तीनों कारणों का दीर्घकालीन परिणाम यह हुआ कि जैन संघ जो ध्यान-प्रधान था वह श्रुत की रक्षा के लिए स्वाध्याय-प्रधान हो गया। जो अध्यात्मवादी था वह संघ प्रधान हो गया। इन सब स्थितियों ने कुल मिलाकर जैन मुनियों को संघ विकास में प्रवृत्त कर दिया। शक्ति का अर्जन और प्रदर्शन दोनों प्रतिष्ठित हो गये। फलत: संघ को शक्ति सम्पन्न करने वाली आचार्यों की परम्परा चली। ध्यान का स्थान शास्त्रीय ज्ञान, विद्या और मंत्रों ने ले लिया। आत्म-ज्ञान, विपश्यना या निर्जरा की धारा चमत्कार की दिशा में मुड़ने लगी। वीर निर्वाण की चौथी-पांचवीं शताब्दी के बाद ध्यान का स्थान विद्याएं लेती गईं।

ध्यान की मौलिक परम्परा फिर भी पूर्णरूप से लुप्त नहीं हुई। कुछ महामुनि ध्यान की धारा पर भी बल देते रहे। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण (वि.सं. छठी शताब्दी) ने ध्यान शतक की रचना की। पूज्यपाद ने 'समाधि तंत्र' और 'इष्टोपदेश:'—ये दो ग्रन्थ लिखें। आचार्य कुन्दकुन्द, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण और पूज्यपाद के ग्रन्थों में ध्यान की मौलिक पद्धति सुरक्षित है। कोई मिश्रण नहीं है। वे किसी अन्य परम्परा से प्रभावित नहीं है।

1.8 जैन योग का तृतीय युग

तंत्र की शाखा भारतवर्ष में बहुत पुरानी थी। विक्रम की दसवीं शताब्दी में गोरखनाथ हुए। उन्होंने हठयोग का प्रवर्तन किया। इसके प्रवर्तन के साथ तंत्रशास्त्र के प्रति जनता का आकर्षण बढ़ा। जनता का झुकाव तंत्र, मंत्र और हठयोग की ओर अधिक होने लगा। इस स्थिति से बचना किसी भी परम्परा के लिए कठिन था। जैन परम्परा भी उससे नहीं बच सकी। उसकी ध्यान की मौलिक धारा निर्जरा अर्थात् विशुद्ध अध्यात्म के लिए थी। वह धीरे-धीरे छूटती गयी। उसमें नया प्रवेश होता चला गया।

आचार्य हरिभद्र (विक्रम आठवीं शताब्दी) ने महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की पद्धति को जैन साधना पद्धति के साथ जोड़ा। उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ। कुछ बातें नई जुड़ी। आचार्य हरिभद्र के पश्चात् जप की प्रतिष्ठा बढ़ गई। उनके उत्तरकाल में 'नमस्कार महामंत्र कल्प', 'पद्मावती कल्प', 'भैरव कल्प', 'शत्रुञ्जय कल्प' आदि अनेक कल्पों एवं जप विधियों का निर्माण हुआ। 'चौदह पूर्व' (बारहवां आगम साहित्य) के अन्तर्गत विद्याओं और मंत्रों का विशद् विवेचन था, किन्तु वह साधना पद्धति के साथ जुड़ा हुआ नहीं था। उसका उद्देश्य निर्वाण नहीं था। उसका उद्देश्य था लौकिक शक्तियों का विकास। लौकिक शक्ति चाहने वाले विद्या और मंत्रों का जाप किया करते थे। किन्तु निर्वाण साधना के लिए जप निषिद्ध था।

विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में योग के कुछ प्रसिद्ध आचार्य हुए। आचार्य शुभचन्द्र ने 'ज्ञानार्णव' और आचार्य हेमचन्द्र ने 'योगशास्त्र' की रचना की। आचार्य सोमदेव ने 'यशस्तिलक चम्पू' में योग की विशद चर्चा की। आचार्य रत्नशेखर ने गुणस्थान क्रमारोह लिखा। इन सबके अध्ययन से जैन साधना पद्धति में बहुत बड़े-बड़े परिवर्तन का बोध होता है। ज्ञानार्णव और योगशास्त्र में पिंडस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—इन चारों ध्यानों को धर्म्य ध्यान के अवान्तर भेद के रूप में मुख्यता प्राप्त हो गई। इसी प्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं वैराग्य भावना का स्थान, पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी और मारुती—इन धारणाओं ने ले लिया। यह परिवर्तन हठयोग और तंत्रशास्त्र के प्रति जनता के आकर्षण को सूचित करता है। इस प्रवाह में जैन आचार्यों ने भी लौकिक ध्यान को पूर्णत: आत्मसात् कर लिया। जब मंत्रशक्ति का अतिमात्रा में उपयोग होने लगा तब उसके उपयोग पर भी नियंत्रण किया जाने लगा। इन शताब्दियों में उसका भी प्राय: लोप सा हो गया। ध्यान का रहस्य पहले ही हाथ से छूट गया था। इन दो-तीन शताब्दियों में मंत्र का रहस्य भी हाथ से निकल गया।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

1.9 जैन योग का चतुर्थ युग (वि. 16वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी तक)

इन विगत चार-पांच शताब्दियों में जैन साधना पद्धति पर भक्तिमार्ग का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। योगी आनन्दघनजी ने अनेक स्तवन लिखे। यह जैन साधना पद्धति में नया उन्मेष था। वे भक्तिमार्गी वैष्णवी धारा से प्रभावित हुए हैं। दूसरे योगी चिदानन्द जी शैव साधना से प्रभावित थे। उन्होंने स्वरोदय और पवन-विजय का विस्तृत वर्णन किया। यह उनकी साधना के मुख्य अंग थे। विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी में जयाचार्य हुए। उन्होंने ध्यान का गहरा अभ्यास किया था। उनकी देशी भाषा में दो महत्त्वपूर्ण कृतियां मिलती हैं—बड़ों ध्यान और छोटो ध्यान। उन्होंने भी अनेक स्तवन लिखें।

1.10 योग का वर्तमान युग

वर्तमान युग वैज्ञानिक युग कहलाता है। इसमें अनुसंधान, प्रयोग और परीक्षण पर अधिक बल दिया जाता है। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आचार्यश्री तुलसी ने विलुप्त जैन योग परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया। उन्होंने संस्कृत की सूत्रात्मक शैली में 'मनोनुशासनम्' नामक ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ के लघु कलेवर में 2500 वर्ष की विशाल एवं समृद्ध परम्परा को समेटा। उन्होंने अपने उत्तराधिकारी आचार्यश्री महाप्रज्ञ को जैन साधना पद्धति के पुनरुद्धार के लिए प्रेरित किया। आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने तेरह वर्ष के दीर्घकालीन शास्त्रों के दोहन, तथ्यों के समाकलन, पद्धति का निर्धारण, वैज्ञानिक तथ्यों के साथ तुलना, प्रयोग एवं अनुभव के आधार पर प्रेक्षाध्यान पद्धति का विकास किया। प्रेक्षाध्यान पद्धति जैन साधना पद्धति के मौलिक स्वरूप का पुनरुद्धार है। आपकी योग एवं ध्यान सम्बन्धी पचास से अधिक पुस्तकें उपलब्ध हैं। जिनमें मुख्य हैं—जैन योग, अप्पाणं शरणं गच्छामि, चेतना का ऊर्ध्वारोहण, महावीर की साधना का रहस्य, अपना दर्पण : अपना बिम्ब, तब होता है ध्यान का जन्म, अध्यात्म विद्या आदि। इस प्रकार जैन साधना पद्धति युगानुरूप अनेक उतार-चढावों को झेलते हुए पुनः अपने मूल स्वरूप की ओर बढ़ रही है।

1.11 सारांश

जैन साधना पद्धति में परिवर्तन व नए उन्मेष को लक्ष्य में रखकर कुछ चर्चा की गई। इनके अतिरिक्त समय-समय पर जैन शासन की सभी परम्पराओं में अनेक अध्यात्म योगी साधक हुए। उन्होंने अध्यात्म की विशिष्ट साधना की। कुछ गृहस्थ साधकों में भी श्रीमद् राजचन्द्र जैसे महान् साधक हुए हैं। उनकी साधना के अनुभव आज भी अध्यात्म साधना के जागरण में महान् प्रेरणा देते हैं।

1.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैन योग के स्वरूप का विश्लेषण करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. जैनसाधना पद्धति का आगमिक व दार्शनिक आधार बताएं।

ख. प्राग् ऐतिहासिक अवशेष व साधना के बारे में संक्षिप्त विवेचन करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रवचनसार के कर्त्ता .... हैं।
2. आचार्य रामसेन द्वारा रचित ग्रन्थ .... है।
3. शान्तसुधारस ...... शताब्दी की रचना है।
4. आचार्य उमास्वाति का प्रसिद्ध ग्रन्थ कौन-सा है?
5. योगशास्त्र के रचनाकार कौन हैं?
6. छठी शताब्दी में योग के कौन-से ग्रन्थ की रचना हुई?
7. भगवान् के निर्वाण की .... तक यह क्रम अविच्छिन्न रूप से चलता रहा।
8. कौन-से आचार्य ने महर्षि पतंजलि के योगदर्शन की पद्धति को जैन साधना पद्धति के साथ जोड़ा।
9. लौकिक शक्ति चाहने वाले .... का जाप किया करते थे।
10. तंत्र की शाखा .... में बहुत पुरानी थी।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–2 : हरिभद्र की योग दृष्टियां

संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 योग शब्द एवं उसका अर्थ
2.3 जैन योग और आचार्य हरिभद्र
2.4 आचार्य हरिभद्र और योग दृष्टि समुच्चय
2.5 जैन -योग और अध्यात्म विकास
2.6 गुणस्थानों का वर्गीकरण
2.7 योग दृष्टियां
2.8 सारांश
2.9 अभ्यास प्रश्नावली

2.0 प्रस्तावना

'योग' शब्द भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की बहुमूल्य सम्पत्ति है। योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है जो प्राय: सभी धर्मों तथा दर्शनों में स्वीकृत है। अनेकता में एकता की खोज है। यह ऐसी आध्यात्मिक साधना है जिसे कोई भी बिना किसी वर्ण, जाति, वर्ग या धर्म-विशेष की अपेक्षा के अपना सकता है। राष्ट्रीय विविधता में एकता को पुष्ट कर सकता है। प्राचीन भारतीय धर्म, पुराण, इतिहास आदि के अवलोकन से ज्ञात होता है कि योग-प्रणाली की परम्परा अविच्छिन्न रूप में चलती आयी है। वैदिक तथा श्रमण वाङ्मय में आध्यात्मिक वर्णन बहुलता से पाया जाता है।

2.1 उद्देश्य–इनका अंतिम साध्य उच्च अवस्था की प्राप्ति है और योग उसका एक साधन है।

2.2 'योग' शब्द एवं उसका अर्थ

'योग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत-व्याकरण में दो युज् धातुओं का उल्लेख है, जिनमें एक का अर्थ जोड़ना या संयोजित करना है तथा दूसरे का समाधि, मन:स्थिरता है। अर्थात् सामान्य रीति से योग का अर्थ सम्बन्ध करना तथा मानसिक स्थिरता करना है। इस प्रकार लक्ष्य तथा साधन के रूप में दोनों ही योग हैं। इस शब्द का उपयोग भारतीय योगदर्शन में दोनों अर्थों में हुआ है।

भारतीय दर्शन का अंतिम उद्देश्य मुक्ति की प्राप्ति है और उसके लिए योगदर्शन, बौद्धदर्शन तथा जैनदर्शन में क्रमश: कैवल्य, निर्वाण तथा मोक्ष शब्द का प्रयोग हुआ है, जो अर्थ की दृष्टि से समान ही हैं। विभिन्न दर्शनों के विभिन्न मार्ग होने पर भी फलितार्थ सबका एक ही है, क्योंकि चित्तवृत्तियों के निरोध के बिना न मोक्षमार्ग उपलब्ध होता है, न आत्मलीनता सधती है। अत: चञ्चल मन:प्रवृत्तियों को रोकना अथवा उनका नियंत्रण करना सभी दर्शनों का उद्देश्य रहा है।

योगदर्शन के भाष्यकार महर्षि व्यास ने 'योग:समाधि' कहकर योग को समाधि के रूप में ग्रहण किया है, जिसका अर्थ है समाधि द्वारा सच्चिदानन्द का साक्षात्कार।

बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ समाधि किया है, तथा तत्त्वज्ञान के लिए योग का प्रयोजन बताया है। बौद्ध-विचारक ईश्वर और नित्य आत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, तथापि दु:ख से निवृत्ति और निर्वाण-लाभ उनका प्रयोजन रहा है।

जैनों के अनुसार शरीर, वाणी तथा मन के कर्म का निरोध संवर है और यही योग है। यहां पतंजलि का 'योग' शब्द 'संवर' शब्द का समानार्थक ही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.3 जैन योग और आचार्य हरिभद्र

भारतीय संस्कृति में आध्यात्मिक दृष्टि से निवृत्तिपरक विचारधारा का अपना मूल्य एवं महत्त्व है। निवृत्ति जैनधर्म का प्राणतत्त्व है। आत्मिक अथवा आध्यात्मिक विकास के लिए निवृत्ति पर विशेष बल दिया गया है और इसके लिए योग नितान्त अपेक्षित है। यही कारण है कि जैन संस्कृति आचार-विचार एवं तपोमूलक प्रवृत्ति को लेकर अपनी विशिष्टता को सुरक्षित रख सकी है। ऋग्वेद में वातरशना मुनि के सम्बन्ध में बताया गया है कि अतीन्द्रियार्थदर्शी वातरशना मुनि मैल धारण करते हैं, जिससे वे पिंगलवर्ण दिखाई देते हैं। जब वे वायु की गति को प्राणोपासना द्वारा धारण कर लेते हैं, अर्थात् रोक लेते हैं, तब वे अपने तप की महिमा से दीप्त होकर देवतास्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि तप अर्थात् योग की परम्परा, जैन संस्कृति में प्रारम्भ से रही है। उपनिषदों में तापस और श्रमण को एक माना गया है। इन तथ्यों से स्पष्ट है कि श्रमणों की तपस्या और योग की साधना अत्यन्त पुरानी है और आध्यात्मिक विकास के लिए अनिवार्य मानी गयी है। मोहनजोदड़ो से प्राप्त कायोत्सर्ग-मुद्रा से युक्त मूर्त्ति तथा पटना के नजदीक लोहानीपुर से प्राप्त नग्न कायोत्सर्ग मूर्त्ति से भी इस बात की पुष्टि होती है।

जैन परम्परा में 'योग' शब्द का पातंजल-योगदर्शनसम्मत सर्वप्रथम प्रयोग आचार्य हरिभद्र द्वारा किया गया है। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए जो धर्म-क्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्म-व्यापार 'योग' है। यम-नियमादि व्यापार जीव के परिणामों की शुद्धि के लिए ही किये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य मन, वचन एवं काय द्वारा अर्जित कर्मों की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचारों का अनुष्ठान उत्तम योग है, क्योंकि इनसे संयम वृद्धि होती है और योग भी आत्मा की ही विशुद्धावस्था का मार्ग है, जिससे जीव को सर्वोच्च अवस्था की प्राप्ति होती है।

2.4 आचार्य हरिभद्र और योग दृष्टि समुच्चय

आचार्य हरिभद्र अपने युग के महान् प्रभावक योगाचार्यों में से एक थे। उन्होंने युग परिवर्तन के साथ-साथ बदलते हुए मानस को समझा और चाहा कि प्राचीन साधना क्रमों को विस्तार दिया जाए। युगीन अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए उन्होंने कुछ नये प्रयोग किये। साधकों के लिए नई दिशाएं और भूमिकाएं प्रदान की। आचार्य हरिभद्रसूरि से पहले वीर निर्वाण तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक ध्यान की मौलिक पद्धति प्रतिपादित होती रही, जो महावीर के युग में प्रचलित थी। उनके रहस्य विस्मृत हो गये थे और विस्तार कम हो गया था। पर जो चल रहा था उसका नया संस्करण नहीं हुआ था। हरिभद्रसूरि ने जैनसाधना पद्धति का नया संस्करण कर दिया।

आचार्य हरिभद्र का दृष्टिकोण अनेकान्त प्रधान था। उन्होंने अपने 'शास्त्रवार्त्ता समुच्चय' में विभिन्न दर्शनों का समन्वय किया। वैसे ही अपने योग ग्रन्थों में विभिन्न साधना पद्धतियों का समन्वय किया। इस समन्वय में उन्होंने जैन साधना पद्धति के सूत्रों (चौदह गुणस्थानों) का महर्षि पतंजलि तथा अन्य यौगिक पद्धतियों के साथ तुलनात्मक स्वरूप प्रस्तुत किया। अपने सर्वग्राही दृष्टिकोण से उन्हें स्वीकृत कर जैन साधना पद्धति को नया रूप दिया। पतंजलि ने अष्टांग योग की पद्धति बतलायी। आचार्य हरिभद्र ने 'योग दृष्टि समुच्चय' में आठ दृष्टियों का निरूपण किया और उनकी अष्टांग योग से तुलना की। पतंजलि के योगदर्शन में समाधि के दो प्रकार निरूपित हैं—सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि। हरिभद्र ने योग के पांच प्रकार बतलाये—अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति संक्षय। प्रथम चार प्रकार की तुलना सम्प्रज्ञात समाधि से और अंतिम प्रकार की तुलना असम्प्रज्ञात समाधि से की। इस प्रकार उन्होंने पतंजलि के योगदर्शन की परिभाषाओं का जैनीकरण किया। दूसरे शब्दों के साथ तुलना करने के लिए नये शब्दों को गढ़ा और दोनों में सामञ्जस्य प्रदर्शित किया। उनके योग ग्रन्थों ने जैन परम्परा में योग की नयी धारा प्रवाहित की।

इसमें 227 संस्कृत पद्य हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है और उनमें अपनी कुछ नवीन विशेषताओं के साथ योगबिन्दु में वर्णित विषयों की पुनरावृत्ति भी की गयी है। योगबिन्दु में वर्णित पूर्वसेवा का वर्णन इसमें योगबीज रूप से हुआ है।

यहां आध्यात्मिक विकास की भूमिकाओं का तीन प्रकार से वर्गीकरण किया गया है। प्रथम प्रकार जिसे योगदृष्टि कहते हैं, इसमें योग की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर उसके अंत तक की भूमिकाओं को क्रमशः दिखलाया गया है। वे आठ दृष्टियां इस प्रकार हैं—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परा। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण के अन्तर्गत इच्छायोग, शास्त्रयोग एवं सामर्थ्य योग को समाहित किया है। तृतीय प्रकार में योगाधिकारी के रूप में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्रयोगी और सिद्धयोगी का वर्णन है। प्रथम वर्गीकरण में निर्दिष्ट आठ योगदृष्टियों में ही 14 गुणस्थानों की योजना कर ली गयी है।

इस ग्रन्थ पर स्वयं ग्रन्थकार ने एक स्वोपज्ञवृत्ति रची है, जो 1175 श्लोकप्रमाण है। इस ग्रन्थ पर एक और वृत्ति की रचना हुई है जिसके लेखक सोमसुन्दरसूरि के शिष्य साधुराजगणि हैं। यह ग्रन्थ 405 श्लोकप्रमाण है।

2.5 जैन-योग और अध्यात्म-विकास

जैनयोग की आधारशिला आत्मवाद है और आत्म-विकास की पूर्णता मोक्ष है। आत्मशक्ति का विकास ही जैन-साधना-पद्धति का फलित है। इस विकासावस्था में जीव का उत्थान-पतन होना स्वाभाविक है। आत्मशक्ति की इस विकसित तथा अविकसित अवस्था को ही जैनयोग में गुणस्थान कहा गया है और क्रमशः गुणस्थानों पर चढ़ना ही आत्मविकास की ओर बढ़ना है। संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो सर्वथा अविकसित हो। विकास की कुछ न कुछ किरण हर आत्मा में विद्यमान रहती है, भले ही वह एकेन्द्रिय हो अथवा अभव्य। इस प्रकार संसारी जीवों में इन्द्रिय-सत्ता की विद्यमानता के कारण गुणस्थान का प्रारम्भ-बिन्दु वही है। शरीरधारी जीवों में ऐसा कोई वर्ग नहीं है जो गुणस्थान से बाहर हो। क्षयोपशमता के कारण विकासावस्था में उत्थान-पतन के क्रमों को पार कर अंत में जीव कर्मों का सम्पूर्ण क्षय करके निर्मल स्थिति को प्राप्त करता है। इन क्रम-प्राप्त अवस्थाओं को ही गुणस्थान कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसी क्रमिक विकास का पारिभाषिक नाम 'गुणस्थान' है। गुणस्थान का अर्थ ही गुणों के स्थान अर्थात् आत्मशक्ति के स्थान अथवा आत्मविकास की अवस्थाएँ हैं।

2.6 गुणस्थानों का वर्गीकरण

जैनधर्म के अनुसार आत्मिक विकास की सीढियाँ या गुणस्थान चौदह हैं—1. मिथ्यादृष्टि, 2. सास्वादन, 3. सम्यग्-मिथ्यादृष्टि, 4. अविरत सम्यग्दृष्टि, 5. देशविरत-विरताविरत, 6. प्रमत्तसंयत, 7. अप्रमत्तसंयत, 8. अपूर्वकरण, 9. अनिवृत्तिकरण, 10. सूक्ष्मसांपराय, 11. उपशान्तमोह, 12. क्षीणमोह, 13. सयोगकेवली और 14. अयोगकेवली। इन चौदह गुणस्थानों में प्रथम तीन का अन्तर्भाव बहिरात्मा में होता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में जीव विविध कषायों से रंजित रहता है। चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान का अन्तर्भाव अन्तरात्मा में होता है, क्योंकि इन अवस्थाओं में आत्मा का उत्थान-पतन-उत्थान होता रहता है। तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का अन्तर्भाव परमात्मा में किया गया है, क्योंकि इन अवस्थाओं में जीव परमात्म अर्थात् चरम अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

2.7 योग दृष्टियां

जीवन के समग्र कार्य-कलापों का मूल आधार दृष्टि ही होती है। सत्व, रज और तम में से जिस ओर हमारी दृष्टि मुड़ जाती है, हमारा जीवन प्रवाह उसी ओर स्वतः बढ़ जाता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्र ने आत्मा के क्रमिक विकास को ध्यान में रखते हुए योग की आठ-दृष्टियों का उल्लेख किया है। दृष्टि को परिभाषित करते हुए उन्होंने कहा है कि जिससे समीचीन श्रद्धा के साथ बोध हो और जिससे असत् वृत्तियों का क्षय करके सत् प्रवृत्तियां प्राप्त हों। दृष्टि दो प्रकार की होती है—ओघदृष्टि और योगदृष्टि। सांसारिक भाव, सांसारिक सुख, सांसारिक पदार्थ तथा क्रिया-कलाप में जो रची-बसी रहती है, वह ओघदृष्टि है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व, जीवन के सत्यस्वरूप तथा उपादेय विषयों को देखने की दृष्टि योग दृष्टि कही जाती है। चूंकि ये आत्मस्वरूप से जोड़ने वाले साधना-पथ रूपी योग मार्ग को प्रशस्त करती हैं, इसलिए इन्हें योग-दृष्टि कहा जाता है। योग-दृष्टि के प्रकार को बताते हुए आचार्य हरिभद्र ने कहा है—तृण के अग्निकण, गोबर या उपले के अग्निकण, काष्ठ के अग्निकण, दीपक की प्रभा, रत्न की प्रभा, तारे की प्रभा, सूर्य की प्रभा, तथा चन्द्र की प्रभा के सदृश साधक की दृष्टि आठ प्रकार की होती हैं। वे आठों प्रकार इस प्रकार हैं—1. मित्रा, 2. तारा, 3. बला, 4. दीप्रा, 5. स्थिरा, 6. कान्ता, 7. प्रभा और 8. परा।

उपर्युक्त आठों प्रकारों में से प्रथम चार ओघदृष्टि में अन्तर्निहित हैं, क्योंकि इनमें वृत्ति संसाराभिमुख रहती है। अर्थात् जीव का उत्थान-पतन होता है। शेष चार दृष्टियां योगदृष्टि में समाहित होती हैं, क्योंकि इनमें आत्मा की प्रवृत्ति आत्मविकास की ओर अग्रसर होती हैं। पांचवी दृष्टि के बाद जीव सर्वथा उन्नतिशील

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बना रहता है, उसके गिरने की संभावना नहीं रहती। अतः कहा जा सकता है कि ओघदृष्टि असत् दृष्टि है और योगदृष्टि सत्दृष्टि। आचार्य हरिभद्र ने प्रथम चार दृष्टियों को अवैध संवैध पद अथवा प्रतिपाति तथा अंतिम चार दृष्टियों को वैद्य संवैद्य पद अथवा अप्रतिपाति कहा है। वैध संवेधपद से अभिप्राय है, जिस पद में वेध विषयों का यथार्थ स्वरूप जाना जा सके और उसमें अप्रवृत्ति बुद्धि पैदा हो। इसी प्रकार जिसमें बाह्य वेध विषयों का यथार्थस्वरूप में संवेदन और ज्ञान न किया जा सके वह अवेध संवेधपद है।

2.7.1 मित्रादृष्टि

इस प्रथम दृष्टि को आचार्य ने तृण के अग्निकणों की उपमा से उपमित किया है। जिस प्रकार तिनकों की अग्नि में सिर्फ नाम की अग्नि होती है, उसके सहारे किसी वस्तु का स्पष्ट रूप से दर्शन नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार इस दृष्टि में साधक को ज्ञान तो प्राप्त होता है लेकिन उस अल्पज्ञान में तत्त्वबोध नहीं हो पाता, क्योंकि मिथ्यात्व अथवा अज्ञान इतना घना होता है कि वह ज्ञान और दर्शन पर आवरण डाल देता है। इसलिए साधक को तात्त्विक एवं पारमार्थिक ज्ञान का बोध नहीं हो पाता है। यह अल्पस्थितिक होती है। इस दृष्टि में दर्शन की मंदता, अहिंसादि यमों का पालन करने की इच्छा और देव-पूजादि धार्मिक अनुष्ठानों के प्रति लगाव रहता है। साधक द्वारा माध्यस्थादि भावनाओं का चिन्तन करने और मोक्ष की कारणभूत सामग्रियों को जुटाते रहने के कारण इसे योगबीज की संज्ञा से विभूषित किया गया है।

2.7.2 तारादृष्टि

तारा द्वितीय दृष्टि है, जिसे आचार्य ने गोबर या उपले के अग्निवेशों की उपमा से उपमित किया है। तिनकों की अग्नि की अपेक्षा उपलों की अग्नि प्रकाश की दृष्टि से कुछ विशिष्ट होती है, परन्तु कोई खास अन्तर नहीं होता है। मन्द और अल्पशक्तिक होती है, इसलिए उसके सहारे भी किसी पदार्थ का सम्यक्तया दर्शन नहीं हो पाता है। तारा दृष्टि भी कुछ ऐसी ही होती है। बोधमय प्रकाश की जो झलक उद्घाटित होती है वह मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ तीव्र तो अवश्य होती है, परन्तु उसमें स्थिरता, शक्ति आदि की दृष्टि से कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि मित्रादृष्टि में जो दिव्य झलक मिली होती है, वह कुछ अधिक ज्योतिर्मयता तथा तीव्रता के साथ साधक को तारादृष्टि में प्राप्त होती है। साथ ही साधक यहां शौचादि नियमों का पालन करते हुए आत्महित का कार्य करने में खेद-खिन्न नहीं होता है बल्कि उसकी तात्त्विक जिज्ञासा जागृत हो जाती है। इसमें साधक इतना सावधान हो जाता है कि वह सोचने लगता है कहीं मेरे द्वारा किये गये व्रत, पूजनादि, क्रियाकलापों से दूसरों को कष्ट तो नहीं है। और इस तरह साधक वैराग्य की तथा संसार की असारता-सम्बन्धी योग-कथाओं को सुनने की इच्छा रखते हुए बड़े लोगों के प्रति समताभाव रखता है और उनका आदर सत्कार करता है। यदि पूर्व से ही साधक के अन्तर्मन में योगी, संन्यासी, साधु आदि के प्रति अनादर का भाव रहता है तो भी वह इस अवस्था में प्रेम और सद्व्यवहार करता है। संसार की असारता तथा मोक्ष के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करने में समर्थ न होते हुए भी निर्दिष्ट अथवा उपदिष्ट कथनों पर श्रद्धा का भाव रखता है। क्योंकि गुरु सत्संग के कारण साधक की अशुभ प्रवृत्तियां बन्द हो जाती हैं और संसार सम्बन्धी किसी भी प्रकार का भय नहीं रहता। फलतः साधक धार्मिक कार्यों में अनजाने में भी अनुचित वर्णन नहीं करता। किन्तु सत्कार्य में लगे रहने पर भी साधक में अशुभ प्रवृत्तियां रहती हैं। कारण कि साधक इस अवस्था में सम्यक् ज्ञान के अभाव में सम्यक्-असम्यक् का अन्तर नहीं जान पाता है, जिसके फलस्वरूप वह जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, उसे ही आत्मा का स्वभाव मानता है। इसी अज्ञान के कारण वह सर्वज्ञ के द्वारा कथित तत्त्वों पर श्रद्धा एवं विनीत भाव रखता है। तात्पर्य यह है कि तारा दृष्टि में साधक को अचानक अध्यात्म-उद्बोध की कुछ विशद् झलक दिखाई तो देती है, परन्तु साधक का पूर्व का कोई संस्कार नहीं छूट पाता है, इसलिए साधक के कार्य-कलापों में द्रव्यात्मकता से अधिक विकास नहीं हो पाता है।

2.7.3 बलादृष्टि

इस तीसरी दृष्टि की उपमा काष्ठाग्नि से दी गयी है। जिस प्रकार काष्ठाग्नि का प्रकाश स्थिर होता है, अधिक समय तक टिकता है, शक्तिमान् होता है ठीक उसी प्रकार बलादृष्टि में उत्पन्न बोध कुछ समय तक टिकता है, स्थिर रहता है, सशक्त होता है और संस्कार भी छोड़ता है। साथ ही साधक को तत्त्वज्ञान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होती है तथा योगसाधना में किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता। एक उदाहरण देते हुए इस दृष्टि को बहुत ही सुन्दर ढंग से निरूपित किया गया है। कहा गया है—जिस प्रकार सुन्दर युवक, सुन्दर युवती के साथ नाच, गाना सुनने में तद्रुप होकर अतीव आनन्द की प्राप्ति करता है, उसी प्रकार शांत स्थिर परिणामी योगी भी शास्त्र-श्रवण देवगुरुपूजादि में उत्साह अथवा आनन्द की प्राप्ति करता है। इस अवस्था में साधक की मनोस्थिरता अत्यन्त सुदृढ़ हो जाती है और वास्तविक लक्ष्य की ओर साधक को उद्‌बुध किये रहने का प्रयास करती है, जिससे साधक में सत्कर्म के प्रति प्रीति उत्पन्न होती है। भले ही उसे तत्त्व चर्चा सुनने को मिले या न मिले, परन्तु उसकी भावना इतनी निर्मल एवं पवित्र हो जाती है कि उसकी इच्छा मात्र से ही उसका कर्मक्षय होने लगता है। शुभ परिणामों के कारण समताभाव का विकास होता है जिससे साधक के मन में प्रिय वस्तु के प्रति आग्रह नहीं रहता। साथ ही चरित्र-विकास की सारी क्रियाओं को आलस्य रहित होकर करता है, जिनसे बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा अथवा आसक्ति क्षीण हो जाती है और वह धर्म-क्रिया में संलग्न हो जाता है। इस प्रकार बलादृष्टि में साधक के अन्तर्मन में समताभाव का उदय होता है और आत्मशुद्धि बढ़ती जाती है।

2.7.4 दीप्रादृष्टि

दीप्रा चौथी दृष्टि है। जिसकी उपमा आचार्य ने दीपक की ज्योति से दी है। जिस प्रकार दीपक का प्रकाश, तृणाग्नि, उपलाग्नि और काष्ठाग्नि की अपेक्षाकृत अधिक स्थिर होता है और जिसके सहारे पदार्थ को देखा जा सकता है, उसी प्रकार दीप्रा दृष्टि में होने वाला बोध उपर्युक्त दृष्टियों की अपेक्षा अधिक समय तक टिकता है। परन्तु जिस प्रकार दीपक का प्रकाश हवा के झोंके से बुझ जाता है, उसी प्रकार तीव्र मिथ्यावरण के कारण यह दर्शन भी नष्ट हो जाता है। योग दृष्टि समुच्चय में इस दृष्टि को प्राणायाम एवं तत्त्व श्रवण-संयुक्त तथा सूक्ष्मबोध भाव से रहित माना गया है। कहा गया है—जिस प्रकार प्राणायाम न केवल शरीर को ही सुदृढ़ बनाता है, बल्कि आन्तरिक नाड़ियों के साथ-साथ मन के मैल को भी धोता है, ठीक उसी प्रकार इस दृष्टि में रेचक प्राणायाम की तरह बाह्य परिग्रहादि विषयों में ममत्व बुद्धि तो रहती है लेकिन पूरक प्राणायाम की भांति विवेकशक्ति की वृद्धि भी होती है और कुम्भक प्राणायाम की तरह ज्ञान केन्द्रित होता है। तारा द्वात्रिंशिका में इसे भाव प्राणायाम कहा गया है जो भी साधक इस दृष्टि पर अपना अधिकार कर लेते हैं वे बिना किसी संदेह के धर्म पर श्रद्धा करने लगते हैं। उसकी श्रद्धा इतनी प्रबल हो जाती है कि वह धर्म के लिए प्राण का त्याग कर सकता है, लेकिन प्राण की रक्षा के लिए धर्म का त्याग नहीं कर सकता।

अब तक की उपर्युक्त वर्णित ओघदृष्टि है। इनमें यदि तत्त्वज्ञान हो भी जाता है तो वह स्पष्ट नहीं होता है। क्योंकि पूर्वसंचित कर्मों के कारण, धार्मिक व्रत-नियमों का यथाविधि पालन करने से भी सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। इसी मिथ्यात्व दोष के कारण इन दृष्टियों के जीवों को अवैध-संवैध पद कहा गया है, क्योंकि अज्ञानवश जीव अपना आचरण मूढ़वत् करता है, जिसके कारण अनेक दुःख उत्पन्न होते हैं। अतः सांसारिक पदार्थों के अनेक रूपों को समझना तथा संचित एवं संचयमाण कर्मों को नष्ट करना आवश्यक माना गया है, क्योंकि इन कर्मों का छेद करने तथा सांसारिक कारणों को जानने पर ही सूक्ष्मतत्त्व की प्राप्ति होती है। इसके लिए साधक को सद्‌गुरु के निकट श्रुतज्ञान सुनना, सत्संग के परिणाम एवं योग के द्वारा आत्मविकास की वृद्धि करना आवश्यक बताया गया है, क्योंकि इन प्रक्रियाओं से एक ओर जहां संसाराभिमुखता का विच्छेद होता है वहीं दूसरी ओर अवैध-संवैध पद भी नष्ट होता है और परमानन्द की उपलब्धि होती है।

2.7.5 स्थिरादृष्टि

स्थिरादृष्टि को रत्नप्रभा से उपमित किया गया है। जिस प्रकार रत्न की प्रभा कभी मिटती नहीं, सहजतया प्रकाशमान् रहती है, ठीक उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोधमय प्रकाश स्थिर रहता है। यहां साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है, भ्रांतियां मिट जाती हैं, सूक्ष्मबोध अथवा भेदज्ञान हो जाता है, इन्द्रियां संयमित हो जाती हैं, धर्म-क्रियाओं में आने वाली बाधाओं का परिहार हो जाता है तथा परमात्म स्वरूप को पहचानने का प्रयास करने लगता है। आत्मा और पर-पदार्थों की भिन्नता का साधक अनुभव करने लगता है। अब तक पर में स्व की जो बुद्धि थी, वह अचानक आत्मोन्मुख हो जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने साधक की इस आन्तरिक अनुभूति को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहा है—मोह मेरा कुछ नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, मैं तो एकमात्र उपयोग चेतनारूप हूँ। यों चिन्तन करने वाले को सिद्धान्तवेत्ता ज्ञानी मोहात्मक ममता से ऊंचा उठा हुआ कहते हैं। आगे पुनः कहते हैं—निश्चितरूप से मैं दर्शन-ज्ञानमय, सदा-अरूपी, एकमात्र शुद्ध आत्मा हूँ, अन्य कुछ भी परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

इस प्रकार दृष्टि में सम्यक्त्व आ जाने पर आस्था स्थिर हो जाती है, विश्वास सुदृढ़ हो जाता है तथा जीव दर्शन प्रत्याहार से युक्त कृत्य, अभ्रान्त, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध वाला हो जाता है। जिस प्रकार रत्न का प्रकाश कभी मिटता नहीं है उसी प्रकार स्थिरा दृष्टि में प्राप्त बोध नष्ट नहीं होता और साधक का बोध सद्अभ्यास, सद्चिन्तन आदि के द्वारा उज्ज्वल से उज्ज्वलत्तर होता जाता है।

2.7.6 कान्तादृष्टि

इस दृष्टि की उपमा तारे की प्रभा से दी गयी है। जिस प्रकार तारे की प्रभा आकाश में स्वाभाविक रूप में होती है, सुनिश्चित होती है, अखण्डित होती है, उसी प्रकार कान्ता की दृष्टि का बोध-उद्योत अविचल, अखण्डित और प्रगाढ़ रूप में चिन्मय आकाश में सहज रूप में प्रकाशित रहता है। इस दृष्टि में साधक को धारणा नामक योग के संयोग से सुस्थिर अवस्था प्राप्त होती है, परोपकार एवं सद्विचारों से उसका हृदय प्लावित हो जाता है तथा उसके दोष अर्थात् चित्त की विकलता नष्ट हो जाती है। इन्द्रियों के चंचल विषयों के शांत हो जाने तथा धार्मिक सदाचारों के सम्यक् परिपालन से साधक का स्वभाव क्षमाशील बन जाता है, वह जहां भी जाता है, वहां सभी प्राणियों का प्रिय पात्र बन जाता है। इस प्रकार साधक को शांत, धीर एवं परमानन्द की अनुभूति होने लगती है, सम्यक् ज्ञान की प्राप्ति से उसे स्व और पर वस्तु का बोध हो जाता है तथा ईर्ष्या, क्रोध आदि दोषों का सर्वथा परिहार हो जाता है।

यदि हम कान्ता के शाब्दिक अर्थ को देखें तो कान्ता का अर्थ ही होता है—लावण्यमयी प्रियंकरी गृहस्वामिनी। ऐसी सद्नारी पतिव्रता होती है, जिसकी अपनी विशेषता होती है। वह घर, परिवार तथा जगत् के सारे कार्य को करते हुए भी एकमात्र अपना चित्त अपने पति से जोड़े रहती है। उसके चिन्तन का एकमात्र केन्द्र उसका पति ही होता है। इसी प्रकार कान्ता दृष्टि में पहुंचा हुआ साधक आवश्यकता और कर्त्तव्य की दृष्टि से जहां जैसा करना अपेक्षित है, वह सब करता है, परन्तु उसमें आसक्त नहीं होता। उसका मन तो एकमात्र श्रुत-निर्दिष्ट धर्म में ही लीन रहता है। उसके चिन्तन का केन्द्र आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। अतः कहा जा सकता है कि कान्ता दृष्टि में साधक की स्थिति अनासक्त कर्म योगी की होती है। जैसा कि गीता में श्री कृष्ण ने कहा है कि अनासक्त होकर कर्म करते जाओ फल की इच्छा मत करो। आसक्ति का परित्याग कर, सिद्धि-सफलता, असिद्धि-असफलता में समान बनकर, योग में स्थित होकर तुम कर्म करो। यह समत्व ही योग है।

2.7.7 प्रभादृष्टि

इस दृष्टि की उपमा सूर्य के प्रकाश से दी गयी है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सारा विश्व प्रकाशित होता है तथा उसका प्रकाश अत्यन्त तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है, उसी प्रकार प्रभा दृष्टि का बोध-प्रकाश भी अत्यन्त तीव्र, ओजस्वी एवं तेजस्वी होता है तथा साधक को समस्त पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो जाता है। सूर्य की भांति अत्यन्त सुस्पष्ट दर्शन की प्राप्ति होती है। किसी भी प्रकार का रोग नहीं होता तथा प्रतिपाति नामक गुण का आविर्भाव होता है। इस अवस्था में साधक को इतना आत्मविश्वास हो जाता है कि वह कषायों में लिप्त होते हुए भी अलिप्त सा रहता है, रोगादि क्लेशों से पीड़ित होने पर विचलित नहीं होता। फलतः उसमें पूर्व में संचित विषमवृत्ति के बदले प्राणियों में समता तथा असंगानुष्ठान का उदय होता है, इच्छाओं का नाश हो जाता है और साधक सदाचार का पालन करते हुए मोक्षमार्ग की ओर अग्रसर होता है अर्थात् यहीं से मोक्षमार्ग का श्रीगणेश होता है। असंगानुष्ठान चार प्रकार के होते हैं—प्रीति, भक्ति, वचन और असंगानुष्ठान। जिसे योगदृष्टि समुच्चय में प्रशांतवाहिता, विसंभाग-परिक्षय, शैववर्त्य और ध्रुवाध्वा के नाम से बताया गया है।

अतः यहां साधक का प्रातिभज्ञान या अनुभूति प्रसूतज्ञान इतना प्रबल एवं उज्ज्वल हो जाता है कि उसे शास्त्र का प्रयोजन नहीं रहता। ज्ञान की साक्षात् उपलब्धि उसे हो जाती है। आत्मसाधना की यह बहुत ही ऊंची स्थिति होती है। ऐसी उत्तम, अविचल, ध्यानावस्था से आत्मा में अपरिमित सुख का स्रोत फूट पड़ता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2.7.8 परादृष्टि

यह अंतिम दृष्टि है, जिसकी उपमा चन्द्रमा की प्रभा से दी गयी है। जो शीतल, सौम्य तथा शान्त होता है और सबके लिए आनन्द, आह्लाद और उल्लासप्रद होता है। जिस प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्स्ना सारे विश्व को प्रकाशित करती है, उसी प्रकार चन्द्रमा की ज्योत्स्ना के समान परादृष्टि में प्राप्त बोधप्रभा समस्त विश्व को जो ज्ञेयात्मक है, उद्योतित करती है। इसमें सभी प्रकार के मन-व्यापार अवरुद्ध हो जाते हैं और आत्मा केवल आत्मा के रूप में ही देखती है, क्योंकि यह आत्मस्वरूप में निष्प्रयासपरिरमण की यह उच्चतम दशा है, जिसका सुख सर्वथा निर्विकल्प होता है। यह बोध की निर्विकल्प दशा है। इस दशा में बोध और सुख की निर्विकल्पता में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी, ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र की त्रिपदी एकमात्र अभेद आत्मस्वरूप में परिणत हो जाती है, जहां द्वैतभाव सर्वथा विलय को प्राप्त कर लेता है। यह अवस्था आसक्तिहीन और दोषरहित होती है। इस अवस्था वाले योगी को सांसारिक वस्तुओं के प्रति न मोह होता है और न आसक्ति और न उसमें किसी प्रकार का दोष ही रह जाता है। इस तरह आचार और अतिचार से वर्जित होने के कारण साधक योगी क्षपक श्रेणी अथवा उपशम श्रेणी द्वारा आत्मविकास करता है। क्षपक श्रेणी से अभिप्राय है—जो साधक तीव्र संवेग आदि प्रयत्नों द्वारा राग, द्वेष एवं मोह को क्रमशः निर्मूल करते-करते उत्तरोत्तर समता की शुद्धि की साधना करता है, वह क्षपक श्रेणी में आता है। ऐसे ही जो साधक अपने संक्लेशों को अर्थात् कर्मों का मूलतः क्षय न करके उनका केवल उपशम ही करता है अर्थात् सर्वथा निर्मूल नहीं कर पाता वह उपशम श्रेणी में आता है। जिसमें प्रथम श्रेणी का साधक एक ही प्रयत्न में मुक्ति पा जाता है, लेकिन द्वितीय श्रेणी के साधक को मुक्ति के लिए जन्मान्तर लेना पड़ता है।

इस दृष्टि से समस्त कषायों के क्षीण होने के कारण साधक को अनेक लब्धियां प्राप्त होती हैं और वह मुमुक्षु जीवों के कल्याणार्थ उपदेश देता है। इस क्रम में योगी निर्वाण पाने की स्थिति में योग-संन्यास नामक योग को प्राप्त करता है, जिसके अंतिम समय में शेष चार अघाती कर्मों को नष्ट करके वह पांच अक्षरों के उच्चारण मात्र समय में शैलेशी अवस्था को प्राप्त करता है यानी मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

2.8 सारांश

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य हरिभद्र ने गुणस्थान के आधार पर आध्यात्मिक विकास की आठ दृष्टियों का वर्णन किया है। परन्तु यहां यह स्पष्ट कर देना उचित जान पड़ता है कि गुणस्थान तथा उपर्युक्त आठ दृष्टियों में कोई असमानता नहीं है, क्योंकि प्रथम चार दृष्टियों में प्रथम तीन गुणस्थान, पंचम एवं षष्ठ दृष्टि में चतुर्थ, पंचम और षष्ठ, सप्तम और अष्टम गुणस्थान तथा अंतिम यानी अष्टम दृष्टि में अष्टम से चतुर्दश गुणस्थान का समावेश हो जाता है।

2.9 प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. जैनयोग में आचार्य हरिभद्र के अवदान पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. योग शब्द का अर्थ लिखें।
2. जैनयोग और अध्यात्म विकास पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. योग शब्द भारतीय संस्कृति तथा दर्शन की बहुमूल्य .... है।
2. उपनिषदों में तापस और .... को एक माना गया है।
3. आत्मशक्ति का विकास ही .... का फलित है।
4. स्थिरादृष्टि को .... से उपमित किया गया है।
5. जीवन के समग्र कार्य-कलापों का मूल आधार .... ही होती है।
6. आचार्य हरिभद्र का दृष्टिकोण .... प्रधान था।
7. निवृत्ति जैनधर्म का .... है।
8. आचार्य हरिभद्र अपने युग के महान् प्रभावक .... में से एक थे।
9. ऋग्वेद के अनुसार कौन मुनि मेल धारण करते हैं?
10. शास्त्रवार्त्ता समुच्चय के रचनाकार कौन हैं?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–3 : ध्यान का स्वरूप

संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 ध्यान का स्वरूप
3.3 ध्यान के प्रकार
3.3.1 आर्तध्यान का स्वरूप
3.3.2 रौद्रध्यान का स्वरूप
3.3.3 धर्मध्यान का लक्षण
3.3.4 शुक्लध्यान का स्वरूप
3.4 सारांश
3.5 अभ्यास प्रश्नावली

3.0 प्रस्तावना

मनुष्य का स्थूल शरीर सूक्ष्मतर शरीर का संवादी होता है। सूक्ष्मतर शरीर में जिन क्षमताओं का स्पन्दन होते हैं, उन सबकी अभिव्यक्ति के लिए स्थूल शरीर में केन्द्र बन जाते हैं। उसमें शक्ति और चैतन्य की अभिव्यंजना के अनेक केन्द्र हैं। वे सुप्त अवस्था में रहते हैं। ध्यान के अभ्यास द्वारा उन्हें जागृत किया जाता है। इसीलिए जैन धर्म में ध्यान को साधना का विशिष्ट अंग बताया है।

3.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से ध्यान की उपयोगिता को समझा जा

3.2 ध्यान का स्वरूप

आदिपुराण में स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बताया है। स्थिर अध्यवसान से एकाग्रता का आलंबन लेने वाले मन का अभिप्राय रहा है। कायोत्सर्ग शतक के अनुसार आलंबन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न होकर निष्प्रकम्प बना हुआ चित्त ही ध्यान होता है। उपासकाध्ययन में 'चित्तस्यैकाग्रता ध्यान' अर्थात् चित्त की एकाग्रता को ध्यान कहा है।

तत्त्वानुशासन में एकाग्रचिन्तानिरोध को ध्यान कहा गया है। योगसार प्राभृत में आत्मस्वरूप का प्ररूपक रत्नत्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त के स्थिर करने वाले साधु के होता है जो उसके कर्मक्षय को करता है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्यानुसारिणी टीका में आगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया। पातञ्जलयोगदर्शनम् में 'तत्रप्रत्ययैकतानता ध्यानम्' का उल्लेख है। गणाधिपति गुरुदेवश्री तुलसी ने 'एकाग्रेमनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्' परिभाषा दी है। सांख्यसूत्र में राग के विनाश को तथा निर्विषय मन को ध्यान कहा गया है। विष्णुपुराण में अन्य विषयों की ओर से निःस्पृह होकर परमात्म स्वरूप को विषय करने वाले ज्ञान की एकाग्रता सम्बन्धी परम्परा को ध्यान कहा गया है।

3.3 ध्यान के प्रकार

जैनदर्शन के अनुसार ध्यान मुख्यतः चार प्रकार का होता है—1. आर्त्तध्यान 2. रौद्र-ध्यान 3. धर्मध्यान 4. शुक्ल ध्यान। इनमें आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान संसार के कारण हैं तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यान मुक्ति के कारण हैं। विशेषरूप से आर्त्तध्यान को तिर्यंचगति का, रौद्रध्यान को नरकगति का, धर्मध्यान को देवगति का और शुक्लध्यान को मुक्ति का कारण माना गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के कारण होने से अप्रशस्त और अंतिम दो साक्षात् मुक्ति के कारण होने से प्रशस्त ध्यान की कोटि में परिगणित हो सकते हैं।

3.3.1 आर्त्तध्यान का स्वरूप

चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को आर्त्तध्यान कहा जाता है।

आर्त्तध्यान के लक्षण

आर्त्तध्यान के चार लक्षण हैं—1. आक्रन्दन करना 2. शोक करना 3. आंसू बहाना 4. विलाप करना।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आर्त्तध्यान के प्रकार

ठाणं में आर्त्तध्यान के चार प्रकार बताए हैं—

1. अमनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग की चिन्ता में लीन हो जाना।
2. मनोज्ञ संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग न होने की चिन्ता में लीन हो जाना।
3. आतंक (सद्योघातीरोग) के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग की चिन्ता में लीन हो जाना।
4. प्रीतिकर कामभोग के संयोग से संयुक्त होने पर उसके वियोग न होने की चिन्ता में लीन हो जाना।

आर्त्तध्यान और लेश्या

आर्त्तध्यानी के कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएं होती हैं। वह अपने द्वारा किये गये भले-बुरे कर्मों की प्रशंसा करता है तथा धन सम्पत्ति के उपार्जन में उद्यत रहता हुआ विषयासक्त होकर धर्म की उपेक्षा करता है।

आर्त्तध्यान का अधिकारी

आर्त्तध्यान व्रतों से रहित मिथ्यादृष्टि, सास्वादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि एवं अविरतसम्यग्दृष्टि तथा संयतासंयत व प्रमादयुक्त संयत जीवों के होता है। अर्थात् चारों प्रकार का आर्त्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है।

3.3.2 रौद्रध्यान का स्वरूप

चेतना की क्रूरतामय एकाग्र परिणति को रौद्रध्यान कहा जाता है।

रौद्रध्यान के लक्षण

रौद्रध्यान के चार लक्षण हैं—

1. उत्सन्नदोष—प्राय: हिंसा आदि में प्रवृत्त रहना
2. बहुदोष—हिंसादि की विविध प्रवृत्तियों में संलग्न रहना
3. अज्ञानदोष—अज्ञानवश हिंसा आदि में प्रवृत्त होना
4. आमरणान्तदोष—मरणान्तक हिंसा आदि करने का अनुताप न होना।

रौद्रध्यान के प्रकार

रौद्रध्यान के चार प्रकार हैं—

1. हिंसानुबंधी—जिसमें हिंसा का अनुबंध (सतत् प्रवर्तन) हो। क्रोध आदि के वशीभूत होकर एकेन्द्रियादि जीवों के ताडने, नासिका आदि छेदने तथा प्राण विघात करने का निरन्तर चिन्तन होना।
2. मृषानुबंधी—जिसमें मृषा का अनुबंध हो। परनिन्दाजनक असभ्य व प्राणवियोजक आदि अनेक प्रकार के असत्य वचन बोलना।
3. स्तेयानुबंधी—जिसमें चोरी का अनुबंध हो। क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर दूसरे की धन सम्पत्ति का अपहरण करना।
4. संरक्षणानुबंधी—जिसमें विषय के साधनों के संरक्षण का अनुबंध हो। धन के संरक्षण में निरन्तर विचारमग्न रहना।

रौद्रध्यान और लेश्या

यहां आर्त्तध्यानी के समान रौद्रध्यानी के भी यथासंभव लेश्याओं का निर्देश किया गया है।

रौद्रध्यान का अधिकारी

नरकगति का कारणभूत यह चार प्रकार का रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक संभव है। यानि रौद्रध्यान की संभावना पांचवे गुणस्थान तक बतलाई गई है।

धर्मध्यान या धर्म्यध्यान का स्वरूप

प्राकृत में 'धम्म' शब्द हैं। संस्कृत में दो रूप बन सकते हैं—धर्म और धर्म्य। कुछ आचार्यों ने धर्मध्यान का प्रयोग किया है किन्तु अधिकांश आचार्यों ने धर्म्य-ध्यान का प्रयोग किया है। यही अधिक उपयुक्त है। धर्म्य का अर्थ है—धर्म से युक्त।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

धर्म्य का हृदय

धर्म शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। ध्यान के प्रकरण में चार अर्थ किए गए हैं—1. वस्तु का स्वभाव 2. क्षमा आदि दस धर्म 3. चारित्रधर्म 4. अहिंसा।

धर्म के उक्त अर्थों से धर्म्यध्यान के दो अर्थ फलित होते हैं—1. वस्तुधर्माश्रित ध्यान 2. क्षमा आदि धर्माश्रित ध्यान।

3.3.3 धर्म्यध्यान का लक्षण

वस्तु धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को 'धर्म्य-ध्यान' कहा जाता है। ठाणं में धर्म्यध्यान के चार लक्षण बताए हैं—

1. आज्ञारुचि—प्रवचन में श्रद्धा होना
2. निसर्गरुचि—सहज ही सत्य में श्रद्धा होना
3. सूत्ररुचि—सूत्र पढ़ने से सत्य में श्रद्धा उत्पन्न होना
4. अवगाढ़ रुचि—विस्तृत पद्धति से सत्य में श्रद्धा होना।

आलम्बन

धर्म्यध्यान के चार आलम्बन बताए हैं—

1. वाचना—पढ़ाना
2. प्रतिप्रच्छना—शंका निवारण के लिए प्रश्न करना
3. परिवर्तना—पुनरावर्तन करना
4. अनुप्रेक्षा—अर्थ का चिन्तन करना।

अनुप्रेक्षा

धर्म्यध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—1. अनित्य 2. अशरण 3. संसार अनुप्रेक्षा 4. एकत्व।

इसके प्रसंग में यह कहा गया है कि अन्तर्मूहूर्त्त 48 मिनट ध्यानकाल के समाप्त हो जाने पर जब धर्म्यध्यान की स्थिति नहीं रहती तब पूर्व में किए गए धर्म्यध्यान से प्रभावित वह मुनि (उसे धर्मध्यान से जिसका चित्त सुसंस्कृत हो चुका है वह मुनि) ध्यान से निवृत्ति हो जाने पर भी सदा अनित्यादि भावनाओं के चिन्तन में तत्पर होता है।

धर्म्यध्यान के प्रकार

धर्म्यध्यान के प्रकार असंख्य हो सकते हैं, फिर भी जैनयोग में चार बतलाए गए हैं—1. शब्द 2. विश्लेषण 3. फल का परिणाम 4. रूप।

इन्हीं को पारिभाषिक शब्दों में—

1. आज्ञाविचय—प्रवचन प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा प्रतिपादित तत्त्व निर्णय में संलग्न चित्त।
2. अपायविचय—दोषों के निर्णय में संलग्न चित्त।
3. विपाकविचय—कर्म फलों के निर्णय में संलग्न चित्त।
4. संस्थानविचय—विविध पदार्थों के आकृति-निर्णय में संलग्न चित्त।

1. आज्ञाविचय

आज्ञाविचय का अर्थ है—तत्त्व का साक्षात्कार। तत्त्व सूक्ष्म एवं अमूर्त है। उन्हें इन्दियों या तर्क ज्ञान के द्वारा जाना नहीं जा सकता। उनका प्रत्यक्ष बोध ध्यान से संभव है। धर्म ध्यान करने वाला प्रत्यक्ष ज्ञानी द्वारा निरूपित तत्त्वों का आलम्बन लेकर उनपके साक्षात्कार का प्रयत्न करता है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में बताया है कि योगी लक्ष्य के सहारे अलक्ष्य, स्थूल के सहारे सूक्ष्म तथा आलम्बन के सहारे निरालम्बन तत्त्व का चिन्तन करे क्योंकि अनादिकालीन भ्रम, मोह, अनभ्यास के कारण तत्त्वों का यथार्थ बोध नहीं हो पाता इसलिए साक्षात्कार के लिए वस्तुधर्म में मन को केन्द्रित करना आवश्यक है।

2. अपायविचय

मानसिक ग्रंथियों के विमोचन का सर्वोत्तम उपाय विश्लेषण है। इसीलिए अपायविचय रूपान्तरण में उपाय-विचय है। आचार्य विद्यानन्दी ने अपाय-विचय का अर्थ किया है—असत् मार्ग से अपाय और सत् मार्ग से अनपाय—यह बंध मुक्ति का उपाय है। इसीलिए उपाय-विचय नामक ध्येय का पृथक् उल्लेख नहीं किया

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गया है। तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक के अनुसार समग्रता की दृष्टि से अपाय-विचय का समग्र अर्थ है—मुक्ति के बाधक और साधक तत्त्वों का साक्षात्कार।

3. विपाक-विचय

विपाक (परिणाम) व्यक्त होता है, हेतु अव्यक्त। जिसमें परिणाम (विपाक) के सहारे हेतु का साक्षात्कार किया जा सकता है वह विपाक विचय है। उदाहरणार्थ—बुद्धिहीनता का कारण है ज्ञानावरणीय कर्म का उदय। चक्षु (आंख), श्रोत्र (कान), घ्राण (नाक), रसना (जीभ), स्पर्श आदि इन्द्रियों से रहित होना या उनमें क्षमता का अभाव होने का कारण है- दर्शनावरणीय कर्म का उदय। सुख की अनुभूति का कारण है वेदनीय कर्म। किसी तत्त्व को विपरीत दृष्टि से ग्रहण करना (विपरीत समझना) और आचरण के विकृत होने का कारण है मोहनीय कर्म का उदय। बार-बार जन्म लेने का सम्बन्ध आयुष्य कर्म से है। शुभ-अशुभ की प्राप्ति का कारण है नाम कर्म तथा उच्च नीच कुल में जन्म लेने का हेतु है गोत्र कर्म। वांछित वस्तु की प्राप्ति में बाधक है अन्तराय कर्म। इस प्रकार विपाक विचय ध्यान दोषों के कारणों को जानने की महान् प्रक्रिया है।

4. संस्थान विचय

यह आकृति विषयक आलम्बन है। इसमें एक परमाणु से लेकर विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का आकार ध्यान करने वाले व्यक्ति का ध्येय बनता है अत: इसकी तुलना रूपस्थ ध्यान से की जा सकती है।

धर्म्यध्यान और भावना

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य ये भावनाएं हैं। इनमें ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास का नाम ज्ञानभावना है। इसके आश्रय से ध्याता का मन अशुभ व्यापार को छोड़ शुभ में स्थिर हो जाता है। साथ ही इसके द्वारा तत्त्व-अतत्त्व का रहस्य जान लेने से ध्याता स्थिरबुद्धि होकर ध्यान में लीन हो जाता है।

तत्त्वार्थश्रद्धान का नाम दर्शन है। शंका-कांक्षा आदि पांच दोषों से रहित एवं प्रशम व स्थैर्य आदि गुणों से युक्त होकर उस दर्शन के आराधन को दर्शन भावना कहते हैं। दर्शन से विशुद्धि हो जाने पर धर्मध्यान का ध्याता ध्यान के विषय में कभी दिग्भ्रान्त नहीं होता। समस्त (पापकारी) प्रवृत्ति की निवृत्तिरूप क्रिया का नाम चारित्र और उसके अभ्यास का नाम चारित्र भावना है। इसके अभ्यास से संवर, निर्जरा और ध्यान की स्थिति सहज ही प्राप्त होती है। संसार के स्वभाव को जानकर विषयासक्ति से रहित होना, यही वैराग्य भावना है। इस वैराग्य भावना से जिसका मन सुवासित हो जाता है वह इहलोक और परलोक के भय व सुखाभिलाषा से रहित हो जाता है। ध्यान में उसकी स्थिरता सघन हो जाती है।

धर्म्यध्यान और भावना में अंतर

धर्म्यध्यान और भावना में अन्तर है—

1. भावना या जप में गृहीत कल्पना से भिन्न कल्पना तथा गृहीत चिन्तन से भिन्न चिन्तन आते रहते हैं, किन्तु ध्यानदशा में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें गृहीत चिन्तन ही सन्तति रूप में प्रवाहित होता है।
2. भावना या जप में गृहीत शब्द पुनरावृत्त होता रहता है, किन्तु धर्म्यध्यान में ऐसा नहीं होता।
3. पदावलम्बी धर्मध्यान में जिस पद पर चित्त केन्द्रित किया जाता है, उसी पद में वह चित्त तन्मय हो जाता है। इसीलिए वहां पुनरावर्तन अपेक्षित नहीं होता किन्तु भावना में पुनरावर्तन अपेक्षित होता है।

धर्म्यध्यान और लेश्या

धर्म्यध्यानी के क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाली तेजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीन प्रशस्त लेश्याएं होती हैं।

धर्म्यध्यान का अधिकारी

धर्म्यध्यान के अधिकारी सब प्रमादों से रहित—1. अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती मुनि 2. क्षीणमोह एवं 3. उपशांतमोह निर्ग्रन्थ होते हैं।

देश

ध्याता के लिए वही स्थान उपयुक्त माना गया है जहां मन, वचन एवं काय योगों को समाधान प्राप्त होता है तथा जो प्राणियों की हिंसा आदि से रहित होता है।

काल

ध्यान के लिए काल भी वही उपयोगी होता है जिसमें योगों को उत्तम समाधान प्राप्त होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आसन

जिस आसन से शरीर स्थिर रहे, कायोत्सर्ग की मुद्रा, पद्मासन, वीरासन आदि से ध्यान करना चाहिए।

क्रम

आत्म विशुद्धि की दृष्टि से (क्रम का विचार करते हुए यहां लाघव पर) दृष्टि रखकर धर्म्यध्यान के साथ शुक्लध्यान के भी क्रम का निरूपण कर दिया गया है। उसके प्रसंग में यहां कहा गया है कि केवलियों के मुक्ति की प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त्त मात्र शेष रहता है तब वे जिस क्रम से मनोयोग आदि का निग्रह करते हैं, वह शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम है। शेष धर्म्यध्यानियों के शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम समाधि के अनुसार (जैसे भी स्वस्थता प्राप्त होती है तदनुसार) जानना चाहिए।

लिंग

जो आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से जिनोपदिष्ट पदार्थों में श्रद्धा करता है तथा जिनदेव, साधु और उनके गुणों का कीर्तन करता है। ये धर्मध्यानी के पहचान के लक्षण है।

फल

शुभाश्रव, संवर, निर्जरा और देवसुख आदि शुभानुबंधी धर्म्यध्यान के फल हैं।

3.3.4 शुक्लध्यान का स्वरूप

शुक्लध्यान के चार लक्षण हैं—

1. अव्यथ—व्यथा का अभाव
2. असम्मोह—सूक्ष्म पदार्थ विषयक मूढ़ता का अभाव
3. विवेक—शरीर और आत्मा के भेद का ज्ञान
4. व्युत्सर्ग—शरीर और पदार्थ में अनासक्त भाव।

आलम्बन

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं—1. शान्ति-क्षमा 2. मुक्ति-निर्लोभता 3. आर्जव-सरलता 4.मार्दव-मृदुता।

अनुप्रेक्षाएं

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—

1. अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा—संसार परम्परा का चिन्तन करना
2. विपरिणाम अनुप्रेक्षा—वस्तुओं के विविध परिणामों का चिन्तन करना
3. अशुभ अनुप्रेक्षा—पदार्थों की अशुभता का चिन्तन करना
4. अपाय अनुप्रेक्षा—दोषों का चिन्तन करना।

शुक्लध्यान के प्रकार

शुक्लध्यान के चार प्रकार हैं—1. पृथकत्व वितर्क सविचारी, 2. एकत्व वितर्क अविचारी, 3. सूक्ष्मक्रियअनिवृत्ति, 4. समुच्छिन्नक्रियअप्रतिपाति।

पृथक-वितर्क-सविचार

चार प्रकार के शुक्लध्यान में प्रथम पृथकत्व वितर्क सविचार ध्यान है। पृथकत्व का अर्थ भेद या विस्तार और वितर्क का अर्थ श्रुत है। जिस ध्यान में श्रुत के सामर्थ्य से द्रव्य की उत्पाद आदि अवस्थाओं का भेदपूर्वक चिन्तन होता है उसे पृथक्त्व वितर्क सविचार ध्यान कहा जाता है। इस ध्यान में अर्थ से अर्थान्तर, व्यंजन (शब्द) से व्यंजनान्तर और विवक्षित योग से योगान्तर में संक्रमण (परिवर्तन) होता रहता है। इसलिए इसे सविचार कहा गया है। अर्थ, व्यंजन और योग के संक्रमण का नाम ही विचार है, उस विचार से सहित होने के कारण उसे सविचार कहना सार्थक है। अर्थ शब्द से यहां ध्यान के विषयभूत द्रव्य व पर्याय को ग्रहण किया गया है। इस ध्यान का अधिकारी कभी द्रव्य का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़कर पर्याय का चिन्तन करता है। तत्पश्चात् पुनः द्रव्य का चिन्तन करता है इस प्रकार इसमें अर्थ का संक्रमण होता रहता है। इस ध्यान का ध्याता कभी एक श्रुतवचन का चिन्तन करता है तो कभी उसको छोड़ अन्य श्रुतवचन का चिन्तन करता है। इस प्रकार व्यंजन का भी संक्रमण होता है। इसी प्रकार तीनों योगों के बीच भी उसमें संक्रमण होता रहता है। पूर्वगत श्रुत के पारगामी श्रुतकेवली ही इस ध्यान के अधिकारी होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एकत्व वितर्क अविचार

जब एक द्रव्य के किसी एक पर्याय का अभेद दृष्टि से चिन्तन किया जाता है और पूर्वश्रुत का आलम्बन किया जाता है तथा जहां शब्द, अर्थ एवं मन, वचन, काया में एक-दूसरे में संक्रमण नहीं किया जाता, शुक्लध्यान की उस स्थिति को एकत्व वितर्क अविचार कहा जाता है। जिस प्रकार घर के भीतर स्थित दीपक वायु के अभाव में कम्पन से सर्वथा रहित होता हुआ स्थिर रूप में जलता है उसकी लौ इधर-उधर नहीं घूमती है उसी प्रकार ध्यान की अस्थिरता के कारणभूत राग, द्वेष व मोह के न रहने से एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान स्थिर रहता है। पृथकत्व वितर्क सविचार ध्यान में जहां उत्पाद, स्थिति और व्यय इन अवस्थाओं का भेदपूर्वक परिवर्तित रूप में चिन्तन होता था वहां इस ध्यान में उनका चिन्तन भेद को लिए हुए परिवर्तित रूप में नहीं होता, किन्तु उक्त तीनों अवस्थाओं में से यहां किसी एक ही अवस्था का भेद के बिना चिन्तन होता है। इसी प्रकार पृथकत्व वितर्क शुक्लध्यान में अर्थ, व्यंजन और योग का परस्पर संक्रमण होता था अर्थात् उस ध्यान का ध्याता अर्थ का विचार करता हुआ उसे छोड़कर व्यंजन (शब्द) का विचार करने लगता था, पश्चात् उस व्यंजन को भी छोड़कर योग का अथवा पुनः अर्थ का चिन्तन करता था अर्थ, व्यंजन और योग का इस प्रकार का संक्रमण एकत्व वितर्क शुक्लध्यान में नहीं रहता इसलिए उसे अविचार कहा गया है।

सूक्ष्मक्रियअनिवृत्ति

जब मन और वाणी के योग का पूर्ण निरोध हो जाता है और काया के योग का पूर्ण निरोध नहीं होता, श्वासोच्छवास जैसी सूक्ष्म क्रिया शेष रहती है। उस अवस्था को सूक्ष्मक्रिय कहा जाता है। इसका Ðास नहीं होता इसलिए यह अनिवृत्ति है। सूक्ष्म काय योग में वर्तमान केवली इस ध्यान के आश्रय से उस सूक्ष्म काययोग का भी निरोध किया करते हैं। यदि उनके वेदनीय आदि भी स्थिति आयुकर्म की स्थिति के समान न होकर उससे अधिक होती है तो वे उसे आयुकर्म की स्थिति के समान करने के लिए चार समयों में क्रम में दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण समुद्घात करते हैं। तत्पश्चात् चार समयों में उक्त समुद्घात में फैले हुए आत्मप्रदेशों को क्रम से प्रतर, कपाट और दण्ड के रूप में संकुचित करके शरीरस्थ करते हैं। इस प्रकार ध्यान के बल से लोकपूरण समुद्घात में वेदनीय, नाम, गोत्र कर्मों की स्थिति को आयु कर्म की स्थिति के समान करके सूक्ष्म काययोग में स्थित होते हुए वे सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति ध्यान के अधिकारी होते हैं। निवर्तन स्वभाव वाला न होने से इस ध्यान को अनिवृत्ति कहा गया है।

समुच्छिन्नक्रियअप्रतिपाति

जब सूक्ष्म क्रिया का भी निरोध हो जाता है उस अवस्था को समुच्छिन्न क्रिय कहा जाता है। इसका पतन नहीं होता इसलिए यह अप्रतिपाति है। इस शुक्लध्यान के अधिकारी तीनों योगों का पूर्णरूप से निरोध कर योग से रहित हो अयोग केवली नामक चौदहवें गुणस्थान में प्रविष्ट होकर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। इस स्थिति में श्वासोच्छवास जैसी सूक्ष्म कायिक क्रिया भी विनष्ट हो जाने के कारण इसे समुच्छिन्नक्रिय कहा गया है। साथ ही सम्पूर्ण कार्य की निर्जरा किए बिना उससे प्रतिपतन (गिरना) संभव न होने के कारण उसे दूसरे समानार्थक शब्द से अप्रतिपाति भी कहा जाता है। जिस प्रकार तीसरा सूक्ष्मक्रिय-अनिवृत्ति ध्यान केवलज्ञान स्वरूप है उसी प्रकार यह भी केवलज्ञान स्वरूप है। विशेषता इतनी है कि जहां तीसरा सूक्ष्म काय योग से युक्त था वहां यह चौथा शुक्ल ध्यान योग रहित होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने हरिभद्रसूरि कृत योगबिन्दु के आधार पर शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों की तुलना संप्रज्ञात समाधि से की है तथा शुक्लध्यान के शेष दो चरणों की तुलना असंप्रज्ञात समाधि से की है। प्रथम दो चरणों में आए हुए वितर्क और विचार शब्द जैन, योगदर्शन और बौद्ध तीनों की ध्यान पद्धतियों में समान रूप से मिलते हैं। जैन साहित्य के वितर्क का अर्थ श्रुतज्ञान और विचार का अर्थ संक्रमण है। योगदर्शन के अनुसार वितर्क का अर्थ स्थूलभूतों का साक्षात्कार और विचार का अर्थ सूक्ष्मभूतों और तन्मात्राओं का साक्षात्कार है। बौद्ध दर्शन के अनुसार वितर्क का अर्थ है आलम्बन में स्थिर होना और विकल्प का अर्थ है उस आलम्बन में एकरस हो जाना। इन तीनों परम्पराओ में शब्द साम्य होने पर भी उनके संदर्भ पृथक्-पृथक् हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शुक्लध्यान और लेश्या

शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में लेश्या शुक्ल होती है, तीसरे चरण में वह परम शुक्ल होती है और चौथा चरण लेश्यातीत होता है।

शुक्लध्यान के अधिकारी

प्रथम दो चरण—पृथकत्ववितर्क सविचारी और एकत्व वितर्क अविचारी के अधिकारी श्रुतकेवली (चतुर्दशपूर्वी) होते हैं। इस ध्यान में सूक्ष्म द्रव्यों और पर्यायों का आलम्बन लिया जाता है, इसलिए सामान्य श्रुतधर इसे प्राप्त नहीं कर सकते। अंतिम दो चरण सयोगी केवली, अयोगी केवली के होता है। शुक्लध्यान करने वाला क्रमशः महद् आलम्बन की ओर बढ़ता है। प्रारम्भ में मन का आलम्बन समूचा संसार होता है। क्रमिक अभ्यास होते-होते वह एक परमाणु पर स्थिर हो जाता है। केवलीदशा आते-आते मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। आलम्बन के संक्षेपीकरण का जो क्रम है, उसे उदाहरण से समझाया गया है। जैसे समूचे शरीर में फैला हुआ जहर डंक के स्थान में उपसंहृत किया जाता है और फिर उसे बाहर निकाल दिया जाता है, उसी प्रकार विश्व के सभी विषयों में फैला हुआ जन एक परमाणु में निरुद्ध किया जाता है और फिर उससे हटाकर आत्मस्थ किया जाता है।

3.4 सारांश

शुक्लध्यान के लिए उपयुक्त सामग्री अभी प्राप्त नहीं है, अतः आधुनिक लोगों के लिए उसका अभ्यास भी संभव नहीं है। फिर भी उसका विवेचन आवश्यक है। उसकी परम्परा का विच्छेद नहीं होना चाहिए। आचार्य हेमचन्द्र की यह मान्यता है। इस मान्यता में सचाई भी है। अविच्छिन्न परम्परा से यदा-कदा कोई व्यक्ति थोड़ी बहुत मात्रा में लाभान्वित हो सकता है। भावना, प्रदेश, काल और आसन—ये चार विषय धर्म्य और शुक्लध्यान दोनों के समान हैं।

3.5 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान पर सविस्तार निबंध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. धर्मध्यान के स्वरूप का विवेचन करें।
2. धर्म्यध्यान और भावना के अंतर को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. स्थिर अध्यवसान .... बतलाया है।
2. शुक्लध्यान के लक्षण कितने हैं?
3. धर्म्यध्यान की अनुप्रेक्षाएं कितनी हैं?
4. विपाक विचय किसे कहते हैं?
5. शुक्लध्यान के कितने प्रकार हैं?
6. जब सूक्ष्मक्रिया का भी निरोध हो जाता है, उस अवस्था को .... कहा जाता है।
7. क्या आधुनिक युग में शुक्लध्यान अभ्यास संभव है?
8. वस्तु-धर्म या सत्य की गवेषणा में परिणत चेतना की एकाग्रता को .... कहा जाता है।
9. कायोत्सर्ग शतक के अनुसार आलम्बन में प्रगाढ़ रूप से संलग्न होकर .... ध्यान होता है।
10. विपाक विचय में अपने ...... ध्यान किया जाता है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–4 : सालम्बन ध्यान एवं धारणा (पिण्डस्थ एवं पार्थिवी आदि)

संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 ध्यान का अर्थ
4.3 समाधि
4.4 ध्यान के अंग
4.5 ध्यान एवं धारणा
 4.5.1 पिडस्थ ध्यान
 4.5.2 पदस्थ ध्यान
 4.5.3 रूपस्थ ध्यान
 4.5.4 रूपातीत ध्यान
4.6 सारांश
4.7 अभ्यास प्रश्नावली

4.0 प्रस्तावना

जीवन का सर्वोच्च ध्येय है मुक्ति। बंधन किसी भी व्यक्ति को प्रिय नहीं है। इसलिये यह कहना सर्वथा संगत है कि मुक्ति जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। आचार्य हरिभद्र ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—"मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो"—वह सारा धार्मिक व्यापार योग है जो व्यक्ति को मुक्ति से जोड़ता है। योग वही है जो मुक्ति के लिये है और मुक्ति से जुड़ा हुआ है। बंधन के लिये या बंधन से जोड़ने वाली कोई भी प्रवृत्ति योग नहीं हो सकती। कर्म बंधन से रहित हो जाने पर ही मुक्ति संभव है। सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ही मोक्ष या मुक्ति का मार्ग है। उस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति का एक कारण ध्यान है।

4.1 उद्देश्य– मुक्ति प्राप्त करने के लिए ध्यान का अभ्यास आवश्यक है।

4.2 ध्यान का अर्थ

ध्यान शब्द "ध्यैं चिन्तायाम्" धातु से निष्पन्न होता है, किन्तु प्रवृत्ति लभ्य अर्थ उससे भिन्न है। ध्यान का अर्थ चिन्तन नहीं किन्तु चिन्तन का एकाग्रीकरण अर्थात् चित्त को किसी एक लक्ष्य पर स्थिर रखना या उसका निरोध करना है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ध्यान को सम्यक्दर्शन व ज्ञान से परिपूर्ण और अन्य द्रव्य के संसर्ग से रहित कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में अनेक अर्थों का आलम्बन लेने वाली चिन्ता के निरोध को अन्य विषयों की ओर से हटाकर उसे किसी एक ही वस्तु में नियन्त्रित करने को ध्यान कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि जैन परम्परा में ध्यान का सम्बन्ध केवल मन से ही नहीं माना गया था। वह मन, वाणी और शरीर तीनों से सम्बन्धित था। इस अभिमत के आधार पर चेतना की निरंजन दशा निष्प्रकम्प दशा ध्यान है। ध्यान शतक में स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बतलाया है और जो एकाग्रता को प्राप्त चित्त है उसको ध्यान कहा गया है आदिपुराण में भी चित्त का एकाग्ररूप से निरोध करना ध्यान है—यह बतलाया गया है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में राग-द्वेष और मिथ्यात्व से रहित पदार्थ की यथार्थता को ग्रहण करने वाला जो विषयान्तर के संचार से रहित ज्ञान होता है—उसे ध्यान कहा गया है। वहीं एकाग्रचित्त निरोध को भी ध्यान कहा गया है। तत्त्वानुशासन में भी एकाग्रचिन्ता को ध्यान का लक्ष्य निर्दिष्ट किया गया है। वह निर्जरा तथा संवर का कारण है। योगसार प्राभृत में ध्यान के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा गया है कि आत्म स्वरूप का प्ररूपक रत्नत्रयमय ध्यान किसी एक ही वस्तु में चित्त को स्थिर करने वाले साधु को होता है। इससे उसका कर्मक्षय होता है, वस्तुतः चित्त को किसी एक वस्तु अथवा बिन्दु पर केन्द्रित करना कठिन है क्योंकि वह किसी एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त्त से ज्यादा टिक नहीं पाता। एक मुहूर्त्त ध्यान में व्यतीत हो जाने के पश्चात् वह स्थिर नहीं रहता और यदि कभी हो भी जाए तो वह ध्यान न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कहलाकर चिन्तन कहलायेगा अथवा आलम्बन की भिन्नता से दूसरा ध्यान कहलायेगा। प्रकारान्तर से ध्यान अथवा समाधि वह है जिसमें संसार बंधनों को तोड़ने वाले वाक्यों के अर्थ का चिन्तन किया जाता है। अर्थात् समस्त कर्ममल नष्ट होने पर सिर्फ वाक्यों का आलम्बन लेकर आत्म स्वरूप में लीन हो जाने का प्रयत्न किया जाता है।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्य में आगमोक्त विधि के अनुसार वचन, काय और चित्त के निरोध को ध्यान कहा गया है। ध्यान को साम्यभाव बताते हुए कहा गया है कि योगी जब ध्यान में तन्मय हो जाता है तब उसे द्वैत ज्ञान रहता ही नहीं और वह राग-द्वेषादिक सांसारिकता से ऊपर उठकर चित्त स्वरूप आत्मा के ही ध्यान में निमग्न हो जाता है। इसी परिभाषा की पुष्टि करते हुए ध्यान के सम्बन्ध में समरसीभाव तथा सवीर्यध्यान का प्रयोग हुआ है। रयणसार में जिनागम का अभ्यास, पठन, पाठन, चिन्तन, मनन और वस्तुस्वरूप के विचार को ही ध्यान माना गया है। श्री जिनागम में परिणाम की स्थिरता को ध्यान कहा गया है।

उक्त विवरण से फलित होता है कि चिन्तन शून्यता ध्यान नहीं है और वह चिन्तन भी ध्यान नहीं है जो अनेकाग्र है। एकाग्र चिन्तन ध्यान है, भावक्रिया ध्यान है और चेतना के व्यापक प्रकाश में जब चित्त विलीन हो जाता है वह भी ध्यान है।

4.3 समाधि

आचार्य वीरसेन ने समाधि के लक्षण का निर्देश करते हुए कहा है कि सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चरित्र में जो सम्यक् अवस्थान होता है उसका नाम समाधि है। तत्त्वानुशासन में ध्यान और ध्येय की एकरूपता को समाधि कहा गया है। पाहुड़ दोहा में समाधि की विशेषता को प्रगट करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार नमक पानी में विलीन होकर समरस हो जाता है उसी प्रकार यदि चित्त आत्मा में विलीन होकर समरस हो जाये तो फिर जीव को समाधि में और क्या करना है? अर्थात् बाह्य विषयों की ओर से निस्पृह होकर चित्त का जो आत्मस्वरूप में लीन होना है, यही समाधि है।

योग

तत्त्वार्थसूत्र में शरीर, वाणी और मन के कार्य का निरोध संवर है और यही योग है। हरिभद्रसूरि ने उन सभी निर्मल धर्म कार्यों को योग कहा है कि जो मोक्ष से योजित करते हैं। उनके द्वारा योग के अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्ति—ये पांच भेद किए गए। आचार्य हेमचन्द्र ने मोक्ष के उपाय रूप योग को ज्ञान दर्शन और चारित्रात्मक कहा है। आचार्य यशोविजय ने भी हरिभद्र के अनुसार ही ज्ञान, श्रद्धा और चरित्र को ही योग कहा है। इस प्रकार जैन परम्परा में योग का अर्थ चित्तवृत्तियों का निरोध व मोक्ष प्राप्ति का साधन है। इसके द्वारा भावना, ध्यान, समता का विकास होकर कर्मग्रन्थियों का नाश होता है। जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों दर्शनों में योग, समाधि व ध्यान (तप) बहुधा समानार्थक है।

योग शब्द 'युज्' धातु से बना है। संस्कृत व्याकरण में दो युज् धातुओं का उल्लेख है जिसमें एक अर्थ जोड़ना है तो दूसरे का अर्थ समाधि—मनः स्थिरता है। इस शब्द का प्रयोग भारतीय योगदर्शन में दोनों अर्थों में हुआ है। "युजे समाधि वचनस्य योगः" इस निरूक्ति के अनुसार योग को समाधि परक कहा गया है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहा है।

4.4 ध्यान के अंग

ध्यान के लिये प्रमुख रूप से तीन बातें होना आवश्यक है—1. ध्याता 2. ध्येय और 3. ध्यान।

ध्याता—ध्यान करने वाले को ध्याता कहा जाता है। ज्ञानार्णव में ध्यान के स्वरूप को बताते हुए कहा गया है कि ध्याता के आठ गुण जरूर होने चाहिए जो इस प्रकार हैं—1. ध्याता मुमुक्षु हो 2. संसार से विमुक्त हो 3. क्षोभ रहित व शांत चित्त हो 4. वशी हो 5. स्थिर हो 6. जितेन्द्रिय हो 7. संवरयुक्त हो 8. धीर हो। ऐसे आठ गुणों से युक्त ध्याता को ध्यान की सिद्धि होती है, अन्यथा नहीं।

ध्येय—जिसका ध्यान किया जाता है वह ध्येय है। बिना किसी आलम्बन अर्थात् ध्येय के ध्यान होना दुष्कर है। जैन साधना का मुख्य ध्येय है मुक्ति। बंधन किसी भी व्यक्ति को प्रिय नहीं है। जिसमें चेतना का किंचित् भी विकास है उसमें मुमुक्षा है। इसीलिये यह कहना सर्वथा संगत है कि मुक्ति जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। ध्यान मुक्ति का साधन है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ध्यान—ध्याता का ध्येय के लिए स्थिर होना ही ध्यान है। निश्चय नय में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, उपादान और अधिकरण को षष्ठकारकमयी आत्मा कहा गया है। अतः आत्मा अपनी आत्मा को, अपनी आत्मा में, अपनी आत्मा के द्वारा अपनी आत्मा के लिए, अपनी आत्मा हेतु से और अपनी आत्मा का ही ध्यान करता है। इष्ट अनिष्ट बुद्धि के मूल से मोह का क्षय हो जाने पर चित्त स्थिर हो जाता है। चित्त की स्थिरता को ही ध्यान कहा गया है।

4.5 ध्यान एवं धारणा

ध्यान के दो प्रकार हैं—1. सालम्बन—आलम्बन सहित, 2. निरालम्बन—आलम्बन रहित।

किसी भी साधक का ध्यान एकाएक निरालम्बन नहीं लग सकता इसलिये स्थूल एवं इन्द्रिय गोचर पदार्थों से सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर पदार्थों का चिन्तन करना आवश्यक माना गया। आलम्बन का पर्याय ध्येय माना जाता है। इसी ध्येय को चार भेदों वाला कहा गया है। अतः सालम्बन ध्यान के चार प्रकार इस प्रकार हैं—1. पिण्डस्थ, 2. पदस्थ, 3. रूपस्थ, 4. रूपातीत।

4.5.1 पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थ ध्यान में शरीर का आलम्बन लिया जाता है। आत्मा और शरीर में एकत्व नहीं है, किन्तु उनका संयोग है। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन अतः आत्मा और शरीर स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है। शरीर अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति का साधन है, इसलिये उसमें सर्वथा भेद नहीं कहा जा सकता। इस दृष्टि से शरीर आत्मा न सिर्फ चेतन और न सिर्फ अचेतन है, किन्तु जात्यन्तर है। चेतन और अचेतन का संयोग है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति और शरीर का पौद्गलिक सहयोग ये दोनों मिलकर सशरीर आत्मा के अस्तित्व को प्रगट करते हैं।

शरीर के पांच प्रकार हैं—

औदारिक—यह अस्थि, मांस आदि से निर्मित स्थूल शरीर है।

वैक्रिय—यह अस्थि मांस रहित स्थूल शरीर है। यह योगी के भी हो सकता है।

आहारक—यह योगज शरीर है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रेषित किया जा सकता है।

तैजस्—यह विद्युत् शरीर है।

कार्मण—यह मूल शरीर संस्कार शरीर है।

तैजस् और कार्मण दोनों सूक्ष्म शरीर हैं।

चैतन्य का विस्तार बाह्य जगत् की ओर होता है तब उसकी गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर होती है। जब वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् की ओर लौटता है तब उसकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है। स्थूल शरीर की निष्पत्ति कार्मण शरीर होने पर होती है। इस दृष्टि से यह सब शरीरों का मूल कारण है। स्थूल शरीर भवान्तरगामी नहीं होते। उनमें भी भवान्तर गमन के संस्कार कार्मण शरीर में संचित रहते हैं। इस दृष्टि से यह संस्कार शरीर भी है।

आत्मा का सबसे निकट सम्बन्ध कार्मण शरीर से है। आत्मा के चैतन्य और वीर्य सर्वप्रथम इसी में संक्रांत होते हैं। तैजस् शरीर इन्हें स्थूल शरीर तक पहुंचाता है और स्थूल शरीर के द्वारा वे अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार आत्मा के चैतन्य और वीर्य कार्मण शरीर, तैजस् शरीर से स्थूल शरीर तक पहुंचकर बाह्य जगत् में उद्घाटित होते हैं। इसी तरह बाह्य जगत् के प्रभाव से आत्मा तैजस् शरीर और कार्मण शरीर के माध्यम से ही प्रभावित होती है। इस प्रकार तैजस् शरीर प्रेषण के माध्यम से काम करता है।

कार्मण और तैजस् शरीर सूक्ष्म शरीर है, इसलिये उनके अवयव नहीं हैं। वे अवयव विहीन शरीर हैं। वे स्थूल शरीर के अवयवों में व्याप्त हैं। साधारणतया वे पूरे शरीर में परिव्याप्त हैं। वे केन्द्रित भाग चैतन्य की अभिव्यक्ति के मुख्य केन्द्र हैं। पिण्डस्थ ध्यान में इन्हीं केन्द्रों पर मन को एकाग्र किया जाता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के शारीरिक केन्द्र ये हैं—1. सिर 2. भ्रू 3. तालू 4. ललाट 5. मुंह 6. नेत्र 7. कान 8. नासाग्र 9. हृदय 10. नाभि।

इन केन्द्रों पर ध्यान करने से मन की एकाग्रता सरलता से सधती है और आन्तरिक ज्ञान विकसित होता है। चित्त को किसी निश्चित देश में स्थिर करना धारणा है। वह शरीर या उससे भिन्न अन्य वस्तुओं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पर की जा सकती है। देहाश्रित धारणाएं भी पिण्डस्थ ध्यान की कोटि में आती हैं। उपर्युक्त मत है आचार्य श्री तुलसी का जो उन्होंने मनोनुशासनम् पुस्तक में व्यक्त किया है।

भाव संग्रह में अपने शरीर में स्थित अच्छे गुण वाले आत्म प्रदेशों के समूह के चिन्तन करने को पिण्डस्थ ध्यान कहा गया है। ज्ञानार्णव में इस ध्यान का विस्तृत वर्णन करते हुए आचार्य ने इस ध्यान के लिये पांच धारणाओं का निर्देश दिया है—1. पार्थिवी 2. आग्नेयी 3. श्वसना 4. वारूणी 5. तत्त्व रूपवती। योगशास्त्र में भी इन्हीं पांचों धारणाओं का वर्णन किया गया है।

प्रयोग

आसन पर स्थित होकर चिन्तन करें कि मेरे आधारभूत स्थान (समुद्र पर्वत आदि) विशाल और विराट् हैं। ऐसा अनुभव भी करें। फिर अपने को उस पर स्थित मानकर अपने सर्वशक्ति सम्पन्न वीतराग स्वरूप की अनुभूति करनी चाहिए। अनुभूति को पुष्ट करते-करते चित्त उसी में विलीन हो जाना चाहिए। यही पार्थिवी धारणा है।

नाभिकमल प्रज्ज्वलित होने के कारण सब दोष दग्ध हो रहे हैं। नाभिकमल स्थित त्रिकोण अग्निकुण्ड में अग्नि प्रज्ज्वलित हो रही है। उसमें सारे दोष भस्म हो रहे हैं। ऐसी धारणा करते-करते चित्त उसी में लीन हो जाना चाहिए इस अनुभव को आग्नेई धारणा कहा जाता है।

नाभिकमल में दोषों के जलने से जो भस्म होती है उसे तेज वायु का झोंका उड़ा ले जा रहा है। ऐसा चिन्तन करना मारूति या श्वसना धारणा कहा जाता है। शेष भस्म का प्रक्षालन करने को विशाल मेघ राशि की अनुभूति करना वारूणी धारणा कही जाती है।

अब साधक चिन्तन करें कि मेरी आत्मा पूर्ण चन्द्रमा के समान उज्ज्वल एवं निर्मल बन गई है। मेरे समस्त आठों कर्म नष्ट हो गए हैं और कर्म रहित मैं पुरुषाकार हूँ। ज्ञान मात्र ही मेरा शरीर है। ऐसी अनुभूति करना ही तत्त्व रूपवती धारणा है।

इस प्रकार पांचों धारणाओं से युक्त पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाले ध्याता को मंत्र, माया, शक्ति, जादू आदि से कोई नुकसान नहीं होता। प्रथम धारणा से साधक अपने मन को स्थिर करता है। दूसरी से कर्म शरीर को नष्ट करता है। तीसरी से शरीर को कर्मों से भिन्न देखता है। चौथी धारणा से कर्मों को नष्ट होते देखता है। पांचवीं धारणा से शरीर एवं कर्म से रहित शुद्ध आत्मा को देखता है। इस प्रकार वह इस ध्यान के अभ्यास के द्वारा मन एवं चित्त को एकाग्र करके शुक्ल ध्यान में पहुंचने की स्थिति प्राप्त कर लेता है।

संसारिणां वीर्य निमित्तापेक्ष—संसारी जीव की समस्त शक्तियों का उपयोग निमित्त के योग से ही होता है। जीव में चैतन्य है किन्तु उसका उपयोग इन्द्रिय गोलकों—ज्ञान वाहक स्नायुगुच्छकों के माध्यम से होता है। ज्ञानवाहक स्नायुगुच्छकों का सम्बन्ध सुषुम्ना नाड़ी और पृष्ठ रज्जु से है। उन्हीं सुषुम्ना गत ज्ञानवाही गुच्छकों तथा ज्ञानेन्द्रियों को मिलाकर प्रेक्षाध्यान प्रणेता आचार्य महाप्रज्ञ ने 13 चैतन्य केन्द्रों को प्रमुखता से ध्यान का साधन बनाया है। वे चैतन्य केन्द्र इस प्रकार हैं—1. शक्ति केन्द्र 2. स्वास्थ्य केन्द्र 3. तेजस् केन्द्र 4. आनन्द केन्द्र 5. विशुद्धि केन्द्र 6. ब्रह्म केन्द्र 7. प्राण केन्द्र 8. अप्रमाद केन्द्र 9. चाक्षुष केन्द्र 10. दर्शन केन्द्र 11. ज्योति केन्द्र 12. शांति केन्द्र 13. ज्ञान केन्द्र।

योग शास्त्रों में निर्दिष्ट मूलाधार आदि चक्रों का इन तेरह चैतन्य केन्द्रों में समावेश हो जाता है।

चैतन्य केन्द्रों अथवा चक्रों पर ध्यान करने से ज्ञान तन्तु जागृत होते हैं। इन्हें जागृत करने के लिये संचय और तप की प्रखर साधना भी आवश्यक है।

4.5.2 पदस्थ ध्यान

"पदस्थ मंत्र वाक्यस्थं" अर्थात् मंत्र वाक्यों में जो स्थित है वह पदस्थ ध्यान है। इस ध्यान का मुख्य आलम्बन शब्द है। इस ध्यान के द्वारा साधक अपने को एक ही केन्द्र बिन्दु पर केन्द्रित करते हुए मन को अन्य विषयों से पराभूत कर लेता है। केवल सूक्ष्म वस्तु का ही चिन्तवन करता है। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि पवित्र पदों का आलम्बन लेकर जो अनुष्ठान या चिन्तवन किया जाता है वह पदस्थ ध्यान है। यही बात योगशास्त्र में भी कही गई है—एक अक्षर आदि को लेकर अनेक प्रकार के पंच परमेष्ठी वाचक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पवित्र मंत्र पदों का उच्चारण जिस ध्यान में किया जाता है वह पदस्थ ध्यान कहलाता है। इस ध्यान के आधार पर ध्यान मंत्रों का पर्याप्त विकास हुआ है।

मंत्र जाप जब मानसिक जप का रूप लेते हैं और उसके साथ कल्पनाएं जोड़कर मंत्र के साक्षात् दर्शन किए जाते हैं तो वह पदस्थ ध्यान बन जाता है। मंत्रों और पदों का स्वामी और सभी तत्त्वों का नायक 'अर्हं' माना गया है। इसके आदि में वाङ्मय अर्थात् वर्णमाला का पहला अक्षर 'अ' मध्य में मध्याक्षर 'र' और अन्त में अंतिम अक्षर 'ह' है। इस तरह जो सारे वाङ्मय को अपने में व्याप्त कर 'अक्षर ब्रह्म' है वह 'शब्द ब्रह्म' भी कहलाता है। अर्हं इस परम ब्रह्म वाचक अक्षर ब्रह्म में 'अ' अक्षर साक्षात् अमृतमय मूर्ति के रूप में स्थित सुख का कर्त्ता है। स्फुरायमान रेफ (ं) अविकल रत्नमय सम्यक् दर्शन सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र की प्रतिमूर्ति है। 'ह्' अक्षर मोह सहित किए हुए है। 'अर्हं' यह बीजाक्षर अनाहत सहित मंत्रराज कहलाता है।

साधना में सबसे बड़ा विघ्न कोई है तो 'अहम्' है। (ं) रेफ अग्नि तत्त्व है। जब 'अहम्' पर (ं) लगा देते हैं तो वही अर्हम् बन जाता है। अहं जल कर भस्म हो जाता है और वही अहंकारी व्यक्ति अर्हं या वीतराग बन जाता है। इसलिये अहं को जलाकर वीतराग बनने के लिये अर्हं का ध्यान करना चाहिए। यह पाप समूह के हन्ता का रूप धारण बहुत उत्तम पदस्थ ध्यान हो जाता है।

यह मंत्रराज सर्वज्ञ सर्वव्यापी शांतिमूर्ति साक्षात् जिनेन्द्र भगवान् के समान ही है। इस ध्यान में ध्याता यह कल्पना करता है कि एक सोने का कमल है और उसके मध्य में कर्णिका पर निष्कलंक निर्मल चन्द्रमा की किरणों के समान, अर्हं मन्त्र विराजमान है। वह उसी मंत्र का स्मरण करता है और नेत्रों से चन्द्रमा के समान चमकते अक्षरों में अर्हं को देखकर उसी के मानसिक जप में तल्लीन हो जाता है। इस मन्त्रराज के ध्यान से ध्याता एकाग्रता को प्राप्त होकर चित्त को स्थिर कर लेता है और उसी समय ज्योतिर्मय जगत् को साक्षात् देख लेता है। इस मंत्र से ध्यानी अणिमादि सभी सिद्धियों को प्राप्त कर अलक्ष्य में अपने मन को स्थिर कर लेता है। इससे उसके अन्तरंग में इन्द्रियों से अगोचर ज्ञान प्रगट होता है। इसी को आत्मज्ञान कहते हैं।

इसी तरह प्रणव ध्यान भी किया जा सकता है। प्रणव ध्यान में "ॐ" मंत्र का ध्यान किया जाता है। जैनाचार्यों ने ॐ को पञ्चपरमेष्ठी का वाचक माना है। उन्होंने अरहन्त, अशरीरी-सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और मुनि इन पांचों परमेष्ठियों के प्रथम वर्ण लेकर सन्धि करने से "ॐ" को निष्पन्न माना है। कुछ जैनाचार्यों ने ॐ की निष्पत्ति इस प्रकार भी की है—'अ' ज्ञान, 'उ' दर्शन, 'म' चारित्र का प्रतीक है। इस प्रकार तीनों मिलकर अ + उ + म = ओम् या ॐ रूप बनता है।

इस ध्यान का साधक सबसे पहले हृदय कमल में स्थित कर्णिका में इस पद की स्थापना करता है। तब इस महाबीज, महामंत्र, महापद स्वरूप 'ॐ' को कुम्भक करके साधता है। 'ॐ' की साधना विभिन्न रंगों के साथ की जाती है। श्वेत वर्ण वाले "ॐ" की साधना शांति, पुष्टि, कर्मक्षय करने वाली एवं मोक्ष को देने वाली होती है। पीले रंग के "ॐ" का जाप, ध्यान ज्ञान तन्तुओं को सक्रिय बनाने के लिये किया जाता है। लाल रंग के ॐ का ध्यान वशीकरण के लिये किया जाता है। नीले रंग की साधना साधक को शांति प्रदान करती है। श्याम वर्ण के ॐ की साधना साधक को कष्ट सहिष्णु बनाती है। इस प्रणव ॐ का ध्यान सांसारिक वैभव एवं सुखों के साथ-साथ मोक्ष को भी देने वाला होता है।

पंञ्च परमेष्ठी नामक ध्यान में साधक चिन्तवन करता है, मेरे हृदय में आठ पंखुडियों से विभूषित एक कमल है। उस कमल की कर्णिका पर 'णमोअरहंताणं' नामक सात अक्षरों का मंत्र लिखा है। तत्पश्चात् उस कर्णिका के बाहर के आठ पत्रों में से चार दिशाओं के चार दलों पर क्रमशः 'णमो सिद्धाणं' 'णमो आयरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं', 'णमो लोए सव्व साहूणं' का ध्यान किया जाता है। चार विदिशाओं वाले पत्रों पर क्रमशः ऐसो पञ्च णमुक्कारो, सव्व पाव पणासणो, मंगलाणं च सव्वेसिं पढ़मं हवइ मगलम् का चिन्तवन किया जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र ने पहले चार पदों पर तो णमो अरहंताणं आदि को ध्याने के लिये बताया है परन्तु अन्य चार विदिशाओं के चार पत्रों पर क्रमशः सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नमः, सम्यक् चारित्राय नमः, सम्यक् तपसे नमः इन चार नमस्कार मंत्रों के चिन्तवन के लिए कहा है। इस प्रकार अष्टदल कमल और एक कर्णिका में नव मंत्रों को स्थापित करके उनका ध्यान किया जाता है। इस महामंत्र का प्रभाव योगी मुनियों के लिये महत्त्वपूर्ण है ही अन्य के लिये भी चित्त को निर्मल करने वाला होता है। यही महामंत्र सबका रक्षक माना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन मंत्रों के अतिरिक्त और भी कई मंत्र हैं जिनके ध्यान से साधक मोक्ष पद को प्राप्त कर सकता है। वे मंत्र इस प्रकार हैं—'ॐ अर्हत् सिद्ध सयोगीकेवली स्वाहा।' 'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः।' 'नमः सर्व सिद्धेभ्यः।' 'ॐ जोग्गे मग्गे तच्चे भूदे भव्वे भविस्से अक्खे पक्खे जिनपारिस्से स्वाहा।' 'ॐ ह्रीं श्रीं नमो नमोऽर्हंताणं ह्रीं नमः।' एव नमो नाणस्स, 'नमो दंसणस्स', 'नमो चरित्तस्स', 'नमोतवस्स।' 'एसो पंच णमोक्कारो', 'सव्व पावप्पणासणो', 'मंगलाणं च सव्वेसिं,' पढ़मं हवइ मंगलं इत्यादि।

इस प्रकार पदस्थ ध्यान में चित्त को एकाग्र करने के लिये पदों अर्थात् मंत्रों एवं बीजाक्षरों का सहारा लिया जाता है। जो मुक्ति की कामना करने वाले हैं उनके लिए मंत्र रूपी पदों का अभ्यास करने के लिए कहा गया है। इन मंत्रों के आलम्बन से की गई साधना से साधक के समस्त कर्मों का क्षय हो सकता है। लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के साथ-साथ मोक्ष पद की प्राप्ति भी हो जाती है।

4.5.3 रूपस्थ ध्यान

रूप शब्द के अनेक अर्थ हैं। द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—रूपी और अरूपी। आत्मा अरूप है। पुद्‌गल या पदार्थ रूपी है। यह रूपी होने के कारण इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य है। आत्मा का इन्द्रियों के द्वारा इसलिये ग्रहण नहीं होता क्योंकि वह अरूपी है। ध्यान काल में ये दोनों प्रकार के द्रव्य ध्येय बनते हैं। रूपी ध्येय स्थूल होता है और अरूपी सूक्ष्म। इसलिये साधक प्रारम्भ में रूपी ध्येय का आलम्बन लेता है। उस पर मन की एकाग्रता सध जाने पर वह अरूपी ध्येय पर ध्यान का अभ्यास करता है। रूपी ध्येय में परमाणु से लेकर किसी बड़े-से-बड़े आकार का आलम्बन लिया जा सकता है। वैसे पिण्डस्थ ध्यान में भी रूपी शरीर या उसके किसी अंग प्रत्यंग का आलम्बन लिया जाता है, पर शरीर की अपनी विशेषता है। शब्द की भी अपनी विशेषता है। इसलिये उन्हें रूपस्थ ध्यान से पृथक् स्थान दिया गया है। शरीर में चेतना की अभिव्यक्ति होती है। इसलिये बाहरी रूपी पदार्थों को ध्येय बनाने के स्थान पर शरीरगत ध्येय अधिक सफल होता है। शब्द का भी चैतन्य केन्द्र से निकट का सम्बन्ध होता है। इसलिये उसका भी अपना विशेष महत्त्व है। शरीर और शब्द के अलावा शेष जितने भी रूपी ध्येय होते हैं वे सब रूपस्थ ध्येय की कोटि में आते हैं।

अन्तरंग शुद्धात्मा की द्योतक निर्ग्रन्थ एवं निर्विकार साधुओं की मुद्रा को वीतराग मुद्रा कहा गया है। तीर्थंकर आदि इष्ट देव का ध्यान रूपस्थ ध्यान कहा गया है। इस ध्यान में साधक तीर्थंकर आदि के गुणों को और आदर्शों को अपने सम्मुख रखकर उनके स्वरूप के आलम्बन से जो ध्यान करता है उसको रूपस्थ ध्यान कहा गया है। रूपस्थ ध्यान में साधक तीर्थंकर से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, दान, लाभ, योग, उपभोग, वीर्य, क्षायिक सम्यक्त्व और चारित्र इन नौ लब्धियों का आलम्बन लेकर ध्यानस्थ होता है। वह तीर्थंकर के सर्वज्ञ, दाता, सर्व हितैषी, वर्द्धमान, निरामय, नित्य अव्यय, अव्यक्त आदि गुणों का स्मरण कर ध्यान करता है और उन्हीं गुणों में लीन हो जाता है। साधक जब वीतरागी का ध्यान करता है तो स्वयं वीतरागी बन जाता है। रूपस्थ ध्यान में अच्छे सम्यक् चारित्रात्माओं का ध्यान ही करना चाहिए अन्यथा अगर वह रागी का ध्यान करता है तो स्वयं रागी बन जायेगा। जिन-जिन भावों से जीव जुड़ता है उन-उन भावों में तन्मयता के कारण उसी रूप में बदल जाता है।

रूपस्थ ध्यान को करने वाला साधक सर्वज्ञ देव की आराधना करके मोक्ष पद को प्राप्त होता है। वह सभी अवस्थाओं में उस परमेष्ठी को ही देखता है।

4.5.4 रूपातीत ध्यान

रूपातीत ध्यान में अरूपी आत्मा का आलम्बन लिया जाता है। हम उसे साक्षात् देख नहीं पाते हैं। शाब्दिक ज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप को निश्चित कर उस पर चित्त को एकाग्र करते हैं। रूपातीत ध्यान शाब्दिक भावना के माध्यम से होता है। वह माध्यम निरालम्बन ध्यान की स्थिति में ही छूट सकता है।

आचार्य रायसेन ने रूपस्थ और रूपातीत ध्यान दोनों को पिण्डस्थ ध्यान के रूप में उल्लेख किया है। उसका आशय यह है कि ध्येय-अर्थ ध्याता के पिण्ड (देह) में स्थित होकर ही ध्यान का विषय बनता है। इसलिये चेतन और अचेतन दोनों का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है।

रूपातीत—रूप और अतीत को मिलाकर बना है। रूप का अर्थ है मूर्त्तिमान पदार्थ या पुद्‌गल यानि दृश्यमान ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा—शुद्धात्मा। इस प्रकार आत्मा जो द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रहित हो। ऐसे निरञ्जन स्वरूप का ध्यान ही रूपातीत ध्यान कहलाता है। इस ध्यान में साधक चिदानन्दमय, शुद्ध अमूर्त्त परमाक्षर आत्मा को आत्मा से ही ध्याता है।

इस ध्यान से ध्याता ध्येय और ध्यान की एक रूपता हो जाती है। इसी एकता को समरसीभाव भी कहते हैं। 'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' का सूत्र याने आत्मा से आत्मा को देखें—स्वयं स्वयं को देखें—रूपातीत ध्यान की तरफ ही इशारा करता है।

इस ध्यान में ध्याता सालम्बन ध्यान से निरालम्बन ध्यान के दरवाजे में कदम रख देता है। क्योंकि इसमें न तो शरीर को आलम्बन बनाया जाता है और न किसी प्रकार के मंत्र या जप को और न ही किसी वीतराग मुद्रा में लीन तीर्थंकर या साधु को ही। रूपातीत ध्यान अमूर्त्त आत्मा का है। इसका साधक आत्मा के ज्ञान-दर्शन-चारित्र सुख आदि गुणों में अपनी चित्त वृत्ति को स्थिर कर देता है। शुरू में ध्यान को सुविधाजनक बनाने के लिये पिण्डस्थ से धीरे-धीरे रूपातीत ध्यान तक आकर फिर कुछ दिन की स्थिरता के बाद निरालम्ब ध्यान में प्रविष्ट हो जाते हैं। स्थूल से सूक्ष्म—सविकल्प से निर्विकल्प और सालम्बन से निरालम्बन की ओर क्रमशः ही बढ़ा जा सकता है। यह तो सर्व सम्मत हैं

ध्यान मार्ग पर चलने वाले साधक को चाहे वह मुनि हो या श्रावक अपने आपको किसी भी प्रकार के कष्टों के आने पर विचलित नहीं होने के लिये तैयार करना पड़ता है। ये कष्ट परीषह कहे जाते हैं। जैनागमों में परीषह के 22 भेद बताए गए हैं—1. क्षुधा यानी भूख 2. तृषा यानी प्यास 3. शीत 4. उष्ण 5. दंशमसक 6. वस्त्राभाव 7. अरति 8. स्त्री/पुरुष 9. चर्चा 10. निषद्य 11. शय्या 12. आक्रोश 13. वध 14. याचना 15. अलाभ 16. रोग 17. तृणस्पर्श 18. मल 19. सत्कार-पुरस्कार 20. प्रज्ञा 21. अज्ञान 22. अदर्शन।

परीषहों के सहने की शक्ति प्राप्त करने के लिये 12 प्रकार की निर्जरा या कष्ट स्वयं उठाकर तप करना पड़ता है। निर्जरा या तप के 12 भेद इस प्रकार हैं—1. अनशन 2. अवमोदर्य 3. वृत्ति संक्षेप 4. रस परित्याग 5. कायक्लेश यानी आसन और सूर्य की आतापना 6. प्रतिसंलीनता (इन्द्रियों को ज्ञानोन्मुखी करना) 7. प्रायश्चित 8. विनय 9. वैय्यावच्च (सेवा) 10. स्वाध्याय 11. ध्यान 12. व्युत्सर्ग।

ध्यान में सिद्धि प्राप्ति के लिए कषायों पर भी नियंत्रण करना पड़ता है। वे कषाय 4 होते हैं—1. क्रोध 2. मान (अहम्) 3. माया (छल कपट) और 4. लोभ।

इसके अलावा साधु को महाव्रत और श्रावक या साधक को अणुव्रत धारण करने पड़ते हैं।

4.6 सारांश

इससे साधक संयमी, कषाय वृत्तियों का निरोध करने वाला, परीषहजयी और निर्जरा के द्वारा कर्मों का क्षय करने वाला बनकर मुक्ति मार्ग को प्रशस्त कर लेता है।

4.7 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबंधात्मक प्रश्न

1. पिण्डस्थ और पदस्थ ध्यान पर सविस्तार निबन्ध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. ध्यान के स्वरूप का विवेचन करें?
2. ध्याता, ध्येय और ध्यान का विवेचन करें?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. ध्याता के गुण कितने हैं?
2. सालम्बन ध्यान के कितने प्रकार हैं?
3. शरीर के कितने प्रकार हैं?
4. धारणाएं कितनी हैं?
5. चैतन्य केन्द्रों को जागृत करने के लिए ध्यान के अलावा क्या आवश्यक है?
6. पदस्थ ध्यान किसे कहते हैं?
7. रूपस्थ ध्यान के ध्येय क्या हैं?
8. रूपातीत ध्यान का आलम्बन क्या है?
9. ध्यान में सिद्धि प्राप्ति के लिए .... पर भी नियंत्रण करना पड़ता है।
10. जैनागमों में परीषह के .... भेद बताए गए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–2 : प्रेक्षाध्यान के स्वरूप
इकाई–5 : प्रेक्षाध्यान

संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 प्रेक्षाध्यान
5.3 प्रेक्षाध्यान का ध्येय
5.4 प्रेक्षाध्यान का स्वरूप
5.4.1 कायोत्सर्ग
5.4.2 अन्तर्यात्रा
5.4.3 श्वासप्रेक्षा
5.4.4 शरीर प्रेक्षा
5.4.5 चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा
5.4.6 लेश्याध्यान
5.4.7 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा
5.4.8 विचार प्रेक्षा और समता
5.4.9 संयम
5.4.10 भावना
5.4.11 अनुप्रेक्षा
5.4.12 एकाग्रता
5.5 प्रेक्षाध्यान का महत्व
5.6 सारांश
5.7 अभ्यास प्रश्नावली

5.0 प्रस्तावना

प्रत्येक व्यक्ति शांति की खोज में है। चाहे व्यक्तिगत जीवन हो या पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्ध हो या अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, शांति को प्राप्त करना ही सबका अंतिम लक्ष्य है। भारतीय दर्शन में मोक्ष (निर्वाण) प्राप्त करना ही आत्मा का अंतिम ध्येय है। जिसे दूसरे शब्दों में शांति कह सकते हैं। मानसिक शांति का सम्बन्ध व्यक्ति से है। अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में विश्व शांति कायम रहे यही मानव जाति का कार्य है।

यदि मानसिक संतुलन बना रहे तो शांति को प्राप्त किया जा सकता है। क्रोधी व्यक्ति कभी भी शांति की अनुभूति नहीं कर सकता। अतः शांति को पाने के लिए मानसिक असंतुलन के हेतुभूत कारणों के प्रभावों को दूर कर चित्त की एकाग्रता को बढ़ाना होगा। चित्त की एकाग्रता दो प्रकार से हो सकती है—

1. किसी विचार या चिन्तन पर चित्त को एकाग्र करना। 2. देखने में चित्त को एकाग्र करना।

5.1 उद्देश्य–

प्रेक्षाध्यान दूसरे प्रकार की चित्त की एकाग्रता का ध्यान है। जिसमें केवल देखने की क्रिया होती है।

5.2 प्रेक्षाध्यान का अर्थ

'प्रेक्षा' शब्द 'ईक्ष' धातु से बना है जिसका तात्पर्य है देखना। 'प्र' उपसर्ग है। प्र + ईक्षा = प्रेक्षा, जिसका अर्थ है—गहराई में उतरकर देखना।

यहां देखने का तात्पर्य बाह्य वस्तु को देखना नहीं, अपितु अंतःचक्षु से सूक्ष्म चेतना को एकाग्रता व पूरी जागरूकता से देखना है। प्रेक्षाध्यान ध्यान की एक ऐसी पद्धति है जिसमें चेतना के सूक्ष्म स्तर पर व आंतरिक घटनाओं को देखा जाता है।

'संपिक्खए अप्पगमप्पएणं' जैन आगम 'दशवैकालिक' का यह सूत्र प्रेक्षाध्यान की पद्धति का मुख्य आधार है। इसका अर्थ है—'अपने आपको देखना', चित्त के द्वारा चेतना (आत्मा) के अनेक सूक्ष्म स्तरों को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देखना और जानना।' 'केवल देखना' ही ध्यान का मूलभूत सिद्धान्त है। इसलिए इस ध्यान पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया। वस्तुतः यह पद्धति विचारों पर चित्त को एकाग्र करने की पद्धति नहीं अपितु 'केवल देखने' में चित्त को एकाग्र करने की पद्धति है।

प्रायः ध्यान शब्द की परिभाषा यही की जाती है कि किसी एक निश्चित विषय पर लंबे समय तक विचार को एकाग्र करना। हमारा मन चिन्तन का साधन है तो देखने का भी साधन है। जब मन को प्रेक्षा के साथ जोड़ा गया तो ध्यान का तात्पर्य हो गया—केवल देखना न कि विचार करना। हमने मन के विभिन्न स्तर जैसे चिन्तन, बौद्धिक विश्लेषण, तार्किक विचारों को ज्यादा महत्त्व दिया परन्तु उसके द्वारा देखने की शक्ति का विकास नहीं किया। सौभाग्य की बात है कि वैज्ञानिकों ने भी देखने के महत्त्व को स्वीकार किया है। प्रसिद्ध पुस्तक 'द ताओ ऑफ फिजिक्स' के लेखक केपरा फ्रीट्ज के शब्दों में—'प्राच्य विद्याओं में ज्ञान का मूल आधार है अनुभव, जिस प्रकार वैज्ञानिक ज्ञान का मूल आधार है प्रयोग। प्राच्य परम्पराओं में यह वर्णन किया गया है कि प्रत्यक्ष अंतःदर्शन, जो बौद्धिकता से परे है, की प्राप्ति स्व-दर्शन व आत्म-निरीक्षण से हो सकती है, विचारों से नहीं।' (P. 22 बेनतम, संस्करण, 1984)

प्रेक्षाध्यान में 'देखने' का तात्पर्य है—राग-द्वेष से मुक्त देखना। ज्ञाता-द्रष्टा भाव से देखना। जब अनुभव राग-द्वेष, सुख-दुःख से प्रदूषित हो जाता है तो देखने की मूल्यवत्ता कम हो जाती है।

5.3 प्रेक्षाध्यान का ध्येय

प्रेक्षाध्यान की साधना का पहला ध्येय है चित्त को निर्मल बनाना। प्रकम्पनों की तीव्रता को कम करना। चेतना का रूपान्तरण करना। प्रेक्षाध्यान की पूरी प्रक्रिया चेतना के सूक्ष्मीकरण की प्रक्रिया है। ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण की साधना है। सुप्त शक्तियों का जागरण कर आध्यात्मिक विकास करना। निर्विकल्प चेतना को प्राप्त करना। वीतराग भाव में प्रतिष्ठित होना।

5.4 प्रेक्षाध्यान का स्वरूप

ध्यान का स्वरूप है—अप्रमाद, चैतन्य का जागरण या सतत् जागरूकता। जो जागृत होता है, वही अप्रमत्त होता है, जो अप्रमत्त होता है, वही एकाग्र होता है। एकाग्रचित्त वाला व्यक्ति ही ध्यान कर सकता है। प्रेक्षाध्यान अप्रमाद की साधना है जिसके मुख्यतः बारह अंग हैं—1. कायोत्सर्ग, 2. अन्तर्यात्रा, 3. श्वास-प्रेक्षा, 4. शरीर-प्रेक्षा, 5. चैतन्य-केन्द्र-प्रेक्षा, 6. लेश्या-ध्यान, 7. वर्तमान क्षण-प्रेक्षा, 8. विचार-प्रेक्षा और समता, 9. संयम, 10. भावना, 11. अनुप्रेक्षा, 12. एकाग्रता।

5.4.1 कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—चैतन्य के जागरण के साथ शरीर का उत्सर्ग। उसका प्रायोगिक अर्थ है—शिथिलीकरण—श्वास को शांत करना, शरीर की चेष्टाओं को शांत करना, मन को खाली करना। आत्मा का अनुभव होना और शरीर के अनुभव समाप्त हो जाना कायोत्सर्ग है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

कायोत्सर्ग का अभ्यास दबाव द्वारा उत्पन्न हारिकारक प्रभावों को निष्फल करने के लिए किया जाता है। कायोत्सर्ग क्या है? इसे समझने के लिए 'दबाव' को समझना आवश्यक है। 'दबाव' शब्द भौतिक शास्त्र का शब्द है, जो पदार्थ के किसी भाग पर पड़ने वाले चाप या दाब का द्योतक है। जब किसी भी पदार्थ पर पड़ने वाले दाब के आकार में परिवर्तन हो जाता है तो उसे तनाव या टान कहा जाता है। इस प्रकार प्रस्तुत संदर्भ में तनाव का अर्थ होगा—व्यक्ति के सामान्य सुख-चैन पूर्णजीवन में पैदा होने वाली गड़बड़ी या बेचैनी। जब कभी इस प्रकार की तनावोत्पादक परिस्थिति किसी व्यक्ति के सामने उपस्थित होती है, तुरन्त ही एक आंतरिक तंत्र स्वतः सक्रिय हो उठता है। इस तंत्र में क्रमशः शरीर के निम्न हिस्से सक्रिय रूप से भाग लेते हैं—1. हाइपोथेलेमस, 2. पिच्युटरी ग्लैण्ड, 3. एड्रीनल ग्रंथियां, 4. अनुकम्पी नाड़ी संस्थान। इन परिवर्तनों के द्वारा शरीर में जटिल तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है, जिसे कायोत्सर्ग के द्वारा सहज-स्वाभाविक किया जाता है।

कायोत्सर्ग क्या है? आध्यात्मिक दृष्टिकोण

हमारे जीवन का सबसे बड़ा सत्य है—तनाव का विसर्जन। तनाव बीमारी का एक कारण है। आदमी में अनेक प्रकार के तनाव रहते हैं—क्रोध का तनाव, इच्छा का तनाव, कामना का तनाव, कषाय का तनाव आदि। ये सब तनाव बीमारी पैदा करते हैं। इस भीतरी तनाव को बाहर कैसे निकाले—यह बात समझ में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आ जाए तो अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं। कायोत्सर्ग तनावमुक्ति का अचूक उपाय है। जिन्होंने कायोत्सर्ग का अभ्यास किया है, उन्होंने यह अनुभव किया है कि शरीर हल्का हो गया है। वह सर्वथा तनाव मुक्त हो गया है। दो घंटे तक सोने से जितना आराम नहीं मिलता, मांसपेशियों को विश्राम नहीं मिलता, उतना विश्राम आधे घंटे तक विधिवत् कायोत्सर्ग करने से मिल जाता है। उससे अधिक विश्राम मिलता है विश्रान्ति के क्षणों में मनुष्य आत्मा के समीप रहता है। अतएव कायोत्सर्ग आत्मा तक पहुंचने का द्वार है। आत्मा भिन्न है शरीर भिन्न है—इस भेद विज्ञान का साक्षात् बोध होता है कायोत्सर्ग के द्वारा।

कायोत्सर्ग की निष्पत्ति

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयई? भगवन्! कायगुप्ति का परिणाम क्या है? भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—'कायगुत्तयाए णं संवरं जणयइ'—कायगुप्ति के द्वारा संवर होता है। इसके अतिरिक्त भी तनावमुक्ति, चित्त की एकाग्रता, ज्ञाताद्रष्टाभाव का विकास, चैतन्य का साक्षात्कार, प्रज्ञा का जागरण आदि अनेक निष्पत्तियां उल्लेखनीय हैं।

5.4.2 अन्तर्यात्रा

'मज्झत्थो निज्जरापेह'—यह आचारांगसूत्र का एक वाक्य है। इसका अर्थ है जो निर्जरापेक्षी है, उसे मध्यस्थ होना चाहिए। मध्यमार्ग (सुषुम्ना) में स्थित होना चाहिए। केवल मध्यमार्ग, सुषुम्ना से बहने वाली धारा ही मस्तिष्क तक पहुंच पाती है। मस्तिष्क में प्राणधारा को ले जाने का अर्थ है—ज्ञानकेन्द्र को प्राणधारा से भर देना। इस दृष्टि से सुषुम्ना को जानना और उस पथ को प्राणों से प्रवाहित करना, उसे प्राणों से भर देना।

अन्तर्यात्रा का महत्त्व

जब हमारी प्राणधारा या मन की गति नीचे की ओर होती है तो वासनाकेन्द्र सक्रिय होता है, तीव्र होता है, जागृत होता है। ज्ञानकेन्द्र कमजोर हो जाता है। जब हमारी प्राणधारा या मन की गति ऊपर की ओर होती है तब ज्ञानकेन्द्र सक्रिय होता है, तीव्र होता है, जागृत होता है, वासनाकेन्द्र क्षीण हो जाता है। चेतना की इस अन्तर्यात्रा से ऊर्जा का प्रवाह या प्राण की गति ऊर्ध्वगामी होती है। इस यात्रा की अनेक आवृत्तियों से नाड़ीतंत्र की प्राणशक्ति विकसित होती है।

अन्तर्यात्रा की विधि

चित्त को शक्ति केन्द्र पर ले जाएं। ऊपर उठाएं सुषुम्ना के मार्ग से ज्ञानकेन्द्र तक लाएं फिर उसी मार्ग से नीचे लाएं। नीचे से ऊपर, ऊपर से नीचे सुषुम्ना के भीतर चले। सुषुम्ना में होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करें। पूरा ध्यान सुषुम्ना में केन्द्रित करें।

5.4.3 श्वासप्रेक्षा

श्वास और जीवन—दोनों एकार्थक जैसे हैं। जब तक जीवन तब तक श्वास और जब तक श्वास तब तक जीवन—यह कहा जा सकता है। शरीर और मन के साथ श्वास का गहरा सम्बन्ध है। यह एक ऐसा सेतु है जिसके द्वारा नाड़ी संस्थान, मन और प्राणशक्ति तक पहुंचा जा सकता है। चैतन्य के द्वारा प्राणशक्ति संचालित होती है। प्राणशक्ति के द्वारा मन, नाड़ी संस्थान और शरीर संचालित होता है। श्वास शरीर की ही एक क्रिया है। इसलिए कहा जा सकता है कि श्वास को देखने का अर्थ है—प्राणशक्ति के स्पन्दनों को देखना और चैतन्य शक्ति को देखना, जिसके द्वारा प्राणशक्ति स्पन्दित होती है।

श्वासप्रेक्षा के प्रकार

श्वास दो प्रकार का होता है—सहज और प्रयत्नजनित। प्रयत्न के द्वारा श्वास को दीर्घ किया जा सकता है तथा किसी एक नथुने से लेकर दूसरे नथूने से निकाला जा सकता है। 1. सहज-श्वास-प्रेक्षा, 2. दीर्घ श्वास-प्रेक्षा, 3. समवृत्ति-श्वास-प्रेक्षा।

दीर्घश्वास प्रेक्षा-विधि

गहरा लम्बा श्वास ले, लम्बा श्वास छोड़े। श्वास की गति को मंद करें। श्वास के प्रकम्पन नाभि तक पहुंचे। श्वास लेते समय पेट की मांसपेशियां फूलती हैं, छोड़ते समय सिकुड़ती हैं। चित्त को नाभि पर केन्द्रित करें और पेट की मांसपेशियों के फूलने और सिकुड़ने का अनुभव करें। श्वास लयबद्ध और समताल चलें। दीर्घश्वास प्रेक्षा में हंसली, पंसलियां और डायाफ्राम तीनों मांसपेशियों का सम्यक् व्यायाम हो जाता है। (दो-तीन मिनट बाद) गहरे, लम्बे और लयबद्ध श्वास को चालू रखते हुए चित्त को नाभि से हटाकर नथुनों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के भीतर श्वास के संधि स्थल पर केन्द्रित करें। आते-जाते प्रत्येक श्वास का अनुभव करें। प्रत्येक श्वास को जानते हुए ले, जानते हुए छोड़ें। चित्त की पूरी शक्ति श्वास को देखने में लगा दें।

श्वास लेने की कला

श्वास लेने की एक कला है सूक्ष्म श्वास। जैनाचार्यों ने एक ओर स्थूल प्राणायाम का निषेध किया तो दूसरी ओर सूक्ष्म और मंद श्वास का विधान किया। श्वास को दीर्घ करने पर बल दिया। कुछ लोग कहते हैं—सहज श्वास लें। पर हमारा इसमें विश्वास नहीं है। वस्तुतः वह सहज श्वास है ही नहीं। आदमी गलत श्वास लेता है पर कहता है—मैं सहज श्वास पर ध्यान कर रहा हूँ। एक मिनट में व्यक्ति सामान्यतः पन्द्रह बार श्वास लेता है। चार सैकण्ड में एक श्वास। बहुत सारे लोग एक मिनट में बीस-तीस श्वास ले लेते हैं। यह सहज श्वास कैसे होगा? हमें श्वास को दीर्घ करना होगा। पंद्रह श्वास की स्थिति हमें प्रकृति से मिली है। हमारी साधना है प्रयत्नजनित। हम केवल स्वाभाविक में नहीं, प्रायोगिक में विश्वास करते हैं। अभ्यास के द्वारा हमें एक मिनट में दस श्वास तक पहुंचना होगा। यदि एक मिनट में आठ-दस श्वास तक पहुंच जाएं तो अंतर्यात्रा की दिशा उद्घाटित हो जाए। हम धीरे-धीरे आगे बढ़ें, एक दिन ऐसी स्थिति आ सकती है कि एक मिनट में एक या दो श्वास लेने का अभ्यास सध जाए और ऐसा होना एक विशेष घटना होती है।

दीर्घश्वास का परिणाम

दीर्घश्वास की साधना का पहला परिणाम होगा—शरीर की सम्यक् आपूर्ति। इसका दूसरा परिणाम होगा—मनोबल की वृद्धि। इससे मन को शक्ति मिलेगी, धृति बढ़ेगी, हमारा नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र संतुलित काम करने लग जाएगा। आज की बहुत सारी शारीरिक और मानसिक गड़बड़ियों का कारण है—नाड़ीतंत्र और ग्रंथितंत्र का असंतुलन। जैनाचार्यों ने मंद श्वास-निःश्वास का जो सूत्र दिया है, वह बहुत सोच समझकर दिया है, मंद श्वास लो और मंद श्वास छोड़ो, अपने-आप नियंत्रण शुरू हो जाएगा। आवेगों, कषायों और वासनाओं—इन सब पर नियंत्रण हो जाएगा। नियंत्रण का सबसे पहला सूत्र है—श्वास। हम स्वयं अनुभव करें—जितना तेज गुस्सा आएगा उतनी ही श्वास की संख्या बढ़ती चली जाएगी। हम जितनी श्वास की संख्या को घटाएंगे, गुस्सा नियंत्रित होता चला जाएगा। हमारे संवेगों का नियंता है श्वास।

सफलता का सूत्र

श्वास का सम्बन्ध हमारे जीवन से है। केवल जीने से ही नहीं है, उसका बहुत गहरा सम्बन्ध हमारी भावनाओं से है। वैज्ञानिक जगत् में श्वास के बारे में काफी अनुसंधान हुए हैं। वैज्ञानिकों ने इस तथ्य का पता लगाया है कि हमारी भावनाओं और श्वास का परस्पर गहरा सम्बन्ध है। योग के पुराने आचार्यों ने इस सच्चाई को पहले ही उजागर कर दिया था कि श्वास और भावों का क्या सम्बन्ध है? जो पहले खोजा गया, विज्ञान ने उसकी पुष्टि कर दी।

हमारे जीवन की सफलता का एक बहुत बड़ा सूत्र है—श्वास। एक आदमी को बहुत गुस्सा आता है। वह हर बात पर बार-बार गुस्सा करता है। उसका पारिवारिक जीवन अच्छा होगा या बिगड़ेगा? बेटे पर गुस्सा, बहू पर गुस्सा, पत्नी पर गुस्सा, नौकरों पर गुस्सा। व्यक्ति सारे दिन तिलमिलाए रहता है, भृकुटि तनी रहती है। अनेक लोग कहते हैं—गुस्से के कारण मैं दुःखी हूँ, मेरा सारा परिवार दुःखी है। इस जटिल आदत पर नियंत्रण करना है। कैसे करेंगे? किसी डाक्टर के पास कोई दवा नहीं है। मनःचिकित्सक के पास जाएं तो वह कुछ उपाय सुझाएगा। होमियोपैथी डाक्टर भी कोई दवा सुझा सकता है, पर दवा से गुस्सा शांत हुआ हो, ऐसे किस्से बहुत कम सुनने में आए हैं। यह प्रमाणित तथ्य है—श्वास को जान लेने से, श्वास पर नियंत्रण कर लेने से गुस्सा शांत होता है। ऐसी सैकड़ों-सैकड़ों घटनाएं हमारे सामने हैं। जिस व्यक्ति ने श्वास का ठीक प्रयोग किया है, उसका कषाय कम हुआ है।

गति श्वास की

श्वास की सामान्य विधि यह मानी गई है—आदमी दो सैकण्ड में श्वास लेता है और दो सैकण्ड में छोड़ता है। इसका अर्थ है—चार सैकण्ड में एक श्वास। एक मिनट में पंद्रह श्वास। यह एक सामान्य विधि मानी जाती है। जब गुस्सा आएगा, श्वास की संख्या बढ़ जाएगी, एक मिनट में बीस, पच्चीस, तीस हो जाएगी। जितना हृदय पर दबाव पड़ता है। हमारा सारा रक्त जहर हो जाता है, रासायनिक प्रक्रिया गड़बड़ा

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जाती है। गुस्सा बढ़ा और श्वास की संख्या बढ़ी। दोनों में सम्बन्ध है। गुस्से पर कंट्रोल करना है तो श्वास पर कंट्रोल करना होगा।

नियंत्रण का अर्थ

श्वास पर कंट्रोल करने का अर्थ है—आवेगों और संवेगों पर नियंत्रण। यदि हम श्वास लेना सीख जाएं, श्वास को लंबा करना सीख जाएं, एक मिनट में दो श्वास लेने का अभ्यास सध जाए तो आवेग-आवेशजनित समस्याओं से मुक्ति मिल जाए। कहां पंद्रह श्वास और कहां दो श्वास। इस स्थिति को उपलब्ध होने में समय लग सकता है। हम श्वास की संख्या को धीरे-धीरे घटाते चले जाएं। पहले एक मिनट में बारह श्वास लेने का अभ्यास करें। धीरे-धीरे दस, आठ, छह, चार और दो श्वास लेने तक का अभ्यास सध जाएगा। इस स्थिति में क्रोध नहीं सताएगा। क्रोध आएगा ही नहीं और आएगा तो उसका पता लग जाएगा। दीर्घ श्वास का प्रयोग शुरू करते ही वह डर कर भाग जाएगा। क्रोध भी डरता है। जितने आवेग हैं, वे सब डरते हैं। जब श्वास लंबा होने लगता है, कषाय पलायन कर जाते हैं।

आश्चर्य की बात

मनोवैज्ञानिकों ने संवेग और श्वास पर काफी अनुसंधान किए हैं। यह आश्चर्य की बात है—जिस हिन्दुस्तान में आसन-प्राणायाम, श्वास और संवेग—इन सब पर साहित्य लिखा गया, जैन, बौद्ध, नाथ-सम्प्रदाय, हठयोग आदि में इन पर बहुत साधनाएं चली हैं, उसी देश में आज श्वास पर शोध करने वाला एक भी केन्द्र नहीं है। श्वास पर शोध के लिए केवल एक स्वतंत्र संस्थान स्थापित हुआ है। पचासों वैज्ञानिक श्वास पर शोध कर रहे हैं। श्वास का हमारे जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है? उन वैज्ञानिकों का कहना है—लंबा श्वास लीजिए और अपने जीवन को बचाइए। हम जितना लंबा श्वास लेंगे, अपने जीवन को बचाएंगे, आयु को लंबा करेंगे। जितना छोटा श्वास लेंगे, अपनी जीवनी शक्ति को उतना ही क्षीण करेंगे। हमें आयुष्य को पूरा भोगना है पर कितने समय में भोगना है, यह हमारे हाथ में भी है। हमने आयुष्य के पुद्‌गल इतने जमा कर रखे हैं कि ठीक से जीएं तो दो-तीन सौ वर्ष तक जी सकते हैं। रूस के एक वैज्ञानिक ने घोषणा की है—आदमी में इतनी ताकत है कि वह तीन सौ वर्ष तक जी सकता है। कठिनाई यह है—हमने इतने पाहुनों को बुला रखा है कि वे तीन सौ वर्षों तक चलने वाली हमारी सामग्री को पचास-साठ वर्षों में ही समाप्त कर देते हैं।

उपेक्षा न करें

श्वास नियामक है, वह रोकता है। अकाल मृत्यु के जितने भी कारण हैं, उन सबको श्वास रोकता है। हम मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भावात्मक स्वास्थ्य की दृष्टि से और नियंत्रण की दृष्टि से श्वास का मूल्यांकन करें। उसकी उपेक्षा न करें। यदि छोटे बच्चों को प्रारम्भ से ही प्रतिदिन बीस मिनट दीर्घश्वास का प्रयोग कराया जाए तो उनके जीवन में एक नई शक्ति, नई स्फूर्ति और नए प्रकाश का अनुभव होगा। मैं यह मानता हूं, यह आनापान, जो नामकर्म की एक प्रकृति है, शायद अंतराय कर्म, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और मोहनीय कर्म के क्षयोपशम में भी बहुत बड़ा आलंबन बन सकता है। प्रेक्षाध्यान का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है दीर्घश्वास प्रेक्षा। हम इसका लाभ उठाएं। इस दिशा में चलना शुरू करें, चलते-चलते एक दिन अवश्य ही मंजिल पर पहुंच जाएंगे।

समवृत्ति श्वास-प्रेक्षा

बायें नथुने से श्वास लें, दायें से निकालें। फिर दायें से ले और बायें से निकालें। संकल्प शक्ति द्वारा ऐसा करें। यदि संकल्प के सहारे न कर सकें तो अंगुली और अंगूठे का प्रयोग किया जा सकता है। श्वास भीतर, चित्त भीतर और श्वास बाहर, चित्त बाहर। चित्त निरंतर श्वास का अनुभव करता रहे। यही है समवृत्ति श्वास प्रेक्षा। श्वास का सम्बन्ध ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार की तंत्रिका तंत्र पर होता है। हम चाहे तो श्वास की गति को बढ़ा सकते हैं। यह बिना प्रयत्न के भी आता जाता रहता है। इसलिए यह अनैच्छिक प्रवृत्ति है। इसको घटाया-बढ़ाया जा सकता है, इसलिए यह ऐच्छिक प्रवृत्ति है। श्वास की क्रिया को बदलना समूचे व्यक्तित्व की धारा को बदलना है।

वैज्ञानिक खोजों का निष्कर्ष

आजकल स्वरचक्र और मस्तिष्क पर बहुत वैज्ञानिक अनुसंधान चल रहे हैं। वैज्ञानिक खोजों का निष्कर्ष है—जब बायां स्वर चलता है तो मस्तिष्क का दायां पटल सक्रिय हो जाता है और जब दायां स्वर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चलता है तब मस्तिष्क का बायां पटल सक्रिय हो जाता है। हमारे हाथ में कुछ सूत्र आ गए। यदि हमें बहुत शांत, शालीन और अनुशासन में रहना है तो बाएं स्वर को चलाएं। इससे दायां मस्तिष्कीय पटल सक्रिय होगा, हमारी मनोदशा बदल जाएगी, उत्तेजना शांत हो जाएगी, अपने आपको जानने की, आत्मनिरीक्षण की वृत्ति जागेगी। यह एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—दाएं मस्तिष्क को जगाने के लिए बाएं स्वर का प्रयोग करें। जब-जब हम बाएं स्वर को चलाते हैं तब-तब ऐसा लगता है—दिमाग बिलकुल शांत होता जा रहा है, वातानुकूलन जैसी स्थिति का अनुभव होता है। हमने इस सच्चाई का अनुभव किया है। दाएं स्वर को बंद कर बाएं स्वर को चलाया और उसका लम्बे समय तक अभ्यास किया तो ऐसा अनुभव हुआ—भीतर में बिल्कुल शांति हो गई है। जो लोग चंचल मन वाले हैं, तनाव और अशांति में रहते हैं, उनका दायां स्वर चलेगा तो तनाव बढ़ेगा। तनाव को मिटाना है तो दाएं स्वर को बंद कर बाएं स्वर को चलाएं। थोड़ी देर में तनाव अपने आप कम होता चला जाएगा।

समस्या : समाधान

प्रत्येक व्यक्ति समस्याग्रस्त है। आजकल विद्यार्थी भी समस्या बन रहा है। विद्यार्थी उद्दण्ड और उच्छृंखल क्यों है? जिस विद्यार्थी का दायां मस्तिष्क सक्रिय नहीं है, वह बहुत उद्दण्ड और उच्छृंखल होगा। बाएं स्वर को चलाना उसके लिए बहुत उपयोगी है। हमारी जितनी सृजनात्मक और रचनात्मक प्रवृत्तियां हैं, भाषा, गणित, तर्क आदि जो शक्तियां हैं, उनका विकास करना है तो बाएं स्वर को चलाकर दाएं मस्तिष्क को सक्रिय करना बहुत उपयोगी है। जो लोग बहुत कमजोर हैं, भीरु और डरपोक हैं, दीनता और निराशा की भावना से भरे रहते हैं, उनके लिए भी दाएं स्वर का प्रयोग बहुत हितकर होता है। दायां स्वर चले तो ये सारी समस्याएं मिट जाएं।

साम्योदय : भाग्योदय

समस्या यह है—कब बाएं स्वर को चलाएं और कब दाएं स्वर को चलाएं? इस समस्या को समाधान देने वाली एक विधि का विकास किया गया और वह है समवृत्ति श्वास प्रेक्षा। यह अनुलोम-विलोम प्राणायाम नहीं है किन्तु ध्यान का एक प्रयोग है। हम समता की बात करते हैं, साम्य योग और सामायिक की बात करते हैं। जीवन में समता आनी चाहिए किन्तु जिसका नाड़ीतंत्र संतुलित नहीं है, स्वरचक्र संतुलित नहीं है, मस्तिष्क का दायां पटल संतुलित नहीं है, उसमें समता का विकास कितना होगा। समता के लिए इस संतुलन को बनाना जरूरी है। बहुत सारी बातें आ जाती हैं और समता नहीं आती है तो सब कुछ व्यर्थ सा हो जाता है। दूसरी भाषा में कहा सकता है—जिसमें समता नहीं जागती, उसका भाग्योदय ही नहीं होता, सब कुछ होने पर भी वह रिक्त सा बना रहता है।

5.4.4 शरीर प्रेक्षा

साधना की दृष्टि से शरीर का बहुत महत्त्व है। यह आत्मा का केन्द्र है। इसी के माध्यम से चैतन्य अभिव्यक्त होता है। चैतन्य पर आए हुए आवरण को दूर करने के लिए इसे सशक्त माध्यम बनाया जा सकता है। प्रश्न होता है—हम शरीर में क्या देखें? दो तत्त्व हमारे सामने हैं—चेष्टा और स्पन्दन। हम चेष्टा को देखें, स्पन्दन को देखें। आयुर्वेद की भाषा है—'वातेन सर्वाः चेष्टाः'—सारी चेष्टाएं वायु के द्वारा हो रही हैं। मेडिकल साइंस की भाषा है—सारी चेष्टाएं ऐच्छिक नाड़ीतंत्र के द्वारा होती है। अंगुली हिलाना, हाथ हिलाना, पैर हिलाना, बोलना—ये सब ऐच्छिक नाड़ीतंत्र की क्रियाएं हैं। जो स्पन्दन हैं, वे अनैच्छिक नाड़ीतंत्र की क्रियाएं हैं। पूरे शरीर में स्पन्दनों का जाल बिछा हुआ है। वह स्वतः हो रहा है। चेष्टा का होना हमारी इच्छा पर निर्भर है पर स्पन्दन का होना हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है। वह अनैच्छिक नाड़ीतंत्र का कार्य है, उसकी क्रिया है, जो सहज संचालित हो रही है। शरीर को देखें, इसका अर्थ है—अनैच्छिक नाड़ीतंत्र की क्रिया को देखें। उस क्रिया को देखें, जो हमारे अधीन नहीं है।

शरीर प्रेक्षा का अर्थ

यह माना जाता है—ऐच्छिक नाड़ीतंत्र की क्रिया व्यक्ति के अधीन है। चाहे करें और चाहे तो न करें। अनैच्छिक नाड़ीतंत्र की क्रिया हमारे अधीन नहीं है। हृदय धड़कता है। इसका धड़कना या न धड़कना हमारे हाथ में नहीं है। भोजन करना हमारे हाथ में है लेकिन भोजन का पचना हमारे हाथ में नहीं है। बहुत सारे लोग भोजन करने के बाद तत्काल लेट जाते हैं। उन्हें यह पता नहीं होता कि भोजन पच रहा है या नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पच रहा है। तत्काल लेटना भोजन के पाचन में बाधा जरूर डालता है। सामान्यत: नियम है—भोजन करने के बाद आधा घंटा तक नींद नहीं लेनी चाहिए। हम सो सकते हैं किन्तु नींद आ गई तो भोजन के पचने में बाधा आनी शुरू हो जाएगी। भोजन का पाचन अपने आप चलता है। रक्त-संचरण की क्रिया अपने आप हो रही है। हम नहीं जानते—रक्त शरीर में कितने चक्कर लगा रहा है। तेजस् शरीर के प्रकम्पन हो रहे हैं। उनमें कितनी बजली है, इसका हमें पता नहीं है इन सबको देखने का अर्थ है—शरीर को देखना।

शरीर को समग्र दृष्टि से देखने की साधन पद्धति बहुत महत्त्वपूर्ण है। शरीर के तीन भाग हैं—अधोभाग, ऊर्ध्वभाग और तिर्यग्भाग। साधक चक्षु को संयत कर शरीर की प्रेक्षा करें। उसकी प्रेक्षा करने वाला उसके तीनों भागों को जान लेता है। स्थूल शरीर के वर्तमान क्षण को देखने वाला जागरूक हो जाता है। कोई क्षण सुखरूप होता है और कोई क्षण दु:ख रूप। क्षण को देखने वाला सुखात्मक क्षण के प्रति राग नहीं करता और दु:खात्मक क्षण के प्रति द्वेष नहीं करता। वह केवल देखता और जानता है। शरीर की प्रेक्षा करने वाला शरीर के भीतर पहुंचकर शरीर धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।

शरीर का जितना आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है, उतना ही चेतना का आयतन है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर के कण-कण में चैतन्य व्याप्त हैं इसलिए शरीर के प्रत्येक कण में संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व को जानता है और अपने स्वभाव का अनुभव करता है। शरीर में होने वाले संवेदनों को देखना चैतन्य को देखना है, उसके माध्यम से आत्मा को देखना है क्योंकि इस स्थूल शरीर के भीतर सूक्ष्म—तेजस् और कार्मण शरीर है। इस सूक्ष्म शरीर में ही आत्मा का निवास है। इसलिए स्थूल शरीर की प्रेक्षा करते-करते सूक्ष्म शरीर का साक्षात्कार करते हैं और सूक्ष्म शरीर को देखते-देखते आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। अत: शरीर प्रेक्षा आत्म-साक्षात्कार की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

5.4.5 चैतन्यकेन्द्र-प्रेक्षा

वर्तमान विज्ञान की दृष्टि के अनुसार हमारे शरीर में दो प्रकार की ग्रंथियां हैं—वाहिनीयुक्त एवं वाहिनी रहित। ये वाहिनी रहित ग्रंथियां अंत:स्रावी होती हैं। इन्हें 'एण्डोक्राइन ग्लेण्ड्स' कहा जाता है। इनके स्राव हार्मोन कहलाते हैं। हमारी शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक प्रवृत्तियों का संचालन इन ग्रंथियों के द्वारा उत्पन्न स्रावों के माध्यम से होता है। हमारी सभी चैतन्य क्रियाओं का संचालन इस ग्रंथितंत्र के द्वारा होता है। अत: उन ग्रंथियों को चैतन्यकेन्द्र की संज्ञा दी गयी है।

चैतन्य केन्द्र के प्रकार एवं स्थान	
नाम	**स्थान**
1. शक्तिकेन्द्र	पृष्ठरज्जु के नीचे के छोर पर
2. स्वास्थ्यकेन्द्र	पेडू (नाभि से चार अंगूल नीचे)
3. तेजस् केन्द्र	नाभि
4. आनन्द केन्द्र	हृदय के पास जहां गड्ढा पड़ता है
5. विशुद्धि केन्द्र	कण्ठ का मध्य भाग
6. ब्रह्मकेन्द्र	जिह्वाग्र
7. प्राणकेन्द्र	नासाग्र
8. चाक्षुषकेन्द्र	आंखों के भीतर
9. अप्रमादकेन्द्र	कानों की लोल
10. दर्शनकेन्द्र	भृकुटी का मध्य भाग
11. ज्योतिकेन्द्र	ललाट का मध्य भाग
12. शांतिकेन्द्र	मस्तिष्क का अग्र भाग
13. ज्ञानकेन्द्र	चोटी का स्थान

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा चेतना के जागरण की प्रक्रिया है। चैतन्य केन्द्रों के ऊपर ध्यान करने से सुप्त चैतन्य केन्द्रों को जागृत किया जाता है। चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा में हम एक-एक चैतन्य केन्द्र पर चित्त को केन्द्रित करके प्रेक्षा करते हैं और वहां होने वाले प्राण के प्रकम्पनों का अनुभव करते हैं क्योंकि चैतन्य केन्द्रों को विद्युत चुम्बकीय क्षेत्र माना गया है। वहां ध्यान करने से वे जागृत होते हैं तो अतीन्द्रिय ज्ञान की क्षमता भी उपलब्ध हो जाती है।

शक्ति केन्द्र

पृष्ठरज्जु के नीचे का स्थान शक्ति केन्द्र है। यह शारीरिक ऊर्जा-जैविक विद्युत् का भण्डार है। यहां से विद्युत् का प्रसारण होता है।

स्वास्थ्य केन्द्र

पेडू के नीचे जननेन्द्रिय का अधोवर्ती स्थान स्वास्थ्य केन्द्र है। ग्रंथितंत्र की दृष्टि से यह कामग्रंथि (गोनाड्स) का प्रभाव क्षेत्र है। इसके द्वारा मनुष्य का अचेतन मन नियंत्रित होता है। योग विद्या के अनुसार इसे स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है। इसके छः दल होते हैं। प्रत्येक दल एक-एक वृत्ति का क्षेत्र है। जैसे—अवज्ञा, मूर्च्छा, प्रश्रय (सम्मान), अविश्वास, सर्वनाश और क्रूरता।

तेजस् केन्द्र

तेजस् केन्द्र नाभि का स्थान है। इसका सम्बन्ध एड्रिनल (अधिवृक्क) ग्रंथि और वृक्क (गुर्दे) के साथ है। हठयोग में इसे मणिचक्र कहा जाता है। योगविद्या के अनुसार इसके दस दल होते हैं। उनमें से प्रत्येक दल में एक-एक वृत्ति विद्यमान है। जैसे—लज्जा, पिशुनता, ईर्ष्या, सुषुप्ति, विषाद, कषाय, तृष्णा, मोह, घृणा और भय।

आनन्द केन्द्र

आनन्द केन्द्र फुफ्फुस के नीचे हृदय का पार्श्ववर्ती स्थान है। यह थाइमस ग्रंथि का प्रभाव क्षेत्र है। हठयोग में इसे अनाहत चक्र कहा जाता है। योगविद्या के अनुसार इसके बारह दल होते हैं। उनमें से प्रत्येक में एक-एक वृत्ति का वास माना गया है, जैसे—आशा, चिन्ता, चेष्टा, ममता, दंभ, चंचलता, विवेक, अहंकार, लोलुपता, कपट, वितर्क और अनुमान। एक जैन ग्रंथ में हृदय कमल आठ पंखड़ियों वाला बताया गया है। प्रत्येक पंखुड़ी में एक-एक वृत्ति रहती है, जैसे—कुमति, जुगुप्सा, भक्षिणी, माया, शुभमति, साता, कामिनी, असाता। इन पंखुड़ियों पर मनुष्य के भावों का परिवर्तन होता रहता है। उसके आधार पर नाना प्रकार की वृत्तियां प्रकट होती रहती हैं।

विशुद्धि केन्द्र

विशुद्धि केन्द्र का स्थान कंठ देश है। यह थायराइड ग्रंथि का प्रभाव क्षेत्र है। मन का इस केन्द्र के साथ गहरा सम्बन्ध है। योगविद्या के अनुसार इसके सोलह दल माने गए हैं।

ब्रह्म केन्द्र

ब्रह्म केन्द्र का स्थान है—जीभ का अग्रभाग। उसकी स्थिरता जननेन्द्रिय के नियंत्रण में सहायक बनती है। कुछ केन्द्र अनुकंपी और परानुकंपी नाड़ी संस्थान के संगम पर बनते हैं, जैसे—तेजस् केन्द्र, आनन्द केन्द्र और विशुद्धि केन्द्र। कुछ केन्द्र ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय से सम्बद्ध हैं। जीभ एक ज्ञानेन्द्रिय है। उसका अग्रभाग चंचलता और स्थिरता—दोनों का संवाहक बनता है।

प्राणकेन्द्र

प्राणकेन्द्र का स्थान नासाग्र है। यह प्राणशक्ति का मुख्य स्थान है। निर्विकल्प ध्यान के लिए इसका प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है।

अप्रमाद केन्द्र

अप्रमाद केन्द्र का स्थान कान है। इसका जागरूकता से बहुत सम्बन्ध है। आज के विज्ञान ने नाक और कान के विषय में काफी जानकारी विकसित की है। ये दोनों मनुष्य की बहुत सारी वृत्तियों का नियंत्रण करने वाले हैं और मस्तिष्क के साथ जुड़े हुए हैं।

चाक्षुष केन्द्र

चाक्षुष केन्द्र का स्थान चक्षु हैं। इसका जीवनी शक्ति के साथ गहरा सम्बन्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दर्शन केन्द्र

दर्शन केन्द्र दोनों आंखों और दोनों भृकुटियों के बीच में अवस्थित है। यह पिच्युटरी ग्लैण्ड का प्रभाव क्षेत्र है। हठयोग में इसे आज्ञाचक्र कहा जाता है। योगविद्या के अनुसार इसके दो दल होते हैं। यहां इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना—तीनों प्राण-प्रवाहों का संगम होता है।

ज्योति केन्द्र

ज्योति केन्द्र ललाट के मध्य भाग में स्थित है। यह पीनियल ग्लैण्ड का प्रभाव क्षेत्र है। हठयोग के कुछ आचार्य नौ चक्र मानते हैं। उनके अनुसार तालु के मूल में चौसठ ललना-चक्र विद्यमान हैं। इससे ज्योति केन्द्र की तुलना की जा सकती है।

शांति केन्द्र

शांति केन्द्र अग्रमस्तिष्क में स्थित है। इसका सम्बन्ध मनुष्य की भावधारा से है। यह अवचेतन मस्तिष्क (हाइपोथेलेमस) का प्रभाव क्षेत्र है।

ज्ञान केन्द्र

ज्ञान केन्द्र केन्द्रीय नाड़ी संस्थान का प्रमुख स्थान है। लघु-मस्तिष्क, बृहत्-मस्तिष्क एवं पश्च-मस्तिष्क के विभिन्न भाग इससे सम्बद्ध हैं। यह अतीन्द्रिय चेतना का महत्त्वपूर्ण स्रोत है। हठयोग के सहस्रार चक्र से इसकी तुलना की जा सकती है।

उपाय जागरण का

चैतन्य केन्द्रों की शक्ति को जागृत करने के अनेक उपाय हैं। उनमें आसन, प्राणायाम, जप आदि उल्लेखनीय हैं। इनसे भी अधिक शक्तिशाली उपाय है—प्रेक्षा। एकाग्रता के साथ जिस चैतन्य केन्द्र को देखा जाता है, उसमें प्रकम्पन शुरू हो जाते हैं। वे प्रकम्पन सुप्त शक्ति को जगा देते हैं। प्रेक्षा की पद्धति यह है—पद्मासन, वज्रासन अथवा सुखासन में से किसी एक सुविधाजनक आसन का चुनाव करें, आसन में आसीन होकर कायोत्सर्ग (जागरूकतापूर्ण शिथिलीकरण) करें। फिर प्रेक्षा के लिए चैतन्य केन्द्र का चुनाव करें, धारणा से अभ्यास शुरू करें, निरन्तर लक्षीकृत केन्द्र को देखते-देखते गहन एकाग्रता के बिन्दु पर पहुंच जाएं। ध्यान अथवा समाधि की स्थिति का अनुभव करें। इस पद्धति से प्रत्येक केन्द्र को निर्मल बनाएं। इनकी निर्मलता से विशिष्ट प्रकार की शक्तियां जागृत होती हैं।

निष्पत्ति जागरण की

- शक्ति केन्द्र की निर्मलता से वाक्सिद्धि, कवित्व और आरोग्य का विकास होता है।
- स्वास्थ्य केन्द्र की निर्मलता से अचेतन मन पर नियंत्रण करने की क्षमता पैदा होती है। आरोग्य और ऐश्वर्य का विकास होता है।
- तेजस् केन्द्र के निर्मल होने पर क्रोध आदि वृत्तियों के साक्षात्कार की क्षमता पैदा होती है। प्राणशक्ति की प्रबलता भी प्राप्त होती है।
- आनन्द केन्द्र की निर्मलता द्वारा बुढ़ापे की व्यथा को कम किया जा सकता है, विचार का प्रवाह रूक जाता है, सहज आनन्द की अनुभूति होती है।
- विशुद्धि केन्द्र की सक्रियता से वृत्तियों के परिष्कार की क्षमता पैदा होती है। बुढ़ापे को रोकने की क्षमता पैदा करना भी इसका महत्त्वपूर्ण कार्य है। ब्रह्म केन्द्र की निर्मलता द्वारा कामवृत्ति के नियंत्रण की क्षमता प्राप्त होती है।
- प्राण केन्द्र की निर्मलता द्वारा निर्विचार अवस्था प्राप्त होती है।

अप्रमाद केन्द्र की साधना से नशे की आदत को बदला जा सकता है। शराब, तम्बाकू आदि मादक वस्तुओं के सेवन की आदत को बदलना एक जटिल समस्या है। अप्रमाद की प्रेक्षा करते-करते उस आदत में परिवर्तन शुरू होता है और कुछ दिनों के अभ्यास से परिवर्तन स्थिर हो जाता है। चाक्षुष केन्द्र की साधना के द्वारा एकाग्रता को सघन बनाया जा सकता है। दर्शन केन्द्र की प्रेक्षा के द्वारा अन्तर्दृष्टि का विकास होता है। यह हमारी अतीन्द्रिय क्षमता है। इसके द्वारा वस्तु-धर्म और घटना के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। ज्योति केन्द्र की साधना के द्वारा क्रोध को उपशांत किया जा सकता है। शांति केन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग कर हम भाव संस्थान को पवित्र बना सकते हैं। 'लिम्बिक सिस्टम' मस्तिष्क का एक महत्त्वपूर्ण भाग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, जहां भावनाएं पैदा होती हैं। शांति केन्द्र प्रेक्षा उसी स्थान को प्रभावित करने का प्रयोग है। प्राचीन भाषा में यह हृदय परिवर्तन का प्रयोग है। ज्ञान केन्द्र की साधना के द्वारा अन्तर्ज्ञान को विकसित किया जा सकता है। यह अतीन्द्रिय चेतना का विकसित रूप है। चैतन्य केन्द्र की साधना के साथ लघु मस्तिष्क की प्रेक्षा भी महत्त्वपूर्ण है। यह अतीन्द्रिय चेतना के विकास में बहुत सहयोगी बनता है।

5.4.6 लेश्याध्यान

चेतना की भावधारा को लेश्या कहते हैं। लेश्या के दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। पौद्गलिक लेश्या और आत्मिक लेश्या। वह निरन्तर बदलती रहती है। लेश्या प्राणी के 'ओरा' (आभामण्डल) का नियामक तत्त्व है। भावों के अनुरूप रंग बदलते रहते हैं।

कषाय की तरंगें और कषाय की शुद्धि होने पर आने वाली चैतन्य की तरंगें—इन सब तरंगों का भाव के रूप में निर्माण करना और उन्हें विचार, कर्म और क्रिया तक पहुंचा देना—यह लेश्या का काम है। लेश्या ही सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के बीच सम्पर्क सूत्र है। लेश्या के छह प्रकार हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन अशुभ हैं तथा अंतिम तीन शुभ हैं।

हमारी वृत्तियां, भाव या आदतें—इन सबको उत्पन्न करने वाला सशक्त तंत्र है—लेश्या-तंत्र। बुरी आदतों को उत्पन्न करने वाली लेश्याएं हैं—कृष्णलेश्या, नीललेश्या, कापोतलेश्या। हमारी अध्यात्म यात्रा तेजोलेश्या से—लाल रंग से शुरू होती है। तेजोलेश्या का रंग है—बालसूर्य जैसा। तेजोलेश्या में आते ही आदतों में अपने आप परिवर्तन होने लग जाता है। पद्मलेश्या में और ज्यादा बदलाव आता है। शुक्ललेश्या में पहुंचते ही व्यक्तित्त्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।

जैसा रंग : वैसा ढंग

आत्मा जीवन की सत्ता है। वह पूरे शरीर में फैली हुई है इसीलिए हम चेतना का अनुभव करते हैं। सिर पर ध्यान करें या पैर पर ध्यान करें, पूरे शरीर में चैतन्य की अनुभूति होती है। चैतन्य केन्द्र भी पूरे शरीर में फैले हुए हैं। रंग भी हमारे पूरे शरीर में फैले हुए हैं। शरीरयुक्त आत्मा रंगीन आत्मा है। आत्मा को अमूर्त्त और रंगविहीन माना गया है। कहा जाता है—अपने आपको देखें। जहां शरीरयुक्त आत्मा है वहां हमारी भाषा होगी—जैसा रंग वैसा जानों। हम कृष्ण लेश्या में हैं तो हमारी आत्मा भी काली बनी हुई है। प्रसिद्ध लोकोक्ति है—जैसा रंग वैसा ढंग। रंगों का इतना प्रभाव है कि रंगों को छोड़कर इस शरीरधारी आत्मा की व्याख्या करना ही कठिन है। व्यक्ति लेश्यातीत कहां होता है? जैन दर्शन की परिभाषा में तेरहवें गुणस्थान को पार करने के बाद व्यक्ति लेश्यातीत होता है। तेरहवें गुणस्थान में रंग हैं। रंगातीत वह होता है, जो अयोगी हो जाता है।

मंत्र, चैतन्य केन्द्र और रंग

व्यक्तित्व रूपान्तरण का एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग है—लेश्याध्यान, रंगों का ध्यान। प्रेक्षाध्यान में एक प्रयोग करवाया जाता है—चैतन्य केन्द्र पर मंत्र और रंग का ध्यान। नमस्कार मंत्र के साथ रंग और चैतन्य केन्द्र की संयोजना का एक प्रकल्प यह है—

मंत्र	चैतन्य केन्द्र	रंग
णमो अरहंताणं	ज्ञान केन्द्र	सफेद
णमो सिद्धाणं	दर्शन केन्द्र	अरुण
णमो आयरियाणं	विशुद्धि केन्द्र	पीला
णमो उवज्झायाणं	आनन्द केन्द्र	हरा
णमो लोए सव्वसाहूणं	शक्ति केन्द्र	नीला

मंत्र जप का चैतन्य केन्द्र और रंगों के साथ प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में महामंत्र के पद का जप किया जाता रहा है किन्तु उसके साथ रंग और चैतन्य केन्द्र के ध्यान की परम्परा नहीं रही। यह अनुभव किया—व्यक्तित्व को बदलने के लिए, स्वास्थ्य के लिए, विघ्नों को मिटाने के लिए मंत्र के साथ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रंग और चैतन्य केन्द्र की युति अपेक्षित है। इन बिन्दुओं पर चिन्तन आगे बढ़ा, मंत्र शास्त्रीय दृष्टि से विकास होता चला गया और ये सारी बातें उसमें जुड़ती चली गईं।

णमो अरहंताणं

हम 'णमो अरहंताणं' का जप करते हैं। यह पद का उच्चारण है। पद का नाम भी वर्ण है। इसमें सात वर्ण हैं। प्रत्येक शब्द का अपना रंग होता है। एक भी शब्द ऐसा नहीं है,जिसका अपना रंग न हो। विज्ञान के क्षेत्र में एक ऐसी मशीन का भी विकास किया गया है, जिससे वर्णों को सुना जा सकता है, शब्दों को देखा जा सकता है। 'णमो अरहंताणं' इन सात अक्षरों का उच्चारण करते समय ज्ञान केन्द्र पर सफेद रंग का ध्यान किया जाता है। सफेद रंग में सारे रंग समाविष्ट हैं। आध्यात्मिक साधना की दृष्टि से सफेद रंग को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। ध्यान में सफेद रंग दीखने लग जाए तो मानना चाहिए—साधना की निष्पत्ति हो रही है। हम लेश्या के संदर्भ में देखें तो शुक्ल लेश्या से भी विशिष्ट है परम शुक्ल लेश्या। उसका रंग इतना सफेद है कि वह इस स्थूल दुनिया में दिखाई नहीं देता।

सफेद रंग का प्रभाव

साधना का अंतिम स्वरूप है सफेद रंग और साधना का अंतिम व्यक्तित्व है अर्हत्। जो साधना के चरम बिन्दु पर पहुंच गया, उसका नाम है अर्हत्। हम उस आत्मा को नमस्कार करते हैं, जिसके लिए साधना का कोई आयाम शेष नहीं रहा। जो कृतार्थ बन गया है, धर्म जिसका स्वभाव बन गया है, वह है अर्हत्। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये आज हमारे लिए धर्म हैं किन्तु जो व्यक्ति केवली बन जाता है, उसके लिए ये सहज स्वभाव बन जाते हैं। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त चरित्र का स्रोत प्रस्फुटित हो जाता है। हम सफेद रंग के मनोवैज्ञानिक और भावात्मक प्रभाव का भी मूल्य आंके। जैसे-जैसे सफेद रंग प्रबल बनता है, कषाय भेद होता चला जाता है। कषाय को कम करने का उत्तम उपाय है—सफेद रंग। इसका क्षेत्र है ललाट और मस्तिष्क। इन पर सफेद रंग का ध्यान करने से कषाय के तनुकरण और क्षयीकरण की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। जिन्हें गुस्सा बहुत आता है, उन्हें 'णमो अरहंताणं' का ध्यान सफेद रंग के साथ करना चाहिए और वह भी मुख्यतः ज्योति केन्द्र और शांति केन्द्र पर। इससे शारीरिक स्थितियां ही नहीं, मानसिक स्थितियां भी बदल जाती हैं।

णमो सिद्धाणं

नमस्कार महामंत्र का दूसरा पद है—णमो सिद्धाणं। दर्शन केन्द्र पर इस पद का ध्यान किया जाता है। दोनों भृकुटियों और आंखों के बीच का यह स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह स्थान प्रकाश को ग्रहण करने वाला स्थान है। यही तीसरे नेत्र का स्थान है। इस पर मंत्र जप के साथ हल्के लाल रंग का ध्यान किया जाता है। हमारे जीवन की तीन मुख्य धाराएं हैं, नाड़ी तंत्र के तीन मुख्य भाग हैं—अनुकंपी, परानुकंपी और केन्द्रीय नाड़ी तंत्र। हठयोग या स्वरोदय की भाषा में इन्हें इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना कहा जाता है। इन तीनों का संगम स्थल है दर्शन केन्द्र। यहां पर इन तीनों प्राणधाराओं का मिलन होता है। इड़ा का रंग है नीला, पिंगला का रंग है लाल और सुषुम्ना का रंग है गहरा लाल। इस केन्द्र पर सामान्यतः हल्के लाल रंग का ध्यान किया जाता है। योगशास्त्र में इड़ा को स्त्री और पिंगला को पुरुष माना जाता है। पराक्रम और पौरुष का रंग माना गया है बाल सूर्य के रंग जैसा हल्का लाल रंग। जिन लोगों में सुस्ती ज्यादा है, आलस्य और मंदता है, जिनकी अंतर्दृष्टि जागृत नहीं है, जिनमें मोह प्रबल है, उनके लिए 'णमो सिद्धाणं' का हल्के लाल रंग के साथ ध्यान करना उपयोगी होता है।

णमो आयरियाणं

नमस्कार महामंत्र का तीसरा पद है—णमो आयरियाणं। विशुद्धि केन्द्र पर पीले रंग के साथ इस पद का ध्यान किया जाता है। जिनका पाचन तंत्र कमजोर है, जो मानसिक दृष्टि से दुर्बल है उनके लिए ध्यान का यह प्रयोग बहुत लाभदायक होता है। जब भी डिप्रेशन होता हो, लोग दवाइयों की शरण ले लेते हैं। यदि उस स्थिति में 'णमो आयरियाणं' का पीले रंग के साथ कंठ पर ध्यान किया जाए तो डिप्रेशन की समस्या समाहित हो जाए।

णमो उवज्झायाणं

नमस्कार महामंत्र का चौथा पद है—णमो उवज्झायाणं। इसका हरे रंग के साथ आनन्द केन्द्र पर ध्यान किया जाता है। इस हृदय के स्थान को बहुत लोगों ने आत्मा का स्थान माना है। हरे रंग का कार्य है—विजातीय तत्त्वों को बाहर निकालना। यह भावात्मक स्वास्थ्य का मुख्य रंग है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

णमो लोए सव्वसाहूणं

नमस्कार महामंत्र का पांचवा पद है—णमो लोए सव्वसाहूणं। इस पद का नीले रंग के साथ स्वास्थ्य केन्द्र और शक्ति केन्द्र (पेडू के नीचे का पूरा भाग) पर ध्यान किया जाता है। नीला रंग शांति देने वाला है। जब उष्णता पैदा होती है तब नीले रंग का ध्यान बहुत उपयोगी रहता है।

रंग और मनोभाव

पांच पद, चैतन्य केन्द्र और पांच ही रंग। लेश्या का अर्थ है—रंगों का ध्यान। रंगों के ध्यान का बहुत प्रभाव होता है किन्तु उसके साथ भाव परिवर्तन पर ध्यान देना भी जरूरी है। सोवियत वैज्ञानिकों ने यह प्रयोग भी किया है कि मनोभावों को बदलकर बीमारी को कैसे मिटाया जा सकता है? परिवर्तन का सूत्र है—भावधारा को बदलो, लेश्या को बदलो, वृत्तियां परिष्कृत हो जाएंगी। रंगों के ध्यान के साथ मनोभावों पर ध्यान देना भी जरूरी है। इन पांच पदों पर मनोभावों के साथ रंगों और चैतन्य केन्द्रों को जोड़ें तो एक शक्तिशाली यूनिट बन जाता है और उसके द्वारा बहुत लाभ उठाया जा सकता है। मंत्र, रंग और चैतन्य केन्द्र—इनकी सम्यक् युति में स्वस्थ एवं सफल जीवन का रहस्य छिपा है। प्रयोगधर्मा बनकर ही उस रहस्य को हस्तगत किया जा सकता है।

लेश्याध्यान विधि

लेश्याध्यान में कुछ विशिष्ट केन्द्रों पर अलग-अलग रंगों का ध्यान कराया जाता है, जैसे—

आनन्दकेन्द्र—हरे रंग का श्वास लें। अनुभव करें श्वास के साथ हरे रंग के परमाणु शरीर के भीतर प्रवेश कर रहे हैं। चित्त को आनन्द केन्द्र पर केन्द्रित कर वहां चमकते हुए हरे रंग का ध्यान करें। (2 मिनट बाद) आनन्दकेन्द्र से हरे रंग के परमाणु निकलकर शरीर के चारों ओर फैल रहे हैं। पूरा आभामण्डल हरे रंग के परमाणुओं से भर रहा है, भावधारा निर्मल हो रही है।

विशुद्धिकेन्द्र—इस पर मयूर की गर्दन के समान चमकते हुए नीले रंग का ध्यान। अनुभव करें वासनाएं अनुशासित हो रही हैं।

दर्शनकेन्द्र—बालसूर्य के समान अरुण रंग का ध्यान। अनुभव करें अंतर्दृष्टि जागृत हो रही है।

ज्ञानकेन्द्र—सूर्यमुखी के फूल के समान चमकते हुए पीले रंग का ध्यान। अनुभव करें क्रोध शांत हो रहा है, आवेश और आवेग शांत हो रहे हैं। परम शांति व्याप्त हो रही है।

ज्योतिकेन्द्र—श्वेत रंग का ध्यान। अनुभव करें क्रोध शांत हो रहा है, आवेग और आवेश शांत हो रहे हैं। परमशक्ति व्याप्त हो रही है।

इस प्रकार लेश्याध्यान के द्वारा हमारे व्यक्तित्व में आमूल-चूल परिवर्तन घटित हो सकता है। हम अपूर्व आनन्द और अनिर्वचनीय शांति को प्राप्त कर सकते हैं।

5.4.7 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं ओर वासनाएं होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। यह राग-द्वेष शून्य वर्तमान क्षण को जीने वाला अतीत में अर्जित कर्म संस्कार के बंध का निरोध करता है। इस प्रकार वर्तमान क्षण में जीने वाला अतीत का प्रतिक्रमण, वर्तमान का संवरण और भविष्य का प्रत्याख्यान करता है। जब चित्त शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया के साथ जुड़ता है, चेतना उसमें व्याप्त होती है, तब वह भावक्रिया बन जाती है। भावक्रिया का सूत्र है—चित्त क्रियमाण—क्रियामय हो जाए, इन्द्रियां उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से प्रभावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाएं, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बन जाती है।

5.4.8 विचार प्रेक्षा और समता

समग्र साधना का उद्देश्य है कि हम चैतन्य की स्वाभाविक क्रिया करें। पदार्थ को केवल पदार्थ की दृष्टि से देखना ही समता है। यह कहा जा सकता है कि केवल जानना और केवल देखना ही समता है। हमारे मस्तिष्क में जो भी विचार का प्रवाह चल रहा है उसे रोके नहीं, केवल द्रष्टा बनकर देखें। जब विचार के प्रवाह को देखते हैं तब धीरे-धीरे उसका प्रवाह रूक जाता है। विचार के प्रवाह को देखते-देखते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हमारी दर्शन की शक्ति इतनी पटु हो जाती है कि हम दूसरों के विचार-प्रवाह को भी देखने लग जाते हैं; इतनी क्षमता विकसित हो जाती है।

5.4.9 संयम

शक्ति का जागरण संयम के द्वारा किया जा सकता है हमारे मन की अनेक मांगें हैं। मन की मांगों के अस्वीकार का अर्थ है—संकल्पशक्ति का विकास। यही संयम है। संयम का फल अनाश्रव है। जिसमें संयम की शक्ति विकसित हो जाती है, उसमें विजातीय तत्त्वों का प्रवेश नहीं हो सकता। संयम एक प्रकार का कुंभक है। कुंभक में जैसे श्वास का निरोध होता है, वैसे ही संयम में इच्छा का निरोध होता है। प्रेक्षा संयम है, उपेक्षा संयम है। आप पूरी एकाग्रता के साथ अपने लक्ष्य को देखें अपने आप संयम हो जाएगा। फिर मन, वचन और शरीर की मांग आपको विचलित नहीं करेगी। उसके साथ उपेक्षा—मन, वचन और शरीर का संयम अपने आप हो जाता है।

5.4.10 भावना

एक ही विषय के बार-बार पुनरावर्तन से चित्त को भावित करना भावना है। जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है, उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है—

1. ज्ञानभावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से जानने का अभ्यास
2. दर्शनभावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास
3. चारित्रभावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास
4. वैराग्यभावना—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप में उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। भावना नौका के समान है, नौका यात्री को तीर तक ले जाती है। उसी प्रकार भावना भी साधक को दु:ख के पार पहुंचा देती है।

5.4.11 अनुप्रेक्षा

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा—देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। अनुप्रेक्षा का आधार द्रष्टा के द्वारा प्रदत्त बोध है। उसका कार्य है—अनुचिन्तन करते-करते उस बोध का प्रत्यक्षीकरण और चित्त का रूपान्तरण। ध्यान में होने वाले विविध अनुभवों में चित्त का कहीं लगाव न हो—इस दृष्टि से अनुप्रेक्षा के अभ्यास का महत्त्व है। प्रारम्भ में चार अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास किया जाता है—1. एकत्व अनुप्रेक्षा, 2. अनित्य अनुप्रेक्षा, 3. अशरण अनुप्रेक्षा और 4. संसार अनुप्रेक्षा। प्रेक्षाध्यान में अलग-अलग तेइस अनुप्रेक्षाओं का विवेचन एवं प्रयोग उपलब्ध है। उनके द्वारा हम चाहें जैसे व्यक्तित्व का निर्माण करने में सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

5.4.12 एकाग्रता

प्रेक्षा से अप्रमाद सधता है। जैसे-जैसे अप्रमाद बढ़ता है वैसे-वैसे ही साधना बढ़ती जाती है। हमारी सफलता एकाग्रता पर निर्भर करती है। अप्रमाद और जागरूक भाव बहुत महत्त्वपूर्ण हैं किन्तु इनका महत्त्व तभी सिद्ध हो सकता है जब ये लम्बे समय तक निरन्तर चलें। देखने और जानने की क्रिया में बार-बार व्यवधान न आएं। चित्त उस क्रिया में प्रगाढ़ और निष्प्रकम्प हो जाए। पचास मिनट तक एक आलम्बन पर चित्त की प्रगाढ़ स्थिरता का अभ्यास होना चाहिए। यह सफलता का बहुत बड़ा रहस्य है। इस अवधि के बाद ध्यान की धारा रूपान्तरित हो जाती है। लम्बे समय तक ध्यान करने वाला अपने प्रयत्न से उस धारा को नये रूप में पकड़कर उसे और प्रलम्ब बना देता है। इस प्रकार प्रेक्षाध्यान में एकाग्रता का बहुत बड़ा मूल्य है।

5.5 प्रेक्षाध्यान का महत्त्व

प्रेक्षाध्यान का प्रयोग वैज्ञानिक धरातल पर आधारित है। इसमें अध्यात्म योग, कर्मवाद आदि प्राचीन विद्याओं का समावेश है तो साथ ही शरीर-शास्त्र, शरीर-क्रियाशास्त्र, शरीर-रसायनशास्त्र, मानसशास्त्र आदि-आदि आधुनिक विद्याओं का भी पूरा समावेश है। एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह धर्म और विज्ञान का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुन्दर समन्वय है। स्वभाव परिवर्तन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। यह दर्शन का नया अध्याय है। इसे इस भाषा में भी कहा जा सकता है कि यह पुरानी कड़ी का नया अनुसंधान है। यदि पुरुषार्थ, श्रद्धा, दीर्घकालिकता और निरन्तरता बनी रहे तो एक दिन साधना की चरम उपलब्धि हो सकती है। सिद्धि हस्तगत हो सकती है। साधक वीतराग बन सकता है, आत्मा के अस्तित्व का साक्षात् कर सकता है। हजारों-हजारों प्रयत्न करने पर भी जो गुत्थियां नहीं सुलझतीं, वे गुत्थियां प्रेक्षा के द्वारा सुलझ सकती हैं।

5.6 सारांश

प्रेक्षाध्यान में समभाव फलित होता है, द्वन्द्वातीत चेतना का उदय होता है। ऐसी तटस्थता, ऐसी समता, ऐसी द्वन्द्वातीत चेतना जहां चेतना के दोनों आयाम समाप्त हो जाते हैं और तीसरा आयाम खुल जाता है—वह है समभाव। लाभ-अलाभ, सुख-दु:ख आदि जितने द्वन्द्व हैं, जो हमारे मन को विचलित करते हैं, जो हमारे मन को विकृत और रुग्ण बनाते हैं वे व्याधि, आधि और उपाधि—इनको समाप्त करने पर, इनकी सीमाओं को पार करने पर समाधि की सीमा प्रारम्भ होती है। समाधि का अनुभव, स्वास्थ्य का अनुभव, परम आनन्द का अनुभव, वीतरागता का अनुभव—ये सब अवरोधों को तोड़ने पर ही प्राप्त हो सकते हैं। प्रेक्षाध्यान यह सब करने के लिए व्यक्ति को सम्बद्ध करता है।

5.4 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिक युग में प्रेक्षाध्यान की प्रासंगिकता पर एक सारगर्भित निबंध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कायोत्सर्ग क्या है? स्पष्ट करें।
2. स्वभाव परिवर्तन में लेश्याध्यान की क्या भूमिका है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चैतन्य केन्द्र कितने हैं?
2. सातवां चैतन्य केन्द्र .... है।
3. प्रेक्षाध्यान के कितने अंग हैं?
4. प्रेक्षाध्यान का पांचवा अंग कौन-सा है?
5. प्रेक्षा शब्द .... धातु से बना है।
6. प्रेक्षाध्यान का ध्येय है .... बनाना।
7. आनन्द-केन्द्र पर कौन-से रंग का ध्यान किया जाता है?
8. भावना किसे कहते हैं?
9. श्वास का जीवन के साथ क्या सम्बन्ध है?
10. मस्तिष्क में प्राणधारा को ले जाने का अर्थ है .... से भर देना।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–6 : प्रेक्षाध्यान का आगमिक स्रोत

संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 महावीर की साधना
6.3 स्वरूप परिवर्तन
6.4 प्रेक्षाध्यान का अभ्युदय
6.5 प्रेक्षाध्यान का आगमिक और आगमेतर स्रोत
6.5.1 प्रेक्षा के प्रयोग और उनके स्रोत
6.5.2 कायोत्सर्ग
6.5.3 श्वास प्रेक्षा
6.5.4 शरीर प्रेक्षा
6.5.5 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा
6.5.6 लेश्या ध्यान
6.5.7 भावना और अनुप्रेक्षा
6.5.8 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा
6.5.9 योगासन
6.6 प्रेक्षाध्यान : आध्यात्मिक आधार
6.6.1 द्वन्द्वात्मक अस्तित्व
6.6.2 अध्यवसाय तन्त्र से भाव तंत्र तक
6.6.3 क्रियातन्त्र (योग अर्थात् प्रवृत्ति तंत्र)
6.6.4 प्रेक्षाध्यान का मूल आधार : अनेकान्तवादी दृष्टिकोण
6.6.5 विज्ञान का उपयोग
6.6.6 मन्त्रदाता
6.7 सारांश
6.8 अभ्यास प्रश्नावली

6.0 प्रस्तावना

प्रेक्षाध्यान के मूलस्रोत (Preksha Meditation: Main sources)

शब्द शाश्वत नहीं होता अर्थ शाश्वत होता है। शब्द बदलते रहते हैं, उसके लिये समय-समय पर नये शब्दों का सृजन होता है और भाषा में परिवर्तन होता रहता है किन्तु तात्पर्य कभी नहीं बदलता।

प्रश्न है—प्रेक्षा शब्द भगवान् महावीर जितना पुराना तो है ही। किन्तु अर्थ की दृष्टि से विचार करें तो भगवान् ऋषभ तक पहुंच जाते हैं। जिन्होंने आत्मवाद का प्रवर्तन किया, योग-साधना का मार्ग बताया। कहा गया है—**'आदिनाथ नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोगविद्या'**[1]

इस प्रकार प्रेक्षा के मूल स्रोत आदिनाथ ऋषभ हैं। एक घटना है—ऋषभ के पुत्र भरत ने स्नान किया। स्नान कर शयनकक्ष में बैठे। वह आदर्श भवन था। पूरा शीशे का बना हुआ भवन था। आसन पर बैठ गये। सामने दर्पण था उसमें वे अपने आपको देख रहे हैं, अपनी प्रेक्षा कर रहे हैं। प्रेक्षा करते-करते, अपने आप को देखते-देखते वे सम्राट् से केवली (केवलज्ञानी यानी परमज्ञानी) बन गये। यह ध्यान की परम्परा का आदि स्रोत है।

भगवान् पार्श्व की ध्यान साधना विशिष्ट थी। पार्श्व की ध्यान साधना का प्रभाव बहुत व्यापक बना। पार्श्व की साधना से नाथ सम्प्रदाय प्रभावित है, बौद्ध धर्म और जैनधर्म प्रभावित है। पार्श्व का इतना व्यापक

[1] हठयोग प्रदीपिका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रभाव है कि उनकी ध्यान साधना से कई प्रभावित हुये। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नाथ सम्प्रदाय की शोध में इन तथ्यों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

6.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से प्रेक्षाध्यान के आगमिक स्रोत को समझ सकेंगे।

6.2 महावीर की साधना

पार्श्व के पश्चात् महावीर ने ध्यान की उत्कृष्ट साधना की। सोलह-सोलह दिन और रात वे ध्यान की मुद्रा में, कायोत्सर्ग की मुद्रा में खडे़ रहे। वे कभी उर्ध्वलोक को देखते तो कभी अधोलोक को देखते और कभी मध्यलोक को देखते। जब ऊर्ध्वलोक के तत्त्वों को जानना होता तो ऊर्ध्वलोक की प्रेक्षा करते। जब मध्यलोक को जानना होता तो मध्यलोक की प्रेक्षा करते और जब नीचे के तत्त्वों को जानना होता तब नीचे के लोक की प्रेक्षा करते। उनकी प्रेक्षा अनवरत चलती रहती। महावीर के निर्वाण के पश्चात् ध्यान की साधना चलती रही और लम्बे समय तक यह क्रम चला।

6.3 स्वरूप परिवर्तन

भगवान् महावीर के निर्वाण के हजार वर्ष बाद ऐसा लगता है कि एक मोड़ आया और जैन धर्म में ध्यान-साधना कुछ कमजोर पड़ी। वीर निर्वाण के पन्द्रह सौ वर्षों के बाद ध्यान का स्वरूप बदल गया। जो मूल ध्यान साधना की पद्धति थी, जैनधर्म की प्राचीन पद्धति थी वह छूट गई और हठयोग से प्रभावित पद्धति चल पड़ी। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, पूज्यपाद आदि-आदि ने ध्यान की साधना को फिर आगे बढ़ाया किन्तु उसका स्वरूप बदल गया। इन पांच सौ वर्षों में ध्यान की साधना अत्यन्त क्षीण हो गई, जैसे बहते-बहते नदी का प्रवाह क्षीण हो जाता है वैसे ही जैनधर्म में ध्यान की सरिता का प्रवाह क्षीण हो गया। स्थिति यह बन गई जैन लोग यह भी भूल गये कि हमारे यहां ध्यान की भी कोई पद्धति है।

दिल्ली की घटना है। आचार्यश्री महाप्रज्ञ आदि सन्त 'अणुव्रत भवन' से प्रेक्षाध्यान शिविर के लिए 'अध्यात्म साधना केन्द्र' आ रहे थे। रास्ते में एक भाई मिला। वह रिटायर्ड इन्कमटैक्स कमिश्नर था। वन्दना की, पूछा—आप कहां जा रहे हैं? उनको बताया—'अध्यात्म साधना केन्द्र' जा रहे हैं। ध्यान का शिविर है। तत्काल उसने कहा—'क्या जैनों में भी कोई ध्यान की विधि है?' यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। इतना पढ़ा-लिखा आदमी, इन्कमटैक्स का आफिसर और वह भी जैन, यह पूछता है कि क्या जैनों में भी कोई ध्यान की विधि है? इन शताब्दियों में वातावरण ही कुछ ऐसा बन गया था कि ऊपर की बातें, क्रियाकाण्ड अधिक प्रभावी बन गये और ध्यान छूट गया।

6.4 प्रेक्षाध्यान का अभ्युदय

आगम संपादन का कार्य चल रहा था। आचार्यश्री महाप्रज्ञ उत्तराध्ययन का संपादन कर रहे थे। उत्तराध्ययन के तीसवें अध्याय में ध्यान का एक लम्बा प्रकरण जोड़ा गया। उस संदर्भ में अनेक जैन ग्रन्थों का पारायण आपने किया। कई ग्रन्थ देखें। श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों सम्प्रदायों के ध्यान सम्बन्धित ग्रन्थों का पारायण किया और उनका उसमें यथावकाश सन्निवेश भी किया। उदयपुर का पंचायती नोहरा। सन् 1962, रात्रि प्रतिक्रमण के पश्चात् आचार्यश्री महाप्रज्ञ गुरुदेवश्री तुलसी की सन्निधि में बैठे थे। प्रसंगवश आपसे निवेदन किया—'ध्यान पर जैनों में तो बहुत कुछ लिखा गया है।' तत्काल गुरुदेव ने कहा—'हां! लेकिन अब यह परम्परा छूट गई। अब क्यों न इस पर अनुसंधान किया जाये?' यह मंत्र था, प्रेक्षाध्यान के अभ्युदय का। प्रेक्षाध्यान के मंत्रदाता बने आचार्य तुलसी। वहीं से बीज का वपन हुआ। बीज बोया गया, अंकुरित हुआ और बड़ी तेजी से बढ़ने लगा। वह प्रेक्षाध्यान का सार्थक बीज था। भीतर ही भीतर पकता गया और एक दिन ऊपर आ गया। न कोई नाम था, न विज्ञापन और न कुछ विशेष प्रचार। शिविर होने लगे। सन् 1975 में जयपुर में चिन्तन किया—जब हमारी ध्यान की पद्धति का प्रारम्भ हो गया है, शिविर भी लग रहे हैं, तो क्यों न इसका नामकरण कर दिया जाये। यह चिन्तन क्रियान्वित हुआ ग्रीन हाउस के शीशमहल में।

ध्यान के लिए आगम में दो शब्द मिलते हैं—विपश्यना और प्रेक्षा। ये पुराने शब्द हैं। विपश्यना बौद्ध ध्यान पद्धति है। आचार्य श्री महाप्रज्ञ ने 'प्रेक्षा' शब्द का चुनाव किया। भगवान् ऋषभ के ज्येष्ठ पुत्र भरत ने प्रेक्षा-प्रयोग किया था और वहां से गुजरता हुआ वह सन् 1975 में प्रेक्षा में समाहित हो गया। अर्थ पुराना, शब्द नया। यह प्रेक्षा के प्राचीन से वर्तमान स्रोत तक की मीमांसा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.5 प्रेक्षाध्यान का आगमिक और आगमेतर स्रोत

दशवैकालिक सूत्र में कहा गया है—संपिक्खए अप्पगमप्पएणं[1]—आत्मा के द्वारा आत्मा की संप्रेक्षा करो। मन के द्वारा सूक्ष्म मन को देखो, स्थूल चेतना के द्वारा सूक्ष्म चेतना को देखो। 'देखना' ध्यान का मूल तत्त्व है, इसलिए इस ध्यान पद्धति का नाम प्रेक्षाध्यान रखा गया है।

जानना और देखना चेतना का लक्षण है। आवृत चेतना में जानने और देखने की क्षमता क्षीण हो जाती है। उस क्षमता को जागृत करने का सूत्र है—जानो और देखो। भगवान् महावीर ने साधना के जो सूत्र दिये हैं उनमें जानो और देखो ही मुख्य हैं। चिन्तन, विचार या पर्यालोचन करो—यह बहुत गौण और प्रारम्भिक है। यह साधना के क्षेत्र में बहुत आगे नहीं ले जाता।

'आत्मा के द्वारा आत्मा को देखो'—यह अध्यात्म चेतना के जागरण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। इस सूत्र का अभ्यास हम श्वास से प्रारम्भ करते हैं। श्वास शरीर का ही एक अंग है। हम श्वास से जीते हैं, इसलिए सर्वप्रथम श्वास को देखें। शरीर के भीतर होने वाले स्पन्दनों, कंपनों हलचलों या घटनाओं को देखें। इन्हें देखते-देखते मन पटु हो जाता है। सूक्ष्म हो जाता है, फिर अनेक स्पन्दन देखने लग जाता है। वृत्तियां या संस्कार जब उभरते हैं, तब उनके स्पन्दन स्पष्ट होने लग जाते हैं। पूरा का पूरा दोष-चक्र प्रत्यक्ष होने लग जाता है।

इस तथ्य को प्रकट करते हुए आयारो (आचारांग सूत्र) में बताया गया है, "जो क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रियता और अप्रियता आदि दोषों को अपने भीतर देख लेता है, वह जन्म, मृत्यु और दुःख के समग्र चक्रव्यूह को तोड़ देता है।"[2]

'महान् साधक अकर्म (ध्यानस्थ) होकर मन, वचन और शरीर की क्रिया का निरोध कर जानता-देखता है।'[3]

'द्रष्टा के लिए कोई निर्देश की अपेक्षा नहीं है, उसके कोई उपाधि नहीं होती।'[4]

जब हम देखते हैं तब सोचते नहीं है और जब सोचते हैं तब देखते नहीं हैं। विचारों का जो सिलसिला चलता है, उसे रोकने का सबसे पहला और अंतिम साधन है—देखना। कल्पना के चक्रव्यूह को तोड़ने का सशक्त उपाय है—देखना। आप स्थिर होकर अनिमेष चक्षु से किसी वस्तु को देखें, विचार समाप्त हो जाएंगे। विकल्प-शून्य हो जाएंगे। देखना वह है, जहां केवल चैतन्य सक्रिय होता है। जहां प्रियता और अप्रियता का भाव आ जाये, राग-द्वेष उभर जाये, वहां देखना गौण हो जाता है। यही बात जानने पर लागू होती है। हम पहले देखते हैं, फिर जानते हैं। इसे इस भाषा में स्पष्ट किया जा सकता है कि देखते जाते हैं, वैसे-वैसे जानते चले जाते हैं।

भगवान् महावीर स्वयं आत्म साक्षात्कार कर आत्म-संस्थित हो गये। वे आत्म-द्रष्टा थे। उन्होंने आत्म-दर्शन का मार्ग प्रशस्त किया। अतः प्रेक्षाध्यान का आधार आत्मद्रष्टा का दर्शन है।[1] इसका प्रयोजन है—सत्य की खोज।[2] आत्मा का साक्षात्कार[3] और अनासक्ति का विकास।[4] प्रेक्षाध्यान का स्वरूप है—सतत् आत्मा के प्रति जागरूक रहना, अप्रमत्त रहना। भगवान् महावीर ने कहा धीर पुरुष मुहूर्त्त मात्र भी प्रमाद न करे।[5] क्योंकि प्रमत्त को सब ओर से भय होता है। अप्रमत्त निर्भय रहता है।[6] अतः सतत् आत्मा की संप्रेक्षा करे।[7] भगवान् महावीर ने भी साधना काल में सतत् इसका अभ्यास किया था।[8] आत्मप्रेक्षी के साथ-साथ जो

---

1 दशवैकालिक चूलिका 2/12
2 आयारो, 3/83
3 वही, 2/37, 5/120
4 वही, 3/87
1 आयारो 3/85
2 उत्तरज्झयणाणि 6/2
3 (क) दसवेआलियं चूलिया 2/12 (ख) दसवेआलियं 9/3/11
4 आयारो 2/118
5 आयारो 2/11
6 (क) आयारो 3/75 (ख) आयारो 5/23
7 आयारो 4/32
8 आयारो 9/2/4

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लोक को भी निकटता से तटस्थ होकर देखता है वह भी अप्रमत्त हो जाता है।[9] भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों को भी यही उपदेश दिया कि 'हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।'[10]

अप्रमाद की साधना के लिए आगमों में अनेक आलम्बनों का उल्लेख मिलता है। वे आलम्बन (प्रयोग) आगमों में यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं। उनकी विधियां नहीं मिलती हैं। आलम्बनों की विधियों का अनुसंधान व अनुभव कर आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने प्रेक्षाध्यान के अन्तर्गत उन्हें व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया। आपने प्रेक्षाध्यान में आलम्बनों या प्रयोगों को 12 भागों में विभक्त किया। कालान्तर में पुनः वर्गीकरण के दौरान उसे आठ मुख्य, चार सहायक व तीन विशिष्ट अंग के रूप में बांटा। प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग हैं— 1. कायोत्सर्ग, 2. अन्तर्यात्रा, 3. श्वासप्रेक्षा, 4. शरीर प्रेक्षा, 5. चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा, 6. लेश्याध्यान 7. अनुप्रेक्षा और 8. भावना।

सहायक अंग चार हैं—ध्वनि (जप), मुद्रा, आसन और प्राणायाम।

एवं विशिष्ट अंग तीन हैं—वर्तमान क्षण की प्रेक्षा, विचार-प्रेक्षा और अनिमेष-प्रेक्षा।

6.5.1 प्रेक्षा के प्रयोग और उनके स्रोत

श्वासप्रेक्षा और कायोत्सर्ग—ये दो प्रेक्षा ध्यान के आधारभूत तत्त्व हैं। इनका स्रोत आवश्यक निर्युक्ति और कायोत्सर्ग शतक से मिला। वहां कहा गया—श्वास को सूक्ष्म करें, कायोत्सर्ग करें। श्वास को सूक्ष्म करना, श्वास को मंद करना एक ही बात है। श्वसन को सूक्ष्म बना लें, और उसकी गति को मंद कर दें, कायोत्सर्ग में रहें। कायोत्सर्ग और दीर्घश्वास प्रेक्षा का यह महत्त्वपूर्ण स्रोत है। शरीर प्रेक्षा का सूत्र आचारांग से मिला।

एक प्रयोग है चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा। प्रेक्षाध्यान में तेरह चैतन्य-केन्द्र (साइकिक सेन्टर) स्वीकृत हैं। हठयोग में छः चक्र माने गये हैं। कहीं-कहीं नौ चक्र माने गए हैं। नंदीसूत्र में सैकड़ों चैतन्य केन्द्रों की चर्चा है। आचारांग और षट्खण्डागम में भी इसकी चर्चा है।

प्रज्ञापना सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र में लेश्या का विस्तार से वर्णन है। लेश्या हमारे भावों का प्रतिनिधित्व करने वाली, व्याख्या करने वाली एक महत्त्वपूर्ण पद्धति है। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य जयाचार्य ने रंगों के ध्यान का अच्छा वर्णन किया है। इस विषय में उनके दो ग्रन्थ हैं—छोटा ध्यान और बड़ा ध्यान। दो छोटे ग्रन्थों में रंगों का ध्यान करने की बहुत अच्छी पद्धति मिली।

एक प्रयोग है अनुप्रेक्षा। बारह अनुप्रेक्षा या सोलह अनुप्रेक्षा—ये बहुत प्राचीन काल से प्रचलित हैं। कुन्दकुन्द ने बारह अनुप्रेक्षा पर लिखा है, स्वामी कार्त्तिकेय, विनयविजयजी एवं अनेक आचार्यों ने भी इस विषय में लिखा। अनुप्रेक्षा शब्द प्राचीन है। कायोत्सर्ग शब्द भी ग्रन्थों में बार-बार मिलता है। किन्तु इनकी पद्धति को विकसित करने का श्रेय आचार्यश्री महाप्रज्ञ को है। अनुप्रेक्षा की पद्धति विकसित हुई और पचीस-तीस अनुप्रेक्षा के प्रयोग विकसित हो गये। स्वभाव परिवर्तन करने के लिए अनुप्रेक्षा का प्रयोग सबसे शक्तिशाली प्रयोग है। पुरानी आदत को मिटाने और नये संस्कार निर्माण हेतु अनुप्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है।

6.5.2 कायोत्सर्ग

भिक्षु के लिए दिन में अनेक बार कायोत्सर्ग करने का विधान है।[1] यह कायोत्सर्ग सब दुःखों से मुक्त करने वाली प्रक्रिया है।[2] कायोत्सर्ग करने के अनेक प्रयोजन हैं—प्रवृत्ति-निवृत्ति का संतुलन,[3] भय निवारण,[4] स्व-दोष-दर्शन,[5] कर्मक्षय,[6] कषाय-विजय,[7] अनिष्ट निवारण[8] आदि।

कायोत्सर्ग दो शब्दों से बना है—काया + उत्सर्ग। अर्थात् शरीर को छोड़ना।

---

9 सूयगडो 1/12/18
10 उत्तरज्झयणाणि 10/1
1 (क) दसवेआलियं 10/13, (ख) दसवेआलियं चूलिया 2/7
2 उत्तरज्झयणाणि 26/38
3 आवश्यकनिर्युक्ति 1466
4 आवश्यकनिर्युक्ति 1468
5 आवश्यकनिर्युक्ति 1511
6 आवश्यकनिर्युक्ति 1568
7 आवश्यकनिर्युक्ति 1471
8 आवश्यकनिर्युक्ति 1551

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कायोत्सर्ग के दो प्रकार बताये गये हैं—चेष्टा कायोत्सर्ग और अभिभव कायोत्सर्ग।[9]

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया में एकाग्रतापूर्वक शरीर की चेष्टा का त्याग किया जाता है[10] इससे शरीर की चंचलता का निरोध होता है। अतः इसे कायिक ध्यान भी कहा गया है।[11] कायोत्सर्ग तीन प्रकार से किया जा सकता है—खड़े होकर, बैठकर एवं लेटकर।[12] कायोत्सर्ग में स्वदोषों की यथाक्रम में आलोचना की जाती है एवं जब तक गुरु कायोत्सर्ग सम्पन्न न करे तब तक श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म कर धर्म्य-शुक्ल ध्यान किया जाता है।[13] कायोत्सर्ग का परिमाण या अवधि भिन्न-भिन्न अवसरों के लिए अलग-अलग बताई गई है। उसकी अवधि या कालमान को श्वास के आधार पर श्लोक द्वारा निर्धारित किया गया है।[14] श्वास के उच्छ्वास की लम्बाई या कालमान को श्लोक के चतुर्थांश के स्मरण से निश्चित किया गया है।[15] अतः कायोत्सर्ग के साथ श्वास की प्रेक्षा या श्वास का उपयोग भी जुड़ा हुआ है।

कायोत्सर्ग के अभ्यास से अनेक निष्पत्तियां होती हैं—धर्म का बोध, देह के प्रति अनासक्ति, आत्म-विशुद्धि, तितिक्षा, अनुप्रेक्षा और एकाग्रता का विकास।

6.5.3 श्वास प्रेक्षा

श्वास प्रेक्षा का प्रयोजन श्वास को जीतना है। श्वास पर विजय प्राप्त करना योगी का एक लक्षण है।[16] मुनि के लिए कहा गया है वह श्वास को शान्त और नियन्त्रित कर विहार करे।[17] ऐसा साधक धर्म को स्वीकार कर श्रेय का साक्षात्कार कर लेता है।[18] धर्म्य और शुक्लध्यान के प्रसंग में भी श्वास-प्रश्वास को सूक्ष्म करने की बात कही गई है।[1] यही बात कायिक प्रवृत्तियों के निरोध के संदर्भ में भी कही गई है कि उस समय भी श्वास का निरोध नहीं किया जाता पर उसे सूक्ष्म कर दिया जाता है।[2]

ध्यान में श्वास की प्रक्रिया के संदर्भ में कहा गया है कि उस समय मंद श्वास-प्रश्वास होता है।[3] श्वास को हठात् न रोकना चाहिए और न ही उसे छोड़ना चाहिए पर उसे मन्द-मन्द लेना चाहिए और छोड़ना चाहिए।[4] श्वास-प्रश्वास का कालमान (लम्बाई) श्लोक के एक चरण के समान निर्दिष्ट है। एक चरण के चिन्तन (स्मरण) में जितना समय लगता है उतना श्वास-प्रश्वास का कालमान होता है।[5] इसका परिणाम यह होता है कि दुःख से स्पष्ट होने पर साधक व्याकुल नहीं होता।[6]

6.5.4 शरीर प्रेक्षा

शरीर प्रेक्षा का प्रयोजन है आत्मा के प्रति जागरूकता में निरन्तरता का विकास। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि "जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणे त्ति मन्नेसी" अर्थात् इस शरीर का यह वर्तमान क्षण है, इस प्रकार से अन्वेषण करने वाला अप्रमत्त होता है।[7] आत्मा के प्रति सतत् जागरूकता ही अप्रमाद है।

शरीर मोक्ष का साधन है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि शरीर नाव है, जीव नाविक है और संसार समुद्र है। मोक्ष की एषणा करने वाले इस शरीर रूपी नाव से संसार रूपी समुद्र को तैर जाते हैं।[8]

---

9 आवश्यकनिर्युक्ति 1466
10 उत्तरज्झयणाणि 30/36
11 आवश्यकनिर्युक्ति 1484, 1488
12 आवश्यकनिर्युक्ति 1475
13 आवश्यकनिर्युक्ति 1514
14 आवश्यकनिर्युक्ति 1544
15 आवश्यकनिर्युक्ति 1553
16 वृहद्नय चक्र, श्लोक 388
17 सूयगडो 1/2!52, देखें टिप्पण
18 आयारो 3/67
1 आवश्यकनिर्युक्ति 1514
2 व्यवहार भाष्य पीठिका, गाथा 123
3 पासनाह चरियं पृ. 304
4 यशस्तिक चम्पू कल्प 39, श्लोक 716
5 (क) व्यवहार भाष्य पीठिका गाथा 122, (ख) मलयगिरि वृत्ति पत्र 41/42
6 आयारो 3/69
7 आयारो 5/21
8 उत्तरज्झयणाणि 23/73

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संसारी जीव के जितना शरीर का आयतन है, उतना ही आत्मा का आयतन है। जितना आत्मा का आयतन है उतना ही चेतना का आयतन है अतः प्रत्येक कण में संवेदन होता है। उस संवेदन से मनुष्य अपने स्वरूप को देखता है, अपने अस्तित्व स्वभाव को जानता है। शरीर में होने वाले संवेदनों को देखना/जानना/अनुभव करना, चैतन्य को देखना है उसके माध्यम से आत्मा को देखना है।[9]

शरीर प्रेक्षा की प्रक्रिया भी आगमों में संकेत के रूप में मिलती है। आचारांग सूत्र में कहा गया है—'पासह एयं रूवं' तुम इस शरीर को देखो।[10] तू देख! यह लोक (शरीर) चारों ओर प्रकम्पित हो रहा है।[2] इस प्रकार साधक इस अशुचि शरीर के भीतर से भीतर पहुंचकर शरीर-धातुओं को देखता है और झरते हुए विविध स्रोतों को भी देखता है।[3] साधक को सावधान किया गया है कि ऊपर स्रोत है, नीचे स्रोत है, मध्य में स्रोत है। ये स्रोत कहे गये हैं। इनके द्वारा मनुष्य आसक्त होता है, यह तुम देखो।[11]

शरीर प्रेक्षा के तीन मुख्य फलित होते हैं—कर्म-विलय, लोक का ज्ञान, अतीत-अनागत का ज्ञान। आत्म-विस्मृति (प्रमाद) से किये हुए कर्म बन्ध का विलय अप्रमाद से होता है।[12] संयत चक्षु पुरुष लोकदर्शी (शरीरदर्शी) होता है। वह लोक के अधोभाग को जानता है, ऊर्ध्व भाग को जानता है और तिरछे भाग को जानता है।[13] जिस साधक ने शरीर और मन में घटित होने वाली अवस्थाओं को देखने का अभ्यास किया है, वह अपने वर्तमान भव की तरह अतीत और अनागत को भी देखने लग जाता है।[14]

6.5.5 चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा

चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा का मुख्य प्रयोजन है—वृत्ति में परिष्कार। आचारांग सूत्र में कहा गया है कि पुरुष मरणधर्मा मनुष्य के शरीर की संधि को जानकर कामासक्ति से मुक्त हो।[15] संधि का अर्थ है—चैतन्य केन्द्र। चैतन्य केन्द्र का अर्थ है—अतीन्द्रिय चेतना के उदय में हेतुभूत कर्म-विवर (कर्मछिद्र) और आत्मा के प्रति सतत् जागरूकता (अप्रमाद) के अध्यवसाय को जोड़नेवाला शरीरवर्ती साधन। प्राचीन ग्रन्थों में संधि, विवर, रन्ध्र, चक्र, कमल, करण आदि शब्दों का प्रयोग समान अर्थ में देखा जाता है।[1] जो साधक आरंभ (पापकारी प्रवृत्ति) से उपरत होता है वह अनारंभ की साधना करते हुए 'संधि (चैतन्य केद्र) का दर्शन करता है'।[2] आगमों में 'करण' शब्द भी मिलता है तथा करण के प्रसंग में कर्मकरण का विशेष उल्लेख प्राप्त होता है।[3] षट्खण्डागम में अवधिज्ञान के प्रसंग में कहा गया है कि जिसमें जीव-शरीर का एक देश करण बनता है, वह एक क्षेत्र अवधिज्ञान है और जो प्रतिनियत क्षेत्र के माध्यम से नहीं होता, किन्तु शरीर के सभी अवयवों के माध्यम से होता है—शरीर के सभी अवयव करण बन जाते हैं, वह अनेक क्षेत्र अवधिज्ञान है। करणरूप में परिणत शरीर-प्रदेश अनेक संस्थान वाले होते हैं। जैसे श्रीवत्स, कलश, शंख, स्वस्तिक, नन्द्यावर्त आदि।[4] चैतन्य केन्द्र प्रेक्षा से चैतन्य में लीनता और ऐहिक ममत्व से मुक्ति होती है।[5]

6.5.6 लेश्या ध्यान

लेश्याध्यान का प्रयोजन लेश्या की शुद्धि और उससे भावों की विशुद्धि है। लेश्या की मंदता से अध्यवसाय की शुद्धि होती है और अध्यवसाय की शुद्धि से लेश्या की शुद्धि होती है, भावों की शुद्धि होती है।[6]

---

[9] वृहद् नयचक्र 385, 386
[10] आयारो 5/29
[11] आयारो 4/37
[12] आयारो 2/130
[13] आयारो 5/118
[14] आयारो 5/74
[15] आयारो 2/125
[1] ध्यानद्वात्रिंशिका-2
[2] आयारो 2/127
[3] आचारांगभाष्य 5/20
[4] षट्खण्डागम् पुस्तक 13, पृ. 295-296
[5] आयारो 5/30
[6] मूलाराधना 7/1911

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान् महावीर ने जिस लेश्या सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, वह दो धाराओं में चलता है—एक धारा भाव की और दूसरी धारा है रंग की। एक चैतसिक है और दूसरी पौद्गलिक है। एक भाव लेश्या है और दूसरी द्रव्य लेश्या है। पौद्गलिक लेश्या के दो प्रकार हैं—कर्म लेश्या और नो-कर्म लेश्या।

कर्मलेश्या—हमारे भीतर कार्मण शरीर में कर्म का संचय होता है। जब वे कर्म पुद्गल प्रवाहित होकर विद्युत शरीर, तैजस् शरीर में प्रकट होते हैं तब वह कर्म लेश्या कहलाती है। अतः लेश्या को कर्मों का झरना कहा गया है।[7] कर्म लेश्या का जैसा प्रवाह भीतर से आता है, वैसी ही हमारी आत्म परिणति हो जाती है।

वह आत्म-परिणति भाव लेश्या है। उन कर्म पुद्गल-परमाणुओं में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चारों होते हैं। उनमें रंग मनुष्य के शरीर और मन को अधिक प्रभावित करता है इसलिए रंग के आधार पर लेश्याओं का नामकरण किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में छह कर्म लेश्या और उससे सम्बन्धित भाव आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

कर्म लेश्या के छः प्रकार हैं[8]—कृष्ण लेश्या, नील लेश्या, कापोतलेश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या।

बाह्य जगत् में सूर्य का प्रकाश, विभिन्न रंग की किरणें, रत्नों की रश्मियां, शरीर का वर्ण आदि नोकर्म लेश्या कहलाती है।

रंगों (नोकर्म लेश्या) के ध्यान से भावों में (भाव लेश्या) परिवर्तन हो जाता है। इसकी प्रक्रिया यह है कि उन रंगों की कल्पना कर साक्षात् करने का अभ्यास करना। गौतम ने भगवान् से पूछा—भंते! क्या कृष्ण लेश्या, नील लेश्या के पुद्गलों को प्राप्त कर तदनुरूप (नीललेश्या) में परिणत हो जाती है।[9]

महावीर ने कहा—गौतम! ऐसा होता है। कृष्ण लेश्या केवल नील लेश्या के रूप में ही परिणत नहीं होती किन्तु वह कापोत लेश्या, तेजो लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या के रूप में भी परिणत हो जाती है।

कृष्ण, नील और कापोत—ये तीनों अधर्म लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव प्रायः दुर्गति को प्राप्त होता है।[1] इनका त्याग कर मनुष्य अनुत्तर संवेग को प्राप्त होता है।[2] इसी प्रकार तैजस्, पद्म और शुक्ल—ये तीनों धर्म लेश्याएं हैं। इन तीनों से जीव प्रायः सुगति को प्राप्त होता है।[3] इन्हें क्रमशः प्राप्त कर मनुष्य अनुत्तर संवेग को प्राप्त होता है।[4] अतः मुनि के लिए कहा गया है कि वह अबहिर्लेश्य अर्थात् अप्रशस्त लेश्याओं का वर्जन कर परिव्रजन करे।[5]

6.5.7 भावना और अनुप्रेक्षा

भावना के अभ्यास के अनेक प्रयोजन हैं—आत्म-संस्थिति, समस्या-समाधान, शांति, वांछनीय संस्कारों का निर्माण और अवांछनीय संस्कारों का उन्मूलन।

'भावना' का एक प्रयोजन है—आत्मा में स्थित होना। समाधि तंत्र में कहा गया है कि आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है।[6] जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध है, वह जल में नौका की तरह है। जिस प्रकार नौका से तट मिल जाता है वैसे ही भावना से समस्या का समाधान हो जाता है, सब दु:खों से मुक्ति हो जाती है।[7] भावना के बिना विद्वानों के चित्त में भी शांति का अमृत रस स्फुरित नहीं होता। मोह और विषाद के विष से व्याकुल इस जगत् में भावना के बिना किंचित् भी सुख

---

[7] उत्तरज्झयणाणि वृहद्वृत्ति, पत्र 650
[8] उत्तरज्झयणाणि 34/1
[9] प्रज्ञापना 17/4
[1] उत्तरज्झयणाणि 34/56
[2] भगवती आराधना 1908
[3] उत्तरज्झयणाणि 34/57
[4] भगवती आराधना 1908
[5] आयारो 5/20, 2/106
[6] समाधि तंत्र, श्लोक 28
[7] आयारो 6/106

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राप्त नहीं हो सकता।[8] कहा गया है कि भावना योग से विशुद्ध ध्यान का क्रम, जो विच्छिन्न होता है, वह पुनः संध जाता है और वांछनीय संस्कारों का निर्माण होता है।[9] जो पुरुष लोभ को प्रतिपक्ष भावना-अलोभ से पराजित कर देता है, वह प्राप्त कामों (भोगों) का सेवन नहीं करता। वह लोभ जैसे अवांछनीय संस्कार से मुक्त हो जाता है।[10]

जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित हो जाता है, इसलिए उस चिन्तन या अभ्यास को भावना कहा जाता है।[13]

श्रद्धा के बल से पुनः चिन्तन-अनुचिन्तन द्वारा अनुभूति के स्तर पर सत्य का बोध करना अनुप्रेक्षा का मुख्य प्रयोजन है।

अनुप्रेक्षा स्वाध्याय का एक प्रकार है।[11] प्रेक्षा (ध्यान) के पश्चात् अनुप्रेक्षा का अभ्यास किया जाता है। धर्म्य ध्यान के पश्चात् चार अनुप्रेक्षाओं के अभ्यास का उल्लेख किया जाता है—एकत्व, अनित्य, अशरण एवं संसार अनुप्रेक्षा।[12] शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं हैं—अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा, विपरिणाम अनुप्रेक्षा, अशुभ अनुप्रेक्षा और अपाय अनुप्रेक्षा।[13]

अनित्य अनुप्रेक्षा—भगवान् महावीर ने साधकों को अनित्य का बोध देते हुए कहा—"तुम इस शरीर को देखो, यह पहले या पीछे एक दिन अवश्य छूट जायेगा। विनाश और विध्वंस इसका स्वभाव है। यह अध्रुव, अनित्य और अशाश्वत है। इसका उपचय और अपचय होता है। इसकी विविध अवस्थाएं होती है।"[14] मृत्यु कोई भी क्षण आ सकती है।[15] अवस्था बीत रही है और यौवन चला जा रहा है।[16] जीवन बीत रहा है। रात्रियां दौड़ी जा रही हैं। मनुष्यों के भोग भी नित्य नहीं हैं। वे मनुष्य को प्राप्त कर उसे छोड़ देते हैं, जैसे क्षीण फलवाले वृक्ष के पक्षी।[1]

अशरण अनुप्रेक्षा—सत्य का अनुचिन्तन कर साधक को अनुभव के स्तर पर ले जाना अनुप्रेक्षा का कार्य है। अशरण अनुप्रेक्षा के बारे में कहा गया है—

नालं ते तव ताणाए वा, सरणाए वा।
तुमं पि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा॥ आयारो 2/8

वे स्वजन तुम्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हैं। तुम भी उन्हें त्राण या शरण देने में समर्थ नहीं हो।[2] इस तरह साधक सत्य का चिन्तन करता है कि जब मैं अपने द्वारा किये गये कर्मों से छिन्न-भिन्न होता हूं, तब माता, पिता, पुत्र-वधु, भाई, पत्नी और पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।[3]

संसार अनुप्रेक्षा—जन्म-मरण दुःख का कारण है। साधक इस सत्य को गहराई से अनुभव करे। प्राणी मोह के कारण जन्म-मरण को प्राप्त होता है।[4] मैंने सभी जन्मों में दुःखमय वेदना का अनुभव किया है। वहां एक निमेष का अन्तर पड़े उतनी भी सुखमय वेदना नहीं है।[5]

एकत्व अनुप्रेक्षा—पुरुष सब प्रकार के संग का त्याग कर यह भावना करे—मेरा कोई नहीं है, इसलिए मैं अकेला हूं। मैं भी किसी का नहीं हूं। इस प्रकार भिक्षु अपनी आत्मा को एकाकी ही अनुभव करे।[6]

---

[8] सूयगडो 15/5
[9] शान्त सुधारस 1/2
[10] योगशास्त्र 4/122
[11] उत्तरज्झयणाणि 30/34
[12] ठाणं 4/68
[13] ठाणं 4/72
[14] आयारो 5/29
[15] आयारो 2/62
[16] आयारो 2/12
[1] उत्तरज्झयणाणि 13/31
[2] आयारो 2/36
[3] पासनाहचरिअं पृ. 460
[4] उत्तरज्झयणाणि 30/34
[5] ठाणं 4/68
[6] ठाणं 4/72

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अन्यत्व भावना—काम-भोग मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं। पदार्थ मुझसे भिन्न हैं और मैं उनसे भिन्न हूं।[7]
प्रक्रिया—भावना और अनुप्रेक्षा की प्रक्रिया के अन्तर्गत साधक ध्येय के प्रति दृष्टि नियोजित करे, तन्मय बने, ध्येय को प्रमुख बनाये, उसकी स्मृति में उपस्थित रहे एवं उसमें दत्तचित्त रहे।[8] ध्यान के पश्चात् अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओं का अभ्यास करना चाहिए।[9]
परिणाम—अनुप्रेक्षा से साधक आयुष-कर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों की गाढ़-बन्धन से बन्धी हुई प्रकृतियों को शिथिल बन्धनवाली कर देता है। उनके तीव्र अनुभव को मन्द कर देता है। उनके बहुप्रदेशाग्र को बदल देता है। आयुष्य कर्म का बंध कदाचित् करता है, कदाचित् नहीं भी करता है।

असात वेदनीय कर्म का बार-बार उपचय नहीं करता और अनादि, अनन्त, लम्बे मार्गवाली तथा चतुर्गति-रूप चार अन्तोवाली संसार अटवी को तुरन्त ही पार कर जाता है।[10] जो किसी भी कुशल कर्म से अपने आपको भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।[11] जिसका मानस अनवरत भावनाओं से अनुभावित होता है, उसका ममत्व मिट जाता है और वह समत्व का अवलम्बन करता है—समत्व पा लेता है।[12]

6.5.8 वर्तमान क्षण की प्रेक्षा

भगवान् महावीर ने कहा—हे साधक! तुम क्षण को जानो।[13] इसी क्षण को जानो।[14]

अतीत बीत जाता है, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। अतीत के संस्कारों की स्मृति से भविष्य की कल्पनाएं और वासनाएं होती हैं। वर्तमान क्षण का अनुभव करने वाला स्मृति और कल्पना दोनों से बच जाता है। स्मृति और कल्पना राग-द्वेष युक्त चित्त का निर्माण करती हैं। जो वर्तमान क्षण का अनुभव करता है, वह सहज ही राग-द्वेष से बच जाता है। तथागत अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते। कल्पना को छोड़नेवाला महर्षि वर्तमान का अनुपश्यी (देखनेवाला) हो, कर्म शरीर का शोषण कर उसे क्षीण कर डालता है।[1]

द्रव्य क्रिया चित्त का विक्षेप है और साधना का विघ्न है। भाव-क्रिया स्वयं साधना और ध्यान है। हम चलते हैं और चलते समय हमारी चेतना जागृत रहती है, "हम चल रहे हैं"—इसकी स्मृति रहती है—यह गति की भावक्रिया है। इसका सूत्र है कि साधक चलते समय पांचों इन्द्रियों के विषयों पर मन को केन्द्रित न करे। आंखों से कुछ दिखाई देता है, शब्द कानों से टकराते हैं, गंध के परमाणु आते हैं, ठण्डी या गरम हवा शरीर को छूती है—इन सबके साथ मन को न जोड़ें। रस की स्मृति न करें।

साधक चलते समय स्वाध्याय न करे। मन को पूरा खाली रखे। साधक चलने वाला न रहे, किन्तु चलना बन जाए, तन्मूर्ति (मूर्तिमान् गति) हो जाए। उसका ध्यान चलने में ही केन्द्रित रहे, चेतना गति को पूरा साथ दे। यह गमनयोग है।[2]

जब चित्त शरीर और वाणी की प्रत्येक क्रिया के साथ जुड़ता है, चेतना उसमें व्याप्त होती है, तब वह भावक्रिया बन जाती है।[3] भाव-क्रिया का सूत्र है—चित्त और मन क्रियमाण क्रियामय हो जाए,[4] इन्द्रियां उस क्रिया के प्रति समर्पित हों, हृदय उसकी भावना से प्रभावित हो, मन उसके अतिरिक्त किसी अन्य विषय में न जाए, इस स्थिति में क्रिया भावक्रिया बनती है।

---
[7] आयारो 5/29
[8] आयारो 2/62
[9] आयारो 2/12
[10] उत्तरज्झयणाणि 13/31
[11] आयारो 2/8
[12] उत्तरज्झयणाणि 6/3
[13] आयारो 5/7
[14] उत्तरज्झयणाणि 19/74
[1] आयारो 3/60
[2] उत्तराध्ययन 24/8
[3] कायोत्सर्ग शतक गाथा 37
[4] अनुयोगद्वार सूत्र 27

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.5.9 योगासन

जैन परम्परा में मन की स्थिरता के लिए आसनों का प्रारम्भ से अभ्यास किया जाता रहा है। जिस आसन में मन स्थिर हो वही आसन विहित है।[5] भगवान् महावीर स्वयं उकडू आदि आसनों में स्थित और स्थिर होकर ध्यान करते थे।[6]

आसन तपस्या का एक प्रकार है। कायक्लेश के अन्तर्गत उसका समावेश किया जाता है। आत्मा के लिए सुखकर वीरासन आदि उत्कट आसनों का जो अभ्यास किया जाता है, उसे कायक्लेश कहते हैं।[7] आसनों का दूसरा नाम स्थानयोग भी रहा है।[8] स्थानयोग के तीन प्रकार हैं—1. ऊर्ध्वस्थान, 2. निषिदन स्थान, 3. शयनस्थान।

ऊर्ध्व स्थान के सात प्रकार हैं[9]—साधारण, सविचार, सनिरूद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एक पाद एवं गृद्धोड्डीन।

निषिदन स्थानयोग के पांच प्रकार हैं[10]—उत्कटुका, गोदोहिका, समपादपुता पर्यङ्का, अर्धपर्यङ्का।

शयन स्थानयोग के छह प्रकार हैं[11]—लगण्डशयन, उत्तानशयन, अधोमुखशयन, एकपार्श्वशयन, मृतकशयन, ऊर्ध्वशयन।

साधक ऊर्ध्व स्थान कर कायोत्सर्ग करें।[12] उसे कायिक दु:खों की तितिक्षा, सुखासक्ति की हानि और धर्म प्रभावना के लिए कायक्लेश में अपने आपको नियोजित करना चाहिए।[13] अनेक साधक जैसे—इन्द्रभूति अणगार ऊर्ध्वजानु, अध:सिर और ध्यान कोष्ठ में लीन होकर संयम और तप से अपने आपको भावित करते रहे हैं।[1]

6.6 प्रेक्षाध्यान : आध्यात्मिक आधार

6.6.1 द्वन्द्वात्मक अस्तित्व

हमारा अस्तित्व दो तत्त्वों का संयोग है। एक है—चेतन, जीव। दूसरा है अचेतन, शरीर। कुछ लोग केवल शरीर को ही मानते हैं, वे चेतन या जीव की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते। वे अनात्मवादी हैं। आत्मवादी दर्शन आत्मा और शरीर को भिन्न मानता है, दो मानता है। वह चेतन के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करता है।

आत्मवादी दृष्टि-बिन्दु को समझने के लिए हमें स्थूल शरीर से आगे बढ़ना होगा। जहां शरीरवादी दृष्टि बिन्दु स्थूल शरीर, इन्द्रिय और मन तक रुक जाता है, वहां आत्मवादी दृष्टि-बिन्दु उससे आगे बढ़कर सूक्ष्म शरीर, अति सूक्ष्म शरीर, चित्त, अध्यवसाय, कषाय और अन्त में चेतना तत्त्व तक पहुंच जाता है।

6.6.2 अध्यवसाय तन्त्र से भाव तंत्र तक

आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में है—द्रव्य आत्मा या मूल आत्मा। उस केन्द्र की परिधि में अति सूक्ष्म कर्म शरीर द्वारा निर्मित कषाय का वलय है। यद्यपि चेतन तत्त्व शासक के स्थान पर है फिर भी कषाय तन्त्र इतना शक्तिशाली है कि उसकी इच्छा के बिना शासक कुछ नहीं कर पाता। चैतन्य की प्रवृत्ति स्पन्दन के रूप में होती है। इन्हें बाहर निकलने के लिये कषाय वलय को पार करना पड़ता है। पार करने पर उनका एक स्वतन्त्र तन्त्र बन जाता है। वह है अध्यवसाय तन्त्र। यह तन्त्र दूसरे सूक्ष्म शरीर, तैजस शरीर के साथ-साथ सक्रिय होकर आगे बढ़ता है। वह बन जाता है—लेश्या तन्त्र। चेतना के स्पन्दन आगे बढ़कर स्थूल शरीर में उतरते हैं। वहां सबसे पहले मस्तिष्क के माध्यम से चित्त का निर्माण करते हैं।

---

[5] ज्ञानार्णव 28/11
[6] आयारो 9/4/14
[7] उत्तरज्झयणाणि 30/27
[8] ओघनिर्युक्ति भाष्य-गाथा 152
[9] मूलाराधना 3/223
[10] ठाणं 5/50
[11] मूलाराधना 3/225
[12] आयारो 5/81
[13] महापुराण 20/91
[1] भगवई 1/1/9

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

6.3.3 क्रियातन्त्र (योग अर्थात् प्रवृत्ति तंत्र)

मन, शरीर और वाणी—ये तीनों क्रिया-तन्त्र (योगतन्त्र) के अंग हैं, क्रियान्विति के साधन हैं। ज्ञान के साधन नहीं। ज्ञान तन्त्र चित्त तन्त्र तक और भाव तन्त्र लेश्या तन्त्र तक समाप्त हो जाता है। इन दोनों के निर्देशों की क्रियान्विति के लिए क्रिया तन्त्र सक्रिय होता है, जिसके तीन कर्मचारी हैं। मन, वाणी और शरीर। मन का कार्य है—स्मृति, कल्पना और चिन्तन करना। मन का काम ज्ञान करना नहीं है। मन का काम है—चित्त तन्त्र और लेश्या तन्त्र से मिलने वाले निर्देशों का पालन करना।

इस प्रकार चैतन्य के स्पन्दन कषाय के वलय को पार कर अध्यवसाय के रूप में बाहर आते हैं और वे लेश्या तन्त्र के साथ मिलकर भाव धारा बन जाते हैं। स्थूल शरीर में वह भावधारा ग्रन्थि तंत्र के माध्यम से अभिव्यक्त होती है वह भावतंत्र कहलाता है।

भावधारा वृत्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है एवं चित्त को प्रवृत्ति/क्रिया/आचरण के लिए बाध्य करती है। चित्त की जागरूकता में, विवेक व प्रज्ञा के जागरण की अवस्था में चित्त अप्रभावित रहता है एवं वृत्ति विफल हो जाती है। अन्यथा चित्त की मूर्च्छावस्था में वृत्ति से प्रवृत्ति एवं प्रवृत्ति से पुनरावृत्ति का दुष्चक्र चलता रहता है। प्रेक्षाध्यान (देखने की एकाग्रता) जागरूकता, विवेक शक्ति एवं प्रज्ञा के जागरण का सशक्त साधन बनता है। वह प्रवृत्ति तंत्र, क्रिया तंत्र को नियंत्रित कर वृत्ति/भाव/कषाय को परिष्कृत करता है। यह आत्म-साक्षात्कार व आत्म-विकास के चरम शिखर पर आरोहण का आलम्बन है।

6.3.4 प्रेक्षाध्यान का मूल आधार : अनेकान्तवादी दृष्टिकोण

पहले कायोत्सर्ग का एक प्रयोग करवाया जाता था। किन्तु जैसे-जैसे गहराई में उतरते गए, स्रोत मिलते गए। आज कायोत्सर्ग की पांच विधियां विकसित कर ली गई हैं। इन सब विधियों की खोज में हठयोग, तन्त्र, शैव साधना पद्धति, विज्ञान भैरव आदि-आदि ग्रन्थों का यत्किञ्चित् मात्रा में स्रोत और सहयोग मिला। उन सबका भी उपयोग किया गया। प्रेक्षाध्यान के प्रणेता रूढ़ परम्परावादी नहीं हैं। कुछ लोग ऐसे हैं जो कहते हैं—'जो पुराना है उससे हम एक अक्षर भी इधर-उधर नहीं होंगे।' यह उनका अभिमत है। किन्तु प्रेक्षाध्यान में जो गुरु मिले हैं वे लचीले हैं, उनमें रूढ़ता नहीं है।

प्रेक्षा प्रणेता आचार्यश्री महाप्रज्ञ के अनुसार, "हमें तर्कपूर्ण पद्धति मिली, ऐसे लचीलेपन की प्रेरणा मिली कि हमें सबका प्रयोग करना चाहिये। हमने केवल प्राचीन साहित्य का ही प्रयोग नहीं किया, विज्ञान का भी इसमें भरपूर प्रयोग किया है। हमारी यह धारणा है—बहुत सारे तत्त्व ऐसे हैं जो प्राचीन हैं, किन्तु उनकी व्याख्या वर्तमान विज्ञान से जितनी अच्छी हो सकती है, किसी प्राचीन ग्रन्थ से उतनी अच्छी नहीं हो सकती।"

6.3.5 विज्ञान का उपयोग

आज शरीर शास्त्र और क्रियाशास्त्र भी बहुत विकसित हो गए हैं। साइकोलॉजी का भी बहुत अधिक विकास हुआ है। कोई भी ध्यानपद्धति हो, यदि उसमें वर्तमान की वैज्ञानिक पद्धतियों का समावेश नहीं है तो वह शायद अन्धेरी कोठरी में पत्थर फेंकने वाली बात होगी। उसका पूरा उपयोग करना चाहिए। प्रेक्षाध्यान पद्धति में वर्तमान शरीर विज्ञान, शरीर क्रिया विज्ञान और मनोविज्ञान का भरपूर उपयोग किया गया है। उसकी व्याख्या को नया आयाम और नया रूप दिया है। इसलिए एक चिकित्सक प्रेक्षाध्यान को बहुत जल्दी पकड़ लेता है। शरीर को जाने बिना ध्यान ठीक से नहीं हो सकता।

प्रेक्षाध्यान की पद्धति इसलिए लचीली पद्धति है आज भी उसमें नया जोड़ने के लिये अवकाश है। पुराने का संकलन और नये का समन्वय दोनों के लिये द्वार खुले हैं। पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी ने आरम्भ से ही सूत्र दिया—'न प्राचीनता का मोह हो और न नये से एलर्जी।' दोनों ही चाहिए। इसलिए न पुरातन पंथी रहें और न ही नवीनपंथी। जो बातें पुरानी अच्छी हैं, उनका उपयोग करें और जो नई बातें आज प्रकाश में आ रही हैं, उनका उपयोग करें। हमारा अनेकान्तवादी दृष्टिकोण प्रेक्षाध्यान का मूल आधार बना है।

6.3.6 मन्त्रदाता

प्रेक्षाध्यान के आधार-सूत्रों का यह संक्षिप्त विश्लेषण है। जिसका प्राचीन स्रोत है, ऋषभ और भरत। वर्तमान युग में मन्त्रदाता हैं—पूज्य गुरुदेव श्री तुलसी। शक्ति तो हर व्यक्ति में होती है, किन्तु उस शक्ति को जागृत करने वाला चाहिए। मन्त्र का महत्त्व है किन्तु उससे भी ज्यादा महत्त्व है मन्त्रदाता का। यह सौभाग्य है कि गुरु के रूप में आचार्य तुलसी मिले, जिनका ध्यान की इस पद्धति को विकसित करने का आदेश

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिला, प्रेरणा और मार्गदर्शन मिला, एक ऐसी पद्धति विकसित हो गई जिसमें नया मानव और नये विश्व की संरचना का सामर्थ्य सन्निहित है।

6.7 सारांश– प्रेक्षाध्यान में इस प्रकार प्राचीन स्रोतों और नवीन वैज्ञानिक खोजों का सम्यक् समन्वय किया गया है।

6.8 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रेक्षाध्यान के आगमिक स्रोत के आधार पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. प्रेक्षाध्यान का मूल स्रोत क्या है? स्पष्ट करें।
2. प्रेक्षाध्यान का आध्यात्मिक आधार क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. प्रेक्षाध्यान के मुख्य अंग कितने हैं?
2. प्रेक्षाध्यान के विशिष्ट अंग कितने हैं?
3. प्रेक्षाध्यान का नामकरण कब हुआ?
4. .... अतीत और भविष्य के अर्थ को नहीं देखते।
5. आत्मवादी दर्शन के अनुसार केन्द्र में क्या है?
6. प्रेक्षा के मूल स्रोत कौन हैं?
7. भिक्षु के लिए दिन में कितनी बार कायोत्सर्ग करने का विधान है?
8. हमारा अस्तित्व दो तत्त्वों का ...... है।
9. हमारे भीतर .... में कर्म का संचय होता है।
10. अनुप्रेक्षा .... का एक प्रकार है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–7 : अनुप्रेक्षा

संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 उद्देश्य
7.2 भावना
7.3 आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति
7.4 ब्रेनवाशिंग का मुख्य साधन-भावना
7.5 अनुप्रेक्षा
7.6 आधुनिक संदर्भ में अनुप्रेक्षाओं का परिचय
7.7 सारांश
7.8 अभ्यास प्रश्नावली

7.0 प्रस्तावना

ध्यान का अर्थ है प्रेक्षा, देखना। उसकी समाप्ति होने के पश्चात् मन की मूर्च्छा को तोड़ने वाले विषयों का अनुचिन्तन करना अनुप्रेक्षा है। जिस विषय का अनुचिन्तन बार-बार किया जाता है या जिस प्रवृत्ति का बार-बार अभ्यास किया जाता है, उससे मन प्रभावित होता है, इसलिए उस चिन्तन के अभ्यास को भावना कहा जाता है।

जिस व्यक्ति को भावना का अभ्यास हो जाता है उसमें ध्यान की योग्यता आ जाती है। ध्यान की योग्यता के लिए चार भावनाओं का अभ्यास आवश्यक है:

1. ज्ञान भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव में जानने का अभ्यास।
2. दर्शन भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य होकर तटस्थ भाव से देखने का अभ्यास।
3. चारित्र भावना—राग-द्वेष और मोह से शून्य समत्वपूर्ण आचरण का अभ्यास।
4. वैराग्य भावना—अनासक्ति, अनाकांक्षा और अभय का अभ्यास।

मनुष्य जिसके लिए भावना करता है, जिस अभ्यास को दोहराता है, उसी रूप से उसका संस्कार निर्मित हो जाता है। यह आत्म-सम्मोहन की प्रक्रिया है। इसे 'जप' भी कहा जा सकता है। आत्मा की भावना करने वाला आत्मा में स्थित हो जाता है। 'सोऽहं' के जप का यही मर्म है। 'अर्हम्' होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है। कोई व्यक्ति भक्ति से भावित होता है, कोई ब्रह्मचर्य से और कोई सत्संग से। अनेक व्यक्ति नाना भावनाओं से भावित होते हैं। जो किसी भी कुशल कर्म से अपने को भावित करता है, उसकी भावना उसे लक्ष्य की ओर ले जाती है।

7.1 उद्देश्य– इस इकाई में अनुप्रेक्षा का सम्यक् अध्ययन कर सकेंगे।

7.2 भावना

'कंटकात् कंटकमुद्धरेत्'—कांटे से कांटा निकालने की नीति साधना के क्षेत्र में भी लागू होती है। चित्त को वासनाओं से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है, पर पहले ही चरण में दीर्घकालीन वासनाओं को एक साथ निर्मूल नहीं किया जा सकता। उन्हें निरस्त करने के लिए नई वासनाओं की सृष्टि करनी होती है। वे नई वासनाएं यथार्थपरक होती हैं, इसलिए उनका असत् से सम्बन्धित वासनाओं पर दबाव पड़ता है और वे उनसे अभिभूत हो जाती हैं।

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीयज्ञान या शब्दज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप, धारणा, संस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिन्ता भी कहा जाता है और ये सब स्वाध्याय के ही प्रकार हैं।

जैन साधना पद्धति में—भावनायोग' शब्द का व्यवहार हुआ है। भावना से मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है इसलिए यह योग है। भावना में ज्ञान और अभ्यास—दोनों के लिए अवकाश है।

भावना का अर्थ है—सविषय ध्यान। यही इसकी परिभाषा है। जब आपके मन में कोई विषय है, आपने कोई ध्येय चुना है, आप सविषय ध्यान कर रहे हैं, यह है भावना। भावना, सविषय ध्यान और जप में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कोई अंतर नहीं है। तीनों एक हैं। अपनी उपयोगिता के आधार पर भिन्न-भिन्न नामों का चुनाव हुआ है। तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। जप का अर्थ यह है कि जो जप्य है, जिसका जप करना है, उस जप्य वस्तु के प्रति व्यक्ति का तन्मय और एकाग्र हो जाना। भावना का अर्थ है—भाव्य व्यक्ति या वस्तु के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। धारणा का अर्थ भी यही है। जिसकी धारणा करनी है उसके प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। सविषय ध्यान भी यही है। विषय के प्रति या ध्येय के प्रति तन्मय और एकाग्र हो जाना। जप, भावना, धारणा और सविषय ध्यान—चारों एक कोटि के हैं। इसमें तात्पर्य-भेद नहीं है, नाम-भेद है, केवल।

भावना नौका है। भगवान् महावीर ने कहा—जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध होती है, वह जल में नौका की तरह है। वह जब चाहे पार पहुंच सकती है। अब इस नौका का उपयोग कैसे हो? वह प्रश्न शेष रहता है। भावना से भावित होना आवश्यक होता है। तन्मयता और एकाग्रता के साथ हमने जो भावना की वैसा ही होना होता है। उसमें कोई अंतर नहीं आता। प्रश्न है एकाग्रता का, स्थिरता का। शरीर-प्रेक्षा के द्वारा शरीर के भीतर देखना, फिर संकल्प-शक्ति और भावना के प्रयोग द्वारा बदलने की भावना को अवचेतन मन तक पहुंचा देना, यह है रूपान्तरण की प्रक्रिया।

प्रत्येक कोशिका में ज्ञान-केन्द्र है। प्रत्येक कोशिका में प्रकाश-केन्द्र है, बिजली का कारखाना है। हर कोशिका का अपना एक कारखाना है-विद्युत शक्ति का। वे कोशिकाएं अपने ढंग से काम करती हैं। उनको बदलना है, उनको नया जन्म देना है, उनको नया रास्ता देना है तो आपको अपनी भावना को उन तक पहुंचाना होगा।

जब तक हमारी भावना उन तक नहीं पहुंचती तब तक हम नहीं बदल सकते। उदाहरण लें—एक आदमी अपनी क्रोध की आदत को बदलना चाहता हैं संकल्प करता है—मैं क्रोध नहीं करूंगा। बार-बार संकल्प करता है, पर सफल नहीं होता। कितने ही लोग बुरे काम करते हैं और पछताते हैं। फिर सोचते हैं, फिर ऐसा नहीं करूंगा। पर ठीक समय आता है, काम हो जाता है। गुस्सा भी आता है, वासना भी सताती है, वृत्तियां भी सताती हैं। सब अपने समय पर सताते हैं। शराबी शराब को छोड़ने का संकल्प करता है, तम्बाकू का व्यसनी तम्बाकू को छोड़ने का संकल्प करता है, सोचता है, सेवन नहीं करूंगा, पर समय आता है तो भीतर में ऐसी प्रबल मांग जागती है कि उसका संकल्प धरा का धरा रह जाता है। संकल्प भंग हो जाता है। ऐसा क्यों होता है? इसलिए होता है कि हम अपने संकल्प को वहां तक पहुंचा नहीं पाते। बाहर ही बाहर में देखते हैं। हम बहुत अभ्यासी हैं बाहरी बात में। बाहरी को देखते हैं और सारी कल्पना बाहर ही करते हैं।

परिवर्तन की प्रक्रिया का दूसरा सूत्र है—भावना का प्रयोग, संकल्प-शक्ति का प्रयोग, अप्रभावित रहने का प्रयोग। यह संतुलन का प्रयोग होता है तो जीवन में समता घटित होती है और आदमी सौ कदम आगे बढ़ जाता है।

साधक ध्यान के पूर्व और ध्यान के बाद भावनाओं के अभ्यास का सतत स्मरण करता रहे। उनसे एक शक्ति मिलती है, धीरे-धीरे मन तदनुरूप परिणत होता है, मिथ्या धारणाओं से मुक्त होकर सत्य की दिशा में अनुगमन होता है और एक दिन स्वयं को तथानुरूप प्रत्यक्ष अनुभव हो जाता है। भावना और ध्यान के सहयोग से मंजिल सुसाध्य हो जाती है। साधक इन दोनों की अपेक्षा को गौण न समझे। सभी धर्मों ने भावना का अवलम्बन लिया है।

7.3 आटोजेनिक चिकित्सा पद्धति

पश्चिम के लोगों ने एक चिकित्सा पद्धति का विकास किया है—ओटोजेनिक चिकित्सा पद्धति। इस पद्धति में स्वतः प्रभाव डालने वाली बात होती है। वे कल्पना करते हैं और कल्पना के सहारे वैसा अनुभव करते हैं। इस ओटोजेनिक प्रणाली को योग की भाषा में भावात्मक प्रयोग कहा जा सकता है। हमारे यहां भावना का प्रयोग चलता था कि हम वैसा अनुभव करें। भावना का प्रयोग करें कि यह हाथ ऊपर उठ रहा है। अपने आप उठेगा और अपने आप सिर पर लग जाएगा। उठाने का प्रयत्न नहीं करेंगे। अपने आप उठ जाएगा और सिर पर लग जाएगा। आप भावना करें कि हाथ भारी हो गया है। हाथ बहुत भारी बन जाएगा। कल्पना करें कि हाथ हलका हो गया है, हलका हो जाएगा। भावना करें कि हाथ ठंडा हो रहा है, ठंडा हो जाएगा। भावना करें कि हाथ गर्म हो रहा है, हाथ गर्म हो जाएगा। भावना हमारी चेतना को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और वातावरण को बदलती है। यह ठीक भावना का प्रयोग है—ओटोजेनिक चिकित्सा। इस पद्धति के द्वारा रोगी अपने आप अपने को स्वस्थ करता है। दूसरे मार्गदर्शक की बहुत जरूरत नहीं होती। मात्र वह कहीं-कहीं सुझाव देता है। रोगी स्वयं अपनी चिकित्सा कर लेता है।

सुझाव का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक आदमी पीड़ित है किसी भी अवयव की पीड़ा से। घुटने का दर्द, कमर कर दर्द, गर्दन का दर्द—ये तीन स्थान बहुत ज्यादा दर्द के हैं। भारतीय लोग इनसे पीड़ित हैं। ये खास स्थान हैं। दर्द है, शरीर प्रेक्षा का प्रयोग कर रहे हैं, उसे देख रहे हैं। इसके साथ भावना करें। जहां दर्द है वहां हाथ टिका दें। उसे देखना शुरू कर दें। ध्यान उस पर केन्द्रित कर दें। अंगुली का निर्देश और ध्यान वहां पर केन्द्रित है। दीर्घश्वास लें, ध्यान वहीं टिका रहे, बीच-बीच में सुझाव दें कि अवयव स्वस्थ हो रहा है। आप प्रयोग करके देखें कि परिणाम क्या आता है? कितना अदभुत परिणाम आता है! भावना के द्वारा, सुझाव के द्वारा हमारी चेतना बदलना शुरू कर देती है। चेतना में परिवर्तन होना शुरू हो जाता है। हम आदतों को बदल सकते हैं। जटिल से जटिल आदत को भावना के प्रयोग के द्वारा बदला जा सकता है। जिस आदत को बदलने में हजारों उपदेश और हजारों शिक्षाएं काम नहीं करतीं, भावना के द्वारा व्यक्ति स्वयं को बदल सकता है और अपनी चेतना को एकदम नए ढांचे में ढाल सकता है।

7.4 ब्रेनवाशिंग का मुख्य साधन—भावना

भावना मस्तिष्क की धुलाई करने का बहुत बड़ा साधन है। एक ही बात को बार-बार दोहराते जाएं, उसकी पुनरावृत्ति करते जाएं, ऐसा करते-करते एक क्षण ऐसा आता है कि पुराने विचार छूट जाते हैं और नए विचार चित्त में जम जाते हैं। जब तक हमारी यह धारणा जमी हुई है कि सुख-दुःख देने वाला तीसरा व्यक्ति है। तब तक आदमी का रूपान्तरण नहीं होता। भावना योग के द्वारा जब इस विचार की धुलाई हो जाती है, इस विचार को उखाड़ दिया जाता है, तब सुख-दुःख की कोई भी घटना घटित होने पर आदमी यह नहीं मानेगा कि सुख-दुःख देने वाला स्वयं के अतिरिक्त कोई दूसरा व्यक्ति है। आदमी फिर यही सोचेगा, मैंने ऐसा ही कोई कृत्य किया है, कोई ऐसा आचरण किया है, उसी का यह परिणाम सामने आ रहा है। भावनाएं विविध हो सकती है। जिनसे चित्त की विशुद्धि होती है। वे सारी भावनाएं हैं। आज की भाषा में भावना का अर्थ है—ब्रेनवाशिंग। इसका अर्थ है—मस्तिष्क की धुलाई। राजनीति के क्षेत्र में ब्रेनवाशिंग की प्रक्रिया बहुत प्रचलित है। इसका प्रयोजन है, पुराने विचारों की धुलाई कर उनके स्थान पर नए विचारों को भर देना। यह बहुत प्रचलित प्रक्रिया है। इसका प्रयोग प्रत्येक राष्ट्र करता है।

7.5 अनुप्रेक्षा

प्रेक्षाध्यान का दूसरा अंग है—अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा का अर्थ है—ध्यान में हो कुछ हमने देखा, उसके परिणामों पर विचार करना। 'अनु' का अर्थ है—बाद में होने वाला। ध्यान में जो देखा, प्रेक्षा में जो देखा, देखने के बाद उसकी प्रेक्षा करना, परिणामों पर विचार करना, यह है अनुप्रेक्षा। सर्वार्थसिद्धि में अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्मस्वाख्यातत्त्व का बार-बार चिन्तन करना अनुप्रेक्षाए हैं।

सत्य को जानने के लिए प्रेक्षा बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु आदतों को बदलने के लिए अनुप्रेक्षा जरूरी है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसे 'सजेस्टोलॉजी' कहा जा सकता है। अनेक वैज्ञानिक इस पद्धति का प्रयोग करते हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में इसका प्रयोग हो रहा है। 'सजेशन' दो प्रकार से दिया जा सकता है। स्वयं व्यक्ति स्वयं को सजेशन (सुझाव) देता है या अन्य व्यक्ति के सजेशन को स्वयं सुनता है। दोनों प्रकार प्रचलित हैं। इन सुझावों के द्वारा अकल्पित बातें घटित हो जाती हैं।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग सुझाव पद्धति का प्रयोग है। यह 'ऑटोसजेशन'—स्वयं का स्वयं के द्वारा सुझाव देने की पद्धति है। एक आदमी यदि प्रतिदिन सप्ताह तक सुझाव दे कि मैं बीमार हूं, तो निश्चित ही वह बीमार हो जाएगा। दूसरा व्यक्ति यदि यह सजेशन देता है कि मैं स्वस्थ हूं, तो वह स्वास्थ्य का अनुभव करने लग जाएगा। सुझाव की पद्धति को समझ कर सुझाव दें, बार-बार सुझाव दें तो स्वास्थ्य बढ़ता चला जाएगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुप्रेक्षा की पद्धति स्वभाव परिवर्तन की अचूक पद्धति है। इसके द्वारा जटिलतम आदत को बदला जा सकता है। आदत चाहे शराब पीने की हो, तम्बाकू सेवन की हो, चोरी की हो, झूठ और कपट की हो, बुरे व्यवहार की हो, अनुप्रेक्षा पद्धति से उसमें परिवर्तन किया जा सकता है।

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। जप का विकास इसी अनुप्रेक्षा के सिद्धान्त के आधार पर हुआ है। इष्ट का जप करो, मंत्र का जप करो, क्योंकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन में रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नहीं मिलेगा। अनुप्रेक्षा का सिद्धान्त सत्य के लिए समर्पित हो जाने का सिद्धान्त है। सत्य के लिए पूर्णरूपेण समर्पित हो जाओ। अपनी किसी भी धारणा को महत्त्व मत दो। जो सचाई है उसे ग्रहण करो, स्वीकार करो यह है, अनुप्रेक्षा।

सुना होगा, हिमालय की बर्फ पर साधक नग्न होकर बैठा है। चारों ओर बर्फ ही बर्फ है। वह गर्मी का प्रयोग आरम्भ करता है। घण्टा बीतता है और साधक के शरीर से पसीना चूने लगता है। बर्फ पर पसीना चूने लग जाता है। यह प्राकृतिक घटना नहीं है। यह प्राकृतिक घटना होती तो एक ही आदमी के शरीर से पसीना नहीं चूता। वहां जितने आदमी होंगे, सबके शरीर से पसीना चूएगा। पर एक ही आदमी के शरीर से पसीना चूता है और सर्दी में ठिठुरते हैं। यह ध्वनि का प्रयोग है, संकल्प और भावना का प्रयोग है। यह भावनात्मक परिवर्तन है, प्राकृतिक परिवर्तन नहीं है। गर्मी के दिन हैं। भयंकर गर्मी पड़ रही है। लूएं चल रही हैं। साधक सर्दी की भावना करता है, सर्दी का संकल्प करता है और उसके शरीर में सर्दी व्याप्त हो जाती है। वह ठिठुरने लगता है। वह कंबल ओढ़ता है, फिर भी ठिठुरन समाप्त नहीं होती। यह प्राकृतिक नहीं है, भावनात्मक परिवर्तन है।

एक आदमी आज भी जीवित है जो प्रति शुक्रवार को क्रॉस पर चढ़ता है। उसके दोनों हाथों में घाव हो जाते हैं। रक्त बहने लग जाता है। हृदय से भी रक्त बहने लगता है। शुक्रवार को ऐसा होता है। यह भावनात्मक परिवर्तन है। वह व्यक्ति ईसामसीह का संकल्प करता है और ऐसा घटित हो जाता है।

हम धर्म को व्यावहारिक और प्रायोगिक बनाएं। धर्म कोरा कर्मकाण्ड ही नहीं है, वह जीवन का दर्शन है। जो धर्म हमारे वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं देता, वह बहुत काम का नहीं होता।

वह धर्म हमारे लिए उपयोगी है, जो वर्तमान समस्याओं का समाधान का मार्ग सुझा सके। हम प्रायोगिक धर्म के द्वारा समस्याओं का समाधान करें। इस संदर्भ में अनुप्रेक्षाओं का बड़ा महत्त्व है। ध्यान की बहुत सारी पद्धतियां चलती हैं किन्तु ऐसी पद्धतियां बहुत कम हैं, जिनमें प्रेक्षा के साथ अनुप्रेक्षाओं का प्रयोग चलता हो। जैन आचार्यों ने अनुप्रेक्षाओं का बहुत विकास किया। इनका उपयोग किया जाए तो आध्यात्मिक विकास में सहारा मिलेगा, व्यक्तित्व के रूपान्तरण में भी बहुत योग मिलेगा। इसके साथ-साथ शारीरिक, मानसिक और पारिवारिक समस्याओं के समाधान में भी बहुत बड़ा योगदान मिलेगा। हम अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करें, उनके हृदय-बिन्दुओं को पकड़ने का प्रयत्न करें तो धर्म हमें थोपा हुआ या आरोपित नहीं लगेगा। हमें इस सचाई का अनुभव होगा—धर्म हमारा कल्याणकारी सहयोगी है, साथी है और ऐसा साथी है जो अंतिम समय तक निरंतर हमारे साथ रहेगा। प्राचीन आगमिक आधार पर सोलह अनुप्रेक्षाएं उपलब्ध हैं और वर्तमान के संदर्भ में आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हेतु मूल्यों के आधार पर आधुनिक अनुप्रेक्षाओं का शुभारम्भ किया है। इस प्रकार प्राचीन और आधुनिक समस्त अनुप्रेक्षाओं का सार-संक्षेप प्रस्तुत आलेख में सन्निविष्ट किया जा रहा है। प्राचीन सोलह अनुप्रेक्षाओं का विश्लेषण इस प्रकार है—

7.5.1 अनित्य अनुप्रेक्षा

यह शरीर अनित्य है—'इमं सरीरं अणिच्चं' यह यौवन अनित्य है। यह परिवार का संयोग अनित्य है। यह वैभव, यह सम्पदा अनित्य है। इष्ट का संयोग भी अनित्य है। ये सब अनित्य हैं और क्या? जीवन भी अनित्य है। जब अनित्यता का यह अनुचिंतन सामने रहता है, बार-बार चेतना में उभरता है तब अहंकार के प्रश्न समाप्त हो जाते हैं। जिस व्यक्ति को अनित्यता का अनुभव नहीं होता, उसमें क्रोध आने का बहुत अवकाश रहता है। जिसकी चेतना में यह बात जम गई कि 'संयोगाः विप्रयोगान्ताः' संयोग अनित्य हैं, पदार्थ नश्वर है, तब पदार्थ के चले जाने पर भी वह दुःखी नहीं होगा।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सर्वार्थसिद्धि में अनित्य अनुप्रेक्षा के स्वरूप को बताते हुए कहा है कि ये समुदायरूप शरीर, इन्द्रिय-विषय, उपभोग और परिभोग द्रव्य जल के बुलबुले के समान अनवस्थित स्वभाव वाले हैं तथा गर्भादि अवस्था विशेषों में सदा प्राप्त होने वाले संयोगों से विपरीत स्वभाव वाले हैं। मोहवश अज्ञ प्राणी इनमें नित्यता और दर्शनोपयोग स्वभाव के सिवा इस संसार में अन्य कोई भी पदार्थ ध्रुव नहीं है, इस प्रकार चिन्तन करना अनित्य अनुप्रेक्षा है। इस प्रकार की अनुप्रेक्षा करने वाले भव्य व्यक्ति के अनासक्ति के कारण वस्तु के वियोग में भी संताप नहीं होता।

7.5.2 अशरण अनुप्रेक्षा

जिस प्रकार एकान्त में क्षुधित और मांस के लोभी बलवान् व्याघ्र के द्वारा दबोचे गये मृग शावक के लिए कुछ भी शरण नहीं होता उसी प्रकार जन्म, जरा, मृत्यु और व्याधि आदि दुःखों के मध्य में परिभ्रमण करने वाले जीव का कोई भी शरण नहीं है। परिपुष्ट हुआ शरीर ही भोजन के प्रति सहायक है, दुःखों के प्राप्त होने पर नहीं। यत्न से संचित किया हुआ धन भी भवान्तर में साथ नहीं जाता। जिन्होंने सुख और दुःख को समान रूप से बांट लिया है, ऐसे मित्र भी मरण के समय रक्षा नहीं, कर सकते। बन्धुजन भी रोगी की रक्षा करने में असमर्थ होते हैं। सुचरित धर्म ही दुःखरूपी महासमुद्र में तरने का उपाय हो सकता है। काल कवलित होते जीव की सहस्र-नयन भी रक्षा नहीं कर सकते। इसलिए संसार विपत्तिरूप स्थान में धर्म ही शरण है। वही मित्र है अन्य कुछ शरण नहीं है। इस प्रकार की भावना करना अशरणानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले इस जीव के 'मैं सदा अशरण हूं' इस प्रकार अतिशय उद्विग्न होने के कारण संसार के कारणभूत पदार्थों में ममता नहीं रहती और वह भगवान अरहंत सर्वज्ञ प्रणीत मार्ग में ही प्रयत्नशील होता है।

भगवान महावीर ने अशरण का सूत्र दिया। उन्होंने किसी को शरण नहीं बतलाया। उन्होंने कहा—'असरणं सरणंमन्नमाणे बाले लुप्पई'—अशरण को शरण मानने वाला अज्ञानी मनुष्य नष्ट हो जाता है। शरण कोई है ही नहीं। दूसरा है, वह शरण कैसे होगा? आत्मा का शुद्ध स्वरूप है—अर्हत्। आत्मा को सिद्ध स्वरूप है—सिद्ध। आत्मा का साधक स्वरूप है—साधु। आत्मा का चैतन्यमय रूप है—धर्म। कोई दूसरा शरण नहीं है, अपनी आत्मा ही शरण है। 'नाणं सरणं में, दसणं सरणं में, चरित्तं सरणं में' ज्ञान शरण है, दर्शन शरण है, चारित्र शरण है।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र (वीतरागता) की त्रिपुटी है—अर्हत्।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी है—सिद्ध।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी की साधना है—साधु।
ज्ञान, दर्शन और चारित्र की त्रिपुटी का आचरण है—धर्म।

ये सब आत्मा से भिन्न नहीं है। हम इस भ्रांति को तोड़ दें कि हम किसी दूसरे की शरण में जा रहे हैं। हम अपनी ही शरण में जा रहे हैं, अपने अस्तित्व की शरण में जा रहे हैं।

7.5.3 भव अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धि में भव अनुप्रेक्षा का विश्लेषण करते हुए बताया है कि कर्म विपाक के वशीभूत आत्मा को भवान्तर की प्राप्ति होना संसार है। अनेक योनि और कुल कोटिलाख से व्याप्त इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्म-यंत्र से प्रेरित होकर पिता, भाई, पुत्र और पौत्र होता है। माता होकर भगिनी, भार्या और लड़की होता है। स्वामी होकर दास होता है तथा दास होकर स्वामी भी होता है। जिस प्रकार रंगस्थल में नट नाना रूप धारण करता है। इसी प्रकार संसार के स्वभाव का चिन्तन करना संसारानुप्रेक्षा है।

संसार अनुप्रेक्षा का अर्थ है—संसार की नाना परिणतियों को जानना, जन्म और मृत्यु के चक्र से बराबर परिचित रहना।

कोई भी द्रव्य उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के चक्र से मुक्त नहीं है। जिसका अस्तित्व है वह उत्पन्न होता है और नष्ट होता है, फिर उत्पन्न होता है और फिर नष्ट हो जाता है। उत्पन्न और विनाश का क्रम चलता रहता है। इसी क्रम का नाम संसार है। परमाणु-स्कन्ध परिवर्तित होते रहते हैं। वे एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चले जाते हैं। जीव भी बदलते रहते हैं। वे कभी जन्म लेते हैं और कभी मरते हैं। वे कभी मनुष्य होते हैं और कभी पशु। एक जीवन में भी अनेक अवस्थाएं होती हैं। इस प्रकार चिन्तन करते हुए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संसार के दु:ख के भय से उद्विग्न हुए इस संसार से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर संसार का नाश करने के लिए प्रयत्न करता है। इस समूचे परिवर्तन-चक्र का अनुचिन्तन साधक को मुक्ति की ओर ले जाता है।

7.5.4 एकत्व अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार जन्म, जरा और मरण की आवृत्तिरूप महादु:ख का अनुभव करने के लिए मैं अकेला ही हूं और अकेला ही मरता हूं। मेरा कोई स्वजन या परजन व्याधि, जरा और मरण आदि दु:खों को दूर नहीं करता। बन्धु और मित्र श्मशान से आगे नहीं जाते। धर्म ही मेरा कभी साथ न छोड़ने वाला, सदा काल सहायक है। इस प्रकार चिन्तन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के स्वजनों में प्रीति का अनुबन्ध नहीं होता और परजनों में द्वेष का अनुबन्ध नहीं होता, इसलिए नि:संगता को प्राप्त होकर मोक्ष के लिए प्रयत्न करता है।

मैं अकेला हूं—यह है एकत्व अनुप्रेक्षा। आसक्ति द्वैत में पैदा होती है, अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—'तत्र को मोह: क: शोक: एकत्वमनुपश्यत:'—जो एकत्व को देखता है उसे क्या मोह होगा और क्या शोक होगा?

एकत्व की अनुप्रेक्षा का दृढ़ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। संयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते, किन्तु इस वास्तविकता को भी नहीं भुला सकते कि अंतत: आत्मा उन सबसे भिन्न है।

"एगो मे सासओ अप्पा, नाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा॥"

ज्ञान-दर्शन स्वरूप आत्मा शाश्वत है। यही मैं हूं। शेष सांयोगिक पदार्थ मेरे से भिन्न हैं। वे 'मैं' नहीं हूं।

7.5.5 अन्यत्व अनुप्रेक्षा

स्वस्थ चिन्तन का सूत्र है—अन्यत्व भावना की अनुप्रेक्षा करना। उसे सबसे पहले शरीर को समझना होगा, आत्मा के सारे गुण-धर्मों को समझना होगा, इसके साथ शरीर के रहस्यों को भी समझना होगा। उसके बाद यह जानना होगा—आत्मा और शरीर का सम्बन्ध सूत्र क्या है और कहां है? शरीर और आत्मा के प्रभाव को समझना होगा। दोनों का एक दूसरे पर कितना प्रभाव है? प्रभावित करने वाले बिन्दु कौन-कौन से हैं? हमारे शरीर में कुछ विशिष्ट बिन्दु और रसायन हैं, जो हमें प्रभावित करते हैं। ऐसे कुछ विशिष्ट भाव हैं, जो हमें प्रभावित करते हैं। हमें इन सबको समझना होगा।

सर्वार्थसिद्धि में अन्यत्व अनुप्रेक्षा के बारे में बताया गया है कि शरीर से अन्यत्व का चिन्तन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है—यथा बन्ध के प्रति अभेद होने पर भी लक्षण के भेद से 'मैं' अन्य हूं। शरीर ऐन्द्रेयिक है, मैं अतीन्द्रिय हूं, शरीर अज्ञ है, मैं ज्ञाता हूं। शरीर अनित्य है, मैं नित्य हूं। शरीर आदि-अन्त वाला है और मैं अनाद्यनन्त हूं। संसार में परिभ्रमण करते हुए मेरे लाखों शरीर अतीत हो गये। उनसे भिन्न है, वह ही मैं हूं। इस प्रकार शरीर से भी जब मैं अन्य हूं तब बाह्य पदार्थों से भिन्न होऊं तो इसमें क्या आश्चर्य? इस प्रकार मन को समाधान युक्त करने वाले शरीरादिक से स्पृहा उत्पन्न नहीं होती है और इससे तत्त्वज्ञान की भावनापूर्वक वैराग्य का प्रकर्ष होने पर आत्यन्तिक मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अन्यत्व साधना से सब तथ्य सहज ही पकड़ में नहीं आ पाएंगे। किन्तु इतना अवश्य है—जो व्यक्ति अन्यत्व अनुप्रेक्षा की साधना में प्रवेश करेगा और तीन महीने तक उसका अच्छा अभ्यास कर लेगा, उसे अपनी शारीरिक स्थितियों से निपटने की कला आ जाएगी, कष्ट पर से चेतना को हटाने का अभ्यास हो जाएगा। इसी प्रकार मानसिक स्थितियों से निपटने के लिए भी अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग किया जा सकता है। जैसे ही किसी मानसिक भाव की तरंग उठे, तत्काल अन्यत्व अनुप्रेक्षा का प्रयोग करें। चेतना वहां से हटकर दूसरे स्थान पर चली जाएगी, वह मनोभाव शांत हो जाएगा। ऐसा होना संभव है लेकिन इसे लिए गहरी साधना चाहिए।

जो आज तक उपलब्ध नहीं हुआ था वह इससे उपलब्ध हो जाता है। सम्यग्-दर्शन का मूल है अन्यत्व भावना। 'मैं शरीर से भिन्न हूं और शरीर मुझसे भिन्न है'—यह अन्यत्व भावना है, अनुप्रेक्षा है। जैसे-जैसे अन्यत्व की भावना पुष्ट होती चली जाती है, वैसे-वैसे आत्मा का ज्ञान, आत्मा का प्रकाश हजारों-हजारों रश्मियों को फैलाता जाता है और मोह का अंधकार विलीन होता चला जाता है। अन्यत्व की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भावना के जागरण के साथ अनेक ग्रंथियां खुल जाती हैं। शरीर को अपना मानकर जितने तनाव पैदा किये थे, जितनी ग्रंथियों का पात हुआ था, वे सारे तनाव मिट जाते हैं, वे सारी ग्रंथियां खुल जाती हैं। व्यक्ति तनावों और ग्रंथियों से मुक्त हो जाता है।

7.5.6 अशौच अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धिकार ने अशुचि भावना की व्याख्या करते हुए लिखा है—यह शरीर अत्यन्त अशुचि पदार्थों का घर है। शुक्र और शोणितरूप अशुचि पदार्थों से वृद्धि को प्राप्त हुआ है, शौचगृह के समान अशुचि पदार्थों का भाजन है। त्वचा मात्र से आच्छादित है। अति दुर्गन्ध को बहाने वाला झरना है। अंगार के समान अपने आश्रय में आये हुए पदार्थ को भी शीघ्र ही नष्ट करता है। स्नान, अनुलेपन, धूप का मालिश और सुगंधिमाला आदि के द्वारा भी इसकी अशुचिता को दूर कर सकना शक्य नहीं है, किन्तु अच्छी तरह भावना किए गये सम्यक् दर्शन आदिक जीव को आत्यन्तिक शुद्धि को प्रकट करते हैं। इस प्रकार वास्तविक रूप से चिन्तन करना अशुचि अनुप्रेक्षा है इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस शरीर से निर्वेद होता है और निर्विण्ण होकर जन्मोदधि को तरने के लिए चित्त को लगाता है।

आगम साहित्य में भी शरीर को अशुचि से उत्पन्न कहा है। महावीर गौतम को सम्बोधित कर कहते हैं—गौतम! शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं, इन्द्रिय और शरीरबल सब क्षीण हो रहा है। तू देख और क्षणभर भी प्रमाद मत कर। मदिरा के घड़े को कितना ही धोओ, वह अपनी गंध को नहीं छोड़ता। ठीक उसी प्रकार शरीर को कितना ही स्वच्छ करो, वह शुद्ध नहीं होता। प्रतिक्षण अनेक द्वारों से अशुद्धि बाहर की ओर प्रवाहित हो रही है। मूढ़ मनुष्य उसमें शुद्धि का भाव आरोपित कर लेते हैं। किन्तु विज्ञ व्यक्ति उसकी यथार्थता से परिचित होते हैं। साधक शरीर का सम्यक् निरीक्षण करें और उसकी आसक्ति को उखाड़कर अपने स्वरूप में अधिष्ठित बनें। यद्यपि शरीर अपवित्र है, अशुचि है, किन्तु परमात्मा का मंदिर भी है। अशुचि का दर्शन कर ममत्व से मुक्त हो और साथ में परम शुद्ध, सनातन, शिव-आत्मा का भी दर्शन करें।

7.5.7 आश्रव अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धि के अनुसार आश्रव इस लोक और परलोक में दुःखदायी है। महानदी के प्रवाह के वेग के समान तीक्ष्ण है तथा इन्द्रिय, कषाय और अव्रतरूप हैं। उनमें से स्पर्शनादिक इन्द्रियों, वनगज, कौआ, सर्प, पतंग और हरिण आदि को दुःख रूप समुद्र में अवगाहन कराती है। कषाय आदि भी इस लोक में वध, बंध, अपशय और क्लेशादिक दुःखों को उत्पन्न करते हैं, परलोक में नाना प्रकार के दुःखों से प्रज्ज्वलित नाना गतियों में परिभ्रमण कराते हैं। इस प्रकार आश्रव के दोषों का चिन्तन करना आश्रवानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले इस जीव के क्षमादिक में कल्याणरूप बुद्धि का त्याग नहीं होता है तथा कछुए के समान जिसने अपनी आत्मा को संवृत्त कर लिया है उसके ये सब आश्रव के दोष नहीं होते हैं।

आश्रवों के बिना कर्मों का आकर्षण नहीं हो सकता और न कर्मों का एक विशेष संरचनात्मक रूप बन सकता है। हम पुद्गलों को आकर्षित करते हैं और एक विशेष प्रकार का उन्हें रूप देते हैं। ये दोनों काम भावचित्त के बिना नहीं हो सकते, इसलिए हम भावचित्त पर ज्यादा ध्यान देते हैं। राग-द्वेष का प्रत्येक क्षण कर्म-आकर्षण का या कर्म-बंध का क्षण है। हम साधना की दृष्टि से विचार करें तो यह शरीर नौका है। यह डूबने भी लगता है और तैरने भी लगता है। जब इसके सारे छिद्र खुल जाते हैं, आस्रव के मुख चौड़े हो जाते हैं, तो बाहर से इतना आता है, इतना आता है कि वह डूबने लग जाता है, यह डूबना नहीं है। यह डूबना उन आश्रवों और छिद्रों का डूबना है और वे साथ-साथ नौका को भी डुबो देते हैं। इन शरीर के छिद्रों को ढ़कना, आश्रवों को अनाश्रव करना, छेदों को बंद करना, यह हमारी साधना की प्रक्रिया है। जैन साधन अशौच भावना के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास करते थे। 'एत्थोवरए तं झोसमाणे अयं संधी ति अदक्खु।' इस अर्हत् शासन में स्थित साधक शरीर को संयत कर यह कर्म विवर (आश्रव) है, ऐसा देखकर आश्रव को क्षीण करता हुआ प्रमाद न करें।

7.5.8 संवर अनुप्रेक्षा

अतीत बीत गया, भविष्य अनागत होता है, जीवित क्षण वर्तमान होता है। भगवान महावीर ने कहा—'खणं जाणाहि पंडिए।' साधक, तुम क्षण को जानो। भगवान से पूछा गया—कायगुत्तयाए णं भंते! जीवे किं जणयइ? भगवन! कायगुप्ति का परिणाम क्या है? भगवान ने कहा—कायगुत्तयाए णं संवरं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जणयइ'—कायगुप्ति के द्वारा संवर होता है। कायगुप्ति का अर्थ है—काया की सुरक्षा। हम काया से इतने सुरक्षित हो गए कि भीतर किसी के लिए अवकाश नहीं है। बाहर से कोई आ नहीं सकता। केवल हम हैं, हमारी चेतना है, इसके सिवाय भीतर कुछ भी नहीं है। इस प्रक्रिया का नाम है संवर।

7.5.9 निर्जरा अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धिकार संवर की महत्ता बताते हुए लिखते हैं—जिस प्रकार महार्णव में नाव के छिद्र ढके रहने पर क्रम से झरे हुए जल से व्याप्त होने पर उसके आश्रय से बैठे हुए मनुष्य का विनाश अवश्यम्भावी है और छिद्र के ढके रहने पर निरुपद्रव रूप से अभिलषित देशान्तर का प्राप्त होना अवश्यम्भावी है उसी प्रकार कर्मागम के द्वार ढके होने पर कल्याण का प्रतिबन्ध करना संवरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले जीव के संवर में निरन्तर उद्यता होती है और उससे मोक्ष पद की प्राप्ति होती है।

निर्जरा का अर्थ है—रेचन। जो भीतर संचित है उसको बाहर निकालना, यह है निर्जरा की प्रक्रिया। यह केवल क्रोध या भय के तनाव को समाप्त करने की ही प्रक्रिया नहीं है, किन्तु क्रोध और भय के मूल तंत्र को मिटाने की प्रक्रिया है। सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में निर्जरा भावना के संदर्भ में लिखा है—वेदना विपाक का नाम निर्जरा है। यह दो प्रकार की है—अबुद्धिपूर्वा और कुशलमूला। नरकादि गतियों में कर्मफल के विपाक से जायमान जो अबुद्धिपूर्वा निर्जरा होती है वह अकुशलानुबन्धा है तथा परीषह के जीतने पर जो निर्जरा होती है वह कुशलमूला निर्जरा है। वह शुभानुबन्धा और निरनुबन्धा होती है। इस प्रकार निर्जरा के गुण-दोष का चिन्तन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इस प्रकार चिन्तन करने वाले जीव की कर्म निर्जरा के लिए प्रवृत्ति होती है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऊर्जा की ऊर्ध्वयात्रा, चित्तवृत्तियों की निर्मलता, धर्मध्यान और शुक्लध्यान की स्थिति उपलब्ध होती है।

7.5.10 धर्म अनुप्रेक्षा

धर्म का अर्थ है—स्वभाव और वे साधन जिनसे व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है। धर्म को प्राण, द्वीप, प्रतिष्ठा और गति कहा है। व्यक्ति जब धर्म को जान लेता है, उससे सम्यक् परिचित हो जाता है तब उसके लिए जो कुछ है वह सब धर्म ही है।

भगवान महावीर से पूछा गया—'धर्म की श्रद्धा से क्या होता है? उसका परिणाम क्या होता है?' भगवान ने कहा—'धर्म श्रद्धा से अनौत्सुक्य पैदा होता है। उत्सुकता समाप्त हो जाती है।' जिन स्पन्दनों के प्रति, पौद्गलिक स्पन्दनों के प्रति उत्सुकता थी, वह धर्म की श्रद्धा जागने से मिट जाती है। उत्सुकता समाप्त होते ही अध्यात्म के स्पन्दनों का अनुभव होने लग जाता है।

7.5.11 लोक संस्थान अनुप्रेक्षा

सम्पूर्ण विश्व, जो पुरुषाकृति है, इसका चिन्तन करना लोक संस्थान अनुप्रेक्षा है। जड़ और चेतन का यह आवास स्थल है। मनुष्य, पशु, स्थावर, सूर्य, चन्द्र, नारक, देव और मुक्तात्मा—ये सब लोक की सीमा के अन्तर्गत हैं। साधक लोक की विविधता का दर्शन कर और उसके हेतुओं का विचार कर अपने अन्त:स्थित चेतना का ध्यान करें। यह सोचें कि राग-द्वेष की उठने वाली तरंगों का यह परिणाम है। लोक भावना का अभिप्राय है—इस वैविध्य और वैचित्र्य का सम्यग् अवलोकन कर स्वयं को सतत तटस्थ बनाए रखना। सर्वार्थसिद्धि में लोक संस्थान अनुप्रेक्षा का लगभग ऐसा ही उल्लेख प्राप्त होता है।

7.5.12 बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा

सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में बोधिदुर्लभ अनुप्रेक्षा का विशद् विवेचन प्राप्त होता है। ग्रंथकार के अनुसार एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्त गुणा जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से सम्पूर्ण लोक निरन्तर भरा हुआ है। अत: इस लोक में त्रस पर्याय का प्राप्त होना इतना दुर्लभ है जितना कि बालू के समुद्र में पड़ी हुई वज्रसिक्ता की कणिका का प्राप्त होना दुर्लभ होता है। उसमें भी विकलेन्द्रिय जीवों की बहुलता होने के कारण गुणों में जिस प्रकार कृतज्ञता गुण का प्राप्त होना बहुत दुर्लभ होता है उसी प्रकार पंचेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना दुर्लभ है। उसमें भी पशु-मृग पक्षी और सरीसृप तिर्यंचों की बहुलता होती है, इसलिए जिस प्रकार चौपत्र पर रत्नराशि का प्राप्त होना अति कठिन है उसी प्रकार मनुष्य पर्याय का प्राप्त होना भी अति कठिन है और मनुष्य पर्याय के मिलने के बाद उसके च्युत हो जाने पर पुन: उसकी उत्पत्ति होना इतना कठिन है जितना कि जले हुए वृक्ष के पुद्गलों का पुन: उस वृक्ष पर्याय रूप से उत्पन्न होना कठिन होता है। कदाचित् पुन: इसकी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राप्ति हो जाये तो देश, कुल, इन्द्रियसम्पत् और नीरोगता इनका प्राप्त होना उत्तरोत्तर दुर्लभ है। इन सबके मिल जाने पर भी यदि समीचीन धर्म की प्राप्ति न होवे तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ होता है उसी प्रकार मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। इस प्रकार अति कठिनता से प्राप्त होने योग्य उस धर्म को प्राप्तकर विषयसुख में रममाण होना भस्म के लिए चन्दन को जलाने के समान निष्फल है। कदाचित् विषयसुख से विरक्त हुआ तो भी इसके लिए तप की भावना, धर्म की प्रभावना और सुखपूर्वक मरणरूप समाधि का प्राप्त होना अति दुर्लभ है। इसके होने पर ही बोधिलाभ सुफल है ऐसा विचार करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। इस प्रकार विचार करने वाले जीव बोधि को प्राप्त कर कभी भी प्रमाद नहीं होता।

स्वयं का होना बोधि है। जीवन में सब कुछ पाकर भी जिसने बोधि नहीं पाई, उसने कुछ नहीं पाया और बोधि पाकर जिसने कुछ नहीं पाया उसने सब कुछ पा लिया। जन्म से पूर्व और मरने के बाद भी जिनका अस्तित्व अखण्ड रहता है, उसकी खोज में निकलना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा का अभिप्राय है।

सम्यक्त्व या सही दृष्टिकोण की प्राप्ति बोधि सम्पन्नता का पहला सोपान है। गौतम ने भगवान महावीर से पूछा—'भंते! दर्शन-सम्पन्नता का क्या लाभ है?' दर्शन-सम्पन्नता से विपरीत दर्शन का अंत होता है। दर्शन सम्पन्न व्यक्ति यथार्थ दृष्टा बन जाता है। उसमें सत्य की लौ जलती है, वह फिर बुझती नहीं। वह अनुत्तरज्ञान से आत्मा को भावित करता है।

7.5.13 मैत्री अनुप्रेक्षा

भगवान महावीर ने मैत्री का बहुत बडा सूत्र दिया—'मित्ति मे सव्वभूएसु वेरं मज्झ न केणई' मेरा सबके साथ मैत्रीभाव है। कोई मेरा शत्रु नहीं है। आंतरिक चेतना से जैसे-जैसे यह भाव पुष्ट होता जाता है वैसे-वैसे साधक के मन में शत्रुता का भाव नष्ट होता चला जाता है। मैत्री अनुप्रेक्षा का साधक स्वयं अपने को कष्ट में डाल सकता है, किन्तु दूसरों को कष्ट नहीं देता। उसकी दृष्टि में पर-शत्रु जैसा कोई रहता ही नहीं।

मैत्री की आराधना का अर्थ है—शक्ति की आराधना। सहिष्णुता एक शक्ति है। खमतखामणा आराधना का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। उसका तात्पर्य है कि किसी भी व्यक्ति के मन में असहिष्णुता का भाव आ जाए, कलुषता का भाव जाग जाए, उसे ज्ञात हो या नहीं, वह जाने या न जाने, किन्तु स्वयं अपनी ओर से क्षमा मांग लो, सहन कर लो। अपनी मैत्री को मत खोओ। उसे शत्रु नहीं मानना, यही महान् व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। वह इतना विराट् बन जाता है कि उसके सामने फिर शत्रु जैसा कोई व्यक्ति नहीं होता।

7.5.14 प्रमोद अनुप्रेक्षा

प्रमोद का अर्थ है—प्रसन्नता। जो स्वयं में प्रसन्न नहीं होता, प्रमोद अनुप्रेक्षा को समझना उसके लिए कठिन होता है। जो अपना मित्र बनता है, वही प्रमोद-प्रसन्न रह सकता है। जिसकी अपने में प्रसन्नता है उसकी सर्वत्र प्रसन्नता है।

आचार्य ने अभ्यर्थना की—प्रभो! गुणी मनुष्यों के प्रति मेरी प्रमोद भावना जागृत हो। जो मुझसे ज्यादा गुणवान् हैं, जो मुझसे ज्यादा क्षमतावान् हैं, उनके प्रति मन में प्रमोद जागे, ईर्ष्या की भावना न आए। जो सचमुच आध्यात्मिक रस में ओतप्रोत हैं वे गुणवान् व्यक्ति के प्रति प्रमोद प्रदर्शित कर अपने आत्मगुणों का जागरण करते हैं। गुणी के गुणों का निःस्वार्थ भाव से मूल्यांकन करना, दूसरों के समक्ष उन्हें अभिव्यक्ति देना, साधनालभ्य उपलब्धि है। हर व्यक्ति ऐसा कर नहीं सकता।

7.5.15 करुणा अनुप्रेक्षा

करुणा मैत्री का प्रयोग है। जिसका सब जगत् मित्र है, उसकी करुणा भी जागतिक हो जाती है। उस करुणा का सम्बन्ध पर-सापेक्ष नहीं होता। वह भीतर का एक बहाव है जो प्रतिपल सरिता की धारा की तरह प्रवाहित रहता है। महावीर, बुद्ध, जीसस आदि संत इसके अनन्यतम उदाहरण हैं। महायान बौद्ध कहते हैं—बुद्ध का निर्वाण हुआ। वे निर्वाण के द्वार पर रूक गये। कहा गया—भीतर आओ। बुद्ध कहते हैं—जब तक समस्त प्राणी दुःख से मुक्त नहीं होते तब तक मैं भीतर कैसे आ सकता हूं? प्रेम का हृदय-सागर जब छलछला जाता है तब करुणा की ऊर्मियां तट पर टकराने लगती हैं। आचार्य की अभ्यर्थना है, 'प्रभो! दुःख पाने वाले प्राणियों के प्रति मेरे मन में करुणा की भावना जागे।'

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

7.5.16 उपेक्षा अनुप्रेक्षा

अनुकूल और प्रतिकूल दोनों ही स्थितियों में सर्वत्र सम रहना उपेक्षा है। साधक को जहां कहीं भी राग-द्वेष दिखाई दे, तत्काल उनकी उपेक्षा कर अपने भीतर चला जाय। साधक जब उपेक्षा भावना में निष्णात हो जाता है तब हर्ष और विशाद, सुख और दु:ख, सम्मान और अपमान आदि द्वन्द्व सहजतया क्षीण होते चले जाते हैं।

मध्यस्थ भाव की इसीलिए आचार्य ने अभ्यर्थना की है—प्रभो! जो मेरी निन्दा करते हैं, अवज्ञा करते हैं, मुझसे विपरीत व्यवहार करते हैं, मेरी बात नहीं मानते, उन सबके प्रति मेरे मन में मध्यस्थता का भाव जागे। मैं उनके इन विपरीत आचरणों के प्रति उदासीन रहूं। उनके प्रति अन्यथा भाव न आए। मैं यही सोचूं कि मैंने अपना काम कर लिया। वे सब अपना काम करते हैं, मुझे क्या?

7.6 आधुनिक संदर्भ में अनुप्रेक्षाओं का परिचय

7.6.1 कर्त्तव्यनिष्ठा अनुप्रेक्षा

कर्त्तव्यनिष्ठा सदाचार की प्रेरक शक्ति है। अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक व्यक्ति अकरणीय कर्म से विरत रहता है। जब कभी उनके चरण प्रमाद की ओर बढ़ते हैं तो कर्त्तव्य की प्रेरणा उसे रोक देती है और सत्संकल्प कर लेता है। मैं अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक रहूंगा। कर्त्तव्य के बाधक तत्त्वों—क्रोध, लोभ, भय आदि को अनुशासित रखने का अभ्यास करूंगा। कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य की यह बात बहुत ही मूल्यवान है।

7.6.2 स्वावलम्बन की अनुप्रेक्षा

हमारे वैयक्तिक जीवन की फलश्रुति है—स्वावलम्बन। स्वावलम्बन नैतिक जीवन की पहली शर्त है। समाज की भूमिका में स्वावलम्बन का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य दूसरों का सहयोग ही न ले। मेरी सम्मति में उसका अर्थ यही होना चाहिए कि मनुष्य अपनी शक्ति का सांगोपन न करें, जिस सीमा तक अपनी आवश्यकताओं को पूरा कर सके तथा विलासी जीवन को उच्च और श्रमरत जीवन को हेय न मानें।
स्वावलम्बन का अनुपयोग और परावलम्बन का उपयोग शोषणपूर्ण जीवन का आरंभ बिन्दु है। शोषण अनैतिकता की जड़ है। अणुव्रती चाहता है कि समाज में शोषण न रहे। अत: उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह स्वावलम्बन या श्रम की भावना को जन-जन तक पहुंचाए। पर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि श्रम या स्वावलम्बन का कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं है। यह जीवन का स्वाभाविक मूल्य है।

7.6.3 सत्य अनुप्रेक्षा

ध्यान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है—सत्य की दिशा में प्रस्थान, सत्य को जीने का अभ्यास। इसलिए ध्यान की साधना करने वाला सबसे पहले सत्य की खोज करता है और वह सत्य की खोज अपने से ही प्रारम्भ करता है।

सत्य की खोज के मुख्यरूप से चार आयाम हैं—पहला आयाम है श्वास। दूसरा आयाम है—शरीर। तीसरा आयाम है—मन, चित्त, बुद्धि और चौथा आयाम है—शुद्ध चैतन्य, आत्मा। ये सारे के सारे आयाम सत्य की खोज के आयाम हैं।

7.6.4 समन्वय अनुप्रेक्षा

मनुष्य अनेक हैं। अनेकता ने स्वतंत्रता को जन्म दिया, स्वतंत्रता के संघर्ष ने समन्वय को। भगवान महावीर इस समन्वय के महान द्रष्टा और सूत्रधार थे। इस समन्वयसूत्र ने अनेकता को समाप्त नहीं किया, किन्तु उसके साथ जुड़ी हुई एकता को प्रदर्शित कर दिया। उसका अर्थ है कि अनेकता-विहीन एकता और एकता-विहीन अनेकता कहीं प्राप्त नहीं होती।

समन्वय की पृष्ठभूमि में वीतरागता का दर्शन है। राग और द्वेष के उपशम का, चित्त की निर्मलता का तथा अहिंसा और मैत्री का मूल्य समझ लेने पर ही समन्वय का सिद्धान्त समझ में आता है।

7.6.5 सम्प्रदाय निरपेक्षता अनुप्रेक्षा

भगवान महावीर ने तीर्थ की स्थापना की। साधना को सामुदायिक रूप दिया, फिर भी वे सम्प्रदाय और धर्म को भिन्न-भिन्न मानते थे। सम्प्रदाय धर्म की उपलब्धि में सहायक हो सकता है। इस दृष्टि से उन्होंने संघबद्धता को महत्त्व दिया किन्तु धर्म को सम्प्रदाय से आवृत नहीं होने दिया। उन्होंने कहा—जो

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दार्शनिक लोग कहते हैं कि हमारे सम्प्रदाय में आओ, तुम्हारी मुक्ति होगी अन्यथा नहीं, वे भटके हुए हैं और वे भी भटके हुए हैं, जो अपने-अपने सम्प्रदाय की निंदा करते हैं। धर्म की आराधना सम्प्रदायातीत, सत्याभिमुख होकर ही की जा सकती है।

7.6.6 मानवीय एकता अनुप्रेक्षा

आध्यात्मिक व्यक्ति तोड़ता नहीं जोड़ता है। इसी सच्चाई को प्रकट करने के लिए महावीर ने यह उद्घोष दिया 'एक्कामणुस्सजाई' मनुष्य जाति एक है। महावीर ने अपने धर्मशासन का द्वार सब जातियों और सब वर्गों के लिए खुला रखा था। उन्होंने कल्पना ही नहीं की होगी कि उनका धर्मशासन किसी एक जाति या वर्ग से जुड़कर दूसरों के द्वार बंद कर देगा। किन्तु काल की गति ने ऐसा घटना-चक्र प्रस्तुत किया कि महावीर का मानवीय एकता का पक्षधर धर्मशासन मानवीय अनेकता का पक्षधर हो गया। हम महावीर के मानवीय एकता के सिद्धान्त को विश्व के सामने प्रस्तुत कर सकते हैं।

7.6.7 मानसिक संतुलन अनुप्रेक्षा

साधना का अर्थ है—संतुलन का अभ्यास। अस्वस्थ मन शरीर को अस्वस्थ बनाता है। शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मानसिक स्वास्थ्य बहुत जरूरी है। अस्वाभाविक आकांक्षा, असहिष्णुता, अवांछनीय घटना मन को असंतुलित बना देती है। मानसिक असंतुलन सफलता की बहुत बड़ी बाधा है। समस्या का सामना करना और मानसिक संतुलन खोना एक बात नहीं है। मैं समस्या से जूझते हुए भी अपना मानसिक संतुलन बनाए रखूंगा। मेरा विश्वास है कि प्रेक्षाध्यान के अभ्यास के द्वारा मैं अपने मन को इतना साध लूंगा कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संतुलित रह सके।

7.6.8 धैर्य अनुप्रेक्षा

धृति वह तत्त्व है जो व्यक्ति के मन में सदाचार के प्रति आस्था को दृढ़ करती है। सामान्यत: व्यक्ति कोई भी अच्छा काम करता है और उसे शीघ्र ही उसका सुफल नहीं मिलता है तो वह दुराचार की ओर प्रवृत्त हो जाता है। किन्तु जिस व्यक्ति में धैर्य होता है वह परिणाम के प्रति अनातुर रहता हुआ सत्क्रिया करता रहता है।

7.6.9 प्रामाणिकता अनुप्रेक्षा

नैतिकता का अर्थ है—प्रामाणिकता। प्रामाणिकता तीन प्रकार की होती है—वचन की प्रामाणिकता, अर्थ की प्रामाणिकता और व्यवहार की प्रामाणिकता।

वचन की प्रामाणिकता भारतीय संस्कृति का एक बहुत उज्ज्वल पक्ष रहा है।जो बात मुंह से कह दी वह लोहे की लकीर बन गई। प्राण चले जाएं पर वचन को नहीं तोड़ना।

अर्थ के सम्बन्ध में प्रामाणिकता का जबरदस्त विकास था। 'अर्थशुचि: शुचि:'—जो आर्थिक मामले में पवित्र होता है, वास्तव में वही व्यक्ति पवित्र होता है।

व्यवहार की प्रामाणिकता से विश्वास पैदा होता है। जिस समाज में प्रामाणिकता का विकास होता है वह समाज आगे बढ़ता है, उन्नति करता है। जिस समाज में प्रामाणिकता नहीं होती उस समाज का भाग्य हमेशा खतरे में झूलता रहता है। समाज में सबसे पहला आश्वासन का सूत्र होता है—प्रामाणिकता।

7.6.10 ऋजुता की अनुप्रेक्षा

भगवान महावीर ने कहा—'सोही उज्जुयभूयस्स'—शुद्धि उसकी होती है जो ऋजु होता है, सरल होता है। भारतीय परम्परा में विशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त का कथन किया गया है। प्रायश्चित्त की पहली शर्त है कि व्यक्ति बच्चे जैसा सरल होकर अपने दोषों को गुरु के समक्ष रखे। यह है—आलोचना।

गौतम ने पूछा—'भंते! आर्जव से मनुष्य क्या प्राप्त करता है।'

भगवान महावीर ने कहा—'गौतम! आर्जव से मनुष्य काया की ऋजुता, भावों की ऋजुता, भाषा की ऋजुता और संवादी-प्रवृत्ति—कथनी और करनी की समानता को प्राप्त करता है।'

आर्जव का अर्थ है—सरलता। सरलता वह प्रकाश-पुंज है जिसे हम चारों ओर देख सकते हैं।

7.6.11 सह-अस्तित्व अनुप्रेक्षा

वर्तमान में राजनीति के मंच से सह-अस्तित्व की ध्वनि मुखर हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय मंच से यह सह अस्तित्व की चर्चा सुनाई देती है, किन्तु यदि हम यह जानना चाहें कि इस सिद्धान्त का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रतिपादन सबसे पहले किसने किया तो भगवान महावीर का नाम सबसे पहले स्मृति पटल पर उभरेगा। सह-अस्तित्व का विस्तार के साथ यदि कहीं प्रतिपादन मिलता है तो वह है स्याद्वाद में, अनेकान्तवाद में, सापेक्षवाद में।

सबसे अच्छा मार्ग है—सहन करना, समन्वय करना और सह अस्तित्व की चेतना को विकसित करना।

7.6.12 नासक्ति अनुप्रेक्षा

अनासक्ति एक महान प्रयोग है। गीता का नवनीत है—अनासक्ति योग। योगीराज कृष्ण ने कहा—मैं उदासीन की भांति आसीन हूं। कर्मों में अनासक्त हूं। इसलिए वे कर्म मुझे बांध नहीं पाते।
प्रयोग के बिना कोई मनुष्य उदासीन नहीं हो सकता। सामान्यतः हर मनुष्य प्रिय और अप्रिय संवेदना में जीता है। इनसे ऊपर उठना साधना के बिना संभव नहीं। गीता में उदासीन या तटस्थ का अर्थ है—आत्मवान्। आत्मवान् ही अनासक्त हो सकता है। उसे कर्म बांध नहीं पाते।

7.6.13 सहिष्णुता अनुप्रेक्षा

कष्ट-सहिष्णुता के बिना जीवन में उदात्त कर्म की साधना नहीं की जा सकती। सारी उदात्तताएं, विशिष्टताएं, कष्ट-सहिष्णुताएं एक साथ जुड़ी हुई हैं। इसलिए कहा गया—'परीसहे जिणंतस्स ...।' जो परीषहों को सहन करता है, कष्ट सहिष्णु होता है, वह उन्नति के शिखर को छू लेता है।

सहिष्णुता की शक्ति का विकास करने के लिए अग्र-मस्तिष्क पर विशेष ध्यान केन्द्रित करना होगा। प्रेक्षाध्यान की दृष्टि से इसे शांतिकेन्द्र, ज्योतिकेन्द्र का स्थान कहा जाता है।

7.6.14 मृदुता की अनुप्रेक्षा

कोमलता का नाम मृदुता है। यह सामूहिक जीवन की सफलता का सूत्र है। इसके द्वारा व्यक्ति के जीवन में सरसता रहती है। मृदु स्वभाव में लोच होती है। इस स्वभाव वाला व्यक्ति किसी भी वातावरण को अपने अनुकूल बना लेता है। बहुत बार कठोर अनुशासन से जो काम नहीं होता, वह मृदुता से हो जाता है।

दूसरे के प्रति हमारा व्यवहार क्रूरता से मुक्त हो और यदि वह क्रूरता से मुक्त होता है तो अनेक समस्याएं अपने आप समाहित हो जाती हैं, फिर उनके समाधान खोजने की आवश्यकता नहीं होती।

7.6.15 अभय की अनुप्रेक्षा

हम भय और अभय को यथार्थ दृष्टि से देखें। अभय वही हो सकता है, जिसने अपने आपको साध लिया है। कहीं कोई गलती नहीं रही, कमजोरी नहीं रही। सर्वथा अप्रमत्तता की स्थिति में ही अभय घटित हो सकता है। एक ओर गलतियां करते चले जाना, दूसरी ओर अभय होने का दावा करना, अपने आपको धोखा देना है। हम इस धोखे में न जाएं, यथार्थ को स्वीकार करें। जैनधर्म यथार्थवादी दर्शन है। जैनधर्म में विश्वास रखने वाला व्यक्ति यह स्वीकार करता है—जब तक मोहनीय कर्म विद्यमान है, मोहनीय कर्म की सारी प्रकृतियां विद्यमान हैं तब तक भय का अस्तित्व रहेगा। क्रोध, मान, माया और लोभ रहे, घृणा, हास्य, रति-अरति, वेद, कामवासना—ये सब रहें और भय न हो, यह संभव नहीं है। जिस व्यक्ति को अभय होना है, उसे सबसे पहले कषाय को कम करने की साधना करनी चाहिए।

अभय की अनुप्रेक्षा करने वाला व्यक्ति इस शब्दावली का बार-बार अनुचिंतन करता है—'अभय का भाव पुष्ट हो रहा है, भय का भाव क्षीण हो रहा है।' इसकी पृष्ठभूमि में ये सारी ध्वनियां प्रतिध्वनित होनी चाहिए—'क्रोध का भाव क्षीण हो रहा है, क्षमा का भाव पुष्ट हो रहा है। लोभ का भाव क्षीण हो रहा है, संतोष का भाव पुष्ट हो रहा है। मान और माया का भाव क्षीण हो रहा है, ऋजुता और मृदुता का भाव पुष्ट हो रहा है।' इस स्थिति में ही अभय की अनुप्रेक्षा सार्थक हो सकती है। यदि अभय की भावना करें और इन सबकी उपेक्षा करें तो अभय का विकास कैसे संभव होगा? एक ओर क्रोध पुष्ट होता चला जाए, मान प्रबल बनता चला जाए, माया गहराती चली जाए, लोभ अपना जाल बिछाता चला जाए, दूसरी ओर हम अभय की भावना करते चले जाएं तो यह केवल तोता रटन होगी। इसकी कोई सार्थक निष्पत्ति नहीं आ पाएगी। हम इस भ्रम में न रहें—कायोत्सर्ग की मुद्रा में अभय की अनुप्रेक्षा करने मात्र से अभय घटित हो जाएगा। यह अधूरी बात है। पूरी बात तब होगी जब हम एक ओर अभय की भावना को पुष्ट बनाएंगे,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दूसरी ओर अमूर्च्छा का भाव प्रबल होगा। हम मूर्च्छा को घटाने की साधना करें, हमारे जीवन में अभय के अवतरण की भूमिका बन जाएगी।

अभय का भाव जब जागता है, तब तक अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्षण है—प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा। अभय की अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है।

जब सहिष्णुता सधती है तब अभय घटित होता है। समूचे धर्म का रहस्य है—अभय। धर्म की यात्रा का आदि बिन्दु है अभय और अंतिम बिन्दु है अभय। धर्म अभय से प्रारम्भ होता है और अभय को निष्पन्न कर कृतकृत्य हो जाता है। वीतरागता का आरंभ अभय से होता है और वीतरागता की पूर्णता भी अभय में होती है।

7.6.16 आत्मानुशासन अनुप्रेक्षा

भगवान ने कहा—'गौतम! तु आत्मानुशासन में आ। अपने आपको जीत। यही दु:ख-मुक्ति का मार्ग है। कामनाओं, इच्छाओं और वासनाओं को जीत। यही दु:खमुक्ति का मार्ग है। कहा भी है—

"आत्मा वशीकृतो येन, तेनात्मा विदितो ध्रुवम्।
अजितात्मा विदन् सर्वमपि नात्मानमृच्छति ॥"

जिसने आत्मा को वश में कर लिया, उसने वास्तव में आत्मा को जान लिया। जिसने आत्मा को नहीं जीता, वह सब कुछ जानता हुआ भी आत्मा को नहीं पा सकता।

7.7 सारांश

इस प्रकार उपर्युक्त अनुप्रेक्षाओं का दैनिक जीवन में प्रयोग कर जहां हम वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान प्राप्त करते हैं वहां आध्यात्मिक उत्कर्ष की ऊंचाइयों को भी प्राप्त कर सकते हैं।

7.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आधुनिक परिप्रेक्ष्य में अनुप्रेक्षाओं की प्रासंगिकता पर सविस्तार प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ के आधार पर अनुप्रेक्षाओं का विश्लेषण करें।
2. मानसिक संतुलन अनुप्रेक्षा की क्या उपयोगिता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. अनुप्रेक्षा का अर्थ क्या है?
2. अनुप्रेक्षा का प्रयोग ...... का प्रयोग है।
3. प्राचीन अनुप्रेक्षाएं कितनी हैं?
4. आधुनिक अनुप्रेक्षाओं के कितने प्रकार हैं?
5. आधुनिक अनुप्रेक्षाओं में दसवीं .... है।
6. लोक संस्थान अनुप्रेक्षा किसे कहते हैं?
7. मैत्री की आराधना का अर्थ है .... की आराधना।
8. जैन साधक .... के द्वारा शरीर के प्रति अनासक्त रहने का अभ्यास करते हैं।
9. स्वस्थ चिन्तन का सूत्र है .... की अनुप्रेक्षा।
10. अशरण को शरण मानने वाला ...... नष्ट हो जाता है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–8 : लेश्या का स्वरूप एवं भेद

संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 द्रव्यलेश्या
8.3 भावलेश्या
8.4 लेश्या के वर्ण
8.5 परिणाम
8.6 लक्षण
8.7 गति
8.8 आयु
8.9 लेश्या और मनोविज्ञान
8.10 लेश्या और आभामण्डल
8.11 सारांश
8.12 अभ्यास प्रश्नावली

8.0 प्रस्तावना

दर्शन जगत् की दो मुख्य धाराएं हैं—द्वैतवाद और अद्वैतवाद। जहां तक सृष्टि का प्रश्न है—अद्वैतवाद के अनुसार चेतन और अचेतन इन दो द्रव्यों में से कोई एक द्रव्य ही सृष्टि का उपादान है। द्वैतवादी दर्शन की धारणा इससे सर्वथा भिन्न है। वह जड़ और चेतन दोनों को समान रूप से सृष्टि का मुख्य घटक मानता है।

जैनदर्शन द्वैतवादी दर्शन है। उसकी दृष्टि में जड़ और चेतन का संयोग संसार है और उनका वियोग मोक्ष है। जड़ और चेतन का यह संयोग अनादि है। इन दोनों की अंत:क्रिया का जहां तक प्रश्न है तो जैनदर्शन की दृष्टि में हर संसारी आत्मा कथंचित् मूर्त्त है, इसलिए मूर्त्त के द्वारा मूर्त्त जड़ शरीर के आकर्षण में कहीं कोई कठिनाई नहीं है। इस संयोग को प्रगाढ़ करता है—आत्मा के साथ जुड़ा कर्मशरीर। कर्मशरीर को एक ऐसा ऊर्जा भण्डार प्राप्त है जहां से निरन्तर विद्युत् प्राप्त हो रही है। पारिभाषिक शब्दावली में इस ऊर्जा भण्डार को आश्रव कहा गया है।

प्रश्न उभरता है कर्मबंध की प्रक्रिया में आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है। इस संदर्भ में आगम लेश्या के रूप में समाधान देता है। आत्मा और कर्म को जोड़ने वाला, लिप्त करने वाला सेतु है—'लेश्या' जिसके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त होता है। पंचसंग्रह में कहा गया है कि जैसे आमपिष्ट से मिश्रित गेरु मिट्टी के लेप द्वारा दीवार रंगी जाती है वैसे ही शुभ-अशुभ भावरूप लेश्या द्वारा आत्मा के परिणाम लिप्त होते हैं। लेश्या और कर्म में कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

लेश्या शब्द का प्रयोग जैन आगम स्थलों में अनेक स्थानों पर हुआ है, पर इसकी परिभाषा कहीं उपलब्ध नहीं होती है। आगम के व्याख्या साहित्य में सर्वप्रथम इस विषय पर अपनी लेखनी नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि ने उठाई है। वे लिखते हैं—कृष्ण आदि द्रव्य वर्गणाओं की सन्निधि से होने वाला जीव का परिणाम लेश्या है। इसी प्रसंग में वे एक प्राचीन गाथा भी उद्धृत करते हैं—

कृष्णादि द्रव्यसाचिव्यात्, परिणामो य आत्मनः।
स्फटिकस्येव तत्रायं लेश्या शब्द प्रयुज्यते॥

अर्थात् स्फटिक मणि में जिस वर्ण के धागे को पिरोया जाता है वह वैसी ही प्रतिभासित होने लगती है। इसी प्रकार जैसी लेश्या की वर्गणाएं जीव के सम्मुख आती हैं, वैसे ही उसके आत्म परिणाम बन जाते हैं। लेश्या आत्म परिणामों की संवाहिका है।

भगवतीसूत्र की वृत्ति में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अभयदेवसूरि लिखते हैं—कृष्णादिद्रव्यसान्निध्यजनितो जीवपरिणामो लेश्या। आत्मा के साथ कर्मपुद्गलों को आकर्षित करने वाली प्रवृत्ति लेश्या है। ये योग के परिणाम विशेष हैं। स्थानांगसूत्र की वृत्ति में एक मत उद्धृत करते हुए अभयदेवसूरि लिखते हैं—लेश्या कर्म निर्झर रूप है। प्राणी इसके द्वारा कर्मों का संश्लेष करता है। जिस प्रकार वर्ण की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थिति का निर्धारण उसमें विद्यमान श्लेष द्रव्य के आधार पर होता है, वैसे ही कर्मबंध की स्थिति का निर्धारण लेश्या से होता है।

सामान्यत: ऐसा समझा जाता है कि शुभ नामकर्म के उदय से शुभलेश्या पुद्‌गलों का और अशुभ नामकर्म के उदय से अशुभ लेश्या पुद्‌गलों का ग्रहण होना चाहिए। तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने इस संदर्भ में अपनी कृति "झीणी चर्चा" में आगमिक दृष्टि को प्रतिपादित किया है।

मोहकर्म रो उदै निपन छे, अशुभ लेश्या त्रिहुं व्याप।
पापकर्म बंध एक ही थी सात कर्म सूं नहिं बंधे पाप॥

अशुभलेश्या के कर्म पुद्‌गलों को ग्रहण करने से पापकर्म का बंध होता है। पापकर्म का एकमात्र हेतु मोहनीय कर्म है, उसके सिवाय अन्य किसी कर्म से इसका सम्बन्ध नहीं है।

तत्त्वार्थराजवार्तिक में लेश्या को परिभाषित करते हुए आचार्य अकलंक लिखते हैं—कषायोदयरंजिता योगप्रवृत्तिलेश्या, कषाय के उदय से रंजित योग की प्रवृत्ति लेश्या है। आत्म-परिणामों की शुद्धता और अशुद्धता की अपेक्षा से इसे कृष्ण आदि नामों से पुकारा जाता है।

लेश्या की उपरोक्त परिभाषाओं एवं अन्य बातों के आधार पर तीन अभिमतों की पुष्टि होती है—

1. योग परिणाम लेश्या, 2. कर्म वर्गणानिष्पन्न लेश्या, 3. कर्मनिस्यन्द लेश्या।

योग परिणाम लेश्या

इस मत के मुख्य प्रवर्तक आचार्य हरिभद्रसूरि, आचार्य मलयगिरि एवं उपाध्याय विनयविजय जी हैं। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापनासूत्र के लेश्या पद की प्रस्तावना में इस विषय पर पर्याप्त विवेचन किया है। लेश्या और योग में अविनाभावी सम्बन्ध है। जहां योग का विच्छेद होता है, वहीं लेश्या परिसम्पन्न होती है।

कर्मवर्गणा निष्पन्न लेश्या

उत्तराध्ययन के टीकाकार शांतिसूरि का मत है कि लेश्या का निर्माण कर्मवर्गणा से होता है। लेश्या कर्मरूप होते हुए भी उससे पृथक् है, क्योंकि दोनों का स्वरूप भिन्न-भिन्न है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि जीव जब तक कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण करता रहता है तब तक ही लेश्या का अस्तित्व रहता है। उसके पश्चात् जीव अलेश्य हो जाता है।

कर्मनिष्यन्द लेश्या

लेश्या कर्म के निर्झर के रूप में है। जैसे निर्झर नित नये-नये रूप में प्रवाहित होता रहता है, वैसे ही लेश्या प्रवाह एक जीव के साथ अपने असंख्य रूप दिखलाता है। निष्यन्द का तात्पर्य बहते हुए कर्म प्रवाह से है। चौदहवें गुणस्थान में कर्मसत्ता है, प्रवाह है पर वहां लेश्या का अभाव है क्योंकि वहां नये कर्मों का आगमन नहीं होता। प्रज्ञापनावृत्ति में इस मत की सुव्यवस्थित समालोचना की गई है।

8.1 उद्देश्य

लेश्या हमारे व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। लेश्या के मुख्य दो भेद हैं—द्रव्यलेश्या और भावलेश्या। तेज, ज्योति, किरण, मण्डल, बिम्ब, ज्वाला, वर्ण आदि शब्द द्रव्यलेश्या के लिए प्रयुक्त होते हैं। अध्यवसाय, अन्त:करण, आत्मपरिणाम, वृत्ति आदि शब्द भावलेश्या के संसूचक हैं।

8.2 द्रव्यलेश्या

जब हम द्रव्यलेश्या के स्वरूप के विषय में सोचते हैं तो सर्वप्रथम चिन्तन आता है कि उसका आकार प्रकार कैसा है? आगमकारों ने कहा कि द्रव्यलेश्या में पांच वर्ण, पांच रस, दो गंध और आठ स्पर्श होते हैं। जहां द्रव्यलेश्या के कृष्ण-नील आदि छ: प्रकार पाये जाते हैं, वहां नैश्चयिक दृष्टि से लेश्या के प्रत्येक वर्ण में सभी वर्ण, गंध, रस और स्पर्श होते हैं पर कृष्ण आदि वर्ण के पुद्‌गलों की प्रधानता होने से उन्हें उस-उस नाम से पुकारा जाता है। द्रव्यलेश्या एक पौद्‌गलिक पदार्थ है, इसीलिए पुद्‌गल के सभी गुण उसमें विद्यमान है। क्षेत्र की दृष्टि से उसका अधिकतम विस्तार लोक प्रमाण हो सकता है। सामान्यत: वह असंख्यात आकाश प्रदेशों का अवगाहन कर रहती है।

काल की अपेक्षा वह शाश्वत भाव है। कभी भी ऐसा समय नहीं था, न है और न होगा जब द्रव्यलेश्या का अस्तित्व नहीं रहा हो। भाव की दृष्टि से वह कभी वर्ण, गंध आदि से वियुक्त नहीं होती है। गुण की दृष्टि से ग्रहण उसका मौलिक गुण है अर्थात् उसमें निरन्तर पुद्‌गलों का आदान प्रदान होता रहता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

द्रव्यलेश्या की वर्गणाएं रूपी होते हुए भी अतिसूक्ष्म होने के कारण छद्मस्थ के लिए अज्ञेय हैं। पर जब वे ही सकर्म जीव के द्वारा गृहीत होती हैं तो उन गृहीत वर्गणाओं को विशिष्ट साधना करने वाला भावितात्मा मुनि जान सकता है।

8.3 भावलेश्या

भावलेश्या का स्वरूप द्रव्यलेश्या से बिल्कुल भिन्न है। जहां द्रव्यलेश्या जीव के द्वारा गृहीत होने वाली पुद्गल वर्गणाएं हैं, वहां भावलेश्या स्वयं जीव का परिणाम है। प्रज्ञापना सूत्र में भावलेश्या की अपेक्षा से दस जीव परिणामों में लेश्या को परिगणित किया गया है। चूंकि भावलेश्या जीव है, इसीलिए जीव की सभी विशेषताएं उसमें होना स्वाभाविक है। अपने स्वभाव के अनुसार भावलेश्या वर्ण, गंध, रस एवं स्पर्श से विरहित है। वह अरूपी है, इसीलिए सर्वथा भारमुक्त है। जैनदर्शन में इसे अगुरुलघु नाम से अभिहित किया है।

भावलेश्या के वर्गों में परस्पर परिणमन हो सकता है। भावलेश्या के परिणमन का आधार भावों की विशुद्धता और अविशुद्धता है जब भाव विशुद्ध होते हैं तो प्राणी कृष्णलेश्या से नीललेश्या की स्थिति में पहुंचता है। जब भाव अविशुद्ध होते हैं तो चेतना का पुनः नीललेश्या से कृष्णलेश्या में अवस्थान हो जाता है। वस्तुतः भावलेश्या ही जीव की सुगति और दुर्गति की हेतु है। प्रशस्त भावलेश्या से जीव सुगति का बंधन करता है और अप्रशस्त भावलेश्या दुर्गति का हेतु है।

काल की दृष्टि से उसका कोई आदिकाल नहीं है द्रव्यलेश्या और भावलेश्या के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जिज्ञासा उभरती है कि द्रव्यलेश्या के काले, नीले पुद्गल द्रव्य अपने आप में अच्छे बुरे कैसे होंगे, क्योंकि वह अजीव है उनसे आत्मा के परिणाम/अध्यवसाय अच्छे-बुरे होंगे कैसे? और यदि भावलेश्या के अनुरूप द्रव्यलेश्या बनती है तो भावलेश्या के शुभ-अशुभ का मूल कारण क्या है? केवल द्रव्यलेश्या से भाव नहीं बनते। उसके साथ मोह यानी राग-द्वेषात्मक परिणामों का योग होने पर भावलेश्या का निर्माण होता है। कहा जा सकता है कि द्रव्यलेश्या आत्मा का बाहरी स्तर है जिसका आधार पौद्गलिक है और भावलेश्या आंतरिक स्तर है जिसका आधार राग-द्वेषात्मक परिणति है। राग-द्वेषमय योग प्रवृत्ति कर्मपुद्गलों का आश्रव करती है, कर्मपुद्गल आत्मक्रिया से आकृष्ट होकर परिणामों के अनुसार शुभता-अशुभता में बदल जाते हैं।

मनुष्य का शरीर स्थूल स्कन्ध है, इसलिए वह भी सब रंगों से युक्त है। वह रंगीन है, इसीलिए बाह्य रंगों से प्रभावित होता है। इस प्रभाव शक्ति के आधार पर भगवान् महावीर ने सब प्राणियों के शरीरों और विचारों को छः वर्गों में विभक्त किया—1. कृष्णलेश्या, 2. नीललेश्या, 3. कापोतलेश्या, 4. तेजोलेश्या, 5. पद्मलेश्या, 6. शुक्ललेश्या।

पूरणकश्यप बौद्ध साहित्य में उल्लिखित छः तीर्थंकरों में से एक हैं। उन्होंने रंगों के आधार पर छः अभिजातियां निश्चित की थी—

1. कृष्णाभिजाति—क्रूर कर्म वाले सौकरिक, शाकुनिक आदि जीवों का वर्ग।
2. नीलाभिजाति—बौद्ध-भिक्षु तथा अन्य कर्मवादी, क्रियावादी भिक्षुओं का वर्ग।
3. लोहिताभिजाति—एकशाटक निर्ग्रन्थों का वर्ग।
4. हरिद्राभिजाति—श्वेतवस्त्रधारी या निर्वस्त्र।
5. शुक्लाभिजाति—आजीवक श्रमण-श्रमणियों का वर्ग।
6. परमशुक्लाभिजाति—आजीवक आचार्य-नन्द, वत्स, कृश, सांकृत्य, मस्करी, गोशालक आदि का वर्ग।

इस वर्गीकरण का मुख्य आधार अचेलता है। इसमें वस्त्रों के अल्पीकरण या पूर्णत्याग के आधार पर अभिजातियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया गया है। गौतम बुद्ध ने आनन्द से कहा—मैं भी छह अभिजातियों की प्रज्ञापना करता हूँ।

1. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक (नीच कुल में उत्पन्न) हो, कृष्ण धर्म (पाप) करता है।
2. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, शुक्ल धर्म करता है।
3. कोई पुरुष कृष्णाभिजातिक हो, अकृष्ण-अशुक्ल निर्वाण को पैदा करता है।
4. कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो (ऊंचे कुल में उत्पन्न), शुक्ल धर्म (पुण्य) करता है।
5. कोई पुरुष शुक्लाभिजातिक हो, अशुक्ल अकृष्ण निर्वाण को पैदा करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यह वर्गीकरण जन्म और कर्म के आधार पर किया हुआ है। इसमें चाण्डाल, निषाद आदि जातियों को 'कृष्ण' कहा गया है। कायिक, वाचिक और मानसिक दुश्चरण कृष्णधर्म और उनके सुचरण को शुक्लधर्म कहा गया है। निर्वाण न कृष्ण है और न शुक्ल। इस वर्गीकरण का ध्येय यह है कि नीच जाति में उत्पन्न व्यक्ति भी शुक्ल धर्म कर सकता है और उच्च कुल में उत्पन्न मनुष्य भी कृष्ण धर्म करता है। धर्म और निर्वाण का सम्बन्ध जाति से नहीं है।

छह अभिजातियों के इन दोनों वर्गीकरणों का लेश्या के वर्गीकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सर्वथा स्वतंत्र है। लेश्या का सम्बन्ध एक-एक व्यक्ति से है। विचारों को प्रभावित करने वाली लेश्याएं एक व्यक्ति के एक ही जीवन में काल क्रम से छहों हो सकती हैं।

लेश्या का वर्गीकरण छह अभिजातियों की अपेक्षा महाभारत के वर्गीकरण के अधिक निकट है। सनत्कुमार ने दानवेन्द्र वृत्रासुर से कहा—'प्राणियों के वर्ण छह प्रकार के होते हैं—1. कृष्ण 2. धूम्र 3. नील 4. रक्त 5. हारिद्र 6. शुक्ल।' इनमें से कृष्ण, धूम्र और नील वर्ण का सुख मध्यम होता है। रक्त वर्ण अधिक सह्य होता है। हारिद्र वर्ण सुखकर और शुक्ल वर्ण अधिक सुखकर होता है।

कृष्णवर्ण की नीच गति होती है। वह नरक में ले जाने वाले कर्मों में आसक्त रहता है। नरक से निकलने वाले जीव का वर्ण धूम्र होता है, वह पशु-पक्षी जाति का रंग है। नील वर्ण मनुष्य जाति का रंग है। रक्त वर्ण अनुग्रह करने वाले देववर्ग का रंग है। हारिद्र वर्ण विशेष देवताओं का रंग है। शुक्ल वर्ण शरीरधारी साधकों का रंग है।

महाभारत में एक स्थान पर लिखा है "दुष्कर्म करने वाला मनुष्य वर्ण से परिभ्रष्ट हो जाता है। पुण्य कर्म से वह वर्ण के उत्कर्ष को प्राप्त होता है।"

लेश्या और महाभारत के वर्ण-निरूपण में बहुत साम्य है। फिर भी वह महाभारत से गृहीत है, ऐसा मानने का कोई हेतु प्राप्त नहीं है। रंग के प्रभाव की व्याख्या लगभग सभी दर्शन-ग्रन्थों में मिलती है। जैन आचार्यों ने उसे सर्वाधिक विकसित किया, ऐसा मानने में कोई भी मनीषी दो मत नहीं हैं। इस विकास को देखते हुए सहज ही कल्पना हो जाती है कि जैन आचार्य इसका प्रतिपादन बहुत पहले से ही करते आये हैं।

गीता में गति के कृष्ण और शुक्ल—ये दो वर्ग किए गऐ हैं। कृष्णगति वाला बार-बार जन्म-मरण करता है। शुक्लगति वाला जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है।

धम्मपद में धर्म के दो भाग किए गए हैं। वहां लिखा है—"पण्डित मनुष्य को कृष्ण धर्म को छोड़ शुक्लधर्म का आचरण करना चाहिए।"

पतंजलि ने कर्म की चार जातियां बतलाई थी—1. कृष्ण-कृष्ण 2. शुक्ल-अशुक्ल 3. शुक्ल और 4. अशुक्ल-अकृष्ण। ये क्रमशः अशुद्धतर, अशुद्ध, शुद्ध और शुद्धतर हैं। योगी की कर्म जाति 'अशुक्ल-अकृष्ण' होती है। शेष तीनों कर्मजातियां सब जीवों में होती है। उनका कर्म कृष्ण होता है जिनका चित्त दोष कलुषित या क्रूर होता है। पीड़ा और अनुग्रह दोनों विद्याओं से मिश्रित कर्म 'शुक्ल-कृष्ण' कहलाता है। ये बाह्य साधनों के द्वारा साध्य होते हैं। तपस्या, स्वाध्याय और ध्यान में निरत लोगों के कर्म केवल मन के अधीन होते हैं। उनमें बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती और न किसी को पीड़ा दी जाती है। इसलिए इस कर्म को 'शुक्ल' कहा जाता है। जो पुण्य के फल की भी इच्छा नहीं करते, उन क्षीण क्लेश चरमदेह योगियों के अशुक्ल-अकृष्ण कर्म होता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रकृति को लोहित, शुक्ल और कृष्ण कहा गया है। सांख्य कौमुदी के अनुसार रजोगुण से मन मोह-रंजित होता हैं, इसलिए वह लोहित है। सत्त्वगुण से मन मल-रहित होता है, इसलिए वह शुक्ल है। स्वर विज्ञान में भी यह बताया गया है कि विभिन्न तत्त्वों के विभिन्न वर्ण प्राणियों को प्रभावित करते हैं। उनके अनुसार मूलतः प्राणतत्त्व एक है। अणुओं के न्यूनाधिक वेग या कम्पन के अनुसार उसके पांच विभाग होते हैं। उनके नाम, आकार आदि इस प्रकार हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

नाम	वेग	रंग	आकार	रस या स्वाद
1. पृथ्वी	अल्पतर	पीला	चतुष्कोण	मधुर
2. जल	अल्प	सफेद या बैंगनी	अर्धचन्द्राकार	कसैला
3. तेजस्	तीव्र	लाल	त्रिकोण	चरपरा
4. वायु	तीव्रतर	नीला या आसमानी	गोल	खट्टा
5. आकाश	तीव्रतम	काला या नीलाभ	गोल या आकारशून्य	कड़वा

रंगों से प्राणिजगत् प्रभावित होता है, इस सत्य की ओर जितने संकेत मिलते हैं, उनमें लेश्या का विवरण सर्वाधिक विशद और सुव्यवस्थित है। कृष्णलेश्या, नीललेश्या आदि के वर्ण, गंध आदि सम्बन्धी कुछ तथ्यों का विवेचन इस प्रकार उपलब्ध होता है—

8.4 लेश्या के वर्ण

कृष्णलेश्या—स्निग्ध मेघ, महिष, द्रोण, काक, खंजन तथा काजल की तरह कृष्ण।

नील लेश्या—नील अशोक, घासपक्षी की पांख, वैडूर्यमणि की भांति स्निग्ध नील वर्ण

कापोत लेश्या—अलसी (अलस-धान्य विशेष के फूल) कोफिल या तेलकंटक वनस्पति, पारापत की ग्रीवा की भांति कापोती वर्ण।

तेजो लेश्या—हिंगुल, उदीयमान सूर्य, शुकतुण्ड के समान लाल।

पद्म लेश्या—टूटा हुआ हरिताल, पिण्डहरिद्र (विशेष हल्दी) तथा सन और असन के पुष्प सदृश पीला।

शुक्ल लेश्या—शंख, अंक-मणि विशेष, कुन्दन पुष्प, दूध और तूल के समान श्वेत।

गोम्मटसार के रचनाकार आचार्य नेमीचन्द्र का अभिमत इस प्रकार है—वर्ण के रूप में कृष्ण, नील आदि लेश्या क्रमशः भौंरे, नीलम, कबूतर, स्वर्ण, कमल और शंख के समान होती हैं।

8.4.1 लेश्या की गंध

कृष्ण, नील आदि छः लेश्याओं में प्रथम तीन लेश्याओं को अप्रशस्त और शेष तीन लेश्याओं को प्रशस्त माना गया है। अप्रशस्त लेश्याओं की गंध मृत गाय, मृत कुत्ता और मृत सर्प की दुर्गन्ध से भी अनन्तगुणा दुर्गन्ध वाली होती है तथा अंतिम तीन लेश्याएं सुरभित पुष्पों तथा घिसे हुए सुगन्धित द्रव्यों से भी अनन्तगुणा सुगन्ध वाली होती है।

8.4.2 लेश्या के रस

द्रव्यलेश्या के छः भेद पांच रस वाले होते हैं—

1. कृष्णलेश्या—तुम्बे से अनन्तगुणा कडुक।
2. नील लेश्या—त्रिकुट (सोंठ, पीपल और कालीमिर्च) से अनन्तगुणा तिक्त।
3. कापोत लेश्या—केरी से अनन्तगुणा कसैला।
4. तेजो लेश्या—पके आम तथा कपित्थ से अनन्तगुणा मधुर आम्ल।
5. पद्म लेश्या—मधु, मैरेय आदि आसवों से अनन्तगुणा आम्ल, कषैला, मधुर।
6. शुक्ल लेश्या—खजूर आदि से अनन्तगुणा मधुर, अत्यन्त मधुर।

8.4.3 लेश्या के स्पर्श

तीन अप्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श करौत गाय की जीभ, शांक के पत्ते से भी अनन्तगुणा कठोर और प्रशस्त लेश्याओं का स्पर्श नवनीत व शिरीष पुष्पों से भी अनन्तगुणा कोमल बताया गया है। स्थानांग और प्रज्ञापना में इस स्पर्श वैचित्र्य को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि कठोर स्पर्श का कारण है—शीत रुक्ष स्वभाव वाले परमाणुओं का आधिक्य और कोमल स्पर्श का कारण है?—उष्ण स्निग्ध स्वभाव वाले परमाणु का आधिक्य। शरीर के स्पर्श की चर्चा प्राचीनकाल से ही होती रही है। शत्रु को पराभूत करने के लिए विषकन्याओं का प्रयोग किया जाता था। उन कन्याओं के शरीर का स्पर्श मारक होता था। आज भी ऐसी स्त्रियों और कन्याओं के विषय में सूचनाएं मिलती हैं जिनका स्पर्श विद्युत के समान और मारक होता है। इनको इलेक्ट्रिक गर्ल्स के नाम से जाना जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

8.4.4 लेश्या स्थिति

लेश्या की स्थिति का वर्ण श्वेताम्बर और दिगम्बर साहित्य में कुछ भिन्नता लिये हुए है। इस कालमान का मापन सूत्र है—कषायों की तीव्रता और मन्दता के आधार पर होने वाला आत्मपरिणाम।

श्वेताम्बर मान्यता			दिगम्बर मान्यता	
लेश्या	जघन्य	उत्कृष्ट	जघन्य	उत्कृष्ट
कृष्णलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	अन्तर्मूहूर्त्त अधिक तैंतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैंतीस सागर
नीललेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सतरह सागर
कापोतलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असखंयातवें भाग अधिक तीन सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	सात सागर
तेजोलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	पल्योपम के असंख्यातवें भाग अधिक दो सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	दो सागर
पद्मलेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त्त अधिक दस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	अठारह सागर
शुक्ललेश्या	अन्तर्मुहूर्त्त	मुहूर्त्त अधिक तैंतीस सागर	अन्तर्मुहूर्त्त	तैंतीस सागर

8.5 परिणाम

कृष्ण जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
नील जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
कापोत जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
तैजस् जघन्य, मध्यम ओर उत्कृष्ट
पद्म जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट
शुक्ल जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट

जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट परिणामों के तारतम्य पर विचार करने से प्रत्येक लेश्या के नौ-नौ परिणाम होते हैं—1. जघन्य—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट
2. मध्यम—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट
3. उत्कृष्ट—जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट

इसी प्रकार सात परिणामों का जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट के त्रिक से गुणा करने पर विकल्पों की वृद्धि होती है। जैसे—9x3 = 27, 27x3 = 81, 81x3 = 243। इसी प्रकार मानसिक परिणामों की तरतमता के आधार पर प्रत्येक लेश्या के अनेक परिणमन होते हैं।

8.6 लक्षण

1. कृष्ण—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभयोग इन पांच आश्रवों में प्रवृत्त होना, मन, वचन ओर काया का संयम न करना, जीव हिंसा में रत रहना, तीव्र आरम्भ में संलग्न रहना, प्रकृति की क्षुद्रता, बिना विचारे काम करना, क्रूर होना और इन्द्रियों पर विजय न पाना।
2. नील—ईर्ष्या, कदाग्रह, अतपस्विता, अविद्या, माया निर्लज्जता, गृद्धि, द्वेश, शठता, प्रमाद, रसलोलुपता, सुख की गवेषणा, आरम्भ में रहना, प्रकृति की क्षुद्रता और बिना बिचारे काम करना।
3. कापोत—वाणी की वक्रता, आचरण की वक्रता, कपट, अपने दोषों को छुपाना, मिथ्यादृष्टि, मखोल करना, दुष्ट वचन बोलना, चोरी करना और मात्सर्य।
4. तेजस्—नम्र व्यवहार करना, अचपल होना, ऋजुता, कुतूहल न करना, विनय में निपुण होना, जितेन्द्रियता, मानसिक समाधि, तपस्विता, धार्मिक-प्रेम, धार्मिक दृढ़ता, पाप-भीरूता और मुक्ति की गवेषणा।
5. पद्म—क्रोध, मान, माया और लोभ की अल्पता, चित्त की प्रशान्ति, आत्म-नियंत्रण, सम्यग् प्रवृत्ति, समाधि, अल्पभाषिता और जितेन्द्रियता।
6. शुक्ल—धर्म और शुक्ल ध्यान की लीनता, चित्त की प्रशान्ति, आत्म नियंत्रण, सम्यग् प्रवृत्ति, मन, वचन और काया का संयम तथा जितेन्द्रियता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी यह प्रसंग विवेचित है। अष्टांगहृदय शरीरस्थान में कहा गया—

सात्त्विकं शौचमास्तिक्यं शुक्लधर्मरुचिर्मतिः।
राजसं बहुभाषित्वं मानक्रुद्दम्भमत्सरम्॥
तासमं भयमज्ञानं, निद्रालस्यविषादिता।
इति भूतमयो देह .... ॥

लेश्याओं के लक्षणों के साथ सत्त्व, रजस् और तमस् के लक्षणों की आंशिक तुलना होती है। शौच, आस्तिक्य, शुक्ल धर्म की रुचि वाली बुद्धि—ये सत्त्वगुण के लक्षण हैं, बहुत बोलना, मान, क्रोध, दम्भ और मात्सर्य—ये रजोगुण के लक्षण हैं और भय, अज्ञान, निद्रा, आलस्य और विषाद—ये तमोगुण के लक्षण हैं।

8.7 गति

कृष्ण — दुर्गति
नील — दुर्गति
कापोत — दुर्गति
तेजस् — सुगति
पद्म — सुगति
शुक्ल — सुगति

8.8 आयु

लेश्या के प्रारम्भिक और अंतिम समय में आयुशेष नहीं होता, किन्तु मध्यकाल में वह शेष होता है। यह नियम सब लेश्याओं के लिए समान है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक में लेश्या पर सोलह दृष्टियों से विचार किया गया है—1. निर्देश, 2. वर्ण, 3. परिणाम, 4. संक्रम, 5. कर्म, 6. लक्षण, 7. गति, 8. स्वामित्व, 9. साधन, 10. संख्या, 11. क्षेत्र, 12. स्पर्शन, 13. काल, 14. अन्तर, 15. भाव, 16. अल्प-बहुत्व।

8.9 लेश्या और मनोविज्ञान

अब हम मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में लेश्या पर विचार करेंगे। जैन साहित्य में कषाय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहा है। कषाय और योग चेतना के बाह्य और भीतरी दोनों स्तरों से जुड़े हैं। मनोविज्ञान की तरह इसका सम्बन्ध भी व्यवहार जगत् और मानसिक जगत् दोनों से है।

जैन मान्यता के अनुसार राग की अभिव्यक्ति के समय में व्यक्ति द्वेष चेतना से मुक्त नही हो जाता और द्वेष के समय में राग का संस्कार समाप्त नहीं होता, भले अपने चर्म चक्षुओं से हम इस सच्चाई को पकड़ सकें या न पकड़ सकें। लेश्या भी जब तक कषाय चेतना से जुड़ी रहती है तब तक राग-द्वेषात्मक संस्कारों का संचालन करती है।

स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क सूत्र लेश्या है। अचेतन के स्तर पर मनोविज्ञान ने जिस रूप में अज्ञात जगत् को विश्लेषित किया है, उससे भी बहुत कुछ अधिक हम उसे लेश्या संप्रत्यय के माध्यम से समझ सकते हैं। इस संदर्भ में व्यक्तित्व की व्यूह-रचना को जानना बहुत जरूरी है। स्थूल एवं सूक्ष्म चेतना के स्तर पर लेश्या कैसे सम्पर्क सूत्र बनाती है? भीतरी अध्यवसायों के साथ जुड़कर कैसे लेश्या व्यवहार का संचालन करती है? चेतना की इन सभी भूमिकाओं पर लेश्या की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

जैन मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन को कर्मशरीर के साथ प्रवृत्त चेतना, अवचेतन को तैजस् शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना और चेतन को औदारिक यानि स्थूल शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना माना जा सकता है।

चेतन मन जो कुछ भी करता है उसमें अवचेतन अचेतन, मन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनका अपना प्रभाव होता है। अवांछित इच्छाएं, वासनाएं व कामनाएं अचेतन में दब जाती हैं। जब ये जागृत होती हैं तब चेतन मन को प्रभावित करती हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि पूर्वार्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब मन उनसे प्रभावित होता है और व्यक्ति उनके अनुसार आचरण और व्यवहार करने लगता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चेतन और अचेतन के स्तर पर होने वाली व्यक्तित्व की संरचना बड़ी जटिल है। इसे समझने के लिए कषाय, अध्यवसाय, लेश्या, चित्त, मन और योग तक की यात्रा करनी होगी। जैनदर्शन के मूर्धन्य विद्वान् आचार्यश्री महाप्रज्ञ ने अपने प्रेक्षा साहित्य में स्थान-स्थान पर इनकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है।

हमारे अस्तित्व के केन्द्र में चैतन्य (द्रव्यात्मा) है। संसार का निम्नतम प्राणी सूक्ष्म निगोद तक इस चैतन्य अर्हता से सम्पन्न है। यदि ऐसा न होता तो जीव और अजीव की भेदरेखा ही समाप्त हो जाती। हमारे चैतन्य के चारों ओर कषाय के वलय के रूप में कार्मण शरीर है। कर्म से घिरे आत्मतत्त्व की जो भी प्रवृत्ति होगी, उसको कषाय के वलय से गुजरना होगा। चैतन्य के असंख्य स्पंदन निरन्तर कषाय को भेदकर बाहर आ रहे हैं। ये स्पंदन जब सूक्ष्म शरीर से होकर बाहर आते हैं तो उनका एक स्वतंत्र तंत्र बनता है जो कि अध्यवसाय तंत्र कहलाता है।

अध्यवसाय शुद्ध और अशुद्ध दोनों होते हैं। जिस अध्यवसाय में राग-द्वेषात्मक संक्लेश होता है वह अशुद्ध अध्यवसाय है और जिसमें राग-द्वेषात्मक संक्लेश नहीं होता वह शुद्ध अध्यवसाय कहलाता है। अध्यवसायों की शुद्धता और अशुद्धता का मूल कषायों की मन्दता एवं तीव्रता है। अध्यवसाय जब लेश्या तक पहुंचते हैं, तब लेश्या उन्हें अच्छे बुरे सांचे में ढालकर व्यवहार में प्रकट करती है।

अध्यवसाय के असंख्य स्पंदनों से एक भावधारा बनती है। भावधारा के शुद्ध-अशुद्ध और शुभ-अशुभ दो रूप हैं। मोहकर्म का उदय अशुद्धता का हेतु है और उसका विलय शुद्धता का। भावतंत्र के माध्यम से कर्मवर्गणा के पुद्गल निरन्तर विपाक के रूप में बाहर आते रहते हैं। अध्यवसाय की सूक्ष्म परिणति लेश्या के रूप में पहचानी जाती है। लेश्या स्थूल एवं सूक्ष्म दोनों शरीरों से जुड़ी है। यह लेश्या कषाय रंजित अध्यवसायों की चित्त के माध्यम से स्थूल शरीर में अभिव्यक्ति देती है।

लेश्या हमारे आत्मपरिणामों से बनती है और बाद में वह नये परिणामों को बनाने में निमित्तभूत हो जाती है। हमारी चेतना द्रव्यलेश्या के रूप में जिन पुद्गलों को ग्रहण करती है, उसी के अनुरूप आत्मपरिणाम बनते हैं। प्रज्ञापना सूत्र में इस तथ्य को बहुत स्पष्टता से प्रतिपादित किया गया है।

आत्मविशुद्धि के क्षेत्र में पौद्गलिक लेश्या और भावलेश्या दोनों की शुद्धता अत्यावश्यक है। कार्मिक प्रवृत्ति द्वारा जो भी पुद्गल ग्रहण करेंगे, यदि वे शुभ हैं तो कर्म, विचार, भाव, लेश्या, अध्यवसाय सभी शुभता का निर्माण करेंगे और यदि अशुभ पुद्गलों का ग्रहण होता है तो ठीक इसके विपरीत मनोदशा का निर्माण होगा; क्योंकि द्रव्यकर्म का भावकर्म पर और भावकर्म का द्रव्यकर्म पर प्रभाव पड़ता है।

सूक्ष्म से स्थूल और स्थूल से सूक्ष्म तक ही यह प्रक्रिया एक सम्पूर्ण व्यक्तित्व के निर्माण की कार्यकारण मीमांसा करती है। यदि अध्यवसाय शुद्ध है तो योगों की प्रवृत्ति शुद्ध होगी और योगों की प्रवृत्ति शुद्ध है तो अध्यवसाय भी शुद्ध होंगे। एक-दूसरे से जुड़ा है सूक्ष्म स्थूल शरीर का गहरा सम्बन्ध। इस सम्बन्ध की मुख्य संवाहिका बनती है लेश्या जो व्यक्ति के चरित्र को शुभ-अशुभ बनाने में कारण बनती है।

आत्मविशुद्धता का सम्बन्ध व्यक्ति के भीतरी पक्षों से जुड़ा है। बाहर की शुद्धि ही नहीं, आंतरिक शुद्धि भी अर्थपूर्ण है। अतः कहा जा सकता है कि अध्यवसाय, लेश्या और परिणामों की शुद्धता पर जीवन की श्रेष्ठता आधारित है।

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। जो पौद्गलिक होता है, उसमें रंग अवश्य होते हैं। अतः रंगों के आधार पर भी लेश्या का विवेचन अपेक्षित है। रंग विज्ञान के अध्येताओं ने रंग के अस्तित्व को जीवन के हर कोण से देखा, जाना, अनुभव किया। एक ओर रंग का आध्यात्मिक अर्थ ब्रह्माण्डीय किरणों से जोड़ा गया तो दूसरी ओर त्रिपार्श्व कांच (Prism) द्वारा अभिव्यक्त होने वाली सप्त रंगीन किरणों का मनुष्य के शरीर, मन और आत्मा तीनों के साथ सम्बन्ध स्थापित किया गया। लेश्या के रंगों का आधुनिक रंग विज्ञान द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

रंग एक माध्यम है हमारे विचारों, आदर्शों, संवेगों, क्रियाओं और इन्द्रियजन्य ज्ञान/अनुभूति को व्यक्त करने का। रंग में वह ऊर्जा है जो स्वास्थ्य, विश्राम, प्रसन्नता और सुरक्षा को प्रभावित करती है। फेबर बिरेन (Faber Birren) रंग को संवेदन, ज्ञान और चिन्तन का परिणाम मानते हैं। उन्होंने लिखा है साउथऑल (Southall) का मानना है कि रंग न तो चमकदार वस्तु का गुण है और न ही चमकदार विकिरण का, यह सिर्फ चेतना का विषय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ब्रह्माण्डीय प्रकाश को हमारी स्थूल आंखें नहीं देख सकती, परन्तु हमारे ग्रह पर इसकी भौतिक प्रस्तुति सूर्य के प्रकाश के माध्यम से होती है। सूर्य का प्रकाश शक्ति और ऊर्जा का स्रोत है।

लेश्या सिद्धान्त में भी तरंगदैर्ध्य और आवृत्ति सम्बन्धी रंग के मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त की झलक देखी जा सकती है। कषायों के तीव्र और अल्प प्रकम्पनों के आधार पर लेश्या प्राणीमात्र के अच्छे-बुरे व्यक्तित्व को निर्धारित करती है। आचार्य महाप्रज्ञ ने अपनी पुस्तक 'आभामण्डल' में लिखा है कि कृष्ण लेश्या में आवृत्ति ज्यादा और तरंगें छोटी होती हैं। नील लेश्या में तरंग की लम्बाई बढ़ जाती है, आवृत्ति कम हो जाती है, तेजोलेश्या में आते ही परिवर्तन शुरू हो जाता है। पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या में पहुंचते ही आवृत्ति कम हो जाती है, केवल तरंग की लम्बाई मात्र रह जाती है। इस लेश्या में व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण हो जाता है।

रंग विज्ञान में मान्य मुख्य सात रंग-किरणों द्वारा मनुष्य की आधारभूत मानसिकता और प्रवृत्ति का उद्भव होता है। रंग की सही पहचान, सही प्रयोग और सही परिणाम के लिए मनोवैज्ञानिकों ने इस क्षेत्र में गहरा अध्ययन, परीक्षण और प्रयोग किया तथा निष्कर्ष रूप में कुछ रंगों से जुड़ी विशेषताआ का उल्लेख किया है—

रंग		विशेषता
1.	बैंगनी	आध्यात्मिकता
2.	जामुनी	अन्त:प्रेरणा
3.	नीला	धार्मिक रुचि
4.	हरा	सामञ्जस्य और सहानुभूति
5.	पीला	बौद्धिकता
6.	नारंगी	ऊर्जा
7.	लाल	जीवन्तता

ये ही किरणें आगे जाकर उपरंगों में विभक्त हो जाती है। रंग चेतना के सभी स्तरों पर प्रवेश कर भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव दिखाता है। इसीलिए औसले (Quseley) ने प्रत्येक रंग के सात पहलू माने हैं—1. शक्ति 2. चेतना 3. चिकित्सा 4. प्रकाश 5. आपूर्ति 6. प्रेरणा 7. पूर्णता।

रंग मनोविज्ञान में एक ही रंग की विभिन्न छवियों के भिन्न-भिन्न प्रभाव की अवधारणा लेश्या सिद्धान्त में लेश्यागतभावों की तरतमता में खोजी जा सकती है। आगम साहित्य में यह तरतमता इस प्रकार बताई गई है—

कृष्णलेश्या	अशुद्धतम	क्लिष्टतम
नीललेश्या	अशुद्धतर	क्लिष्टतर
कापोतलेश्या	अशुद्ध	क्लिष्ट
तेजोलेश्या	शुद्ध	अक्लिष्ट
पद्मलेश्या	शुद्धतर	अक्लिष्टतर
शुक्ललेश्या	शुद्धतम	अक्लिष्टतम

प्रज्ञापना में उल्लेख मिलता है कि भगवान् से प्रश्न पूछा गया कि कृष्ण, नील, कापोत, लेश्या के परिणाम प्रशस्त हैं या अप्रशस्त? भगवान् ने उत्तर दिया—कृष्ण, नील, कापोत लेश्या के समय हमारे आत्म-परिणाम प्रशस्त-अप्रशस्त दोनों होते हैं। सापेक्ष दृष्टि से कहा जाता है कि कृष्ण की अपेक्षा नील लेश्या विशुद्ध है, नील की अपेक्षा कापोतलेश्या विशुद्ध है।

इस सिद्धान्त का आधार परिणामों में संक्लेश-असंक्लेश का होना है। संक्लेश का अर्थ किया गया—चित्त की मलिनता, असमाधि, अविशुद्धि, अरति, राग-द्वेष की तीव्र परिणति। इस संदर्भ में संक्लेश का चरम बिन्दु है कृष्णलेश्या और असंक्लेश का चरम बिन्दु है शुक्ललेश्या, विशुद्धि की जघन्य अवस्था है तेजो लेश्या, मध्यम है पद्मलेश्या, उत्कृष्ट है शुक्ललेश्या। अविशुद्धि की चरम स्थिति है कृष्ण, मध्य है नील और जघन्य है कापोतलेश्या। इसलिए कहा जा सकता है कि सभी रंग अच्छे या बुरे नहीं होते। प्रत्येक रंग लेश्या का आधार उसकी कषायात्मक चेतना की अशुद्धता और योगप्रवृत्तिजन्य चंचलता है या दूसरे शब्दों में रंगों की चमक और विशुद्धता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लेश्या द्वारा मन के भीतरी रसायनों का पता लगाया जा सकता है। इस संदर्भ में अनेक वैज्ञानिक परीक्षण किये गए हैं। व्यक्ति क आचरण पसीने की गंध द्वारा जाना जा सकता है। जो व्यक्ति क्रोधी, ईर्ष्यालु, झगड़ालु और दूषित मनोभाव वाला होता है, उसके पसीने की गंध में और जो सरल, निष्कपट, पवित्र आचरण वाला होता है उसके पसीने की गंध में स्पष्टतः अंतर पाया जाता है। जैन तीर्थंकरों के शारीरिक अतिशयों की पहचान में सुगंध को भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना गया है। उल्लेख मिलता है कि तीर्थंकर के शरीर में कमल के फूल जैसी गंध आती है। यह गंध शुभ भावों की प्रतीक है।

अमेरिका में सन् 1893 से विश्वविद्यालयों और कॉलेजों में अपने मुख्य शैक्षणिक विभागों को दर्शाने के लिए रंग-संकेत निर्धारित किये। अभिव्यक्ति के पीछे रंगों का प्रभावक पक्ष जुड़ा हुआ था। धर्मशास्त्र के लिए सिन्दूरी रंग, दर्शनशास्त्र के लिए नीला रंग, कला और साहित्य के लिए सफेद रंग, चिकित्सा के लिए हरा रंग, कानून के लिए बैंगनी रंग, विज्ञान के लिए सुनहरा पीला रंग, इंजीनियरिंग के लिए नारंगी रंग और संगीत के लिए गुलाबी रंग माना गया है।

जैन साहित्य में भी लेश्या को रंगों की प्रतीकात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है। आगम साहित्य का प्रसिद्ध कथानक प्रेरणादायक तथा मन की भावदशा का सही चित्रण करता है। छह मित्रों ने फलों से लदे वृक्ष को देखा और फल खाने की इच्छा जाहिर की। वे वृक्ष के पास पहुंचे और सोचने लगे कि फल कैसे खाएं। सभी ने अपने विचार प्रस्तुत किये।

प्रथम ने कहा—हमें जड़ सहित सम्पूर्ण वृक्ष काट देना चाहिए।

दूसरे ने कहा—नहीं, वृक्ष की टहनियां काटनी चाहिए।

तीसरे ने कहा—नहीं, वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं काटनी चाहिए।

चौथे ने कहा—नहीं, फलों से लदी शाखाएं काटनी चाहिए।

पांचवें ने कहा—नहीं, सिर्फ पके हुए फलों को ही तोड़ना चाहिए।

छठे ने अंतिम समाधान दिया—क्या जरूरत है कि हम वृक्ष को किसी प्रकार का नुकसान पहुंचायें। खाने के लिए फल जमीन पर बिखरे पड़े हैं इन्हें खाना ही उचित होगा।

चिन्तन यात्रा के ये छह पड़ाव लेश्या की सही व्याख्या करते हैं। आगम प्रथम व्यक्ति को कृष्णलेशी मानता है, क्योंकि उसमें क्रूरता, हिंसा व स्वार्थ के साथ विनाश की भावना निहित है। ऐसा व्यक्ति औरों के व्यक्तित्व को मिटाकर चलता है। दूसरा, तीसरा, चौथा, पांचवां और छठा व्यक्ति क्रमशः नीललेशी, कापोतलेशी, तेजोलेशी, पद्मलेशी व शुक्ललेशी है। इनसे क्रमशः वृक्ष के अस्तित्व को मिटाने की भावना का अंत व सहज सुलभ सामग्री का संतोषजनक उपयोग प्रकट होता है। लेश्या के भावों को अभिव्यक्ति देने वाला यह दृष्टान्त स्वयं अपने आपमें बहुत महत्त्वपूर्ण है।

जैन साहित्य में चौबीस तीर्थंकरों के भिन्न-भिन्न रंग बतलाए गए हैं। पद्मप्रभु और वासुपूज्य का रंग लाल, चन्द्रप्रभु और पुष्पदंत का सफेद, मुनि सुव्रत और अरिष्टनेमि का रंग कृष्ण, मल्लि और पार्श्व का रंग नील और शेष सोलह तीर्थंकरों का रंग सुनहला था।

जैन साहित्य में रंगों के साथ मनुष्य चरित्र की व्याख्या इस बात की सूचक है कि यदि रंग अच्छे नहीं है और लेश्या शुभ नहीं है तो व्यक्तित्व का स्वरूप भी अच्छा नहीं होगा। रंग और भाव के साथ व्यक्ति का गुणात्मक पक्ष जुड़ा है।

रंग और भाव का आपसी सम्बन्ध व्यक्तित्व के बाहरी-भीतरी दोनों पक्षों से जुड़ा है। शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वस्थता के संदर्भ में भी लेश्या एक चिकित्सा की भूमिका निभा सकती है। व्यक्ति आधि-व्याधि, उपाधि से मुक्त होकर समाधि तक पहुंच सकता है।

8.10 लेश्या और आभामण्डल

अब हम लेश्या और आभामण्डल के संदर्भ में विचार करेंगे। जैन तत्त्व चिन्तन में आभामण्डल की चर्चा लेश्या के संदर्भ में सूक्ष्म शरीर के साथ की जा सकती है। इसकी मान्यतानुसार प्रत्येक प्राणी में दो शरीर होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीर स्थूल हैं। तैजस् व कार्मण शरीर सूक्ष्म है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन आगमों में आभामण्डल जैसा शब्द प्रयोग उपलब्ध नहीं होता किन्तु लेश्या शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग हुआ है, उससे यह विज्ञान सम्मत बात लगती है कि शरीर विद्युत का भण्डार है। इससे प्रतिक्षण का अपना एक संस्थान बनता है जिसे हम आभामण्डल कहते हैं।

लेश्या शब्द का अर्थ तेज, दीप्ति, ज्योति, किरण-मण्डल, बिम्ब, देह, सौन्दर्य, ज्वाला, सुख व वर्ण किया गया है। इन शब्दों की अर्थात्मा लेश्या के संदर्भ में आभामण्डल का अर्थ प्रकट करती है। नन्दीचूर्णि में लेश्या शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते समय रस्सी शब्द का प्रयोग किया है। रस्सी यानि रश्मि, लेश्या का एक अर्थ है विद्युत विकिरण। इस विकिरण का मूल स्रोत है तैजस् शरीर।

लेश्या और आभामण्डल का अध्ययन करते समय तैजस् शरीर को समझना बहुत जरूरी है। यह हमारे पाचन, सक्रियता, दीप्ति और तेजस्विता का मूल है। यह पूरे स्थूल शरीर में व्याप्त रहता है। इस शरीर का प्रेरक तत्त्व है—अतिसूक्ष्म कर्मशरीर। हमारे अर्जित कर्म संस्कारों के अनुरूप तैजस शरीर स्पंदित होता है। प्राणधारा विकिरित करता है और यही आभामण्डल का निर्माण करता है।

जैनदर्शन में लेश्या के आधार पर आभामण्डल के छह प्रकार बनते हैं, क्योंकि लेश्या के छः वर्ण निर्धारित हैं और इन्हीं वर्णों के साथ मनुष्य के विचार और भाव बनते हैं, चरित्र निर्मित होता है।

लेश्या संप्रत्यय अन्तःकरण की सही सूचना का मानक है। आत्मविशुद्धि की दृष्टि से आत्मशोधन की प्रक्रिया से गुजरना भी अत्यावश्यक है। अतः सर्वप्रथम अशुभ से शुभ लेश्या में आना मंजिल की शुरूआत माना जा सकता है। इसी दृष्टि से लेश्या/आभामण्डल के लिए जैनाचार्यों ने ध्यान का उपक्रम प्रस्तुत किया। लेश्या में परिवर्तन संभाव्य बतलाया, क्योंकि लेश्या कारण नहीं, कार्य है। रंग मनोविज्ञान ने भी इसी सिद्धान्त को दुहराया। अतः लेश्याविशुद्धि के संदर्भ में आभामण्डल की चर्चा एक सार्थक प्रयत्न है।

व्यक्तित्व रूपान्तरण के लिए आवश्यक है लेश्याध्यान। यदि हम अशुभलेश्या से शुभलेश्या में आना चाहते हैं तो रंगों द्वारा इस उद्देश्य तक पहुंचा जा सकता है।

लेश्याध्यान में मुख्य तीन रंगों का चयन किया जाता है। चमकता श्वेत, लाल और पीला, ये तीनों रंग शुभ्र, प्रशस्त एवं मनोज्ञ हैं। इनका भिन्न-भिन्न चैतन्यकेन्द्रों पर ध्यान करवाया जाता है। आचार्य महाप्रज्ञ ने जैनयोग पुस्तक में चैतन्यकेन्द्रों पर रंगों के ध्यान के बारे में बताते हुए लिखा है—लाल रंग का ध्यान करने से शक्तिकेन्द्र (मूलाधार चक्र) और दर्शनकेन्द्र (आज्ञा चक्र) जागृत होते हैं। पीले रंग का ध्यान करने से आनन्दकेन्द्र (अनाहत चक्र) जागृत होता है। श्वेत रंग से विशुद्धि केन्द्र (विशुद्धि चक्र) तैजस् केन्द्र (मणिपुर चक्र) और ज्ञानकेन्द्र (सहस्रार चक्र) जागृत होते हैं। तेजोलेश्या का ध्यान दर्शन केन्द्र पर अरुण रंग (बालसूर्य) में किया जाता है। पद्मलेश्या का ध्यान ज्ञानकेन्द्र पर पीले रंग का होता है। शुक्ललेश्या का ध्यान ज्योतिकेन्द्र पर पूर्णिमा के चन्द्रमा जैसे श्वेत रंग में किया जाता है।

इस प्रकार इन तीन लेश्याओं का ध्यान शरीर में उच्च केन्द्रों पर किया जाता है। उच्चकेन्द्रों का ध्यान हमें अपनी बुरी मनोवृत्तियों से ऊपर उठाता है। जब हम इन उच्च केन्द्रों के सम्पर्क में आते हैं तब अन्तःप्रेरणा, बुद्धि और विवेक से हम सक्रिय बनते हैं। हमारे भीतर प्रेम, शांति, प्रसन्नता, शक्ति, नम्रता, दयालुता, भक्ति अन्तःप्रेरणा, विवेक, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता जैसे दैविक गुणों का प्रादुर्भाव और विकास होता है।

विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग, दर्शनकेन्द्र पर अरूण रंग, ज्ञानकेन्द्र पर पीले रंग और ज्योतिकेन्द्र पर श्वेतरंग का ध्यान किया जाता है। इन केन्द्रों पर ध्यान करने के साथ जो भावना की जाती है, वह इस प्रकार है—

केन्द्र	**रंग**	**भावना/अनुभव**
आनन्द केन्द्र	हरा	भावधारा की निर्मलता
विशुद्धि केन्द्र	नीला	वासनाओं का अनुशासन
दर्शन केन्द्र	अरुण	अन्तर्दृष्टि का जागरण
ज्ञान (चाक्षुष) केन्द्र	पीला	ज्ञानतंतु की सक्रियता
ज्योति केन्द्र	श्वेत	परमशांति—क्रोध, आवेश, आवेग, उत्तेजनाओं की शांति।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रेक्षाध्यान साहित्य में आचार्य महाप्रज्ञ ने लेश्याध्यान की निष्पत्ति बतलाई है—जो लेश्याध्यान में उतरता है वह निम्न उपलब्धियों से जुड़ता है—

1. चित्त की प्रसन्नता।
2. धार्मिकता के लक्षणों का प्रकटीकरण।
3. चरित्र की शुद्धि-संकल्प शक्ति का जागरण।
4. चैतन्य का जागरण—स्वस्थ और सुन्दर व्यवहार, प्रशस्त जीवन, प्रशस्त मौत।
5. कर्मतंत्र और भावतंत्र का शोधन।
6. पदार्थ प्रतिबद्धता से मुक्ति।
7. तेजोलेश्या से—परिवर्तन का प्रारम्भ, अपूर्व आनन्द, मानसिक दुर्बलता समाप्त।
8. पद्मलेश्या से—मस्तिष्क और नाड़ीतंत्र का बल, चित्त की प्रसन्नता, जितेन्द्रियता।
9. शुक्ललेश्या से—आत्म-साक्षात्कार।

इस प्रकार उपसंहार रूप में कहा जा सकता है कि लेश्या की जो परिभाषा की गई, उनमें निम्नांकित दृष्टिकोण मुख्य रहे हैं—

0 लेश्या योग परिणाम
0 लेश्या कषायोदयरंजित योग प्रवृत्ति है।
0 लेश्या कर्मनिष्यन्द है।
0 लेश्या कार्मण शरीर की भांति कर्मवर्गणा निष्पन्न कर्मद्रव्य है।

लेश्या रसायन परिवर्तन की विधि है। आज मानसिक चिकित्सा में सबसे बड़ा सूत्र माना जाता है पुरानी ग्रन्थियों को खोलना। लेश्या के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है अशुभ लेश्या से प्रतिक्रमण कर व्यक्ति भीतरी चेतना को निःशल्य बना लेता है। निःशल्य बनने की प्रक्रिया में ध्यान एक महत्त्वपूर्ण उपक्रम है।

8.11 सारांश

लेश्या का अध्ययन जीवन मूल्यों का अध्ययन है। जीवन के साथ जुड़े वैचारिक एवं मानसिक पर्यावरण को शुद्ध एवं स्वस्थ रखने के लिए मनुष्य की जीवन शैली को बदलना बहुत जरूरी है। विधायक चिन्तन और विधायक व्यवहार के बिना मनुष्य प्राणवान तथा चरित्रनिष्ठ नहीं हो सकता। अशुभ से शुभ की ओर प्रस्थान कर व्यक्ति का शुभलेश्या में जीना न सिर्फ अपने लिए बल्कि परिवार, समाज एवं देश के लिए भी एक सार्थक उपलब्धि है।

8.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबंधात्मक प्रश्न

1. लेश्या को परिभाषित करते हुए उसके वर्गीकरण पर प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

क. द्रव्य लेश्या एवं भावलेश्या का विवेचन करें।
ख. मनोविज्ञान के साथ लेश्या के सम्बन्ध की व्याख्या करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. लेश्या की परिभाषा सर्वप्रथम .... ने दी।
2. आगमों में लेश्या के .... प्रकार बताये हैं।
3. स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का सम्पर्कसूत्र .... है।
4. प्रशस्त लेश्यायें .... हैं व .... अप्रशस्त लेश्या है।
5. पद्म लेश्या का वर्ण .... होता है।
6. उपमाओं का प्रयोग .... सूत्र में किया गया है।
7. .... रसायन परिवर्तन की विधि है।
8. .... के पहुंचने पर लेश्या अच्छे-बुरे सांचे में ढलकर व्यवहार में प्रकट होती है।
9. द्रव्यलेश्या भार में .... रूप होती है।
10. कर्म संचयन का मूल कारण .... है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–3 : पतंजलि एवं बौद्ध योग

इकाई–9 : योग का स्वरूप

संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 योग की परिभाषा
9.3 चित्तभूमियों के स्वरूप का वर्णन
9.4 वृत्तियां एवं उनके भेद
9.5 निरोध का भावात्मक अर्थ
9.6 सारांश
9.7 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

9.0 प्रस्तावना

भारत के छह आस्तिक दर्शनों में से योगदर्शन भी एक है। इस दर्शन के प्रवर्तक महर्षि पतञ्जलि हैं। योगदर्शन का आधारभूत ग्रंथ योगसूत्र समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य नाम के चार पादों में विभक्त है। वैसे तो उपनिषदों में भी योग के अनेक प्रसंग हैं। यथा 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्' अर्थात् योग वही है जहां इन्द्रियां स्थिर रूप से साधक के वश में हो जाती हैं, किन्तु इस विषय को एक स्वतंत्र दर्शन का रूप देने का श्रेय महर्षि पतञ्जलि को है।

'योग' शब्द 'युज् समाधौ' धातु से बनता है। इसका अर्थ है समाधि। 'युजिर् योगे' धातु से भी योग शब्द बनता है, इसका अर्थ है जुड़ना अर्थात् जीवात्मा का परमात्मा के साथ मिल जाना, एक हो जाना। जीवात्मा और परमात्मा पृथक् वस्तु नहीं है, चेतना की दृष्टि से एक ही है। भेद तो अविद्याजन्य है। भेद प्रदर्शित करने वाली अविद्या की योग समाधि के द्वारा निवृत्ति हो जाने पर चेतन में भेद नहीं रह जाता। चेतन एक ही रह जाता है, जैसे घटाकाश और मठाकाश का भेद रूप घट और मठ नष्ट हो जाने पर एक महाकाश ही शेष रह जाता है। अत: जीवत्व भाव का विलोप करके ब्रह्मभाव में स्थित हो जाना ही योग है। इसी को जीवात्मा और परमात्मा का मिलकर एक हो जाना कहा गया है। योगाङ्ग.ों का अभ्यास करते हुए चित्तवृत्ति-निरोधपूर्वक असम्प्रज्ञात समाधि यानि निर्विकल्प की भूमिका में पहुंचकर अपने चैतन्यस्वरूप या ब्रह्मस्वरूप में स्थित हो जाना ही योग है। जैन परम्परा में योग शब्द का अर्थ 'जोड़ने के अर्थ' रूप में स्वीकार किया गया है। जैसा कि हरिभद्रसूरि की योगविंशिका में 'मोक्खेण जोयणाओ जोगो' तथा उपाध्याय यशोविजयजी की 'मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुध्यते' से स्पष्ट है।

9.1 उद्देश्य-जैन परम्परा के अनुसार जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता है, उन सब साधनों को योग कह सकते हैं। यहां योग का सम्यक् अध्ययन अपेक्षित है।

9.2 योग की परिभाषा

योगदर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:' अर्थात् अभ्यास और वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही यथार्थ मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला योग है। अभ्यास का अर्थ है—पुन: पुन: चेष्टा करना। अतएव बार-बार चेष्टा अथवा इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति निरोध है, वही योग कहलाता है। चित्तवृत्ति निरोध का तात्पर्य है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। जिस प्रकार वायु आदि के वेग से जल में तरंगें उठती है उसी प्रकार चित्त बाह्य विषयों से आकर्षित होकर उन जैसे आकारों में परिणत होता रहता है। ये ही चित्त की वृत्तियां कहलाती है जो प्रतिक्षण पैदा होती रहती है। जब चित्त बाह्य विषय तथा आभ्यन्तर विषय (काम, क्रोध आदि) के परिणाम को त्यागकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है तब उसको चित्तवृत्ति निरोध कहते हैं।

योग को 'समाधि' के नाम से भी पुकारा जाता है। यह समाधि चित्त का सार्वभौमिक अर्थ है। तात्पर्य यह है कि चित्त की पांच भूमियां होती हैं जिन्हें क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र एवं निरोध नाम से जाना जाता है। इन सभी अवस्थाओं में यत्किंचिद् चित्तवृत्ति का निरोध होता ही है। उदाहरणस्वरूप चंचल

चित्त वाले (क्षिप्त) की भी एक क्षण तक किसी वस्तु में एकाग्रता हो सकती है। उस एकाग्र क्षण में चित्तवृत्तियों का निरोध होता है। इसी व्यापक दृष्टिकोण को अपनाते हुए योग का विस्तृत अर्थ 'समाधि' अर्थात् चित्तवृत्ति निरोध किया गया। परन्तु योगसूत्र के भाष्यकार व्यासजी ने आगे जाकर यह स्पष्ट कर दिया है कि एकाग्र एवं निरुद्ध दोनों अवस्थाएं ही वास्तविक रूप से योग के लिए उपयुक्त हैं। इसलिए उन्होंने कहा कि क्षिप्त एवं मूढ़ में तो योग एकदम असंभव है। क्योंकि क्षणिक चित्तवृत्ति निरोध व्यासजी को मान्य नहीं है, क्योंकि इनसे वृत्तियों के निरोध होने की अपेक्षा क्लिष्ट वृत्तियों की प्रवाहधारा निरन्तर बहती रहती है। विक्षिप्त अवस्था में सत्त्वगुण के प्राधान्य होने से कुछ क्षणों तक एकाग्रता बनी रहती है परन्तु एक वृत्ति के क्लिष्ट होने पर दूसरी एवं तीसरी वृत्ति उत्पन्न होने का क्रम जारी रहता है। अतः यह अवस्था भी योग के उपयुक्त नहीं है।

एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में ही योग संभव है। अतः सूत्रकार ने 'सर्ववृत्तिनिरोध' शब्द का प्रयोग न करके वृत्ति निरोध का ही प्रयोग उपयुक्त समझा। क्योंकि सम्प्रज्ञात समाधि में विवेकख्यात्मक वृत्ति यानि भेद ज्ञानात्मक वृत्ति, चित्त और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान का निरोध नहीं होता। अतः सर्ववृत्ति निरोध का प्रश्न पैदा नहीं होता। इसलिए योगद्वय साधारण लक्षण किया गया है। तात्पर्य है कि सूत्रकार ने सम्प्रज्ञात (जिसमें सात्विक एकाग्रवृत्ति बनी रहती है) और असम्प्रज्ञात (सब वृत्तियों का निरोध) दोनों प्रकार की समाधियों को योग बतलाया है। इन्हीं विचारों को वाचस्पति मिश्र ने दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है कि क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध दोनों समाधियों में रहता है। अतः योगद्वय साधारण लक्षण किया गया है।

9.3 चित्तभूमियों के स्वरूप का वर्णन

क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये चित्त की पांच भूमियां हैं। इन भूमियों का वर्णन इस प्रकार है—इनमें जो चित्त स्वभावतः अत्यन्त अस्थिर है, जिस चित्त में अतीन्द्रिय विषयों की विचारणा के लिए जितनी स्थिरता और बौद्धिक शक्ति की आवश्यकता होती है, उतनी नहीं है और जिस चित्त को सम्पूर्ण तत्त्वों की सत्ता अचिन्त्य प्रतीत होती है, वह चित्त क्षिप्तभूमिक है। इसमें रजोगुण की प्रधानता होती है। अतः रजोगुण का धर्म उत्तेजना और चंचलता की प्रधानता भी चित्त में रहती है जिसके कारण चित्त के केन्द्रित होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरी भूमि मूढ़ है। जो चित्त किसी इन्द्रिय विषय में मुग्ध होने के कारण तत्त्व चिन्तन करने में अयोग्य हो जाता है वह मूढ़भूमिक चित्त है। क्षिप्त की अपेक्षा यह चित्त मोहक विषय में सहज ही समाहित (लवलीन) हो जाता है। इस चित्त में तमोगुण की प्रधानता होती है। तमोगुण की प्रधानता के कारण चित्त आलस्य या मोह में डूबे रहने से योग के अनुकूल नहीं होता।

तीसरी भूमि 'विक्षिप्त' है। विक्षिप्त का अर्थ है—जो क्षिप्त से विशिष्ट हो। अधिकांश साधकों के चित्त विक्षिप्तभूमिक होते हैं। जिस अवस्था में चित्त कभी-कभी स्थिर हो जाता है और कभी-कभी चंचल हो जाता है, वह विक्षिप्त है। क्षणिक स्थिरता के कारण विक्षिप्तभूमिक चित्त श्रवण-मनन आदि द्वारा तत्त्वों के स्वरूप का अवधारण करने में समर्थ होता है। मेधा और सद्वृत्तियों की न्यूनता या अधिकता के कारण विक्षिप्त चित्त वाले मनुष्यों के असंख्य भेद हैं। विक्षिप्त चित्त में समाधि हो भी सकती है नहीं भी हो सकती, क्योंकि इस भूमि की प्रकृति कभी स्थिर और कभी अस्थिर होती है।

चतुर्थ 'एकाग्रभूमि' है। जिस चित्त का अग्र या अवलम्बन एक है उसे एकाग्रचित्त कहते हैं। सूत्रकार ने कहा है—'शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः'—अर्थात् एक वृत्ति निवृत्त होने पर यदि उसके बाद ठीक तदनुरूप वृत्ति उठे और उसी तरह की अनुरूप वृत्तियों का प्रवाह चलता रहे, तो ऐसे चित्त को एकाग्रचित्त कहते हैं। इस प्रकार की एकाग्रता जब चित्त का स्वभाव हो जाती है, जब दिन रात में अधिकांश समय चित्त एकाग्र रहता है, यहां तक कि स्वप्नावस्था में भी एकाग्र स्वप्न होता है, तब ऐसे चित्त को एकाग्रभूमिक कहते हैं। एकाग्रभूमि वशीकृत होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। यह समाधि ही वस्तुतः योग या कैवल्य की साधक है।

पांचवी चित्तभूमि का नाम 'निरुद्धभूमि' है। यह शेष अवस्था है। अभ्यास द्वारा जब चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है तब चित्त की उस अवस्था को निरोधभूमि कहते हैं। निरोधभूमि द्वारा चित्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

विलीन होने पर कैवल्य होता है। संसार में जितने भी जीव हैं उन सबके चित्त साधारणतया इन पांच अवस्थाओं में ही रहते हैं।

9.4 वृत्तियां एवं उनके भेद

पञ्चशिखाचार्य ने कहा है—'एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्' एक ही दर्शन है, ख्याति (वृत्ति) ही दर्शन है अर्थात् पुरुष वैसा ही दीखता है जैसी वृत्ति होती है, इसलिए सुख-दुःख, मोहरूप सत्त्वगुणवाली, रजोगुणी अथवा तमोगुणी जैसी चित्त की वृत्तियां होती है, वैसा ही व्यवहार-दशा में पुरुष जाना जाता है अर्थात् यह सुखी है, यह दुःखी है, यह मोह में है, ऐसा लोग समझते हैं। जब चित्त एकाग्रता से परिणत होता है, तब चित्त शक्ति यानि पुरुष भी उस रूप में प्रतिष्ठित होता है। जब चित्त इन्द्रिय-वृत्ति के साथ विषय के आकार से परिणत होता है, तब पुरुष भी उस वृत्ति के अनुरूप ही जान पड़ता है।

यद्यपि पुरुष असङ्ग. है तथापि उसकी चित्त के साथ योग्यता-लक्षण-सन्निधि है अर्थात् पुरुष में भोक्तृत्व (भोगने की) शक्ति और दृष्ट्त्व (द्रष्टा) शक्ति है और चित्त में देखने योग्य और भोगे जाने योग्य पदार्थ शक्ति है। यही इन दोनों की परस्पर योग्यता है। इस योग्यता-लक्षण सन्निधि से ही चित्त सुख-दुःख, मोहाकार रूप परिणाम से भोग्य और दृश्य बना हुआ 'स्व' कहा जाता है और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा बना हुआ स्वामी कहा जाता है। यह स्व-स्वामी-भाव सम्बन्ध अपने निजरूप के अविवेक के कारण प्रयुक्त है और अविवेक तथा वासना का प्रवाह बीज और अंकुर के समान अनादि है। इस प्रकार चित्तवृत्ति विषयक उपभोग में जो चेतन का अनादि स्व-स्वामित्व सम्बन्ध है वह वृत्तिसारूप्य में कारण है।

वृत्तिसारूप्य का तात्पर्य है—जिस प्रकार मलिन दर्पण में अपने मुख की मलिनता को देखकर अविवेकी व्यक्ति स्वयं के मुख पर मलिनता का आरोप कर देता है और 'मेरा मुख मलिन है' इस प्रकार शोक करता है वैसे ही पुरुष भी चित्त की वृत्तियों का अपने में आरोप करके 'मैं सुखी हूं' मैं दुःखी हूं इस प्रकार भ्रमजाल में फंसकर शोकग्रस्त हो जाता है। यह वृत्ति की सरूपता है। स्वयं को वैसा मान लेना, चित्त की वृत्ति को पुरुष अपनी वृत्ति समझ लेता है। वृत्तियों के प्रकारों के बारे में योगसूत्र में वर्णित है "वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः" वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं। इन पांच प्रकार की वृत्तियों में से कोई क्लिष्टरूप होती हैं, जैसे राग-द्वेषादि और जो अविद्या आदि पांचों क्लेशों की नाशक और भेद ज्ञान विवेकख्याति रूपवृत्ति होती है, वह अक्लिष्ट कहलाती है। पांचों वृत्तियों के नाम हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति। इन पांचों प्रकार की वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर (असम्प्रज्ञात समाधि सध जाने पर द्रष्टवृत्ति सारूप्य विनिर्मुक्त होकर स्वरूप स्थित लाभ करता है।) विवेकख्याति के बल पर वृत्ति सारूप्य के अभाव में स्वरूप स्थिति बनी रहती है। इसी अभिप्राय से विवेकख्याति को योग मानना उपयुक्त है।

9.4.1 प्रमाण वृत्ति का लक्षण

सांख्य की तरह योगशास्त्र भी मुख्यतः प्रमेयशास्त्र है, प्रमाणशास्त्र नहीं। कहा गया है—'प्रमेयसिद्धिर्प्रमाणाद्धि' प्रमेयों की सिद्धि प्रमाणाधीन होने से योगशास्त्र में भी इसकी उपयोगिता स्पष्ट है। यह प्रमाणवृत्ति प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगमभेद से त्रिविध मानी गयी है। जैसाकि योगसूत्र में 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' सूत्र में बताया गया है। इन्द्रिय प्रणाली के द्वारा सामान्य विशेषात्मक विद्यमान वस्तु का चित्त पर प्रतिबिम्ब पड़ने से वह भी विषयाकार रूप से परिणत हो जाता है, अतः चित्त में ऐसे घटादि आकार विशिष्ट परिणाम को ही प्रत्यक्ष प्रमाणवृत्ति कहते हैं। अनुमान वृत्ति—साधन से साध्य का सम्बन्ध निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसे अनुमान कहते हैं। उदाहरण—जहां-जहां धुआं होता है वहां-वहां अग्नि होती है। जैसे रसोईघर में। इस प्रकार धुएं से अग्नि का सम्बन्ध निश्चित करते हुए पर्वत में धुएं को देखकर अग्नि के होने का जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं। इस अनुमान प्रमाण से जो चित्त में परिणाम होता है उसको अनुमान वृत्ति कहते हैं। आगम वृत्ति—आप्त पुरुष, वेद या सत् शास्त्र जो भ्रम आदि दोषों से रहित यथार्थ वक्ता हों उनके वचनों को आगम प्रमाण कहते हैं। इन वचनों को सुनकर श्रोता के चित्त में जो परिणाम होता है उसे आगम प्रमाण वृत्ति कहते हैं।

9.4.2 विपर्यय वृत्ति का लक्षण

विपर्यय का लक्षण करते हुए योगसूत्रकार लिखते हैं—'विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्' अर्थात् विपर्यय मिथ्याज्ञान है, जो वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित नहीं है। यहां पर विपर्यय लक्ष्य है तथा मिथ्याज्ञान लक्षण

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, अतद्‌रूप प्रतिष्ठ यह हेतु है। मिथ्याज्ञान अर्थात् जैसा अर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुआ ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसे सीप में चांदी का ज्ञान, रस्सी में सर्प आदि। यह पदार्थ के असली रूप को प्रकाशित नहीं करता। विषय से विलक्षण आकार से परिणत चित्तवृत्ति विपर्यय है। यह विपर्यय अविद्या नाम से भी कही जाती है। यह विपर्यय ज्ञान अविद्यास्मितादि भेद से पांच प्रकार का है। विपर्यय चित्त की वृत्ति रूप है और क्लेश वृत्तियों के संस्कार रूप होते हैं। इन्हीं पञ्चविध क्लेशों को सांख्यदर्शन में तम, मोह, महामोह, तामिस्र तथा अंधतामिस्र भी नामान्तर से व्यवहृत किया गया है।

9.4.3 विकल्पवृत्ति का लक्षण

सूत्रकार ने 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' अर्थात् जो शब्द के ज्ञान के बाद उत्पन्न होता है तथा वस्तु शून्य है। वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं रखता, उसे विकल्प कहते हैं। इस विकल्प से जो चित्त का तदाकार परिणाम है वह विकल्पवृत्ति कहलाता है। सूत्रकार ने विकल्प का अर्थ कल्पित ज्ञान को दिया है, क्योंकि इसमें जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसका अभाव रहता है। वह कल्पना का विषय ही रहता है परन्तु शब्द ज्ञान के आधार पर उसका व्यवहार चलता रहता है।

इसी प्रकार 'राहु का सिर' 'काठ की पुतली' यह ज्ञान भी विकल्पवृत्ति है, क्योंकि 'राहु का सिर' 'काठ और पुतली' का भेद नहीं है। यह ज्ञान भी निर्विषयक होने से विकल्प है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्पवृत्ति के भेद को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है कि प्रमाण वस्तु के यथार्थ ज्ञान को कहते हैं। जैसे सीप में सीप का ज्ञान। यह यथार्थ वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित रहता है। अर्थात् स्थिर है, ठहरा हुआ है, बाधित अर्थात् अस्थिर, हटने वाला नहीं। चित्त में ऐसे तदाकार परिणाम को प्रमाणवृत्ति कहते हैं। विपर्यय वस्तु के मिथ्याज्ञान को कहते हैं। जैसे सीप में चांदी का ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं है, अस्थिर है। सीप का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इसका बोध हो जाता है अर्थात् सीप में चांदी का मिथ्याज्ञान हट जाता है। चित्त में ऐसे तदाकार परिणाम को विपर्यय-वृत्ति कहते हैं। विकल्प इन दोनों से विलक्षण है। यह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि निर्विषयक होता है अर्थात् कोई वस्तु इस ज्ञान का विषय नहीं होती, किन्तु यह केवल शब्द ज्ञान के अनन्तर पैदा होता है। इसलिए प्रमाण से भिन्न है। यह मिथ्या ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि जो लोग जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं है वे भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं अतः विपर्यय से भिन्न हैं।

यह विकल्प वृत्ति वहां होती है जहां अभेद में भेद या भेद में अभेद आरोप किया जाता है। जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और सिर, काठ और पुतली दो-दो वस्तु नहीं है तथापि इस अभेद में भेद आरोप किया जाता है। लोह और आग अथवा पानी और आग दो-दो वस्तुएं हैं तथापि 'लोहे का गोला जलाने वाला है' अथवा 'पानी से हाथ जल गया' इस कथन से भेद में अभेद आरोप किया जाता है। 'अहं वृत्ति' भी एक विकल्प वृत्ति ही है क्योंकि इसमें चेतन और अहंकार के भेद में अभेद आरोप किया जाता है। पल, घड़ी, दिन, मास आदि की ज्ञानरूप वृत्तियां भी विकल्प वृत्तियां हैं क्योंकि क्षणों के भेद में अभेद का आरोप किया जाता है।

9.4.4 निद्रावृत्ति का लक्षण

सूत्रकार ने निद्रावृत्ति को स्वतंत्र वृत्ति माना है। उसका लक्षण बताते हुए लिखा 'अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा' अर्थात् जाग्रत एवं स्वप्नात्मक वृत्ति के अभाव की प्रतीति को आश्रय देनेवाली चित्तवृत्ति का नाम ही निद्रा है। इसी चित्तवृत्ति का दूसरा नाम सुषुप्ति है। निद्रा भी अनुभूत होने के कारण वृत्ति विशेष ही है। जिस प्रकार एक अंधेरे कमरे में सब वस्तुयें लुप्त हो जाती हैं किन्तु सब वस्तुओं को छिपाने वाला अंधकार दिखलायी देता है, जो वस्तुओं के अभाव की प्रतीति कराता है। इसी प्रकार तमोगुण सुषुप्ति में चित्त की सब वृत्तियों को दबाकर स्वयं स्थिर रूप से प्रधान रहता है किन्तु रजोगुण का नितान्त अभाव नहीं होता है, तनिक मात्रा में रहता हुआ इस अभाव की प्रतीति कराता है। चित्त के ऐसे परिणाम को निद्रावृत्ति कहते हैं। नशा तथा क्लोरोफार्म आदि से उत्पन्न हुई मूर्च्छित अवस्था भी निद्रावृत्ति के ही अन्तर्गत हैं। मैं सुख से सोया, मेरा मन अस्थिर घूमता रहा—इस प्रकार की स्मृति होती है। यदि निद्रा वृत्ति का प्रत्यक्ष न हो तो संस्कार व स्मृति भी नहीं रहती। अतः निद्रा एक वृत्ति है।

9.4.5 स्मृति वृत्ति का लक्षण

सूत्रकार ने 'अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः' अनुभव किये हुए किसी विषय का न चुराया जाना अर्थात् चित्त में फिर उससे अधिक का नहीं किन्तु तन्मात्र विषयक ज्ञान होना स्मृति है, ऐसा लक्षण किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सम्प्रमोष नाम 'मुष् स्तेये' धातु से तस्करता अर्थात् चोरी का है। जिस प्रकार लोक में पुत्र के लिए पिता से छोड़ी हुई वस्तु का ग्रहण करना असम्प्रमोष चोरी नहीं है किन्तु दूसरों की छोड़ी हुई वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। इसी प्रकार अनुभव, स्मृति ज्ञान का पिता है, क्योंकि स्मृति ज्ञान अनुभव से ही उत्पन्न होता है। अनुभूत विषय अनुभव द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के तुल्य है। इसलिए स्मरण ज्ञान का अनुभूत विषय से अधिक ज्ञान कराना स्मृति नहीं है। केवल अनुभूत विषय को ही उसके बराबर अथवा उससे न्यून (कम) ज्ञान कराना (अधिक नहीं) स्मृति है। इसलिए स्मृति का विषय अनुभूत विषय से कम हो सकता है, अधिक नहीं।

अनुभव तथा स्मृतिज्ञान में अंतर बताते हुए भाष्यकार ने कहा है, अनुभव 'अगृहीतग्राही' ज्ञान है। भाव यह है कि अनुभवात्मक ज्ञान के विषय का पहले ज्ञान कभी नहीं होता, अतः वह विषय हमारे लिए नवीन ज्ञान को लेकर आता है किन्तु स्मरणात्मक ज्ञान 'गृहीतग्राही' होता है, क्योंकि अनुभूत वस्तु का ही किसी उद्‌बोधक के उपस्थित होने पर स्मरणात्मक ज्ञान होता है। यह स्मृति दो प्रकार की है। एक भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या-पदार्थ विषयक जो कि स्वप्न में होती है और एक अभावित-स्मर्तव्य अर्थात् यथार्थ पदार्थ को विषय करनेवाली जो कि जाग्रत काल में होती है।

यह प्रमाणादि वृत्तियां सात्त्विक, राजस् और तामस् होने से सुख, दुःख और मोहस्वरूप हैं और सुख, दुःख और मोह क्लेश स्वरूप हैं। इसलिए ये सब वृत्तियां ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं अविद्यारूप होने से सर्व दुःखों का मूल है। दुःख की वृत्तियां स्वयं दुःख रूप ही हैं। सुख की वृत्तियां सुख के विषयों और उनके साधनों में राग उत्पन्न कराती है। 'सुखानुशयी रागः' अर्थात् सुख-भोग के पश्चात् जो उसकी वासना कामना रहती है वह राग है। उस सुख में विषयों और उनके साधनों में विघ्न होने पर द्वेष उत्पन्न होता है। "दुःखानुशयी-द्वेषः!" इसलिए क्लेशजनक सुख, दुःख मोहस्वरूप होने से सब प्रकार की वृत्तियां त्याज्य हैं। इनके निरोध होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। तदनन्तर पर-वैराग्य के उदय होने से असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

9.5 निरोध का भावात्मक अर्थ

निरोध का मतलब अभाव नहीं है, क्योंकि अभाव नामक कोई वस्तु योग नहीं मानता। अभाव अधिकरण स्वरूप ही होता है। अतः संस्कारों की शेषावस्था को ही चित्तवृत्ति निरोध के रूप में मानना चाहिए, ऐसा भाष्य में कहा है। इसका भावात्मक अर्थ ग्रहण करना चाहिए। वृत्ति निरोध का अर्थ प्रकाश भी होता है, क्योंकि जब चित्त वृत्तियों का निरोध होता है उसके साथ-साथ विषय प्रकाश भी होता है।

9.5.1 अभ्यास वैराग्याधीन चित्तवृत्ति निरोध का कथन

चित्त वृत्ति का एक सत्त्व प्रधान परिणाम है परन्तु रजोगुण से युक्त होने के कारण सदैव चंचल रहता है। विश्व की सबसे तीव्रगामी वस्तु चित्त है। जहां शरीर और इन्द्रिय की पहुंच नहीं है वहां चित्त की गति है। वायु को किसी तरह पकड़ा जा सकता है परन्तु मन को बांधना बहुत दुष्कर कार्य है। योग की अवस्था में समस्त चित्त वृत्तियों का निरोध अपेक्षित है। महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' अर्थात् चित्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य से होता है। गीता में भी कहा गया है—'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते' अर्थात् चित्त को एकाग्र करने का एकमात्र साधन अभ्यास एवं वैराग्य को स्वीकार किया है। जिस प्रकार पक्षी का आकाश में उड़ना दोनों पक्षों के अधीन है उसी प्रकार समस्त वृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य दोनों के समुच्चय से होना अत्यावश्यक है।

9.5.2 अभ्यास का लक्षण

योगसूत्र में लिखा है, "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः" अर्थात् अभ्यास एवं वैराग्य में से चित्त की स्थिरता के लिए जो प्रयत्न विशेष है उसका नाम अभ्यास है। चन्द्र के समान निरन्तर घूमने वाले चित्त का शान्त प्रवाह में बहना ही 'स्थिति' कहलाता है। व्यास मत में यत्न मात्र का नाम अभ्यास नहीं है अपितु वृत्ति रहित शून्य चित्त का शान्त प्रवाह में बहते हुए शक्ति एवं उत्साह से समन्वित होकर यमादिरूप साधनों का अनुष्ठान करना ही 'अभ्यास' है।

9.5.3 अभ्यास के दृढ़ता का निरूपण

यह अभ्यास बहुत काल तक अर्थात् मरणपर्यन्त, निरन्तर (व्यवधान रहित) एवं सब अवस्थाओं में आदरयुक्त करते रहने से दृढ़भूमि को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि मरणपर्यन्त सर्व अवस्थाओं में प्रतिदिन निर्विघ्नता के साथ किया हुआ तप, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धा सहित सम्पादन किया हुआ अभ्यास दृढ़भूमि होता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है। अभ्यास को दृढ़ बनाने के लिए सर्वप्रथम साधक को चाहिए कि वह कभी घबराएं नहीं। यह दृढ़ विश्वास रखना चाहिए कि किया हुआ अभ्यास कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। अभ्यास के बल से मनुष्य निःसन्देह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। यह समझकर अभ्यास के लिए काल की अवधि न रखे, आजीवन अभ्यास करता रहे। साथ ही यह भी ध्यान रखे कि अभ्यास में व्यवधान (अन्तर) न पड़ने पाये, निरन्तर चलता रहे। अभ्यास में तुच्छ बुद्धि न करें। उसकी अवहेलना न करे। बल्कि अभ्यास को ही अपने जीवन का आधार मानकर अत्यन्त आदरपूर्वक उसे सांगोपांग करता रहे। इस प्रकार किया हुआ अभ्यास ही दृढ़ होता है।

9.5.4 अभ्यास का फल

अभ्यास के प्रभाव से अति दुःसाध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिए जब मुमुक्षु चित्त की स्थिरता के लिए अभ्यासनिष्ठ होगा तो वह स्थिरता भी स्वयमेव प्राप्त होकर चित्त को वशीभूत करने में सहायक सिद्ध होगी। इस प्रकार अभ्यास के द्वारा चित्त के वशीभूत हो जाने पर वृत्ति निरोध स्वयमेव हो जायेगा।

9.5.5 वैराग्य का वास्तविक अर्थ एवं भेद

किसी विषय के केवल त्याग का नाम वैराग्य नहीं है, क्योंकि रोगादि के कारण भी विषयों से अरुचि उत्पन्न होने के फलस्वरूप उन विषयों को विवशतापूर्वक छोड़ना पड़ता है और किसी विषय के उपलब्ध न होने पर उसका भोग असंभव है। यह भी वैराग्य नहीं है। भय, क्रोध, लोभ, मोह के वशीभूत होकर अथवा दूसरों के आग्रह से भी किसी विषय को त्यागा जा सकता है परन्तु उसकी तृष्णा सूक्ष्मरूप से निहित रहती है, इसलिए विषय के सम्मुख होने पर पुनः विषय को पाने के लिए लालायित हो जाता है तथा विषय के भोगने की इच्छा जागृत हो जाती है। इन सबके विपरीत 'इदं तुच्छ' यह स्थिति के सभी भोग तुच्छ हैं, इस प्रकार की बुद्धि का नाम 'वैराग्य' है। वशीकारात्मक वैराग्य को सूत्रकार ने दो भागों में विभक्त किया है—अपर वैराग्य एवं पर वैराग्य।

9.5.6 अपर वैराग्य का लक्षण

अपर वैराग्य का लक्षण करते हुए सूत्रकार ने कहा है कि देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है, वह अपर वैराग्य है। अन्तःकरण और इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आनेवाले इस लोक के समस्त भोग जैसे स्त्री, खान-पान, दान, राज्यादि ऐश्वर्य इसका समाहार यहां 'इष्ट' शब्द में किया गया है। इसके विपरीत जो प्रत्यक्ष द्वारा अनुपलब्ध है, जिनका वर्णन वेद, शास्त्र तथा भोगों का अनुभव करने वाले पुरुषों से सुना गया है। जैसे स्वर्ग, विदेह आदि। ऐसे भोग्य विषयों का समाहार 'अनुश्रविक' शब्द में किया गया है। अतः जब अभ्यासी का ऐहिक एवं पारलौकिक वस्तुओं से तृष्णा हट जाती है। ऐसे कामना रहित पुरुषों के समक्ष दिव्य एवं अदिव्य विषयों के उपस्थित होने पर भी उन सब भोगों में दोष देखना, उन भोगों में उदासीन होना ही वशीकारात्मक अपर वैराग्य है। वैराग्यवान व्यक्ति न तो इन विषयों को ग्रहण ही करता है और न ही दूर भागता है अर्थात् ग्रहण करने वाला राग तथा द्वेष दोनों से निवृत्त हो जाता है। भोगी उस समय राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है। साधारण मानव तो विषयों के वशीभूत रहते हैं किन्तु योगी सभी वस्तुओं को अपने अधीन रखता है। कोई भी भोग योगियों को अपनी तरफ आकृष्ट नहीं कर सकता। विवेक द्वारा विषयों को अनन्त दुःखरूप तथा बंधन का कारण समझकर उनमें पूर्णतया अरुचि का होना, राग-द्वेष से निवृत्त होना ही वैराग्य है।

9.5.7 पर वैराग्य का लक्षण

ज्ञान हो जाने पर त्रिगुणों में भी तृष्णा रहित हो जाना ही 'पर वैराग्य' है। जब मनुष्य अपने स्वरूप को यथार्थ रूप से समझ लेता है। मैं 'प्रकृत्यादिभ्यः भिन्नः' कारणावस्थ चित्त से भिन्न हूं, इस प्रकार त्रिगुणात्मक बुद्धि में भी तृष्णारहित हो जाता है। योगी सोचता है कि विवेक ख्याति भी तो चित्त की वृत्ति विशेष ही है, अतः यह भी तुच्छ ही है। इस प्रकार विवेक ख्याति में भी तृष्णारहित होना ही 'पर वैराग्य' है। जब ऋतम्भरा प्रज्ञा में भी तुच्छता की गंध आ सकती है तो इस प्रज्ञा को भी अस्वीकार कर देता है। इसी पर-वैराग्य द्वारा असंप्रज्ञात समाधि का जन्म होता है। अतः ऐहिक एवं पारलौकिक सभी विषयों को तुच्छ मानने वाले अपर वैराग्यवादी व्यक्ति बारम्बार अभ्यास करते हुए विवेक ख्याति की शुद्धि करता है। सत्य एवं पुरुष दोनों का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उस समय योगी वास्तविक रूप से 'विरक्त' इस संज्ञा को प्राप्त कर लेता है। पर-वैराग्य परमोत्कृष्ट ज्ञानस्वरूप ही है। वह ज्ञान का उत्कर्ष है। पर-वैराग्य को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञानस्वरूप मानने से किसी व्यक्ति के हृदय में यह आशंका हो सकती है कि सूत्रकार ने वितृष्णा मात्र को पर-वैराग्य कहा है। इसके विपरीत भाष्यकार पर-वैराग्य को ज्ञानस्वरूप सिद्ध करते हैं। इस प्रश्न का हल ऐसे हो सकता है कि शब्द भेद होने पर भी अर्थ में अभेद रहता है। योगमत में अभाव जैसा कोई स्वतंत्र पदार्थ स्वीकृत नहीं है। अतः चित्त की ज्ञानावस्था ही वास्तव में तृष्णा रहित अवस्था है। यदि कोई कहे कि सुषुप्ति में भी तृष्णा नहीं होने से उसमें भी पर-वैराग्य का लक्षण चला जाएगा, इस प्रकार अतिव्याप्ति दोषग्रस्त लक्षण हो जाएगा। परन्तु सुषुप्ति में तृष्णाविरह जरूर रहता है पर ज्ञान का उत्कर्ष नहीं रहता। उस समय तो अज्ञान ही घनीभूत होकर विराजमान रहता है। इस पर-वैराग्य के उदय होने पर योगी विवेकज्ञान से युक्त हुआ, ऐसा मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त कर लिया गया, जो त्याज्य (पंचकोश) थे वे नष्ट हो गये। अब जन्म के हेतु कर्माशियों की संधियां कट गयीं, जिनके टूटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मरकर पुनः पुनः उत्पन्न होता है। इस पर वैराग्य के पश्चात् कैवल्य निश्चित ही है। पर-वैराग्य के द्वारा असंप्रज्ञात समाधि की उत्पत्ति होती है और उससे कैवल्य की प्राप्ति होती है।

9.5.8 अभ्यास-वैराग्य की उपयोगिता

महर्षि व्यासजी ने अभ्यास एवं वैराग्य की उपयोगिता एक सुन्दर रूपक द्वारा प्रस्तुत की है। चित्त एक नदी के सदृश है जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता रहता है। इसकी दो धाराएं हैं। एक संसार सागर की ओर बहती है और दूसरी कल्याण सागर की ओर। जिसने पूर्वजन्म में कैवल्यार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उस पूर्व विवेकात्मक संस्कारों के कारण विवेक मार्ग की ओर बहती हुई कल्याण सागर में जा मिलती हैं किन्तु जिसने पूर्व जन्मों में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन पूर्व संस्कारों के कारण विषय मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है। वैराग्य द्वारा विषयों के प्रवाह पर बंध (बांध) लगाया जाता है। वैराग्य चित्त को अनेकानेक विषयों में जाने के मार्ग को एकदम बंद कर देता है। अभ्यास के द्वारा विवेकधारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक स्रोत में डाल दिया जाता है। तब प्रबल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याणरूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। तमोगुण की अधिकता से चित्त में निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि दोष उत्पन्न होता है और रजोगुण की अधिकता से चित्त में चंचलतारूप विक्षेप दोष उत्पन्न होता है।

9.6 सारांश

अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है और वैराग्य से रजोगुण की, अतः सिद्ध हुआ कि अभ्यास एवं वैराग्य दोनों मिलकर ही चित्तवृत्तियों के निरोध के साधन हैं। इस प्रकार योगदर्शन में योग का निरूपण किया गया है।

9.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. योगदर्शन में प्रतिपादित योग के स्वरूप की विस्तृत व्याख्या करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. वैराग्य को परिभाषित करते हुए उसके प्रकारों का वर्णन करें।
2. स्मृति वृत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. चित्त की .... भूमियां हैं।
2. प्रमेय की सिद्धि .... से होती है।
3. सांख्यदर्शन में प्रमाण के .... भेद हैं।
4. योगसूत्रकार ने विकल्प का अर्थ .... किया है।
5. स्मृति .... प्रकार की है।
6. क्षिप्तभूमि में .... गुण की प्रधानता होती है।
7. योगसूत्र के भाष्यकार .... हैं।
8. योगसूत्र .... पादों में विभक्त है।
9. वैराग्य के .... प्रकार हैं।
10. योग .... अवस्था में ही संभव है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–10 : सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि

संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 समाधि का अर्थ एवं परिभाषा
10.2.1 संप्रज्ञात समाधि
10.2.2 संप्रज्ञात समाधि के प्रकार
10.2.3 असंप्रज्ञात समाधि
10.2.3.1 असंप्रज्ञात समाधिकी परिभाषा
10.2.3.2 संप्रज्ञात समाधि एवं असंप्रज्ञात समाधि में अन्तर
10.3 अलौकिक सिद्धियां
10.4 सारांश
10.5 अभ्यास प्रश्नावली

10.0 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में योग का अत्यधिक महत्त्व है। तत्त्व साक्षात्कार के लिए या आत्मसाक्षात्कार के लिए योग साधना की आवश्यकता प्राय: सभी दर्शनों एवं भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में स्वीकार की गयी है। वैदिक एवं अवैदिक (जैन एवं बौद्ध) दर्शनों में योग की उपादेयता सर्वमान्य है। संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में योग की महनीयता का वर्णन उपलब्ध होता है। योग के कई प्रकार हैं। गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग और कर्मयोग तथा ध्यानयोग का वर्णन है। पातंजल योगदर्शन में राजयोग एवं हठयोग का विस्तार से वर्णन देखने को मिलता है। पातंजल योगदर्शन में योग को ही समाधि कहा गया है। मोक्ष प्राप्ति से पूर्व हर व्यक्ति को समाधि की स्थिति में आना जरूरी है। क्योंकि समाधि की स्थिति में बाह्य जगत् के साथ सम्बन्ध स्थापित होता है, तब शुद्ध चैतन्य का अनुभव होता है और यह शुद्ध चैतन्य का अनुभव ही समाधि है। समाधि वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है जिसका मन प्रशान्त और इन्द्रियां शान्त है तथा आधि, व्याधि और उपाधि से मुक्त हैं। समाधि से व्यक्ति का विकास होता है और समाधि की खोज में बढ़ते हुए आश्वस्त चरण मंजिल की दूरी को कम करते जाते हैं। जब मनुष्य को सुख-दु:ख, लाभ-अलाभ, जीवन-मृत्यु, उत्कर्ष-अपकर्ष आदि उतरती-चढ़ती सभी अवस्थाओं में आत्मा की अनुभूति होती हो वही समाधि है। बाह्य पदार्थ तथा निमित्त के बिना स्वत: आनन्द का अनुभव हो वही समाधि है। समाधि द्वारा मानसिक शांति तथा सत्यज्ञान की प्राप्ति हो सकती है।

10.1 उद्देश्य–समाधि एक ऐसी अवस्था जिसके माध्यम से शांति का तथा अपने स्वरूप का अनुभव किया जा सकता है।

10.2 समाधि का अर्थ एवं परिभाषा

समाधि का अर्थ है ध्येय वस्तु में चित्त की विक्षेप रहित एकाग्रता। भगवती आराधना में समाधि का अर्थ है—मन को शुभोपयोग में एकाग्र करना। समाधि का अर्थ है—सम्यक् आद्यान, अर्थात् चित्त का विक्षेपरहित एकाग्रता श्रीभोज महाराज समाधि का अर्थ इस प्रकार करते हैं—"सम्यगाधीयत एकाग्री क्रियते विक्षेपान्परिहृत्य मनो यत्र समाधि:" जिसमें मन विक्षेपों को हटाकर यथार्थता से धारण किया जाता है अर्थात् एकाग्र किया जाता है, वह समाधि है।

समाधि: समतावस्था जीवात्म परमात्मनो:।
ब्रह्मण्येव स्थितिर्या सा समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की जो साम्यावस्था है, वह समाधि है। जीवात्मा की ब्रह्म में जो स्थिति है, वही समाधि है। योगवासिष्ठ ने समाधि का लक्षण इस प्रकार किया है—

इमं गुण समाहार मनात्मत्वेन पश्यत:।
अन्त: शीतलता यस्य समाधिरिति कथ्यते॥

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस गुण समूह को आत्मा से भिन्न देखते हुए जब अन्तःकरण में शीतलता का अनुभव होता है, तब वही समाधि कही जाती है। महर्षि पतंजलि ने पातंजल योगदर्शन में समाधि को परिभाषित करते हुए कहा है—"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।" ध्यान ही अभ्यास के द्वारा जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित होकर केवल ध्येय स्वरूप में अवस्थित होकर प्रकाशित होने लगता है, तब वह समाधि कहलाता है। योगसूत्र के अनुसार ध्यान ही जब ध्येयरूप दिखाता हुआ अपने स्वरूप से शून्य जैसा हो जाता है उसको समाधि कहते हैं।

पतंजलि समाधि के दो भेद करते हैं—1. संप्रज्ञात समाधि, 2. असंप्रज्ञात समाधि।

10.2.1 संप्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था में बाह्य विषयक चित्तवृत्तियों का निरोध होता है उसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में आत्म विषयक सूक्ष्मवृत्ति बनी रहती है।

"सम्यक् ज्ञायते प्रकृतेः भेदेन ध्येय स्वरूपं यस्मिन्"

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिस अवस्था में ध्येय (आत्मा) का ज्ञान सम्यक् प्रकार से होता है उसे संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। संप्रज्ञात समाधि में ध्येय वस्तु का ज्ञान बना रहता है। ध्याता तथा ध्यान दोनों ध्येयाकार हो जाते हैं, इनकी ध्येय से पृथक् अनुभूति नहीं होती। असंप्रज्ञात समाधि में चित्त सर्वथा निरूद्ध हो जाता है, ध्येय वस्तु का ज्ञान नहीं रहता। संप्रज्ञात समाधि में जिस विषय का चिन्तन किया जाता है उसकी चेतना स्पष्ट रहती है और प्रमाता (विषयी) से भिन्न रूप में रहती है, किन्तु असंप्रज्ञात समाधि में यह भेद भी विलुप्त हो जाता है।

10.2.2 संप्रज्ञात समाधि के प्रकार

आलम्बनों की स्थूलता, सूक्ष्मता के कारण महर्षि पतंजलि ने संप्रज्ञात समाधि के चार प्रकारों का निरूपण करते हुए कहा है—"वितर्कविचारानन्दास्मिता रूपानुगमात् संप्रज्ञातः।"

1. वितर्कानुगत 2. विचारानुगत 3. आनन्दानुगत 4. अस्मितानुगत—ये चार भेद संप्रज्ञात समाधि के हैं।

1. वितर्कानुगत

स्थूल विषयों के साक्षात्कार का नाम वितर्क है। 'विशेषेणतर्कणम्' शब्दार्थज्ञानविकल्परूपं यत्र, अर्थात् जिस अवस्था में शब्द-अर्थ-ज्ञान के विकल्प रूप तर्क हो उसे वितर्क कहते हैं। इसका तात्पर्य है—स्थूल विषयों की भावना ही वितर्क है।

जिस भावना द्वारा ग्रहण करने योग्य किसी स्थूल विषय, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर आदि किसी स्थूल वस्तु पर चित्त टिकाकर, संशय, विपर्यय रहित उसके यथार्थ स्वरूप को सभी विषयों सहित जो पहले कभी न देखें, न सुने और न अनुमान किये उन सबका साक्षात् किया जाय, वह वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि है। इसके दो भेद—सवितर्क, निर्वितर्क।

सवितर्क सम्प्रज्ञात समाधि

सवितर्क संप्रज्ञात समाधि को परिभाषित करते हुए पातंजल योगदर्शन में कहा—"तत्र शब्दार्थज्ञान विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।"

सवितर्क शब्द, अर्थ और ज्ञान की भावना सहित होने के कारण सवितर्क है अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु शब्द संकेत की स्मृति से एक का ज्ञान होने से दूसरे दोनों का भी साथ ही ज्ञान हो जाता है। जैसे गौ ऐसा कहने से 'गौ अर्थ', 'गौ शब्द', और 'गौ ज्ञान' तीनों अभिन्न प्रतीत होते हैं। यद्यपि तीनों भिन्न हैं किन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण मिले हुए ज्ञात होते हैं। जब 'गौ' में चित्त को एकाग्र किया जाय, तब समाधिस्थ चित्त में गौ शब्द और गौ ज्ञान के भेदों से वह तदाकार रहता है तब उसे सवितर्क कहते हैं। संक्षेप में कह सकते हैं कि भौतिक पदार्थों में समाहित योगी के जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेद से मिश्रित समाधि होती है उसे सवितर्क संप्रज्ञात समाधि कहते हैं।

निर्वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि

निर्वितर्क संप्रज्ञात समाधि का लक्षण बताते हुए महर्षि पतंजलि ने कहा—"स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" सवितर्क समाधि में शब्द, अर्थ, ज्ञान तीनों का ही बोध होता है किन्तु इस समाधि में एकाग्रता बढ़ने से बाह्यवृत्ति अन्तर्मुख की ओर अग्रसर होती है। जब एकाग्रता सीमा तक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पहुंचता जाय कि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसकी भी स्मृति न रहे और चित्त केवल अपने अर्थमात्र स्वरूप का साक्षात्कार कर सके अर्थात् शब्द और ज्ञान को छोड़कर केवल ध्येय वस्तु का तदाकार होता है उस समय वह निर्वितर्क संप्रज्ञात समाधि कहलाती है। संक्षेप में कहा जाय तो इस समाधि में शब्द, अर्थ, ज्ञान की भावना रहित केवल अर्थ मात्र का ही बोध होता है।

2. विचारानुगत

'विशेषण चार: सूक्ष्मवस्तु पर्यन्त: सञ्चारो यत्र' अर्थात् जिस समाधि में सूक्ष्म वस्तु पर्यन्त चित्त का सञ्चार हो, उसी को विचार कहा गया है।

जिस भावना द्वारा पांच सूक्ष्मभूत, पांच तन्मात्राओं तक तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप से साक्षात् किया जाय, वह विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि है।

इस समाधि के दो भेद हैं—1. सविचार, 2. निर्विचार।

"एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्म विषया व्याख्याता"

सविचार संप्रज्ञात समाधि

जब ध्येय सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश, काल और निमित्त के विचार से मिला हुआ हो वह सविचार है। अर्थात् जैसे स्थूलभूत या भौतिक पदार्थों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्प से मिश्रित सवितर्क समाधि है वैसे ही देश-काल रूप विशेषणों से अनुभवपूर्वक सूक्ष्मभूत परमाणुओं में जो शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेदों से मिश्रित समाधि है वह सविचार संप्रज्ञात समाधि है। इस समाधि में कार्य कारण भाव का विचार विद्यमान रहता है।

निर्विचार संप्रज्ञात समाधि

सूक्ष्म विषयों में देश-काल और निमित्त के विकल्पों से रहित विचार किया जाता है। अर्थात् चित्त की एकाग्रता अधिक होने पर देश, काल और निमित्त आदि की स्मृति से शुद्ध होकर उस विषय को केवल धर्मिमात्र स्वरूप से तदाकार होकर प्रकाश करता है तब वह निर्विचार संप्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसमें केवल सूक्ष्मभूतों का ही बोध होता है, पूर्वोक्त विचार नहीं होता। निर्विचार समाधि के फल का निरूपण करते हुए कहा गया—"निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद:" अर्थात् निर्विचार समाधि की प्रवीणता होने पर प्रज्ञा की निर्मलता होती है।

3. आनन्दानुगत

विचारानुगत के निरन्तर अभ्यास से जब चित्त की एकाग्रता बढ़ती है। उस एकाग्रता द्वारा सत्त्वगुण की अधिकता में अहङ्.ार का स्वयं साक्षात होता है उसको आनन्दानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि का नाम आनन्द इसलिए रखा गया है क्योंकि इसमें सत्त्वगुण प्रधान अहंकार आनन्द रूप है तथा इस समाधि में योगी का चित्त सत्त्वगुण बढ़ने से आनन्द युक्त हो जाता है। उस समय केवल आनन्द ही शेष रहता है। इस भूमि में सूक्ष्म शरीर और स्थूल विषयों से परे अहम् अस्मि वृत्ति द्वारा केवल अहंकार का ही अनुभव होता है। यह आनन्द का अनुभव ही आनंदानुगत समाधि है।

4. अस्मितानुगत

चेतन से प्रतिबिम्बित चित्त जिसमें बीज रूप से अहंकार रहता है। अर्थात् जहां पुरुष और चित्त में अभिन्नता आरोपित होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता अहंकार का कारण है, इसलिए उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ती है कि अस्मिता में धारणा करने से उसका यथार्थ रूप साक्षात् होने लगता है तब उसको अस्मितानुगत संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस समाधि में जीवात्मा या परमात्मा विषय होते हैं।

इस समाधि में अस्मिता का साक्षात्कार होता है। अस्मिता का साक्षात्कार अहंकार के साक्षात्कार के समान सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि अस्मिता पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्त की संज्ञा है, जो अहंकार का उपादान कारण और गुणों का प्रथम विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्व ही सत्त्व है। इसमें अहंकार रहित केवल अस्मि वृत्ति से अपरिच्छिन्न असीम और व्यापक आनंद का अनुभव होता है। यह समाधि सर्वोत्कृष्ट आनंद वाली और कैवल्यपद के समान है।

ये चारों प्रकार की समाधियां सालम्बन और सबीज भी कहलाती है। सालम्बन इसलिए कि ये किसी ध्येय का आलम्बन बनाकर की जाती हैं और यह आलम्बन ही बीज है, इसलिए इनका नाम सबीज समाधि भी है। जब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

योगी किसी स्थूल ध्येय को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त केन्द्रित करता है, तब सर्वप्रथम स्थूल वस्तु देखता है। उसके बाद एकाग्रता अधिक बढ़ती है तब सूक्ष्म वस्तु का साक्षात् होता है। इससे भी अधिक एकाग्रता का जब विकास होता है तब अहंकार का, उसकी आनन्दरूप प्रिय मोद, प्रमोद आदि वृत्तियों का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्त्वगुण की वृद्धि के साथ-साथ यह आनन्दरूप वाली अहंकार की वृत्ति भी सूक्ष्म हो जाती है, उस समय अस्मि, अस्मि से साक्षात् होने लगता है अर्थात् मैं हूं केवल यही ज्ञान शेष रहता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर विकास होता है। फिर भी इसमें आत्मस्थिति अर्थात् स्वरूप में अवस्थिति नहीं होती है।
संप्रज्ञात समाधि के प्रकारों को चार्ट के माध्यम से सरलता से समझ सकते हैं:

क्र.	नाम	रूप	विषय	संबंध	अनुगत	रहित	वृत्ति
1.	वितर्कानुगत	ग्राह्य	5 स्थूलभूत तथा स्थूल विषय शरीर, सूर्य चन्द्र आदि और स्थूल इन्द्रियां	वितर्क	वितर्क, विचार, आनंद और अस्मिता से अनुगत		स्थूल विषयाकार वृत्ति
2.	विचारानुगत	ग्राह्य	5 सूक्ष्मभूत, तंमात्राओं तक सूक्ष्म इन्द्रियां	विचार	विचार-आनंद और अस्मिता से अनुगत	वितर्क रहित	सूक्ष्म विषयाकार वृत्ति
3.	आनन्दानुगत	ग्रहण	अहंकार	आनंद	आनंद और अस्मिता से अनुगत	वितर्क तथा बिचार से रहित	आनंद विषयाकार वृत्ति
4.	अस्मितानुगत	ग्रहीतृ	अस्मिता	अस्मिता	अस्मिता से अनुगत	वितर्क, विचार और आनंद से रहित	अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' वृत्ति

जिसमें कोई चित्तवृत्ति उपस्थित नहीं रहती, यद्यपि प्रसुप्त संस्कार रह सकते हैं। असंप्रज्ञात समाधि में कोई आलम्बन नहीं रहता। इस समाधि में ध्याता, ध्यान, ध्येय का भेद भी समाप्त हो जाता है।

10.2.3 असंप्रज्ञात समाधि

जिस अवस्था में समस्त वृत्तियों का निरोध होता है, उसको असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में किसी प्रकार की वृत्ति शेष नहीं रहती। असंप्रज्ञात समाधि ऐसी एकाग्रता है।

10.2.3.1 असंप्रज्ञात समाधि की परिभाषा

इसे परिभाषित करते हुए पातंजल योगदर्शन में कहा गया—"विराम प्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः" समस्त वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर वैराग्य है, उसके पुनः-पुनः अनुष्ठान रूप अभ्यास से जो संस्कार शेष रह जाते हैं, वह असंप्रज्ञात समाधि है। अर्थात् पुनः पुनः अभ्यास से जब एकाग्र वृत्ति का भी निरोध हो जाता है, तब असंप्रज्ञात समाधि होती है। असंप्रज्ञात समाधि में किसी प्रकार की वृत्ति शेष नहीं रहती, केवल विराम प्रत्यय रूप पर-वैराग्य के निरोध के संस्कार शेष रहते हैं। किन्तु यह कोई वृत्ति नहीं है, यह निरोध का परिणाम है। इस अवस्था में पुरुष की (शुद्ध चेतन) स्वरूप में अवस्थिति होती है।

व्यास भाष्य के अनुसार निरालम्बन का अभ्यास करता हुआ चित्त निरालम्बन जैसा बन जाता है, यही असंप्रज्ञात समाधि है। पतंजलि ने अपने सूत्र में कहा है—ऋतम्भरा प्रज्ञा और उससे उत्पन्न हुई विवेक ख्याति तथा प्रज्ञाजन्य नूतन संस्कार निरोध से ही निर्बीज अर्थात् असंप्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है। असंप्रज्ञात समाधि श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, एकाग्रता और प्रज्ञा अर्थात् विवेकज्ञान से प्राप्त होती है।

महर्षि पतंजलि ने इस समाधि को निर्बीज समाधि कहा है। निर्बीज समाधि को परिभाषित करते हुए कहा था—"तस्यापि निरोधे सर्व निरोधान्निर्बीजः समाधिः"

आलम्बन न रहने से इसको निर्बीज, समाधि कहते हैं। महर्षि पतंजलि के अनुसार इस असंप्रज्ञात समाधि में अविद्या आदि क्लेशरूप संस्कार का बीज नहीं रहता अतः इसे निर्बीज समाधि भी कहा जाता है। निर्बीज समाधि की अवस्था में चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती। वृत्तियों को रोकने वाले संस्कार रहते हैं, इन संस्कारों के कारण चित्त में बाहर से निरोध अर्थात् वृत्तियों के रोकने का परिणाम होता रहता है, चित्त में इस निरोध

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

परिणाम के कारण पुरुष किसी बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता, किन्तु शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहता है और चित्त पुरुष को दृश्य दिखलाने के कार्य को बंद करके अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।

10.2.3.2 संप्रज्ञात समाधि एवं असंप्रज्ञात समाधि में अंतर

संप्रज्ञात समाधि में किसी न किसी प्रकार का स्थूल या सूक्ष्म विषय चित्त का आलम्बन होता है। असंप्रज्ञात समाधि में कोई आलम्बन नहीं रहता। संप्रज्ञात समाधि में अविद्या आदि क्लेश रूप बीज विद्यमान रहता है। असंप्रज्ञात समाधि में बीज भी समाप्त हो जाता है। संप्रज्ञात समाधि में केवल बाह्य चित्त वृत्तियों का निरोध होता है। असंप्रज्ञात में बाह्य व आंतरिक सभी प्रकार की चित्त वृत्तियों का निरोध होता है।

10.3 अलौकिक सिद्धियां

योगी समाधि की प्राप्ति के लिए योग साधना करता है। योग साधना में रत योगी को अलौकिक सिद्धियां भी प्राप्त होती हैं किन्तु वह सिद्धियों के लिए योग साधना नहीं करता। योगसूत्र में लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन है, जिनमें कुछ बाह्य व कुछ आंतरिक सिद्धियां हैं। एक वे सिद्धियां हैं जो ज्ञानमूलक है और दूसरी वे, जो शक्तिमूलक हैं। हम यहां केवल उन्हीं अलौकिक सिद्धियों का वर्णन करेंगे, जो ज्ञानमूलक हैं।

भूतकाल का ज्ञान

1. भूतकाल का ज्ञान-धारणा, ध्यान, समाधि से भूतकाल का ज्ञान होता है।
2. पूर्वजन्म का ज्ञान—संयम द्वारा संस्कारों के साक्षात् करण से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है।
3. परिचित एवं स्वचित्त ज्ञान—दूसरे की चित्त वृत्ति में संयम करने से योगी को परचित्त विषयक सामान्य ज्ञान होता है। योगशास्त्र के अनुसार हृदयाकाश में संयम करने से स्वचित्त का विशिष्ट ज्ञान होता है।
4. सूक्ष्म, व्यवहित विप्रकृष्ट वस्तुओं का ज्ञान—ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का चित्त में जो आलोक साधक को दिखाई देता है उसमें संयम करने से सूक्ष्म पदार्थ, व्यवहित तथा सुदूर पदार्थों का ज्ञान होता है। ताराओं का ज्ञान, स्थूल शरीर रचना का ज्ञान, प्रातिभज्ञान, विवेक ज्ञान आदि अनेक प्रकार का ज्ञान होता है। योगशास्त्र का स्पष्ट मंतव्य है कि समग्र सिद्धियां समाधि में बाधक हैं। जिसका चित्त समाहित हो गया है, उसको ये सिद्धियां फिर मोह या भोग में फंसाती है वह इन्हीं सिद्धियों को पूर्णता का रूप समझने लगता है। ये उच्च जीवन के आनुषंगिक फल हैं। इनकी उपेक्षा से ही पूर्णता प्राप्त कर सकता है। औषधि, तपस्या मंत्र अथवा समाधि से इनकी प्राप्ति होती है। किसी को जन्मतः भी इसकी प्राप्ति हो सकती है।

10.4 सारांश

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि योगदर्शन के अनुसार संप्रज्ञात समाधि एवं असंप्रज्ञात समाधि मोक्ष प्राप्ति से पूर्व आवश्यक है। स्व की एकाग्रता से ही व्यक्ति समाधि तक पहुंचता है। समाधि के द्वारा ही व्यक्ति आगे की भूमिका में अग्रसर हो सकता है। इसलिए पातञ्जल योगसूत्र का मुख्य विषय समाधि को माना जा सकता है।

10.5 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. पातंजल योगदर्शन में संप्रज्ञात समाधि को परिभाषित करते हुए इसके प्रकारों पर प्रकाश डालें?

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. असंप्रज्ञात समाधि का स्वरूप क्या है?
2. समाधि का अर्थ एवं परिभाषा पर प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

1. संप्रज्ञात समाधि के .... प्रकार हैं।
2. चारों प्रकार की समाधि .... कहलाती है।
3. भगवती आराधना में समाधि का अर्थ है .... ।
4. पतंजलि समाधि के .... भेद करते हैं।
5. योगसूत्र में .... सिद्धियों का वर्णन है।
6. असंप्रज्ञात समाधि में .... निरोध होता है।
7. वितर्कानुगत समाधि के........... प्रकार हैं।
8. महर्षि पतंजलि ने समाधि को परिभाषित करते हुए .... कहा है।
9. बाह्य विषयक चित्त वृत्तियों का निरोध होता है उसे .... कहते हैं।
10. पातंजल योगदर्शन में असंप्रज्ञात समाधि को .... कहा है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–11 : क्रियायोग

संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 समाधि का स्वरूप
11.3 क्रिया योग की परिभाषा
11.4 क्रिया योग के अंग
11.5 स्वाध्याय क्रियायोग
11.6 ईश्वर प्राणिधान क्रियायोग
11.7 ईश्वर का स्वरूप
11.8 क्रियायोग का प्रयोजन
11.9 सारांश
11.10 अभ्यास प्रश्नावली

11.0 प्रस्तावना

मनुष्य जो भी प्रयत्न करता है, वह दु:ख मुक्ति और सुखप्राप्ति के लिए करता है। आनन्द आत्मा का सहज धर्म है। वह हर मनुष्य के अन्तस्तल में विद्यमान है किन्तु मन जब बाह्य विषयों में निरत रहता है तब अन्तस्तल में छिपे हुए आनन्द का अनुभव करने में वह समर्थ नहीं होता है। आनन्द प्राप्ति के लिए, आत्मदर्शन के लिए चित्त का अन्तर्मुखी होना अत्यन्त आवश्यक है। चित्त में विभिन्न प्रकार के विक्षेप आते रहते हैं फलत: वह समाधि का अनुभव नहीं कर पाता। समाधिशून्य चित्त में दु:ख, पीड़ा का ही प्रादुर्भाव हो सकता है। आनन्द का स्फुरण वहां सुलभ नहीं है।

11.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से क्रियायोग का विस्तृत ज्ञान होगा।

11.2 समाधि का स्वरूप

पातञ्जल योगसूत्र में समाधि एवं योग को एकार्थक माना गया है। 'योग: समाधि:' योग ही समाधि है। योग समाधि की निष्पत्ति चित्तवृत्ति के निरोध से प्राप्त हो सकती है। योगदर्शन में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा गया है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध के भेद से चित्त पांच प्रकार का है। समाधि चित्त की सब भूमिओं में होने वाला धर्म है। क्षिप्त चित्त रजोगुण प्रधान, मूढ़चित्त तमोगुण प्रधान होता है। विक्षिप्त चित्त सत्व गुण प्रधान होता है, कुछ मात्रा में रजो गुण भी रहता है। एकाग्र चित्त में केवल सत्व गुण प्रधान रहता है। निरूद्ध चित्त में संस्कार मात्र शेष रहते हैं। सभी प्रकार के विषयों की यह निवृत्ति अवस्था है। चित्त के तरंगरूप परिणाम को वृत्ति कहते हैं। इन चित्तवृत्तियों के प्रवाह का कारणभूत अपने चित्त में विलीन हो जाना निरोध है। चित्त की क्षिप्त अवस्था में तमोगुण तथा सत्त्वगुण का निरोध है। मूढ़ अवस्था में रजोगुण तथा सत्त्वगुण का निरोध है। विक्षिप्त अवस्था में केवल तमोगुण का निरोध है। एकाग्र अवस्था में केवल ध्येयाकार वृत्ति को छोड़कर बाह्य आभ्यन्तर सकल वृत्तियों का निरोध होता है और निरुद्ध अवस्था में उस ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। चित्त और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान होना विवेकख्याति या भेद ज्ञान कहलाता है। इसे ध्येयाकार वृत्ति भी कहा जाता है। अत: चित्त की पांचों भूमियों में कुछ-न-कुछ निरोध अवश्य रहता है परन्तु सभी भूमियों का निरोध योग नहीं है। मात्र एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था का निरोध ही योग है। एकाग्र अवस्था में बाह्य घट आदि वृत्तियां तथा आभ्यन्तर काम, क्रोध आदि वृत्तियां लीन हो जाती है और एकमात्र ध्येयाकाररूप में वृत्ति विद्यमान रहती है, इसी को सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। जब परवैराग्य के सतत् सेवन से वह ध्येयाकार वृत्ति भी विलीन हो जाती है और सारे संस्कार भी विलीन हो जाते हैं तब असंप्रज्ञात योग निष्पन्न होता है।

11.2.1 समाधि प्राप्ति के हेतु साधन

अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा चित्तवृत्ति का निरोध होने से समाधि उत्पन्न होती है। समाधि उत्पादन में अभ्यास और वैराग्य दोनों साथ मिलकर हेतु बनते हैं। पृथक्-पृथक् रहकर समाधि के हेतु नहीं हैं। यही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अभिमत गीता में प्रतिपादित हुआ है। अर्जुन श्रीकृष्ण से प्रश्न करते हैं प्रभो! यह मन बहुत चञ्चल है इसको वश में कैसे किया जा सकता है। श्रीकृष्ण समाधान देते हुए कहते हैं—

असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलं।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता 6/35

अर्जुन! निश्चितरूप से यह चञ्चल मन दुर्निग्रह्य है। इस पर नियंत्रण करना कठिन है किन्तु अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा उसको वश में किया जा सकता है। पातञ्जल योगसूत्र का अभिमत है कि समाहित संयमित चित्त वाले पुरुष के लिए अभ्यास एवं वैराग्य समाधि उत्पादन के हेतु बनते हैं किन्तु व्युत्थित (चंचल) चित्त वाले के लिए ये सहज हेतु नहीं बन सकते। संयमित/समाधिस्थ चित्त वाला व्यक्ति तो योग पर आरुढ़ हो चुका है किन्तु व्युत्थित चित्त वाला तो योग का आरुरुक्षु है अर्थात् योग के क्षेत्र में आरोहण करना चाहता है। उसके लिए समाधि उत्पादन का हेतु क्रियायोग बनता है। योग के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए क्रियायोग को प्रथम कर्त्तव्य बताया गया है—'आरुरुक्षोर्मुनेयोगं कर्म कारणमुच्यते।'

समाहित चित्तवाला योगी योग का उत्तम अधिकारी होता है। वह अभ्यास एवं वैराग्य से सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग को प्राप्त कर लेता है किन्तु व्युत्थित चित्त वाले योग के मध्यम अधिकारी को समाधि के साधनभूत अभ्यास एवं वैराग्य सहज सुलभ नहीं है क्योंकि उनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्वेष आदि से कलुषित है। उनका चित्त भी शुद्ध होकर अभ्यास और वैराग्य का सम्पादन कर सके इसके लिए क्रियायोग का प्रावधान किया गया है।

11.3 क्रियायोग की परिभाषा

कर्म से विरत होने के लिए योग को लक्ष्य बनाकर जो कर्म का आचरण किया जाता है उसे क्रियायोग कहते हैं।

कर्मविरतये योगमुद्दिश्य कर्माचरणं क्रियायोगः। (भास्वती टीका)

जैसे कांटे के द्वारा कांटा निकाला जाता है वैसे ही योग के अंगभूत कर्म से योग विरोधी कर्मों का उन्मूलन क्रियायोग के द्वारा किया जाता है। तत्त्ववैशारदी में 'क्रियैव योगः क्रियायोगः, योगसाधनत्वात्' कहकर क्रियायोग को परिभाषित किया है। यहां क्रिया को ही योगरूप में व्याख्यायित किया है। क्रिया को योग का साधन माना गया है।

11.4 क्रियायोग के अंग

तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान ये क्रियायोग के अंग हैं—"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।" इस क्रियायोग के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म एवं भक्तियोग तीनों का समावेश हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान यह भक्तियोग है, प्रस्तुत प्रसंग में यह क्रियायोग के मध्य समाहित है। वार्तिकम् में इसका स्पष्ट उल्लेख भी है। "ईश्वरप्रणिधानरूपो भक्तियोगोऽप्यत्र क्रियायोगमध्य एव प्रवेशितः" तप एवं स्वाध्याय का कौन-से योग में समावेश होता है इसका उल्लेख वार्तिक में प्राप्त नहीं है किन्तु विमर्श करने से प्रतीत होता है कि तप कर्मयोगरूप एवं स्वाध्याय ज्ञानयोगरूप है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान को क्रियायोग स्वीकार करने से कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं भक्तियोग इन तीनों का अन्तर्भाव एक क्रियायोग में किया जा सकता है।

11.4.1 तपः क्रियायोग

विषयसुख का त्याग अर्थात् कष्ट सहन के साथ जिन कर्मों से सुख होता है उन कर्मों के निरोध की चेष्टा करना तप है। भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, स्थान-आसन आदि द्वन्द्वों को जीतना तप है। 'तपो द्वन्द्वसहनम्।' इन द्वन्द्वों को जीतने के लिए विभिन्न प्रकार के व्रतों का उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार अश्व-विद्या में कुशल सारथि चञ्चल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियां और मन को उचित रीति से वश में करना भी तप कहलाता है। जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातु का मल क्षय हो जाने से उसमें स्वच्छता और चमक आ जाती है, इसी प्रकार तप की अग्नि में शरीर, इन्द्रियों आदि के तमोगुणी आवरण के नाश हो जाने पर उनका सत्वरूपी प्रकाश बढ़ जाता है। कहा भी गया है—'कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तापसः। अर्थात् तपस्या से शरीर और इन्द्रियां सध जाती है।

11.4.2 तप के प्रकार

तप को तीन प्रकार का कहा गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शरीर तप

आसन, प्राणायाम और सात्त्विक आहार विहार आदि को शरीर तप कहा जाता है। वार्तिक में देव, ब्राह्मण, गुरु एवं प्राज्ञ की पूजा, शौच (बाह्य, आंतरिक पवित्रता), आर्जव (सरलता), ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा को शरीर तप कहा गया है।

"देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते॥"

इसी प्रकार के अन्य कार्य जो शरीर से सम्बन्धित हैं उनको शारीरिक तप कहा जा सकता है।

वाचिक तप

वाणी पर संयम रखना वाचिक तप है। सत्य, प्रिय, आवश्यकतानुसार दूसरों का यथायोग्य सम्मान करते हुए बोलना भी वाचिक तप के अन्तर्गत आता है। जो क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि कारणों से भी वचन का अन्यथा प्रयोग नहीं करता। हित, मित (कम), संतुलित भाषा का प्रयोग करता है वह वाचिक तप का प्रयोक्ता कहलाता है।

मानसिक तप

हिंसात्मक, क्लिष्ट भावनाओं तथा अपवित्र विचारों से मन को हटाना, मानसिक तप है। अष्टांग योग का एक भेद प्रत्याहार—मानसिक तप का ही भेद है। प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना। इसमें इन्द्रियां अपने बहिर्मुख विषय से पीछे हटकर अन्तर्मुख हो जाती है। साधना के क्षेत्र में प्रत्याहार का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

गीता में सात्त्विक, राजस एवं तामस के भेद से भी तप को तीन प्रकार का कहा है—

1. **सात्त्विक**—फल की इच्छा न करने वाले निष्काम पुरुषों के द्वारा परम श्रद्धा से जो शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक इन तीन प्रकार के तप का अनुष्ठान किया जाता है उसे सात्त्विक तप कहते हैं।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः।
अफलकांक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते॥ 17/17

2. **राजस**—सत्कार, सम्मान एवं पूजा के लिए दम्भपूर्वक (अहंकारपूर्वक) जो तप किया जाता है उसे राजस तप कहते हैं। वह तप चल एवं अनित्य होता है। रजोगुण होने के कारण स्थिर व स्थायी नहीं होता।

सत्कारमानपूजार्थं तपोदम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्॥ 17/18

3. **तामस**—मूढ़तापूर्वक मन, वाणी और शरीर को पीड़ा देकर अथवा दूसरों का अनिष्ट करने के लिए जो तप किया जाता है वह तामस तप है।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥

राजस एवं तामस तप योग सिद्धि में बाधक हैं सात्त्विक तप का ही अन्तर्भाव क्रियायोग में हो सकता है।

11.4.3 तप की उपादेयता

योगसिद्धि के लिए तप की अनिवार्य अपेक्षा है। अतपस्वी के योग की सिद्धि नहीं होती। "नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति।" अनादिकालीन कर्म और क्लेश की वासना से विचित्र तथा विषय-जाल युक्त जो अशुद्धि है वह तपस्या के बिना नष्ट नहीं हो सकती अतएव तप का सर्वप्रथम ग्रहण किया गया है। तपस्या के द्वारा चंचल चित्त समाहित होने लगता है।

11.4.4 तपस्या करने में विवेक

एक प्रश्न उपस्थित किया गया कि स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान तो तत्त्वज्ञान एवं ईश्वर के अनुग्रह के कारण होने से योग के उपकारक हो सकते हैं किन्तु तप के द्वारा शरीर एवं इन्द्रिय का शोषण होता है वह योग के लिए उपकारी कैसे हो सकता है? तप के द्वारा चित्त में क्षोभ भी पैदा हो जाता है अतः वह समाधि का बाधक बन जाता है समाधि का साधक नहीं बनता। इस समस्या के समाधान में कहा गया कि तप विवेकपूर्वक ही करणीय है। व्यास भाष्य में कहा गया कि जो तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु तथा योगसाधना में विघ्न पैदा करने वाला नहीं हो वही तप योगियों द्वारा आचरणीय है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते।"

व्याधि, शरीर की पीड़ा, चित्त की अप्रसन्नता ये योग के विघ्न हैं। यदि तप से योग के ये विघ्न पैदा होते हैं तो वह अकरणीय है। जैन परम्परा ने भी आभ्यन्तर तप के उपबृंहण (पोषण या वृद्धि) के रूप में बाह्य तप को स्वीकार किया है। उपवास आदि करने से यदि ध्यान, स्वाध्याय आदि में बाधा उपस्थित होती हो तो वैसा बाह्य तप अकरणीय है। आभ्यन्तर तप यानि ध्यान, स्वाध्याय तथा बाह्य तप का तात्पर्य है उपवास आदि।

गीता में भी कहा गया कि अत्यधिक खाने वाले अथवा सर्वथा न खाने वाले, अधिक जागने वाले अथवा अधिक सोने वाले के योग नहीं हो सकता।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥

जो आहार-विहार, शयन-जागरण तथा अन्य कार्यों में नियमित है उसका योग दुःख का नाशक होता है। तप को शरीर क्रियायोग भी कहा जाता है।

11.4.5 तपस्या का फल

तप के द्वारा आवरण का क्षय हो जाने से कायसिद्धि एवं इन्द्रियसिद्धि होती है। अर्थात् इंद्रियों की चंचलता समाप्त हो जाती है। तप अशुद्धिजनित आवरणमल को नष्ट कर देता है। उस आवरण के हट जाने पर अणिमा आदि कायसिद्धियां एवं दूरश्रवण आदि इन्द्रियसिद्धियां उत्पन्न होती है। अर्थात् शरीर को छोटा, बड़ा, हल्का, भारी बनाने की शक्ति या सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है तथा दूर तक सुनने, देखने आदि की क्षमता प्राप्त होती है। प्राणायाम आदि तपस्या द्वारा शरीर की अशुद्धि दूर हो जाती है। शरीर की अशुद्धि दूर होने से तज्जनित आवरण भी दूर होता है। उस समय शरीर निरपेक्ष चित्त अबाधित इच्छाशक्ति के प्रभाव से कायसिद्धि तथा इन्द्रियसिद्धि की प्राप्ति कर सकता है। यद्यपि तपस्या को योगी लोग सिद्धि की तरफ प्रयुक्त नहीं करते हैं उनका परमार्थ ही एकमात्र लक्ष्य होता है किन्तु प्रासंगिकरूप से ये सिद्धियां भी उन्हें प्राप्त हो जाती हैं। समाधि के लिए तपस्या का महत्त्वपूर्ण स्थान है यह निर्विवाद तथ्य है।

11.5 स्वाध्याय क्रियायोग

प्रणव (ओम्) आदि पवित्र मंत्रों का जप अथवा मोक्ष शास्त्र के अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है।

"स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः, मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।"

स्वाध्याय भी योग का साधन है। परमेश्वर के नामों का उच्चारण तथा उपनिषद् आदि शास्त्रों का वाचन वृत्तिनिरोधरूप योग में साधन बनता है। स्वाध्याय के द्वारा साधक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। समाधि के लिए, परमात्मा की प्राप्ति के लिए ध्यान एवं स्वाध्याय का आलम्बन लेना चाहिये। ध्यान एवं स्वाध्याय की सम्पत्ति से परमात्मा प्रकाशित हो जाता है। कहा भी है—

स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यस्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्यायध्यानसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

जप और शास्त्रों का अध्ययन—ये स्वाध्याय के दो प्रकार हैं। परमेश्वर की प्राप्ति के लिए उसका जप किया जाता है। योगदर्शन में प्रणव अर्थात् ओम् को ईश्वर का वाचक कहा गया है "तस्यवाचकः प्रणवः।" ईश्वर वाच्य एवं प्रणव वाचक है। जप के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है और अन्ततोगत्वा इसके माध्यम से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है।

11.5.1 स्वाध्याय का फल

स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ मिलन होता है। 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' देव, ऋषि तथा सिद्धगण स्वाध्यायशील योगी को प्रत्यक्ष होते रहते हैं और उनके द्वारा योगी का कार्य भी सिद्ध होता है।

साधारण अवस्था में जप करने के समय मन उसके अर्थ पर चिन्तन नहीं करता है। जपकर्त्ता के शाब्दिक उच्चारण चलता रहता है और उसका मन दूसरे-दूसरे विषयों एवं विचारों में भटकता रहता है। ऐसी स्थिति में स्वाध्याय का वाञ्छित लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। इष्ट के साथ तन्मय एवं तादात्म्य (उसी रूप में अनुभव करना) होने से ही इष्ट की प्राप्ति संभव है। स्वाध्याय में स्थिरता होने पर लंबे समय तक मंत्र तथा मन्त्रार्थ भावना अविच्छिन्न रहती है। ऐसी प्रबल इच्छा के साथ देव आदि की भावना करने से वे दर्शन देंगे ही, यह असंदिग्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

11.6 ईश्वरप्रणिधान क्रियायोग

सम्पूर्ण कर्मों का परमगुरु ईश्वर में अर्पण अथवा कर्मफलाकांक्षा (कर्म के फल या परिणाम की इच्छा करना) का त्याग ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। "ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा" पातञ्जल योगसूत्र के 1/23 सूत्र में भी समाधि लाभ के लिए ईश्वर प्रणिधान का निर्देश दिया गया है। उस सूत्र में प्रणिधान का अर्थ 'भक्ति विशेष' किया है 'प्रणिधानाद् भक्तिविशेषाद्।' अर्थात् ईश्वर के प्रति विशेष भक्ति रखने से समाधि की प्राप्ति हो जाती है। सारे संदर्भों में आगत प्रणिधान शब्द पर विमर्श करने पर ईश्वर प्रणिधान के तीन अर्थ हो जाते हैं—1. ईश्वर के प्रति विशेष भक्ति, 2. सम्पूर्ण कायिक, वाचिक, मानसिक क्रिया को परमात्मा में अर्पण कर देना, 3. कर्मफल की आकांक्षा का त्याग।

क्रियायोग के संदर्भ में दो एवं तीन नम्बर के अर्थों का उल्लेख ईश्वर प्रणिधान अर्थ में हुआ है। सम्पूर्ण क्रिया का ईश्वर में अर्पण अर्थात् लौकिक, वैदिक एवं साधारण सभी क्रियाओं का अन्तर्यामी ईश्वर में अर्पण कर देना ईश्वर-प्रणिधान है क्योंकि जब तक किसी क्रिया के प्रति व्यक्ति का कर्त्ताभाव बना रहता है तो उसके अहंकार का त्याग नहीं हो सकता। 'मैं करता हूँ' ऐसा मानसिक सम्प्रत्यय (भाव) बना रहता है और जब तक कर्त्ताभाव का विसर्जन नहीं होता तब तक साधना की सर्वोच्च अवस्था प्राप्त नहीं हो सकती। जब साधक के मन में यह भाव पैदा होता है कि सब कुछ करवाने वाला परमेश्वर है, मैं तो निमित्त मात्र हूँ तब वह सब कुछ ईश्वर को समर्पित कर देता है। गीता में कहा भी है—

"कामतोऽकामतो वापि यत् करोमि शुभाशुभम्।
तत्सर्वं त्वयिसंन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥"

फलेच्छा से या निष्काम भाव से जो शुभाशुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूँ, वह सब आप में (ईश्वर) समर्पित करता हूँ क्योंकि ये सारे कार्य मैं आपके (ईश्वर) द्वारा प्रेरित होकर ही करता हूँ।

अर्जुन को उपदेश देते समय श्रीकृष्ण भी समर्पण की बात कहते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपश्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥

अर्जुन! तुम जो भी कार्य करो, भक्षण करो, यज्ञ करो, दान करो या तप करो वह सब मुझको अर्पण कर दो। जब सर्वस्व ईश्वरार्पण होगा तब व्यक्ति चिन्ता के भार से मुक्त हो जायेगा और निश्चिन्त व्यक्ति को ही समाधि लाभ सहजता से प्राप्त होता है।

11.6.1 कर्मफलसंन्यास

ईश्वर प्रणिधान का एक अर्थ है व्यक्ति कर्म करे किन्तु कर्मफल प्राप्ति की इच्छा न करे। उसे यह चिन्तन करना चाहिये कि कर्म करने में मैं स्वतंत्र हूं, किन्तु उसके फल की कामना मुझे नहीं करना है। कार्य करना मेरे अधीन है किन्तु उसकी फल प्राप्ति मेरे अधीन नहीं है। मुझे कर्त्तव्यभाव से कर्म करते रहना है जो साधक इस प्रकार अपने करणीय कार्य में निरत रहता है वह कभी तनाव का वेदन नहीं करता। असमाधिस्थ नहीं बनता। समाधि की प्राप्ति उसके लिए सुलभ हो जाती है। गीता में कहा गया—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्माते सङ्ग.ोस्त्वकर्मणि ॥

अनासक्त भाव से कार्य का सम्पादन करता हुआ साधक अपने जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। कर्मफल संन्यास का तात्पर्य भी यही है कि व्यक्ति यह चिन्तन करता रहे कि कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है, मेरे अधिकार में है इस कार्य का फल भोगने वाला तो ईश्वर ही है। वार्तिक में कहा भी है कि—'कर्मफलानामीश्वरो भोक्तेतिचिंतनं कर्मफलसंन्यासः।' कर्मफलसंन्यास का सिद्धान्त साधना के क्षेत्र में आगे बढ़ने का महत्त्वपूर्ण सूत्र है। यदि यथार्थ रूप में इस सूत्र का जीवन में अवतरण हो जाता है तो साधक अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

11.6.2 ईश्वर-प्रणिधान का फल

ईश्वर-प्रणिधान यथानियम आचरित होने पर उसके द्वारा समाधिसिद्धि सुखपूर्वक होती है।

"समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ईश्वर-प्रणिधान समाधि का साक्षात् सहायक होता है क्योंकि वह समाधि के अनुकूल भावना स्वरूप है। वह भावना प्रगाढ़ होकर शरीर को निश्चल और इन्द्रियों को विषय से विरत करती है और धारणा तथा ध्यान के रूप में परिपक्व होकर अन्त में समाधि में परिणत हो जाती है। ईश्वर के प्रति सर्वामना समर्पित योगी को समाधिसिद्धि हो जाती है। उस समाधिसिद्धि से योगी देहान्तर, देशान्तर एवं कालान्तर में होने वाले सभी अभीष्ट विषयों को यथार्थ रूप से जान सकते हैं तथा इसके द्वारा योगी की प्रज्ञा यथाभूत-विषय को जानती है; अर्थात् वस्तु है उसी रूप में वस्तु का ज्ञान करता है, जानता है।

11.7 ईश्वर का स्वरूप

भारतीय दर्शनों में 'ईश्वर' की अवधारणा है किन्तु ईश्वर के स्वरूप के बारे में विभिन्नता है। न्याय-वैशेषिक दर्शन जगत् के कर्त्ता के रूप में ईश्वर को स्वीकार करता है। जगत् का निर्माण आत्मा और परमाणु से होता है। ये दो तत्त्व जगत् के उपादान (मूल) कारण हैं। ईश्वर जगत् का निमित्त कारण है। जैसे मिट्टी के घड़े के निर्माण में मिट्टी उपादान कारण है, कुंभकार निमित्त कारण है। वेदान्त में एक ही सत्य है चैतन्य। जब चैतन्य माया से प्रभावित होता है तो व्यष्टि यानि व्यक्ति स्तर पर जीव और समष्टि यानि विश्व स्तर पर ईश्वर कहलाता है। जैनदर्शन विशुद्ध आत्मा को ईश्वर अथवा परमात्मा के रूप में स्वीकार करता है। जैन के अनुसार ईश्वर जगत् का कर्त्ता नहीं है। कर्मबद्ध आत्मा अपने प्रयत्न से कर्मों का नाश कर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेती है वही परमात्म स्वरूप है। योगदर्शन ने भी ईश्वर को स्वीकार किया है किन्तु वह भी ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानता, वह साधक का उच्च आदर्श है। योग के अनुसार ईश्वर अनादि काल से मुक्त है। वह संसार में कभी भी लिप्त हुआ ही नहीं था। ईश्वर को परिभाषित करते हुए योगदर्शन में कहा गया—'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।' क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से अस्पृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर कहलाता है। अविद्या आदि पांच क्लेश (दुःख देने वाले) हैं, उन क्लेशों से उत्पन्न शुभाशुभ कर्म हैं। पुण्य तथा पाप कर्म के कारण जो सुख या दुःख रूप परिणाम प्राप्त होता है उसे विपाक कहते हैं। जो कर्म अभी तक पककर जाति, आयु और भोग रूप में फल नहीं दे पाये हैं उन कर्मों के संस्कार जो चित्त से जुड़े हुए हैं उसे आशय कहा जाता है। इन क्लेश, कर्म, विपाक एवं आशय से असम्बद्ध पुरुष विशेष ही ईश्वर है, जो उपासक का उपास्य है—स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः—वह पुरुष विशेष सदैव मुक्त है एवं सदैव ही ईश्वररूप में स्थित है। जिसमें ऐश्वर्य परम प्रकर्ष को प्राप्त हो जाता है वही पुरुष ईश्वर है। ईश्वर सर्वज्ञ होता है। "स सर्वज्ञः सर्ववित्।" जो ज्ञान पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है उसे निरतिशय ज्ञान कहते हैं। अर्थात् जिसके बराबर या अधिक ज्ञान न हो। "तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।" ईश्वर भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों कालों में स्थित वस्तु जगत् को युगपत् (एक साथ) जानता है।

11.7.1 ईश्वर का वाचक

प्रणव ईश्वर का वाचक है—तस्य वाचकः प्रणवः। उस ईश्वर का वाचक यानि बोधक शब्द है प्रणव यानि ओम्। ईश्वर एवं प्रणव में वाच्य-वाचक, प्रतिपाद्य-प्रतिपादक भाव का सम्बन्ध है। जिस अर्थ का बोधक जो शब्द होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है और जिस वाचक शब्द से जो बोध्य अर्थ होता है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य कहलाता है। प्रणव शब्द से ईश्वर का बोध होता है अतः प्रणव वाचक है ईश्वर वाच्य है।

ओम् शब्द का जप और उसके वाच्य ईश्वर का पुनः-पुनः चिन्तन करना ध्यान करना ईश्वर का प्रणिधान है। "तज्जपस्तदर्थभावनम्" चित्त को सब ओर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में स्थिर कर देने का नाम भावना है। ईश्वर में ही तदाकार हो जाना है। यह भावना बार-बार के अभ्यास से इतनी दृढ़ हो जाये कि प्रणव का उच्चारण करते ही ईश्वर का साक्षात् होने लगे। जब साधक अभ्यास से इस स्थिति का निर्माण कर लेता है तब वह शीघ्र ही इस ईश्वर प्रणिधानरूप क्रियायोग से असंप्रज्ञात समाधि को प्राप्त कर लेता है।

11.8 क्रियायोग का प्रयोजन

समाधि को उत्पन्न करने के लिए एवं क्लेशों को प्रक्षीण करने के लिए क्रियायोग का अनुष्ठान किया जाता है।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

समाधि को पैदा करना एवं क्लेशों को क्षीण करना ही क्रियायोग का प्रयोजन है। सम्यक्रूप से किया गया क्रियायोग, समाधि अवस्था को उत्पन्न करता है और अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेष एवं अभिनिवेश रूप सब क्लेशों को प्रकृष्टरूप से क्षीण करता है। क्षीण किये गये क्लेशों को भेद ज्ञान रूप अग्नि के द्वारा दग्ध कर दग्धबीज के समान शक्तिहीन कर देता है। उसमें उत्पादक क्षमता नहीं रहती, क्लेश पैदा नहीं होते।

क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है। अशुद्धि राजस (चञ्चलता) और तामस (जड़ता) रूप है अतः अशुद्धि के क्षय होने से चित्त समाधि के अभिमुख होता है। अशुद्धि ही क्लेश की प्रबल अवस्था है अतः अशुद्धि के क्षीण होने से क्लेश भी क्षीण हो जाते हैं। दग्धबीज जैसे अंकुरित नहीं होता वैसे ही क्लेश दुबारा चित्त में नहीं उठते हैं।

मैं शरीर नहीं हूँ, ऐसे ज्ञान का हेतु समाधि है तथा क्लेश की क्षीणता उस ज्ञान की सहायिका है। समाधि और क्लेशक्षीणता का हेतु क्रियायोग है। तपस्या से शरीर इन्द्रिय की स्थिरता, स्वाध्याय से साक्षात्कार करने की उत्सुकता एवं ईश्वर-प्रणिधान द्वारा चित्त स्थिरता साधित होने पर समाधि उद्भूत होती है और प्रबल क्लेश क्षीण होते हैं, यही क्रियायोग का प्रयोजन है।

साधना के क्षेत्र में क्रियायोग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। समाधिस्थ/संयमित चित्त वाले साधकों के लिए क्रियायोग का प्रयोजन नहीं है ऐसा योगसूत्र का मन्तव्य है किन्तु ऐसे साधक न्यून ही होते हैं अधिकांशतः चंचल चित्त वाले ही क्रियायोग के द्वारा समाहित (संयमित) चित्त की भूमिका पर आरुढ़ होकर समाधि को प्राप्त करते हैं।

11.9 सारांश—अतः क्रियायोग बहुजनहिताय साधना का प्रयोग है। इस क्रियायोग की सम्यक् अनुपालना से साधक साधना के अभिनव सोपानों का आरोहण करने में समर्थ हो जाता है और अन्ततोगत्वा समाधि की उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

11.10 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. क्रियायोग को परिभाषित करते हुये ईश्वर प्रणिधान रूप क्रियायोग को स्पष्ट करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. तप के प्रकारों का वर्णन करें।
2. क्रियायोग का प्रयोजन क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. समाधि और क्लेशक्षीणता का हेतु .... है।
2. ईश्वर प्रणिधान द्वारा .... सिद्धि होती है।
3. निरूद्ध अवस्था में .... वृत्ति का निरोध हो जाता है।
4. चित्त के तरंग रूप परिणाम को .... कहते हैं।
5. चित्त की तीसरी अवस्था का नाम .... है।
6. क्रियायोग के कितने अंग हैं—
   अ. चार ब. दो स. पांच द. तीन
7. चित्त कितने प्रकार का होता है—
   अ. एक ब. पांच स. तीन द. आठ
8. समाधि प्राप्ति के साधन हैं—
   अ. तपस्या और स्वाध्याय ब. तपस्या और ईश्वरप्रणिधान
   स. अभ्यास और वैराग्य द. वैराग्य और ध्यान
9. देव, ब्राह्मण एवं गुरुपूजा को .... तप कहा जाता है।
10. वाणी पर संयम करना .... तप है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–12 : अष्टांग योग

संरचना

12.0 प्रस्तावना

12.1 उद्देश्य

12.2 अष्टांग योग

- 12.2.1 यम
- 12.2.2 नियम
- 12.2.3 आसन
- 12.2.4 प्राणायम
- 12.2.5 प्रत्याहार
- 12.2.6 धारणा
- 12.2.7 ध्यान
- 12.2.8 समाधि

12.3 सारांश

12.4 अभ्यास प्रश्नावली

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.0 प्रश्नावली

'योग' शब्द संस्कृत की 'युज्' धातु से निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ होता है—बांधना, जोड़ना, उपयोग में लाना या नियुक्त करना। इसका लाक्षणिक अर्थ सम्मिलन या समागम भी हो सकता है। इस निबंध में हम जिस संदर्भ में योग की चर्चा करने जा रहे हैं उसमें इसका मुख्य अर्थ है, "मन, वचन, और काया की शक्तियों को अभीष्ट के साधन में लगाना," बुद्धि, मन एवं आवेगों को संयमित कर ऐसा आध्यात्मिक संतुलन प्राप्त करना जिससे व्यक्ति का चैतन्य विविध परिस्थितियों में 'समभाव' में उपस्थित रहे। पारम्परिक भारतीय विचारधारा में समस्त दृश्य जगत् का कारण परमात्मा है और जीवात्मा उसी का एक अंश है। इस संदर्भ में योग उस पद्धति को कहा गया है जिसके द्वारा जीवात्मा का परमात्मा से सम्मिलन या समागम हो जाय तथा सांसारिक आवागमन का बंधन टूट जाय।

जो योग-मार्ग का अनुसरण करता है उसे योगी कहते हैं। भगवद्गीता के छठे अध्याय में योग-मार्ग उसे कहा गया जो राग-द्वेष जनित दुःख से मुक्ति की ओर ले जाय। "जिसके मन, बुद्धि और अहंकार संयमित होकर आत्मा में ही उपस्थित हो जाते हैं, विषयों के प्रति जिसकी आसक्ति छूट जाती है, उस व्यक्ति को 'मुक्त' अथवा योगावस्था को प्राप्त कहा जाता है। जैसे निर्वात स्थान में दीपक की लौ कंपित नहीं होती है, उसी तरह मन, बुद्धि और अहंकार को नियंत्रित कर आत्मा में स्थित योगी राग-द्वेष जनित आवेगों से प्रभावित नहीं होता। चित्त प्रसन्न हो जाता है। यह आत्यन्तिक और अतीन्द्रिय सुख की अवस्था है। इसमें चित्त निश्चल हो जाता है। इसके प्राप्त होने पर अन्य सारी प्राप्तियां न्यून प्रतीत होती है। इस अवस्था में तीक्ष्ण दुःख से भी चित्त विचलित नहीं होता। इसी को सारे दुःखों के संयोग से मुक्त करने वाला योग कहा गया है। ऐसे इस योग का अभ्यास करना चाहिए।" (भगवद्गीता अ. 6/18-23)

योग की पात्रता के बारे में भगवद्गीता में कहा गया है कि न बहुत खाने वाले को योग हो सकता है और न एकांत निराहारी को, न बहुत सोने वाले को और न सदा जागृत रहने वाले को ही। यह योग उसके लिए सुलभ है जो आहार-विहार में और अन्य कर्मों में संयमित है, जो निद्रा और जागृति में तालमेल बनाए रखता है। (भगवद्गीता अ. 6/16, 17)

योगसूत्र के प्रथम पाद के दूसरे सूत्र में पतंजलि ने योग को 'चित्तवृत्ति का निरोध' कहा है। इसका तात्पर्य है चित्त के पर्यायों या अवस्थान्तरों का नियंत्रण या नियमन करना योग है। चित्त में मन, बुद्धि और अहंकार समाविष्ट रहते हैं। मन, इन्द्रियों को विषयों में प्रवृत्त करता है, बुद्धि उचित-अनुचित का निर्णय करती है, अहंकार 'मैं कर्त्ता हूं, मैं भोक्ता हूं' ऐसा भाव उत्पन्न करता है।

'वृत्ति' शब्द संस्कृत की वृत् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ होता है—घूमना, पलटना, चक्कर काटना, आगे बढ़ना, घटित होना आदि। तद्नुसार 'वृत्ति' का अर्थ परिणमन या अवस्थान्तरण (एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना) बहाव या प्रवाह हो सकता है।

12.1 उद्देश्य–योग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा चित्त के प्रवाह को नियंत्रित किया जाता है और उससे उत्पन्न ऊर्जा को अभीष्ट दिशा में लगाया जाता है।

12.2 अष्टाङ्ग.योग

योग सिद्ध करने के उपाय के रूप में पतंजलि ने योग के आठ अंग या आठ सीढ़ियां बतायी हैं, ये हैं योग के आठ अंग—"यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि" (पा.सू. 2/21) अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम और नियम राग-द्वेष से पैदा होने वाले उद्वेगों को संयमित करते हैं और योगी को कल्याणकारी सामाजिक जीवन में प्रतिष्ठित करते हैं। आसन से उसका शरीर स्वस्थ और सुदृढ़ होता है जिससे वह प्रकृति के साथ कदम मिलाकर चल सकता है। इससे शरीर के प्रति ममत्व क्रमशः घटता जाता है और योगी इसे आत्मा का आधार मात्र मानने लगता है। ये प्रारम्भिक तीन सीढ़ियाँ 'बहिरंग साधना' कहलाती है।

अगली दो सीढ़ियों—प्राणायाम और प्रत्याहार के द्वारा योगी श्वास-प्रश्वास का संयम करता है और इन्द्रियों को उनके विषयों से दूर करता है। इनसे उसका मन वश में हो जाता है। इन दोनों को अंतरंग साधना कहते हैं। धारणा, ध्यान और समाधि योगी को आत्मा की गहराई में ले जाते हैं। योगी परमात्मा को प्राप्त करने के लिए आकाश की ओर नहीं देखता। वह जानता है कि परमात्मा अंतरात्मा के रूप में उसके भीतर विराजमान है। ये अंतिम तीन सीढ़ियां आत्मा और परमात्मा में सम्बन्ध स्थापित करती है। इसलिए इन्हें 'अंतरात्मा साधन' या अंतरंग साधन कहते हैं। समाधि में ज्ञाता (जानने वाला) ज्ञान और ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थ) एकाकार हो जाते हैं, द्रष्टा (देखने वाला), दर्शन (देखना) और दृष्ट (देखने योग्य पदार्थ) का भेद मिट जाता है। मानों गायक, गीत और साज सब मिलकर एक हो गये।

12.2.1 यम

यम योग का प्रथम सोपान है। इसका अर्थ है संयम या नियंत्रण। योगसूत्र के अनुसार 'अहिंसा सत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः' (पा.सू. 2/30) अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी नहीं करना, दूसरे की कोई भी वस्तु बिना पूछे नहीं लेना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का आचरण यम है। इस प्रकार के आचरण से व्यक्ति और समाज का कल्याण होता है, सामाजिक जीवन में सुख-शांति रहती है। इसके विपरीत हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार और परिग्रह की वृत्ति, ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, मोह आदि दुर्भावनाओं से उद्भूत होती है। अहिंसादि के आचरण से ये दुर्भावनाएं क्रमशः क्षीण होती हैं और साधक का मन स्वच्छ से स्वच्छतर होता जाता है और उसकी इन्द्रियां वश में हो जाती है। ये पांचों यम जैनधर्म में गृहस्थों के लिए अणुव्रत के रूप में (छोटे पैमाने पर या सीमित रूप में) और साधुओं के लिए महाव्रत के रूप में विहित किए गए हैं। पतंजलि भी इनके दो स्तर करते हैं। पहले स्तर पर ये जाति, देश काल और समय (शर्त या पाबंदी) से बाधित लघु रूप में ग्रहण किए जाते हैं। दूसरे स्तर पर ये सार्वभौम या बृहद् (पूर्ण) रूप में ग्रहण किए जाते हैं उसमें कोई छूट या अपवाद नहीं रहता।

(क) अहिंसा

अहिंसा का शाब्दिक अर्थ हिंसा का वर्जन होता है, अर्थात् किसी प्राणी को नहीं मारना या किसी प्रकार से नहीं सताना। परन्तु इसकी परिणति विश्वप्रेम या समस्त जगत् के प्रति मैत्रीभाव में होती है। यदि कोई व्यक्ति अपनी शारीरिक क्रिया द्वारा किसी जीव का वध नहीं करता, परन्तु उसके मन में वैरभाव रहता है, ईर्ष्या और द्वेष रहते हैं तो वह अहिंसक नहीं हो सकता। अतएव अहिंसा के आचरण के लिए वैरभाव का सर्वथा त्याग और मैत्री भाव का अभ्यास आवश्यक है। कहा गया है—अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः (पा.सू. 2/35)

व्यक्ति हिंसा क्यों करता है? मांसाहारी भोजन के लिए जीवों का वध करते या कराते हैं; भय के कारण भी जीव हिंसा की जाती है। जैसे सांप से भय है, इसलिए लोग उसे मार देते हैं। अपने अधिकार की रक्षा के लिए भी हिंसा होती है। किसी के स्वाभिमान पर चोट लगती है तो वह प्रतिशोध की भावना से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हिंसा पर उतारू हो जाता है। आजीविका हेतु प्रतिदिन कार्य के प्रसंग में भी हिंसा हो सकती है। इस तरह हिंसा के कई प्रकार हो सकते हैं। इन सभी में सर्वाधिक निन्दित वह है जो राग-द्वेषवश संकल्पपूर्वक की जाती है, इसका सर्वथा वर्जन किया जाना चाहिए। हिंसा के विविध प्रकारों को देखते हुए पतंजलि ने अहिंसा के आचरण के दो विभाग किये हैं—सामान्य या ईषत् और दूसरा महत्। सामान्य स्तर पर जहां अहिंसा का आचरण जाति, देश, काल और समय (शर्त या पाबंदी) की सीमा में होगा वहां महत् स्तर पर यह सार्वभौम होगा। जैन आचार में इन्हें ही क्रमशः अणु (छोटा) व्रत और महाव्रत कहा गया है। योगी को सार्वभौम अहिंसा का आचरण करना है। मनुष्य के लिए मांसाहार उपयुक्त नहीं है। अतएव योगी के लिए आहार हेतु हिंसा करने या कराने का प्रश्न ही नहीं उठता। भय, लोभ या क्रोध के कारण योगी से हिंसा हो नहीं सकती क्योंकि इन भावों को पूर्णरूप से समाप्त कर और अपने हृदय में असीम मैत्रीभाव लाकर ही वह योगारूढ़ (योग की ओर प्रवृत्त) होता है। उसके लिए कोई शत्रु है ही नहीं। यदि कोई उसके प्रति शत्रुता का बर्ताव भी करे तो भी उसकी शिकायत उस व्यक्ति के प्रति नहीं, वरन् उसकी कलुषित बुद्धि के प्रति होगी और वह कलुषित भाव को भूलकर उसके प्रति अपने मैत्रीभाव का निर्वाह करना चाहेगा। यह कार्य कठिन तो है परन्तु प्रयास से सफलता प्राप्त हो सकती है। आधुनिक युग में भी गांधी ने इसे सिद्ध कर दिखा दिया।

(ख) सत्य

सदाचार में सत्य का स्थान सर्वोपरि है। महात्मा गांधी ने कहा—'सत्य ईश्वर है और ईश्वर सत्य है।' मन-वचन और काया की क्रियाओं में सत्य का आचरण करने वाला परमात्मा के निकट पहुंच जाता है। कबीर ने कहा—"साईं से साँचा रही, साईं साँच सुहाय। साँचे को साँचा मिलै साँचे माहि समाय।" सत्य को साधने का मार्ग है अहिंसा या प्रेम। सत्य केवल यथार्थ कथन तक सीमित नहीं है; किसी को अश्लील बातें कहना, धोखाधड़ी का बर्ताव करना, निंदा और चुगली करना या उपहास करना भी सत्य का अवरोधक है। सम्राट् अशोक ने अपने एक अभिलेख में कहा है कि सभी सम्प्रदायों का परस्पर मिलकर रहना अच्छा है (समवायो एव साधु)। फिर आगे कहते हैं—उसका मूल है वचन का संरक्षण (तस्स मूलं वचो गुत्ति)। तत्परतापूर्वक वाणी का संरक्षण करना ही सत्य की साधना है। अतः कहा गया है—'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' (पा.सू. 2/36) जो व्यक्ति हमेशा सत्य बोलता है वह जैसा कहता है वैसा ही फल प्राप्त हो जाता है। सत्यवादी किसी को कह दे कि 'सुखी हो जा' तो वह सुखी हो जाता है। उसका वचन मिथ्या नहीं जाता।

(ग) अस्तेय (चोरी न करना)

भोग और परिग्रह की होड़ व्यक्ति को कदाचार की ओर ले जाती है। इसी से चोरी करने या दूसरों के पदार्थ को किसी अन्य रीति से अपना लेने की प्रवृत्ति होती है। जो भी अर्जन अन्याय या कदाचार से किया जाता है वह स्तेय या चोरी है। कदाचार या अन्याय से परिग्रह करने वाला व्यक्ति जिस समाज में रहता है वह उस समाज के प्रति अन्याय करता है। योगी अपनी आवश्यकताओं को न्यूनतम कर लेता है। भोग और परिग्रह की इच्छा और स्पर्धा का कहीं कोई अंत नहीं है—'इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया' अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनंत है असीमित है। दूसरी ओर जहां इच्छा समाप्त हो जाती है उस व्यक्ति को परमसुख और शांति मिलती है—'चाह गई, चिन्ता मिटी मनुआँ बेपरवाह।' जाको कुछ नहीं चाहिये वो ही साहंसाह ॥ (कबीरदास)। किन्तु जीवन बसर करने के लिए कुछ तो चाहिए ही। परन्तु उस कुछ की सीमा बांधने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सतर्क रहना चाहिए। यदि सीमा का वह उल्लंघन करने लगा तब फिर आकाश की अनन्तता में खो जायेगा। कबीर ने कहा—"साईं इतना दीजिये जामें कुटुम्ब समाय। मैं भी भूखा ना रहूँ, साधु न भूखा जाय।" परन्तु 'इतना' की सीमा बांधने के प्रति सावधान करते हुए उन्होंने कहा—"रूखा-सूखा खाई के ठंडा पानी पीव। देखि विरानी चूपड़ी मत ललचावे जीव॥" यह विरानी चूपड़ी (विरानी, यानि दूसरों के चूपड़ी यानि वैभव, समृद्धि) देखकर जी ललचाने की जो बात है वही परिग्रह की ओर ले जाती है और परिग्रह में प्रवृत्त होने पर कामना और स्पर्धावश उचित-अनुचित का विवेक चला जाता है और व्यक्ति ठगी, धोखाधड़ी, चोरी, अपहरण आदि में प्रवृत्त होता है। अतः अस्तेय का आचरण करने के लिए योगी इच्छा और स्पर्धा को समाप्त करता है। अतः अस्तेय की प्रतिष्ठा होने से सर्वरत्न उपस्थित होते हैं। पातंजल सूत्र में उल्लेख है—'अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।' (2/37)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(घ) ब्रह्मचर्य

पतंजलि के अनुसार मन, वचन और काया से मैथुन का वर्जन ब्रह्मचर्य है। जैनधर्म में भी ब्रह्मचर्य का यही अर्थ किया गया है। परन्तु महाव्रती जहां सर्वतोभावेन (पूर्णरूप से) मैथुन का वर्जन करेगा वहाँ गृही (गृहस्थ/सांसारिक व्यक्ति) के लिए मर्यादित मैथुन की स्वीकृति दी गई है। इस रूप में यह 'स्वदारसंतोष (अपनी पत्नी में संतोष करना, दूसरी स्त्रियों के साथ सहवास न करना) है अर्थात् गृही (गृहस्थ/सांसारिक व्यक्ति) के लिए ब्रह्मचर्य व्रत का अर्थ है परस्त्री का वर्जन। क्योंकि सांसारिक प्राणी पूर्ण रूप से संयमी नहीं होता है। वह पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करता है। वस्तुतः विवाह के बंधन का उद्देश्य है उच्छृंखल और बहुमुखी काम वासना को मर्यादित और एकनिष्ठ करना। ब्रह्मचर्य का अर्थ है अमैथुन, स्वाध्याय और आत्मसंयम का जीवन। अतएव स्वाध्याय एवं आत्मसंयम के बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता।

जैनधर्म में ब्रह्मचर्य का पांचवें व्रत के रूप में समावेश भगवान् महावीर ने किया। तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ने चातुर्याम (चार यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह) का उपदेश दिया था। विवेकी के लिए अपरिग्रह में ही ब्रह्मचर्य अंतर्गर्भित हो जाता था क्योंकि स्त्री एक परिग्रह ही नहीं अपितु सभी परिग्रहों की जड़ है।

(ड.) अपरिग्रह

अस्तेय और अपरिग्रह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहां अनुचित रूप से वस्तु का संग्रह चोरी है वहां अनावश्यक वस्तु का अर्जन और संग्रह परिग्रह है। यह भी एक प्रकार का चौर्य ही है क्योंकि जो वस्तु जरूरतमंद को काम आ सकती थी उसे परिग्रही अनावश्यक रूप से अपने पास रख लेता है। अतएव वह दोषी है। परिग्रही को अपने परिग्रह के प्रति मोह हो जाता है और जैसे-जैसे उसका परिग्रह बढ़ता जाता है, मोह भी गाढ़ से गाढ़तर होता जाता है। अनावश्यक परिग्रह नहीं करना और पूर्व के अनावश्यक परिग्रह को क्रमशः न्यून से न्यूनतम कर लेना ही अपरिग्रह है। अपरिग्रह के आचरण से मोह क्षीण से क्षीणतर होता है और क्रमशः साधक का शरीर के प्रति मोह भी क्षीण हो जाता है। वह ऐसा समझने लगता है कि उसका शरीर भी साधन मात्र है और जैसे उपकरणों का हस्तान्तरण होता है उसी तरह शरीर रूप उपकरण का स्वामी जीव भी एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में चला जाता है। यह क्रम उसके वर्तमान जीवन के पूर्व से चलता आ रहा था और आगे भी चलता रहेगा, तब तक जब तक प्रकृति का बंधन नहीं छूट जाता और उसकी अंतरात्मा का परमात्मा से साक्षात्कार नहीं हो जाता। पा.सू. के अनुसार—'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः (2/39) अर्थात् अपरिग्रह की स्थिरता से भूत, भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञान होता है। परिग्रह ही हिंसा का मूल कारण है। आवश्यकता की पूर्ति करना परिग्रह नहीं है। जहां आकांक्षा/इच्छा की पूर्ति के लिए संग्रह किया जाता है वह परिग्रह कहलाता है। वास्तव में आसक्ति/लोभ ही परिग्रह है।

12.2.2 नियम

जहां यम व्यक्ति के सामाजिक आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है वहां नियम उसके व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता को लक्ष्य करता है। पतंजलि ने पांच नियम बताए हैं—शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (पा.सू. 2/32)

(क) शौच

शौच का अर्थ है शुद्धि। इसके अंतर्गत शरीर, वस्त्र, आवास और भोजन की शुद्धि भी है। काय-शुद्धि के क्रम में योगी को इस बात की प्रतीति होती है कि काया स्वभावतः अपवित्र है—मूत्र (मल), श्लेष्मा (कफ), स्वेद (पसीना) आदि घृणित वस्तुओं का घर है। इससे योगी को काया के प्रति और काया के स्वाभाविक आवेगों (जैसे कामचेष्टा) आदि के प्रति जुगुप्सा (घृणा) का भाव जागता है। दूसरे व्यक्ति के शरीर के प्रति भी उसके ऐसा ही जुगुप्सा का भाव जग जाता है। इससे उसकी वृत्तियां शारीरिक धरातल से उठकर आध्यात्मिक धरातल पर चली जाती हैं। वह देखता है कि पशु प्रेम का भाव जताने के लिए परस्पर चाहते हैं, काटने का स्वांग करते हैं। प्रेम की ऐसी अभिव्यक्ति उसे घटिया और घिनौनी लगने लगती है और वह करुणा, मैत्री आदि के द्वारा प्रेम की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की ओर सहज ही प्रवृत्त हो जाता है। कहा गया है—'शौचात्स्वाङ्ग.जुगुप्सापरैरसंसर्गः। (पा.सू.2/40) शौच के अभ्यास से अपने शारीरिक अंगों के प्रति घृणा का भाव जगता है तथा दूसरों के संसर्ग से बच जाता है। संसर्ग नहीं करता। आत्मस्थ बनने का प्रयास करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पतंजलि कहते हैं कि शुचिता से सत्त्व शुद्धि (अंतरात्मा की शुद्धि) होती है, सौमनस्य होता है। सौमनस्य का अर्थ है मन की प्रसन्नता, मन में आस्था और विश्वास जगना। इस तरह मन के निष्कलुष (ईर्ष्यादि से रहित) होने से एकाग्रता होती है और एकाग्रता से इन्द्रिय जय और आत्मदर्शन की योग्यता आती है। वर्णित है—'सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयात्मदर्शन योग्यत्वानि च। (पा.सू. 2/41)

(ख) संतोष

आकांक्षा के क्षय से संतोष उदय होता है। संतोष अपरिमित सुख और शांति का जनक है। कहा गया है—"यच्च काम सुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशी कलाम्।" (महाभारत, शांतिपर्व, 174-46) अर्थात् इस लोक में जो काम्य वस्तुओं के उपभोग से सुख होता है और स्वर्ग का जो महान् सुख है ये दोनों मिलकर भी उस सुख के सोलहवें भाग के बराबर भी नहीं है जो सुख तृष्णा के क्षय से अर्थात् संतोष से प्राप्त होता है। संतोष से योगी निश्चिन्त हो जाता है और योगमार्ग में स्थिर रहता है। उल्लेख है 'संतोषादनुत्तम सुखलाभः। (पा.सू. 2/42) संतोष से अनुत्तम सुख लाभ होता है जिसकी तुलना किसी भी प्रकार के सुख से नहीं की जा सकती।

(ग) तप

तप संस्कृत की तप् धातु से निष्पन्न होता है। यह धातु तपने, जलने, दुःख झेलने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। तप द्वारा शरीर, मन और वचन का विशेष प्रकार से संयम किया जाता है। निराहार रहना (आहार न करना), निश्चल होकर खड़े रहना या बैठना, प्राणवायु का नियमन करना, ग्रीष्म में आतापना (सूर्य के सामने निश्चल खड़े रहना या गरम शिला पर लेटना) लेना, सर्दी में शरीर खुले आसमान के नीचे ठंडक को झेलना आदि तप के प्रकार हैं। तप में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कष्ट झेलना पड़ता है। जैसे स्वर्ण का शोधन करने के लिए उसे आग में तपाया जाता है वैसे ही मानसिक और शारीरिक शुद्धि के लिए तप किया जाता है। जैसे तपाने से स्वर्ण का मल जल जाता है वैसे ही तप से मानसिक और शारीरिक अशुद्धियां दूर हो जाती है और शरीर तथा इन्द्रियों की क्षमता चमत्कारिक रूप से बढ़ जाती है। पातंजल सूत्र में वर्णित है—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (2/43) तपस्या का तात्पर्य शरीर को कष्ट देना नहीं है अपितु शरीर के सहन करने की क्षमता को बढ़ाना है। जैन धर्म में शरीर को कष्ट नहीं दिया जाता बल्कि सहिष्णुता का अभ्यास किया जाता है ताकि राग-द्वेष क्षीण हो जाये।

(घ) स्वाध्याय

स्वाध्याय शब्द 'स्व' और 'अध्याय' की संधि से बना है। इसका अर्थ 'स्व' का अथवा अपने आप का, अपनी अंतरात्मा का, अपने मन और इन्द्रियों का अध्ययन करना, उनकी चेष्टाओं की अनुप्रेक्षा करना बार-बार चिन्तन करना। इससे अपने आप के साथ-साथ, जितनी भी बाह्य वस्तुओं से साधक का सम्बन्ध है उनकी उसे अनुभूति होगी और उसमें सहज ज्ञान का विकास होगा।

सत् साहित्य, यथा वेदोपनिषद् आदि का अध्ययन भी स्वाध्याय है। ये आप्त वचन हैं। अतएव इनके अध्ययन से पढ़ने वाले को ऐसे विषयों का ज्ञान होगा जो प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा नहीं होता बल्कि जिनका ज्ञान आगम से ही होता है। पा.सू. के अनुसार स्वाध्याय से इष्ट देवता के साथ मिलना होता है—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (2/44) अर्थात् स्वाध्याय के द्वारा ईश्वर से तादात्म्य स्थापित होता है।

(3) ईश्वर-प्रणिधान

पतंजलि के अनुसार ईश्वर, पुरुष (जीव) विशेष है। जहां सामान्य पुरुषों (जीवों) की चित्तवृत्तियां क्लिष्ट (क्लेशयुक्त, दुःखयुक्त) हो सकती है वहां ईश्वर में क्लेश का शाश्वत अभाव रहता है। ईश्वर के न पुण्य-पाप होते हैं, न कर्म-विपाक होता है और न कोई कामना रहती है।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पांच क्लेश हैं। अनित्य, अशुचि, दुःख और अनात्म (अजीव या जड़-बुद्धि, मन आदि) को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख और आत्मस्वरूप मानना अविद्या है। बुद्धि, मन आदि जड़ हैं। वे पुरुष (जीव) को ही चैतन्ययुक्त प्रतिभासित होते हैं। इन जड़ पदार्थों को ही चैतन्य (जीवरूप) समझना, चैतन्य का उनके साथ तादात्म्य करना अस्मिता है। स्पष्ट है कि अस्मिता इत्यादि की जननी अविद्या ही है। प्रीतिकर (मन को प्रिय लगने वाली वस्तु) में रमण करने की इच्छा और अप्रीतिकर के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रति असहनशीलता क्रमशः राग और द्वेष है। जीवन के प्रति जो आसक्ति है वही अभिनिवेश है। यह क्रम जन्म जन्मान्तर से चला आ रहा है।

ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की विशेष भक्ति, ईश्वर के प्रति शरणागति। इस अवस्था में योगी अपने सारे कर्मों को, सारे भावों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देता है। ईश्वर से पृथक् उसकी कोई वैयक्तिकता नहीं रहती। ईश्वर से अलग उसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता। इससे सहज ही उसे समाधि की सिद्धि हो जाती है। कहा गया है—समाधि सिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (पा.सू. 2/45)

12.2.3 आसन

शरीर को स्थिर और सुख देने वाली अवस्था में रखने का नाम आसन है। (स्थिर सुखमासनम् पा.सू. 2/46) यह शरीर को एक विशेष स्थिति में रखता है जिसमें साधक का शरीर अभीष्ट कुछ समय तक स्थिर रहे और उसे किसी शारीरिक तनाव आदि का अनुभव न हो। आसनों का नामकरण वनस्पति, कीट-पतंग, जल-जन्तु, पक्षी, पशु आदि के नाम पर किया गया है यथा—ताड़ासन, पद्मासन, वृश्चिकासन, भुजंगासन, शलभासन, मकरासन, कूर्मासन, गरूड़ासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, उष्ट्रासन, सिंहासन आदि।

आसन के अभ्यास से शरीर सुगठित, दृढ़ और हल्का हो जाता है और योगी के लिए प्राणायाम का अभ्यास सुगम हो जाता है। ध्यान रहे कि आसन केवल शरीर को सुगठित बनाने के साधन नहीं है। वे शरीर को योग की साधना के योग्य बनाने के साधन हैं जिस साधना का अंतिम लक्ष्य समाधि और कैवल्य है। यद्यपि योगी को शरीर के प्रति मोह नहीं होता तथापि अंतरात्मा का निवास शरीर का वह सम्मान करता है, उसके रख-रखाव और उपयोगिता पर पूरा ध्यान रखता है। आसन शरीर को योग साधना के लिए अनुकूल बनाने के साधन हैं। आसनसिद्धि साधक सर्दी-गर्मी, मृदु कठोर, स्निग्ध (चिकना), रूक्ष (रूखा) आदि द्वन्द्वों के स्पर्श से अभिभूत नहीं होता है।

पतंजलि ने आसनों पर विशेष जोर नहीं दिया है। योग की एक पद्धति हठयोग कहलाती है। इसका विस्तार से विवेचन स्वात्माराम कृत 'हठयोग प्रदीपिका' में किया गया है। 'हठयोग' कायशुद्धि आसन, मुद्रा आदि पर विशेष जोर देता है। पतंजलि की पद्धति में लक्ष्य है समाधि साधन की आवश्यकता तभी तक है जहां तक वे सरलता और तीव्रता के साथ लक्ष्य तक पहुंचने में सहायक हों। इसलिए हठयोग के सम्मुख पतंजलि की पद्धति को 'राजयोग' (सरलता या आसानी से साध्य योग) कहा गया है।

12.2.4 प्राणायाम

प्राणायाम योग का चतुर्थ अंग है। यहां प्राण- का अर्थ श्वास लेना और छोड़ना है; उसका आयाम अर्थात् नियंत्रण प्राणायाम है। पतंजलि ने इसे श्वास प्रश्वास के बीच गति विच्छेद के रूप में परिभाषित किया है। तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः (पा.सू. 2/49) अर्थात् श्वास लेना, प्राणवायु से फेफड़ों को भरना, तदनन्तर उसे रोकना और उसके बाद छोड़ना, फिर छोड़ने के बाद भी श्वसन क्रिया को किंचित् काल पर्यन्त स्थगित रखना और फिर श्वास भरना। इसी क्रिया को दुहराना। श्वास लेते हुए फेफड़ों को वायु से भरने की क्रिया को पूरक (भरने वाली क्रिया) कहते हैं। श्वास छोड़ते हुए फेफड़ों को खाली करने की क्रिया को रेचक (खाली करने वाली क्रिया) कहते हैं। श्वास लेकर प्राणवायु को भीतर रोकने की क्रिया को अंतरकुंभक और श्वास छोड़कर पुनः श्वास लेने की क्रिया को किंचित् काल पर्यन्त स्थगित रखने की क्रिया को बाह्य कुम्भक कहते हैं। इसमें श्वास को बाहर रोका जाता है।

प्राणायाम कठिन साधना है इसे सुयोग्य गुरु से सीखना चाहिए तथा गुरु के सान्निध्य में ही प्रारम्भिक अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा गलती हो सकती है चूंकि इस क्रिया में प्राणशक्ति का संचालन किया जाता है, इसलिए इसमें गलती होने के घातक दुष्परिणाम हो सकते हैं।

प्राणायाम से जहां एक ओर रक्त-संचार की क्रिया सुव्यवस्थित होती है और उससे स्फूर्ति मिलती है वहां दूसरी ओर मन और इन्द्रियों को विश्राम मिलता है, बुद्धि निर्मल और प्रसन्न हो जाती है। पतंजलि कहते हैं कि मोह के कारण विवेक ज्ञान के ऊपर जो एक आवरण पड़ा रहता है वह प्राणायाम के अभ्यास से क्षीण होता है। कहा गया है—प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं है। इससे शारीरिक और मानसिक मलों की विशुद्धि होती है और ज्ञान दीप्त होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

12.2.5 प्रत्याहार

इन्द्रियां स्वभाव से ही चंचल होती है। वे विषयों की ओर मन को ले जाती हैं और बुद्धि को विवश कर देती है। इस स्वेच्छाचार को छोड़कर इन्द्रियों का चित्त का अनुगामी हो जाना ही प्रत्याहार है। कहा है—'स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः' (पा.सू. 2/54)। प्रत्याहार के अभ्यास में इन्द्रियों को उनके विषयों से विमुख किया गया है। विषय-विमुख होने पर इन्द्रियां चित्त की अनुगामी हो जाती हैं। तब जैसे रानी मक्खी मुड़ती है तो सभी श्रमिक मधु मक्खियां मुड़ जाती हैं और वह फिर जहां बैठती हैं वहीं सभी बैठ जाती हैं, इसी प्रकार इन्द्रियां चित्त का अनुसरण करती है। जैसे-जैसे चित्त 'वृत्तियों के निरोध की ओर जाता है वैसे-वैसे इन्द्रियां उसके साथ चलती हैं, विद्रोह या विक्षोभ नहीं करती। प्रत्याहार के परिणामस्वरूप इन्द्रियों की स्थिरता प्राप्त होती है, जो फिर शिथिल नहीं होती, चंचल नहीं बनती।

12.2.6 धारणा

इसे परिभाषित करते हुए पतंजलि ने कहा है—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पा.सू. 3/1)। अर्थात् चित्त को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करने की क्रिया को धारणा कहते हैं। यह स्थान साधक के शरीर के अंदर भी हो सकता है। यथा नाभिचक्र, हृदयपुण्डरिक (कमल), नासिका, दोनों भृकुटियों के बीच इत्यादि। धारणा किसी बाह्य विषय की भी की जा सकती है। परन्तु इसकी शर्त यह है कि प्रत्याहार में जो चित्त के प्रति इन्द्रियों का समर्पण हुआ वह किसी भांति डिगने न पाये। मन की चंचल अवस्था को क्षिप्त कहा गया है जिसमें वह एक विषय से दूसरे विषय की ओर प्रवृत्त होता रहता है। उद्वेलित और भोग के लिए उत्सुक अवस्था को विक्षिप्त कहा गया है। इन दोनों अवस्थाओं में रजोगुण की प्रधानता रहती है। मन की निष्क्रिय अवस्था को 'मूढ़' कहा गया है जहां तमोगुण का प्राधान्य रहता है। जब मन अपनी सारी शक्तियों को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करता है तो उसे एकाग्र कहते हैं। द्रोणाचार्य द्वारा धनुर्विद्या की परीक्षा के क्रम में जब अर्जुन ने कहा कि उसे केवल चिड़िया की आंख (लक्ष्य) दिख रही थी, तब उसका मन एकाग्र था। योग साधना में मन की चरमावस्था को निरूद्ध कहा गया है जहां मन, बुद्धि और अहंकार पूर्णतः चित्त के नियंत्रण में आ जाते हैं, अहम् भाव का लोप हो जाता है। धारणा मन की एकाग्रता की स्थिति है। यहां से योगी की आध्यात्मिक उपलब्धि शुरू होती है। इसलिए पतंजलि ने इसे विभूतिपाद के अंतर्गत रखा है। अतः उल्लेख है कि समाधि के द्वारा ही आत्म साक्षात्कार होता है, समाधि को छोड़कर आत्म साक्षात्कार या परमार्थ सिद्धि नहीं हो पाती है।

12.2.7 ध्यान

धारणा में ज्ञानवृत्ति की निरन्तरता नहीं होती है। वह त्रुटित या खण्डित होती रहती है। यह ज्ञानवृत्ति जब एकज्ञान (एकमय/उसी रूप एक सा बना रहना) हो जाती है तो वह ध्यान की अवस्था कहलाती है। जैसे जल जिस पात्र में रखा जाता है उसी का आकार ले लेता है, वैसे ही ध्यान की अवस्था में मन जिस वस्तु पर टिका हुआ है उसी वस्तु के आकार वाला बन जाता है। इसलिए ब्रह्म या परमात्मा का ध्यान करने का विधान किया गया है जिसका वाचक ओंकार या प्रणव है। तत्र प्रत्यैकतानताध्यानम् (पा.सू. 3/2) कहकर पातंजल सूत्र में ध्यान को परिभाषित किया गया है। तात्पर्य है कि जिस वृत्ति से ध्येय में मन को लगाता है वह वृत्ति लगातार बनी रहे, दूसरी और कोई वृत्ति बीच में न आये उसे ध्यान कहते हैं। प्रायः सभी धर्मों में ध्यान की महिमा गायी गई है और इसे आध्यात्मिक साधना का अनिवार्य अंग बताया गया है। पिछले कुछ दशकों में मानों ध्यान को लेकर एक क्रांति ही हो गयी है। आध्यात्मिक उपलब्धि के साथ-साथ भौतिक उपलब्धियों यथा योगी के लिए स्वास्थ्य-लाभ आदि के लिए भी इसका प्रयोग किया जाने लगा है।

ध्यान का मुख्य उद्देश्य तो आध्यात्मिक ही है, परन्तु इस क्रम में ध्यान से भौतिक उपलब्धियां भी होती हैं। जैसे बिजली के बल्ब के फिलामेंट में जब निर्बाध रूप से विद्युत प्रवाह होता है तब वह चमकने लगता है। इसी तरह ध्यान से साधक की बुद्धि और प्रखर हो जाती है। उसका मुख मण्डल दीप्तिमान और शरीर स्वस्थ हो जाता है। उसकी वाणी मधुर और गंभीर हो जाती है। इनके अतिरिक्त उसे अतिमानवीय शक्तियों की उपलब्धि भी हो सकती है। परन्तु इन उपलब्धियों के प्रति आसक्त होने से वह योग-भ्रष्ट हो सकता है। भगवद्गीता में अर्जुन ने कृष्ण से पूछा कि योग-भ्रष्ट की गति क्या होती है। श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि योग से भ्रष्ट होने पर भी साधक दुर्गति को प्राप्त नहीं होता। वह दीर्घकाल तक स्वर्ग सुख का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भोग करता है। फिर, ज्ञानियों और योगियों के बीच उसका जन्म होता है जहां पूर्वाभ्यास के कारण उसे शीघ्र योग की प्राप्ति होती है। किन्तु ध्यान भौतिक सुख के लिए नहीं, आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति के लिए करना चाहिए। भौतिक सुख तो अपने आप मिल जाते हैं।

12.8 समाधि

जब ध्याता ध्येयाकार हो जाता है और उसका स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान समाधि हो जाता है। यह वह अवस्था है जिसमें ध्यान भी छूट जाता है, केवल आत्मा के अस्तित्व मात्र का बोध रहता है। वह ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है। ध्याता, ध्यान और ध्येय—इन तीनों की एकता जहां होती है उसे समाधि कहते हैं। कहा गया है—'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः' (पा.सू. 3/3) योगसूत्र में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों के समुदाय को संयम कहा गया है। संयम के फलस्वरूप अनेक अद्‌भुत शक्तियां प्राप्त होने की बात कही गयी है यथा अपने शरीर पर संयम करने से अंतर्धान होने की शक्ति (3-21); नाभिचक्र पर संयम (धारणा, ध्यान, समाधि) करने से शरीर की संरचना का, उसकी भिन्न-भिन्न धातुओं का ज्ञान (3-29) प्राप्त होता है। योग की अणिमा (छोटा होने की शक्ति) लघिमा (हल्का होने की शक्ति) महिमा (बढ़ जाने की शक्ति), प्राप्ति (किसी वस्तु तक पहुंचने की शक्ति) प्राकाम्य (अमोघ इच्छा शक्ति), वशित्व (भौतिक पदार्थों को अपने वश में रखने की शक्ति), ईशित्व (भौतिक पदार्थों को उत्पन्न और विनष्ट करने की शक्ति) और यथा कामावसायित्व (सत्य संकल्पता), ये आठ सिद्धियां तो सुप्रसिद्ध हैं ही। परन्तु ये सिद्धियां अनुभूतिगम्य ही हो सकती हैं, इन्हें तर्कसिद्ध नहीं किया जा सकता। इन समस्त सिद्धियों का सम्बन्ध भौतिक जगत् से है। योग का तात्पर्य इन सिद्धियों की प्राप्त करना नहीं अपितु कैवल्य/मोक्ष की प्राप्ति करना है। जो सिद्धियों में उलझ जाता है वह मूल लक्ष्य से भटक जाता है।

12.3 सारांश–अस्तु योग का चरम लक्ष्य है मोक्ष की अवस्था को प्राप्त करना, आत्म साक्षात्कार करना।

12.4 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. योग क्या है? पतंजलि के अष्टांग-योग का संक्षेप में परिचय दें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. आसन सिद्धि से साधक को क्या-क्या लाभ होते हैं? अथवा
   आसनों का मुख्य उद्देश्य क्या है?
2. प्रत्याहार किसे कहते हैं? स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. योगसूत्र के ...... पाद के दूसरे सूत्र में चित्तवृत्ति निरोध की बात कही है।
2. योग उसके लिए सुलभ है जो आहार-विहार और अन्य कर्मों में .... है।
3. प्राणायाम और प्रत्याहार को .... साधना कहते हैं।
4. अहिंसा एक यम/नियम है।
5. श्वास लेकर उसे कुछ समय के लिए रोकने की क्रिया को क्या कहते हैं?
6. श्वास छोड़कर कुछ समय के लिए श्वसन को स्थगित करने की क्रिया को क्या कहते हैं?
7. संतोष एक यम/नियम है।
8. तप एक प्रकार का यम/नियम है।
9. अणिमा योग की .... में से एक है।
10. चित्त को किसी एक स्थान पर केन्द्रित करने की क्रिया को .... कहते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ

1. महर्षि पतंजलि रचित पातंजल सूत्र
2. व्यास रचित व्यास भाष्य

लेखक—प्रो. रामप्रकाश पोद्दार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–13 : समाधि की अवधारणा और भेद

संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 हीनयान में ध्यान
13.3 महायान में समाधि
13.4 समाधि के प्रकार
13.5 एक प्रकार
13.6 दो प्रकार
13.7 प्रथम वर्ग–उपचार–अर्पणा समाधि
13.8 द्वितीय वर्ग –लौकिक –लोकोत्तर समाधि
13.9 तृतीय वर्ग–सप्रीतिक–निष्प्रीतिक समाधि
13.10 चतुर्थ वर्ग–सुखसहगत–उपेक्षासहगत समाधि
13.11 तीन प्रकार
13.12 चार प्रकार
13.13 सारांश
13.14 अभ्यास प्रश्नावली

13.0 प्रश्नावली

'विशुद्धिमग्गो' नामक ग्रन्थ में विशुद्धि अर्थात् निर्वाण की प्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों में मुख्यत: दो उपायों की चर्चा की है; वे हैं—शील–विशुद्धि एवं चित्त–विशुद्धि। जैसा कि संयुक्तनिकाय इत्यादि में कहा गया है—

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ॥

अर्थात् जो शील में प्रतिष्ठित है और जो समाधि और विपश्यना की भावना करता है वह तृष्णा रूपी जटासमूह का संछेद करता है।

सव्वदा सीलसंपन्नो पञ्ञावा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहित्ततो ओघं तरति दुत्तरन्ति ॥

अर्थात् जो सदा शील–सम्पन्न है, जो प्रज्ञावान् है, जो सुष्ठु प्रकार से समाहित अर्थात् समाधिस्थ है, जो अशुभ के नाश के लिए और शुभ की प्राप्ति के लिए उद्योग करता है और जो दृढ़ संकल्प वाला है, वह संसाररूपी दुस्तर समुद्र को पार करता है।

निर्वाण प्राप्ति के लिए शील–विशुद्धि और चित्त–विशुद्धि इन दोनों पर समान बल दिया गया है। शील–विशुद्धि का प्रतिपादन अनेक बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है, परन्तु आचार्य के द्वारा विद्यार्थी (अन्तेवासिक) को मौखिक रूप से दिये जाने के कारण चित्त–विशुद्धि का विवेचन बहुत ही कम ग्रन्थों में किया गया है। 'सुत्तपिटक' के अनेक सूत्रों में बुद्ध ने समाधि की शिक्षा दी है परन्तु यह शिक्षा इतनी सुव्यवस्थित नहीं है। आचार्य बुद्धघोष का 'विशुद्धिमग्गो' इस विषय का सबसे ज्यादा प्रामाणिक तथा उपयोगी ग्रन्थ है जिसमें हीनयान की दृष्टि से ध्यानयोग का विस्तृत तथा विशद विवेचन है। महायान में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। योग और आचार दोनों को अधिक महत्त्व प्रदान करने के कारण ही विज्ञानवादी 'योगाचार' के नाम से जाने जाते हैं। आचार्य असंग के ग्रन्थ 'महायान–सूत्रालंकार' तथा 'योगाचार भूमिशास्त्र' में विज्ञानवादी द्वारा सम्मत ध्यान योग का वर्णन पाया जाता है।

13.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से बौद्ध समाधि का विस्तृत ज्ञान हो सकेगा।

13.2 हीनयान में ध्यान

लक्ष्य की सिद्धि के लिए ध्यान का उपयोग किया जाता है। हीनयान तथा महायान के लक्ष्य में ही मौलिक भेद है। हीनयान में निर्वाण प्राप्ति अथवा अर्हत्पद की प्राप्ति ही प्रधान उद्देश्य है। अर्हत् केवल अपने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दु:ख की निवृत्ति का अभिलाषी रहता है। निर्वाण की प्राप्ति ही उसके जीवन का लक्ष्य है जो चित्त के रागादि क्लेशों के दूर करने पर इसी लोक में प्रकट होता है। इस कार्य में साधक को ध्यान-योग से पर्याप्त सहायता मिलती है। बिना समाधि के साधक कामधातु (वासनामय जगत्) का अतिक्रमण कर रूपधातु (रूपधातु यानि कामनारहित भौतिक जगत) में जा नहीं सकता। समाधि साधक को रूपधातु में ले जाने के लिए प्रधान सहायक है। चार ध्यानों का सम्बन्ध इसी रूपधातु से है। उसके आगे अभौतिक जगत का साम्राज्य है। इसमें भी चार आयतन होते हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, अकिञ्चनायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। आयतन का तात्पर्य है प्रवेश द्वार। वस्तु का ज्ञान इन्द्रियों की सहायता के बिना नहीं हो सकता। अत: इन्द्रियां और उनसे सम्बन्धित विषय को आयतन कहा जाता है। इन आयतनों की चर्चा पाठ-15 कर्मस्थान के अन्तर्गत की गई है। इनमें सबसे अन्तिम आयतन को 'भवाग्र' कहते हैं; क्योंकि वह इस जगत् के समस्त आयतनों में मुख्य श्रेष्ठ होता है। साधक स्थूल जगत् से आरम्भ कर ध्यान के बल पर सूक्ष्म जगत् में प्रवेश करता जाता है। उसके लिए जगत् अल्प तथा सूक्ष्म बनता जाता है। इस गति से वह एक ऐसे बिन्दु पर पहुंचता है जहां जगत् की समाप्ति होती है, विज्ञान (इन्द्रियों का विषय के साथ सम्पर्क होने से होने वाला ज्ञान) का अन्त होता है। इसी बिन्दु को 'भवाग्र' कहते हैं। इसके अनन्तर उसे निर्वाण प्राप्ति में थोड़ा भी विलम्ब नहीं होता। निर्वाण की प्राप्ति होते ही साधक को अर्हत् पद की उपलब्धि हो जाती है। वह कृतकृत्य बन जाता है। इस प्रकार हीनयान में समाधि निर्वाण की उपलब्धि में प्रधान कारण है।

13.3 महायान में समाधि

महायान में लक्ष्य ही दूसरा है। महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अंतिम ध्येय बनाना है। यह एक जन्म से प्राप्त नहीं होता, अनेक जन्मों के प्रयत्नों के परिणामस्वरूप साधक को ज्ञान की प्राप्ति होती है।

1. **प्रज्ञापारमिता**—पारमिता यानि पूर्णत्व। यथार्थ या पूर्ण ज्ञान को प्रज्ञापारमिता कहते हैं। इस ज्ञान का जब उदय होता है तब अविद्या की निवृत्ति होती है, अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध हो जाता है। अंतत: दु:ख का निरोध होता है। इससे संसार की निवृत्ति और निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस प्रज्ञा का दूसरा नाम विपश्यना भी है। प्रज्ञापारमिता अन्य पारमिताओं का परिणाम है। जब तक इस प्रज्ञापारमिता का उदय नहीं होता तब तक बुद्धत्व की प्राप्ति हो नहीं सकती। इस पारमिता के उदय के लिए समाधि की महती उपयोगिता है। इस पारमिता तक पहुंचने के लिए साधक को अनेक भूमियों को पार करना पड़ता है। ये भूमियां कहीं चौदह और कहीं दस बतलाई गई हैं। असंग ने 'महायान सूत्रालंकार' में इनके नाम तथा स्वरूप का पूरा परिचय दिया है। दस भूमियों के नाम ये हैं—1. प्रमुदिता, 2. विमला, 3. प्रभाकरी, 4. अर्चिष्मती, 5. सुदुर्जया, 6. अभिमुक्ति, 7. दुरङ्ग.मा, 8. अचला, 9. साधुमती, 10. धर्ममेध्या।

2. **दस भूमियां**—भूमियां सोपान की तरह हैं। एक-एक भूमि को पार करता हुआ साधक आध्यात्मिक विकास को प्राप्त कर बुद्धत्व पद पर आरूढ़ होता है।

अ. प्रमुदिता—इस भूमि को विशुद्ध करने के लिए श्रद्धा, दया, मैत्री, दान, शास्त्र ज्ञान, नम्रता, सहनशीलता आदि गुणों की आवश्यकता होती है।

ब. विमला—इस भूमि में काय, वचन, मन के दोषों को साधक दूर करता है। शीलपारमिता (पापकारी कार्यों से चित्त को विमुख बनाना) का अभ्यास करता है।

स. प्रभाकारी—वह समस्त पदार्थों को अनित्य के रूप में देखता है। वह अनेक सिद्धियों को प्राप्त करता है। कामवासना, तृष्णा क्षीण हो जाती है। धैर्यपारमिता (सहन करने की शक्ति) का अभ्यास करता है।

द. अर्चिष्मती—अष्टांग मार्ग का अभ्यास करता है। संशय नष्ट हो जाते हैं। जगत से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है। वीर्यपारमिता (उत्साह, पुरुषार्थ) का अभ्यास करता है।

इ. सुदुर्जया—प्राणियों के प्रति दया होने से अनेक प्रकार की लौकिक विद्या का अभ्यास करता है। जगत् को छोड़ वह उपदेशक बन जाता है। ध्यान का अभ्यास करता है।

फ. अभिमुक्ति—जगत् के समस्त पदार्थ को शून्य समझता है। समता के अभ्यास से यह भूमि प्राप्त होती है। प्रज्ञापारमिता का अभ्यास करता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज. दूरंगमा—उसकी भूमिका विशेष रूप से विकसित होती है। वह सर्वज्ञ हो जाता है परन्तु निर्वाण की प्राप्ति दूर रहती है।

ह. अचला—साधक देह, वचन और मन के भौतिक आनंद से तनिक भी प्रभावित नहीं होता। जैसे मनुष्य स्वप्न के ज्ञान को अनित्य समझता है वैसे ही साधक जगत के प्रपंचों को भ्रांत या असत्य मानता है।

ल. साधुमती—मनुष्यों के उद्धार के लिए साधक नये-नये उपायों का अवलंबन लेता है धर्म का उपदेश देता है। शब्दों के अर्थ का विवेचन कुशल तरीके से करता है।

व. धर्ममेध्या—इसका दूसरा नाम अभिषेक है। इस अवस्था में बोधिसत्व सब प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है। जैसे राजा अपने पुत्र को युवराज पद पर अभिषिक्त करता है उसी प्रकार साधक बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है।

इन भूमियों को पार करने पर ही साधक बुद्धत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार महायान में बुद्धपद की प्राप्ति हेतु ध्यान-योग का महत्त्व है।

13.4 समाधि के प्रकार

हीनयानी ग्रन्थों में समाधि के प्रसंङ्ग में चार प्रकार के ध्यानों का वर्णन उपलब्ध होता है। दीर्घनिकाय के अनेक सुत्तों में (जैसे सामञ्अफल सूत्त) भगवान् बुद्ध ने चारों ध्यानों के स्वरूप का विशद विवेचन किया है। इसी का आश्रय लेकर बुद्धघोष ने 'विशुद्धिमार्ग' में इस विषय पर पूरा चिन्तन किया है। प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—इन पांच चित्तवृत्तियों की प्रधानता रहती है। द्वितीय ध्यान में प्रीति, सुख तथा एकाग्रता की प्रधानता रहती है। तृतीय ध्यान में प्रीति का भाव नहीं रहता, केवल सुख तथा एकाग्रता रहती है। चतुर्थ ध्यान में सुख की भावना को हटाकर उपेक्षा तथा एकाग्रता का ही प्राधान्य रहता है। इस प्रकार इन ध्यानों में साधक स्थूलता तथा बहिरङ्ग.ता से आरम्भ कर सूक्ष्मता तथा अन्तरङ्गता में प्रविष्ट हो जाता है।

वितर्क तथा विचार का भेद स्पष्ट है। चित्त को किसी विषय में नियोजित करने के समय उस विषय में चित्त का जो प्रथम प्रवेश होता है वह तो वितर्क हुआ। परन्तु आगे बढ़ने पर उस विषय में चित्त का निमग्न होना 'विचार है। बुद्धघोष ने इनके भेद को दो रोचक उदाहरणों के सहारे समझाया है। आकाश में उड़ने से पहले पक्षी अपने पंखों का समतोलन करता है और कई क्षणों तक अपने पंखों के सहारे आकाश में स्थित रहता है। इसकी तुलना 'वितर्क' से की गई है। अनन्तर वह अपने पंखों को हिलाकर उनमें गति पैदाकर आकाश में उड़ने लगता है, यह क्रिया 'विचार' का प्रतीक है अथवा किसी गन्दे पात्र को एक हाथ से पकड़ने तथा उसे दूसरे हाथ से साफ-सुथरा करने की क्रियाओं में जो अन्तर है वही अन्तर वितर्क तथा विचारों में है। इसी प्रकार प्रीति तथा सुख की भावना में भी स्पष्ट रूप से अन्तर है। चित्त-समाधान से जो मानसिक आह्लाद उत्पन्न होता है उसे 'प्रीति' कहते हैं। उसके पश्चात् इस भाव का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। शरीर की बेचैनी समाप्त होती है और पूरे शरीर में स्थिरता तथा शान्ति के भाव का उदय होता है। इसे ही 'सुख' कहते हैं। प्रीति मानसिक आनन्द है और सुख शारीरिक समाधान या स्थिरता। इसके अनन्तर चित्त विषय के साथ अपना सामञ्जस्य स्थापित कर लेता है। इसे ही एकाग्रता कहते हैं।

प्रथम ध्यान

उपर्युक्त पांचों अंगों की प्रधानता रहने पर प्रथम ध्यान उत्पन्न होता है। इसका स्वरूप बतलाते समय बुद्ध ने कहा—जिस प्रकार नाई या उसका शिष्य कांसे के थाल में स्नानचूर्ण को डालकर थोड़ा सा तैल डालता है जिससे वह स्नानचूर्ण भीतर बाहर तैल से व्याप्त हो जाये किन्तु तैल न चुए। उसी प्रकार प्रथम ध्यान में साधक अपने शरीर को विवेक से उत्पन्न प्रीति-सुख से भिगोता है, चारों ओर व्याप्त करता है जिससे उसके शरीर का कोई भी भाग इस प्रीति-सुख से वंछित न रहे। प्रीति और सुख का अनुभव करता है।

द्वितीय ध्यान

द्वितीय ध्यान में वितर्क तथा विचार का अभाव रहता है। इस समय श्रद्धा की प्रबलता रहती है। प्रीति, सुख तथा एकाग्रता के भाव की प्रधानता रहती है। इस ध्यान को उस गम्भीर तथा भीतर में पानी के स्रोतों वाले जलाशय की उपमा दी गई है जिसमें किसी भी दिशा से बाहर से पानी आने का रास्ता नहीं है। वर्षा की धारा भी उसमें नहीं गिरती है। अपितु उसे भीतर की जलधारा फूटकर शीतल जल से भर

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

देती है। इस प्रकार भीतरी आनंद (प्रसाद) तथा चित्त की एकाग्रता के कारण समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख साधक के शरीर को भीतर से ही आनंदित कर देता है।

तृतीय ध्यान

तृतीय ध्यान में केवल सुख और एकाग्रता की ही प्रधानता बनी रहती है। इस ध्यान में तीन मानस-वृत्तियां प्रकट होती हैं—1. उपेक्षा—न तो प्रीति से ही चित्त में कोई विक्षेप यानि चित्त का बिखराव, एक जगह पर केन्द्रित न रहना (विकल्प) उत्पन्न होता है और न विराग से। चित्त राग और विराग भावों की उपेक्षा कर समता का अनुभव करता है। 2. स्मृति—उसे द्वितीय ध्यान के समय उत्पन्न होने वाली वृत्तियों की स्मृति बनी रहती है। 3. सुखविहारी—साधक के चित्त में सुख की भावना बाधा उत्पन्न नहीं करती। ध्यान से उसके शरीर में विचित्र शांति तथा समाधान का उदय होता है। इस ध्यान की तुलना पद्मसमुदाय से की गई है। जिस प्रकार कमल समुदाय में कोई नीलकमल, रक्तकमल या श्वेतकमल जल में उत्पन्न होकर जल में ही बढ़े जिससे उसका समस्त शरीर शीतल जल से व्याप्त हो जाये, उसी प्रकार तृतीय ध्यान में भिक्षु का शरीर प्रीति-सुख से व्याप्त रहता है।

चतुर्थ ध्यान

चतुर्थ ध्यान में शारीरिक सुख या दु:ख का सर्वथा त्याग, मानसिक सुख या दु:ख का क्षय/नाश, राग-द्वेष से मुक्ति, उपेक्षा द्वारा स्मृतिपरिशुद्धि (स्मृति का भी शोधन)—इन चार विशेषताओं का जन्म होता है। यह ध्यान पूर्व तीन ध्यानों का परिणामरूप है। इस ध्यान में साधक अपने शरीर को शुद्धचित्त से निर्मल बनाकर बैठता है। जिस प्रकार उजले कपड़े से सिर तक ढककर बैठने वाले पुरुष के शरीर का कोई भी भाग उजले कपड़े से बिना ढका नहीं रहता है। उसी प्रकार साधक के शरीर का कोई भी भाग शुद्धचित्त से अव्याप्त नहीं रहता। ध्यान की यही पराकाष्ठा मानी गई है। आरूप्य कर्मस्थानों (इसकी चर्चा कर्मस्थान पाठ में की गयी हैं) के अभ्यास से इनसे बढ़कर अन्य चार ध्यानों का जन्म होता है जिन्हें 'समापत्ति' कहते हैं।

किसी-किसी के मत में पांच प्रकार के ध्यान हैं। इस मत में द्वितीय ध्यान को दो भागों में बांटकर पांच की संख्या पूर्ति की जाती है अर्थात् वितर्क ध्यान और विचार-ध्यान दो ध्यान हो जाते हैं। जैसा कि कहा भी गया है—"इति यं चतुक्कनये दुतियं, तं द्विधा भिन्दित्वा पंचकनये दुतियमेव ततियञ्च होति।

यानि च तत्थ ततियचतुत्थानि तानि चतुत्थपञ्चमानि होन्ति पठमं पठममेवाति ॥" (विशुद्धिमग्गो)

अर्थात् चतुर्ध्यान की परम्परा जो दूसरा ध्यान है, पंचध्यान की परम्परा में उसे दो रूपों में विभक्त कर दूसरा और तीसरा ध्यान होता है और जो तृतीय तथा चतुर्थ है वह चतुर्थ और पञ्चम ध्यान हो जाता है तथा प्रथम प्रथम ही रहता है।

उपर्युक्त चार अथवा पांच प्रकार के ध्यानों को समझ लेने से बुद्धघोष द्वारा किये गये समाधि के प्रकारों को समझना सुगम हो जाता है। बुद्धघोष ने थोड़ा कुछ नया जोड़ते हुए उपर्युक्त पांच प्रकारों को ही एक अथवा दूसरे प्रकार से समाधि के प्रकारों में रखने का प्रयत्न किया है। ये वर्गीकरण विविध प्रकार से समाधि के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं।

13.5 एक प्रकार

समाधि के लक्षण को आधार बनाकर समाधि के प्रकारों की चर्चा करने पर समाधि एक ही प्रकार की है। समाधि का लक्षण है—कुशल चित्त की एकाग्रता। चित्त में विक्षेप, विकल्प का न होना ही समाधि है—"अविक्खेपलक्खणेन ताव एकविधो" (विशुद्धिमग्गो) समाधि का अर्थ है एकाग्रता। एक आलम्बन के ऊपर मन की मानसिक क्रियाओं को सम्यक् रूप से लगाना समाधि है।

समाधानट्ठेन समाधि। किमिदं समाधानं नाम? एकारम्मणे
चित्तचेतसिकानं समं समा च आधानं ठपनं ति वुत्तं होति॥ (विशुद्धिमग्गो)

इस प्रकार विक्षेप का न होना समाधि का लक्षण है। विक्षेप को मिटाना इसका कार्य (रस या कृत्य) है। विकम्पित न होना जानने का आकार है (प्रत्युपस्थान) है। "सुखी का चित्त एकाग्र होता है" ऐसा दीघनिकाय में कहा गया है। इससे यह फलित होता है कि सुख समाधि का स्थान है। इस स्वरूप की दृष्टि से सभी प्रकार की समाधियां एक-दूसरे से भिन्न न होकर एक हो जाती है। अत: समाधि का एक प्रकार युक्तियुक्त है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.6 दो प्रकार

दो प्रकार की समाधि के अन्तर्गत उपचार-अर्पणा, लौकिक-लोकोत्तर, सप्रीतिक-निष्प्रीतिक तथा सुखसहगत- उपेक्षासहगत के आधार पर चार वर्ग बनते हैं—

13.7 प्रथम वर्ग—उपचार—अर्पणा समाधि

13.7.1 उपचार समाधि

समाधि अथवा ध्यानयोग की प्राप्ति एक दिन के क्षणिक प्रयास का फल नहीं है अपितु वह अनेक वर्षों के तीव्र अध्यवसाय (प्रयत्न) का परिणाम है। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुरूप किसी भी निमित्त को पसन्द कर चित्त को केन्द्रित व स्थिर करने का प्रयत्न सर्वप्रथम साधक को करना पड़ता है। इसकी संज्ञा है 'परिकर्म भावना।' चित्त के इस प्रयत्न से वही वस्तु चित्त में प्रतिबिम्बित होने लगती है जिसे उग्गहनिमित्त का उदय कहते हैं। वस्तु के साथ उसके लक्षण (जैसे रङ्ग., आकृति आदि) भी जुड़े रहते हैं। अतः वस्तु को उसके लक्षण से पृथक् करना पड़ता है। इसे उपचार भावना कहते हैं। इस उद्योग से वह वस्तु उसी प्रकार नेत्रों के सामने भीतर दिखाई देने लगती है, जिस प्रकार वह बाहर दिखाई देती है। परन्तु अभी तक चित्त में वस्तु की स्थिरता नहीं होती है। इस दशा में चित्त उस बालक के समान होता है जो अपने पैरों पर खड़ा नहीं हो सकता। उद्योग करता है पर गिर पड़ता है।

13.7.2 अर्पणा समाधि

इस भूमि में चित्त में दृढ़ता आती है। जिस प्रकार युवक अपने पैरों पर दृढ़ता से खड़ा हो सकता है उसी प्रकार इस दशा में चित्त वस्तु का अनुसंधान दृढ़ता से करता है। 'अप्पना' शब्द अर्पणा का पालि भाषा का है। 'अर्पणा' का अर्थ है अपने को अर्पित कर देना। चित्त अपने को विषय के लिए अर्पित कर देता है। वह विषय को पूरे दिन या रात भर एकाकार से ग्रहण करता है। परन्तु साधक को अपने अनुष्ठान में न तो अधिक उत्साह दिखलाना चाहिए और न अधिक आलस्य रखना चाहिए। इस अवस्था में चित्त की एकाग्रता विशेष रूप से प्राप्त होती है।

13.8 द्वितीय वर्ग—लौकिक-लोकोत्तर समाधि

13.8.1 लौकिक समाधि

काम (विषय), रूप और अरूप भूमियों पर होने वाली कुशल चित्त की एकाग्रता को लौकिक समाधि कहते हैं। दूसरे शब्दों में चित्त की वह एकाग्रता जो दोष रहित है और जिसका विपाक (परिणाम) सुखमय है। इस लौकिक समाधि के मार्ग को शमथ-यान कहते हैं। शमथ का अर्थ है पांच नीवरणों अर्थात् विघ्नों का उपशम—'पञ्च नीवरणानं समनट्ठेन समथं।' विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है। इसलिए शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' भी है—समथो हि चित्तेकग्गता (अंगुत्तरनिकायट्ठकथा)।

13.8.2 लोकोत्तर समाधि

जो एकाग्रता आर्यमार्ग (निर्वाण) से संप्रयुक्त होती है, निर्वाण प्राप्त कराती है, उसे लोकोत्तर-समाधि कहते हैं, क्योंकि वह लोक को उत्तीर्ण कर लोकोत्तर में स्थित होता है। प्रज्ञा के सुभावित होने से लोकोत्तर समाधि की भावना होती है। लोकोत्तर-समाधि का मार्ग विपश्यना-यान कहलाता है।

13.9 तृतीय वर्ग—सप्रीतिक-निष्प्रीतिक समाधि

सप्रीतिक समाधि से तात्पर्य उन ध्यानों से है जिनमें प्रीति का उदय रहता है। पूर्व में जिन चारों ध्यानों की चर्चा की गई है उनमें से 'प्रथम दो ध्यान सप्रीतिक है और शेष दो निष्प्रीतिक हैं।

13.10 चतुर्थ वर्ग—सुखसहगत-उपेक्षासहगत समाधि

सुखसहगत समाधि से तात्पर्य जिस समाधि में सुखानुभूति रहे। अतः पूर्वोक्त चार ध्यानों में प्रथम तीन ध्यानों में सुख की वृत्ति रहती है, अतः सुखसहगत है। उपेक्षासहगत से तात्पर्य जिसमें उपेक्षा या माध्यस्थ्य वृत्ति का उदय हो। अंतिम ध्यान (चतुर्थ) उपेक्षासहगत है।

13.10 तीन प्रकार

समाधि के तीन प्रकारों की चर्या में भी हीन मध्यम-प्रणीत, सवितर्क-सविचार, अवितर्क-सविचार, अवितर्क-विचार, प्रीति-सुख-उपेक्षासहगत तथा पवित्र-महद्गत-अप्रमाण के आधार पर चार वर्ग बनते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रथम त्रिक्: हीन-मध्यम-प्रणीत समाधि

इन तीनों समाधियों का सम्बन्ध ध्यानाभ्यास और परिपक्वता से है। समाधि का स्वीकार मात्र हीन समाधि है। बहुत अभ्यास न की गई मध्यम और भली प्रकार अभ्यस्त तथा परिपक्वता को प्राप्त समाधि प्रणीत (उत्तम) है।

द्वितीय त्रिक्: सवितर्कसविचार-अवितर्कविचार-अवितर्कअविचार समाधि

पूर्वोक्त चार ध्यानों में प्रथम ध्यान की समाधि उपचार समाधि के साथ सवितर्क है। पांच ध्यानों की परम्परा में द्वितीय ध्यान की समाधि अवितर्क-विचार मात्र है। जो वितर्क मात्र में ही दोष को देख, विचार में दोष को न देख, केवल वितर्क मात्र का प्रहाण चाहता हुआ प्रथम ध्यान का अतिक्रमण करता है, वह अवितर्क-विचारमात्र समाधि को प्राप्त करता है। चार ध्यानों के अनुसार द्वितीय आदि और पांच ध्यानों के अनुसार तृतीय आदि तीनों ध्यानों की एकाग्रता अवितर्क-अविचार समाधि है, क्योंकि इनमें न तो वितर्क की वृत्ति रहती है और न ही विचार की। इस तरह सवितर्क आदि के आधार पर समाधि तीन प्रकार की होती है।

तृतीय त्रिक्: प्रीति-सुख-उपेक्षासहगत समाधि

चार ध्यानों की परम्परा में आदि के दोनों और पांच ध्यानों के अन्तर्गत प्रथम तीन ध्यान प्रीतिसहगत हैं। तृतीय अथवा तृतीय, चतुर्थ की एकाग्रता सुखसहगत है तथा अंतिम की एकाग्रता उपेक्षासहगत है।

चतुर्थ त्रिक्: परित्र-महद्गत-अप्रमाण

उपचार भूमि की एकाग्रता परित्र (कामावचर) समाधि है। रूपावचर-अरूपावचर अर्थात् कर्मस्थानों सम्बन्धी कुशल चित्त की एकाग्रता महद्गत समाधि है। आर्यमार्ग (निर्वाण में) संप्रयुक्त एकाग्रता अप्रमाण समाधि है।

13.12 चार प्रकार

ध्यान के चार प्रकार भी किये गये हैं, जो निम्नानुसार है—

प्रथम चतुष्क

प्रथम चतुष्क में जिन चार प्रकारों की चर्चा की गई है, वे हैं—1. दु:खा-प्रतिपदा-दग्ध-अभिज्ञा, 2. दु:खा-प्रतिपदा-तीक्ष्ण-अभिज्ञा, 3. सुखा-प्रतिपदा-दग्ध-अभिज्ञा, 4. सुखा-प्रतिपदा-तीक्ष्ण अभिज्ञा।

ध्यानारम्भ करने के समय से लेकर जब तक समाधि-भावना का उपचार उत्पन्न होता है तब तक होने वाली समाधि-भावना प्रतिपदा कहलाती है। उपचार से लेकर जब तक अर्पणा होती है तब तक होने वाली अभिज्ञा (ज्ञान) कहलाती है। वह प्रतिपदा किसी की दु:खद अर्थात् कठिन होती है और किसी की सुखद अर्थात् सुगम होती है। विघ्नों का उपशम आदि विरोधी बातों से चित्त प्रभावित होने से एकाग्रता कठिनता से होती है। इसके विपरीत नीवरण आदि के समाप्त होने से एकाग्रता सरलता से प्राप्त हो जाती है। अभिज्ञा भी इसी प्रकार किसी की मन्द तो किसी की शीघ्रता से प्रवर्तित होती है।

द्वितीय चतुष्क

समाधि की हानि और वृद्धि के आधार पर रस चतुष्क में चार प्रकार की समाधि की चर्या की गई है। वे हैं—1. हानभागीय—यह परिहानि की ओर जाने वाली समाधि है। 2. स्थितभागीय—एक जैसी बनी रहने वाली अर्थात् जिसमें न हानि और न वृद्धि होती है वह समाधि। 3. विशेषभागीय—बढ़ने वाली समाधि तथा 4. निर्वेदभागीय अर्थात् विराग से युक्त प्रज्ञा वाली समाधि।

तृतीय चतुष्क

इसमें छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा समाधि की चर्चा उपलब्ध होती है। यदि योगी छन्द (मन्त्र) को अधिपति अर्थात् प्रधान करके समाधि प्राप्त करता है, चित्त की एकाग्रता को पाता है तो वह छन्द समाधि कहलाती है। यदि साधक क्रमश: वीर्य (शक्ति), चित्त और मीमांसा (प्रज्ञा) को मुख्यता देकर समाधि प्राप्त करता है तो वीर्य समाधि, चित्त समाधि और मीमांसा समाधि कहलाती है। इस तरह अधिपति के अनुसार समाधि चार प्रकार की होती है।

13.13 सारांश-इस प्रकार इस पाठ में हमने बौद्ध-ध्यानयोग में समाधि की चर्चा कहां, किस रूप में मिलती है, इसकी जानकारी देने के साथ-साथ उसके उद्देश्य और प्रकारों की संक्षिप्त विवेचना की है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

13.14 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. समाधि के स्वरूप एवं प्रकारों का सविस्तार विवेचन करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. उपचार और अर्पणा समाधि का अन्तर स्पष्ट करें।
2. चारों ध्यानों पर संक्षेप में प्रकाश डालें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. हीनयान में समाधि का उद्देश्य क्या है?
2. महायान में समाधि का उद्देश्य क्या रहा?
3. ध्यान के पांच अंग कौन से हैं?
4. प्रणीत समाधि किसे कहते हैं?
5. उपेक्षा की वृत्ति किस ध्यान में विकसित होती है?
6. बुद्धघोष ने कितने प्रकार की समाधि की चर्चा की है?
7. धर्ममेघ भूमि से आप क्या समझते हैं?
8. अप्रमाण समाधि का क्या अर्थ है?
9. शमथ-यान और विपश्यना-यान का सम्बन्ध किससे है?
10. प्रीति और सुख में क्या अंतर है?

संदर्भ ग्रन्थ

1. विशुद्धिमग्गो—आचार्य बुद्धघोष
2. बौद्ध धर्मदर्शन—नरेन्द्रदेव
3. विशुद्धिमार्ग (प्रथम भाग)—भिक्षु धर्मरक्षित
4. बौद्ध दर्शन-मीमांसा—आचार्य बलदेव उपाध्याय

लेखिका—डॉ. समणी चैतन्य प्रज्ञा

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–14 : दस पलिबोध एवं चर्या

संरचना

14.0 प्रस्तावना
14.1 उद्देश्य
14.2 दस पालिबोध
14.3 चर्या का निदान
14.5 चर्या के लक्षण
14.6 सारांश
14.7 अभ्यास प्रश्नावली

14.0 प्रश्नावली

वस्तुतः समाधि की साधना का आधार चित्त की एकाग्रता और निर्मलता है। चंचल चित्त समाधि की साधना में नहीं उतर सकता। मानसिक एकाग्रता और शारीरिक स्फूर्ति दोनों का योग होने से समाधि की उपलब्धि सहज और सरल हो जाती है। पलिबोधों की चर्चा वस्तुतः मानसिक विक्षेप के कारणों की चर्चा है।

14.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से दस पलिबोध एवं चर्या का ज्ञान हो सकेगा।

14.2 दस पलिबोध

योग में समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति सुपरिशुद्ध शील में प्रतिष्ठित हो, सबसे पहिले विघ्नों (पलिबोध) का नाश करना चाहिये। पलिबोध दस प्रकार के हैं जैसे—आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, ज्ञाति, आबाध, ग्रन्थ और ऋद्धि।

14.2.1 आवास

जो भिक्षु नये-नये किसी काम में उत्सुकता रखता है या बहुविध सामग्री का संग्रह करता है या जिसका चित्त किसी दूसरे कारण से अपने आवास में प्रतिबद्ध (आसक्त) है, आवास उसके लिए विघ्न है। कहने का तात्पर्य है समाधि की साधना करने वाले व्यक्ति को नये-नये कार्यों में उत्सुकता, सामग्री संग्रह और स्थान विशेष से प्रतिबद्ध नहीं होना चाहिए।

14.2.2 कुल

कुल दो प्रकार के हैं—ज्ञाति-कुल अर्थात् सम्बन्धियों के परिवार तथा सेवक-कुल अर्थात् श्रद्धालुओं के परिवार। साधारणतया दोनों विघ्नकारी हैं। अपने तथा सेवक के कुल से विशेष संसर्ग होने से भावना में विघ्न उपस्थित होता है। कुछ ऐसे भिक्षु या साधक होते हैं जो कुल के मनुष्यों के बिना धर्म-श्रवण के लिए भी पास के विहार में नहीं जाते। वह उन श्रद्धालु उपासकों के सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होते हैं जिनसे उनको लाभ-सत्कार मिलता है। ऐसे साधकों के लिए कुल विघ्न हैं; दूसरों के लिए नहीं।

14.2.3 लाभ

लाभ चार प्रत्ययों को कहते हैं। प्रत्यय ये हैं—चीवर (वस्त्र), पिण्डपात (भोजन) शयनासन और ग्लानप्रत्ययभेषज (औषधि)। भिक्षु को इन चार वस्तुओं की आवश्यकता रहती है। कभी-कभी ये वस्तुएं भी बाधक बन जाती है। पुण्यशाली भिक्षु का लाभ-सत्कार प्रचुर परिमाण में होता है। उसको सदा लोग घेरे रहते हैं। अनेक जगहों से उसको निमंत्रण आता है। उसे निरन्तर दान लेना पड़ता है और दाताओं को धर्म का उपदेश देना पड़ता है। साधना के लिए उसे अवकाश नहीं मिलता। ऐसे भिक्षु को ऐसे स्थान में जाकर रहना चाहिये जहां उसे कोई नहीं जानता हो और वह एकान्त में रह सके।

14.2.4 गण

संघबद्ध साधना में साधक गण में रहता है। गण में रहने से लोग उससे अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते हैं या उसके पास पाठ के लिए आते हैं। इस प्रकार साधना के लिए अवकाश नहीं मिलता। इस विघ्न को दूर करने का प्रयत्न इस प्रकार होना चाहिए। यदि थोड़ा ही पाठ रह गया हो तो उसे समाप्त कर अरण्य में प्रवेश करना चाहिये। यदि पाठ बहुत बाकी हो तो अपने शिष्यों को समीपवर्ती किसी दूसरे गणवाचक के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सुपुर्द करना चाहिये। यदि दूसरा गणवाचक पास में न मिले तो शिष्यों से छुट्टी ले साधना में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

14.2.5 कर्म

कर्म से तात्पर्य निर्माण कार्य से है। इसे नवकर्म अर्थात् विहार (साधुओं के रहने का स्थान) का निर्माण कराता है उसे मजदूरों के कार्य का निरीक्षण करना पड़ता है। उसके लिए सर्वदा अन्तराय है। इस विघ्न का निवारण इस प्रकार हो सकता है। यदि थोड़ा ही काम अवशिष्ट रह गया हो तो काम को समाप्त कर श्रमण धर्म में प्रवृत्त हो जाना चाहिये। यदि अधिक काम बाकी हो तो संघ का भार वहन करने वाले भिक्षुओं को सुपुर्द करना चाहिये। यदि ऐसा कोई प्रबन्ध न हो सके तो संघ का परित्याग कर अन्यत्र चला जाना चाहिये।

14.2.6 मार्ग

मार्ग-गमन भी कभी-कभी विघ्न होता है। जिसे कहीं किसी की दीक्षा—जिसमें सांसारिक सुखों का त्याग जीवन भर के लिए किया जाता है। यदि वह अपनी इच्छा को पूरा किये बिना अपने चित्त को एकाग्र नहीं रख सकता तो उसकी साधना सम्यक् रीति से सम्पादित नहीं हो सकती। इसलिए उसे गन्तव्य स्थान पर जाकर अपना मनोरथ पूर्ण करना चाहिये। तदनन्तर साधना में उत्साह के साथ प्रवृत्त होना चाहिए।

14.2.7 ज्ञाति

ज्ञाति अर्थात् निकटवर्ती व्यक्ति भी कभी-कभी विघ्न हो जाते हैं। संघ में आचार्य, उपाध्याय, अन्तेवासिक (निकट/साथ में रहने वाले साधक) तथा गृह में माता, पिता, भ्राता आदि ज्ञाति होते हैं। जब ये अस्वस्थ होते हैं तब ये विघ्न होते हैं, क्योंकि भिक्षु को इनकी सेवा शुश्रूषा करनी पड़ती है। उपाध्याय, प्रव्रज्याचार्य (दीक्षा देने वाले आचार्य), उपसंपदाचार्य (संकल्प दिलाने वाले आचार्य) ऐसे अन्तेवासिक जिनसे उसने प्रव्रज्या या उपसम्पदा (संकल्प स्वीकार करना) प्राप्त की है तथा एक ही उपाध्याय के अन्तेवासी के बीमार पड़ने पर उनकी सेवा उस समय तक करना उसका कर्त्तव्य है जब तक वह निरोग न हो। निश्रयाचार्य, उद्देशाचार्य आदि की सेवा अध्ययनकाल में ही कर्त्तव्य है। माता-पिता उपाध्याय के समान हैं। यदि उनके पास औषध न हो तो अपने पास से देना चाहिए। यदि स्वयं के पास न हो तो भिक्षा मांगकर देना चाहिये।

14.2.8 आबाध

आबाध से तात्पर्य रोग या बीमारी से है। यदि भिक्षु या योगी को कोई रोग हुआ तो श्रमणधर्म के पालन में अन्तराय होता है। चिकित्सा द्वारा रोग का उपशमन करने से यह बाधा नष्ट होती है। यदि कुछ दिनों तक चिकित्सा करने से भी रोग शान्त न हो तो उसे यह कहकर आत्मगर्हा (आत्मनिन्दा) करनी चाहिये कि 'मैं तेरा न दास हूं' न भृत्य (नौकर) हूं, तेरा पोषण कर मैंने अनादि-अनन्त संसार मार्ग में दु:ख प्राप्त किया है, ऐसा चिन्तन कर और फिर स्वयं की साधना में प्रवृत्त हो जाना चाहिये।

14.2.9 ग्रन्थ

ग्रन्थ भी विघ्न है। जो सदा स्वाध्याय में प्रवृत्त रहता है उसी के लिए ग्रन्थ विघ्न है; दूसरों के लिए नहीं।

14.2.10 ऋद्धि

ऋद्धि से तात्पर्य सामान्य साधक की ऋद्धि से है। यह ऋद्धि विपश्यना (प्रज्ञा) में बाधक है, समाधि में नहीं, क्योंकि जब समाधि की प्राप्ति होती है तब ऋद्धि-बल की प्राप्ति होती है। यहां समाधि से तात्पर्य लौकिक समाधि है, विपश्यना लोकोत्तर समाधि की साधना है। इसलिए जो विपश्यना का अर्थी है उसे ऋद्धि विघ्न का निवारण करना चाहिए। किन्तु जो समाधि को चाहता है उसे ऋद्धि को छोड़कर नौ अन्तरायों का नाश करना चाहिये।

हमने पलिबोध के अन्तर्गत दस प्रकार के विघ्नों की चर्चा की। इन विघ्नों का नाश किए बिना साधक समाधि की साधना में गतिशील नहीं हो सकता। उपर्युक्त विघ्नों के अतिरिक्त पांच नीवरणों, जो कि विघ्न ही हैं उनका विनाश करना भी समाधि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। लौकिक समाधि के लिए जिस साधना मार्ग को अपनाया जाता है उसे शमथ-यान कहते हैं। शमथ से तात्पर्य वस्तुत: पांच नीवरणों का उपशमन ही है—पञ्च नीवरणानं समनट्ठेन समथं। विघ्नों के शमन से चित्त की एकाग्रता होती है इसलिए

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शमथ का अर्थ 'चित्त की एकाग्रता' भी है—'समथो हि चित्तेकग्गता।' इस प्रकार नीवरण भी विघ्न ही हैं। अतः पलिबोध के अतिरिक्त नीवरण को भी यहां समझ लेना आवश्यक है।

नीवरण इस प्रकार हैं—कामछंद, व्यापाद, स्त्यान-मिद्ध, औद्धत्य-कौकृत्य, अविचिकित्सा।

कामछन्दः कामछन्द का अर्थ बाह्य विषयों की अभिलाषा है। जब चित्त नाना विषयों से आकर्षित होता है तो एक आलम्बन में टिकता नहीं। विषय के प्रति आकर्षण चित्त की एकाग्रता में बाधक है।

व्यापादः व्यापाद हिंसा को कहते हैं। यह प्रीति का प्रतिपक्ष है। व्यापाद के समाप्त होने से प्रीति का विकास होता है।

स्त्यान-मिद्धः 'स्त्यान' चित्त की अकर्मण्यता और मिद्ध आलस्य को कहते हैं। स्त्यान-मिद्ध के समाप्त होने से वितर्क का विकास होता है।

औद्धत्य-कौकृत्यः औद्धत्य जिसमें चित्त अस्तव्यस्त रहता है स्थिर नहीं रहता और कौकृत्य 'खेद-पश्चाताप' को कहते हैं। औद्धत्य-कौकृत्य का विनाश होने से सुख का उदय होता है।

विचिकित्साः विचिकित्सा संशय को कहते हैं। विचिकित्सा से बाधित चित्त ध्यान का लाभ कराने वाले मार्ग में आरोहण नहीं करता। इस विघ्न का नाश होने से विचार का विकास होता है।

तात्पर्य यह है कि विषयों में लीन होने के कारण समाधि में चित्त की प्रतिष्ठा नहीं होती। हिंसा भाव से अभिभूत चित्त की निरन्तर प्रगति नहीं होती। स्त्यान-मिद्ध से अभिभूत चित्त अकर्मण्य होता है। चित्त के अनवस्थित होने से और खेद से शान्ति नहीं मिलती और चित्त भ्रान्त रहता है। विचिकित्सा से उपहत चित्त ध्यान का लाभ कराने वाले मार्ग में आरोहण नहीं करता। इसलिए इन विघ्नों का नाश करना चाहिये। नीवरणों के नाश से ध्यान का लाभ और ध्यान के पांच अंग वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता का प्रादुर्भाव होता है।

चर्या

बौद्ध ध्यान-पद्धति में ध्यान साधक के लिए कौन सा आलम्बन उपयुक्त होगा, इसका निर्णय उसकी चर्या अर्थात् जीवनशैली के आधार पर किया जाता है। ध्यान का आलम्बन कर्मस्थान कहलाता है। जब विशेष गुणों से सम्पन्न योगी कर्मस्थान की याचना करता है तो आचार्य उसकी चर्या की परीक्षा करता है। जो आचार्य दूसरों के चित्त को जानने में समर्थ होता है वह चित्ताचार का सूक्ष्म निरीक्षण कर स्वयं ही योगी के चरित का परिचय प्राप्त कर लेता है पर जो इस प्रकार के विशिष्ट ऋद्धि-बल से सम्पन्न नहीं होता वह विविध प्रश्नों द्वारा योगी की चर्या जानने की चेष्टा करता है। चर्या का सम्बन्ध साधक की अभिरुचि, संस्कार, कार्यशैली इत्यादि से होता है। चर्या को जानने के लिए आचार्य योगी से पूछता है कि वे कौन से धर्म हैं जिनका तुम प्रायः आचरण करते हो? क्या करने से तुम सुखी होते हो? किस कर्मस्थान में तुम्हारा चित्त लगता है? इस प्रकार चर्या का विनिश्चय कर आचार्य चर्या के अनुकूल कर्मस्थान बतलाता है। योगी कर्मस्थान का अर्थ और अभिप्राय भली प्रकार जानने की चेष्टा करता है। वह आचार्य के व्याख्यान को मनोयोग से आदरपूर्वक सुनता है। इस विधि से ही योगी का कर्मस्थान सुगृहीत होता है।

चर्या के स्वरूप को समग्रता से समझने के लिए चर्या के कितने प्रभेद हैं, किस चर्या का क्या निदान है, कैसे जाना जाये कि अमुक मनुष्य अमुक चरित वाला है और किस चरित के लिए कौन से शयनासन आदि उपयुक्त हैं, इत्यादि बातों को समझना आवश्यक है। जो निम्नानुसार हैं—

14.3 चर्या के भेद

चर्या का अर्थ है प्रकृति, अन्य धर्मों की अपेक्षा किसी विशेष धर्म की उत्सन्नता अर्थात् अधिकता। चर्या के छः प्रकार हैं—राग-चर्या, द्वेषचर्या, मोहचर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और वितर्कचर्या। इन छः के योग से (Law of permutation) और भी चर्यायें बनती हैं। अतः कुछ के अनुसार रागादि की चार और चर्यायें हैं, जैसे—राग-मोह चर्या, राग-द्वेषचर्या, द्वेष-मोहचर्या और राग-द्वेष-मोह चर्या। इसी प्रकार श्रद्धादि चर्याओं से श्रद्धा-बुद्धि चर्या, श्रद्धा-वितर्कचर्या, बुद्धि-वितर्क चर्या, श्रद्धा-बुद्धि वितर्क चर्या ये चार चर्याएं और भी बनती हैं। इस प्रकार इनके मत में कुल चौदह चर्यायें हैं। यदि हम रागादि का श्रद्धादि चर्याओं से सम्प्रयोग करें तो चर्याओं की तिरसठ और इससे भी अधिक संख्या हो सकती हैं। अतः संक्षेप में छः ही मूलचर्याएं हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रागचर्या से तात्पर्य व्यक्ति में अधिक मात्रा में रागात्मक प्रवृत्ति का होना है। इसी प्रकार द्वेष की प्रधानता होने से प्रवृत्ति द्वेषभाव से प्रभावित होती है, अतः वह द्वेषचर्या कहलाती है तथा मोह की प्रबलता के कारण मोह से प्रभावित होने से मोहचर्या कहलाती है। इसी प्रकार अन्यान्य चर्याओं को समझ लेना चाहिये। इन मूल चर्याओं के आधार पर व्यक्ति भी छः प्रकार के होते हैं—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित और वितर्कचरित।

14.4 चर्या का निदान

चर्या के निदान से तात्पर्य है—व्यक्ति में रागादिचर्या क्यों पाई जाती हैं? इनका कारण क्या है? इसे बतलाना।

रागादि चर्या के कारण की खोज में मुख्यतः तीन बातों पर ध्यान दिया गया है—पूर्व जन्म का आचरण, धातुदोष तथा योनि। जिसने पूर्वजन्मों में अनेक शुभ कर्म किये हैं और जो स्वर्ग से च्युत होकर इस लोक में जन्म लेता है वह रागचरित होता है। पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु इन चारों धातुओं के समान भाग में रहने से व्यक्ति रागचरित होता है। जिसने पूर्व जन्मों में छेदन, वध, बन्धन आदि अनेक वैर कर्म किये हैं या जो नरक या नागयोनि से च्युत हो इस लोक में उत्पन्न होता है वह द्वेषचरित होता है। अग्नि और वायु धातु की अधिकता से व्यक्ति द्वेषचरित होता है। जिसने पूर्व जन्मों में अधिक परिमाण में निरन्तर मद्यपान किया है और जो श्रुतविहीन है या जो निकृष्ट पशुयोनि से च्युत होकर इस लोक में उत्पन्न होता है वह मोहचरित होता है। पृथ्वी तथा जलधातु की अधिकता से व्यक्ति मोहचरित होता है। रागचरित की तरह श्रद्धाचरित, द्वेषचरित की तरह बुद्धिचरित और मोहचरित की तरह वितर्कचरित को समझ लेना चाहिये।

14.5 चर्या के लक्षण

अब प्रश्न यह है कि किस प्रकार जाना जाये कि यह व्यक्ति रागचरित है। इसका निश्चय ईर्यापथ (वृत्ति), कृत्य, भोजन, दर्शन आदि तथा धर्म-प्रवृत्ति (चित्त की विविध अवस्थाओं की प्रवृत्ति) द्वारा होता है। ये चर्या के जानने के लक्षण हैं।

14.5.1 ईर्यापथ

जो राग चरित होता है उसकी गति अकृत्रिम, स्वाभाविक होती है। वह चतुरभाव से धीरे-धीरे पद-निक्षेप करता है। वह समभाव से पैर रखता है और उठाता है; उसके पदतल का मध्यभाग भूमि का स्पर्श नहीं करता। जो द्वेषचरित है वह जब चलता है तब मालूम होता है मानो भूमि को खोद रहा है। वह सहसा पैर रखता है और उठाता है। पाद-निक्षेप के समय ऐसा मालूम पड़ता है मानो पैर पीछे की ओर खींचता है। मोहचरित की गति व्याकुल होती है। वह भीत पुरुष की तरह पैर रखता है और उठाता है। वह अग्रपाद से गति को सहसा रोकता है। रागचरित पुरुष जब खड़ा होता है या बैठता है तो उसका आकार मधुर होता है। द्वेषचरित पुरुष का आकार स्तब्ध होता है और मोहचरित का आकुल होता है। रागचरित पुरुष बिना त्वरा के अपना बिछौना ठीक तरह से बिछाता है और धीरे से शयन करता है। शयन करते समय वह अपने अंग प्रत्यंग का विक्षेप नहीं करता और उसका आकार प्रसन्नकरने वाला होता है। उठाये जाने पर वह चौंक कर नहीं उठता किन्तु शंकाशील व्यक्ति को मृदु उत्तर देता है। द्वेषचरित पुरुष जल्दी से जल्दी किसी न किसी प्रकार अपने बिछौने को बिछाता है और अनियंत्रित ढंग से अंग-प्रत्यंग का सहसा निक्षेप कर भृकुटि चढ़ाकर सोता है। उठाये जाने पर सहसा उठता है और क्रुद्ध होकर उत्तर देता है। मोहचरित पुरुष का बिछौना बेतरतीब होता है। वह हाथ-पैर फैलाकर प्रायः मुंह नीचा कर सोता है। उठाये जाने पर हुंकार करते हुए मन्दभाव से उठता है। श्रद्धाचरित आदि की प्रवृत्ति रागचरित आदि की तरह होती है, क्योंकि इनकी परस्पर में कुछ बातों के लिए समानता पाई जाती है।

14.5.2 कृत्य

कृत्य से भी चर्या का निश्चय होता है। कार्य करने का ढंग कैसा है? व्यक्ति को देखकर व्यक्तित्व की पहचान हो जाती है। जैसे झाडू देते समय रागचरित पुरुष बिना जल्दबाजी के झाडू को अच्छी तरह पकड़कर समान रूप से झाडू देता है और स्थान को अच्छी तरह साफ करता है। द्वेषचरित पुरुष झाडू को कसकर पकड़ता है और जल्दी-जल्दी दोनों ओर बालू उड़ाता हुआ साफ करता है। इससे स्थान भी पूर्णतः साफ नहीं होता। मोहचरित पुरुष झाडू को शिथिलता के साथ पकड़कर इधर-उधर चलाता है; स्थान भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साफ नहीं होता। इसी प्रकार अन्य क्रियाओं के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये। रागचरित पुरुष कार्य में कुशल होता है; सुन्दर तथा समरूप से सावधानता के साथ कार्य करता है। द्वेषचरित पुरुष का कार्य स्थिर, स्तब्ध और विषम होता है और मोहचरित पुरुष कार्य में अनिपुण, व्याकुल, विषम और अयथार्थ होता है।

14.5.3 भोजन

रागचरित पुरुष को स्निग्ध और मधुर भोजन प्रिय होता है। वह धीरे-धीरे विविध रसों का आस्वाद लेते हुए भोजन करता है। अच्छा भोजन करके उसको प्रसन्नता होती है। द्वेषचरित पुरुष को रूखा और आम्ल भोजन प्रिय होता है। वह बिना रसों का स्वाद लिए जल्दी-जल्दी भोजन करता है। यदि वह कोई बुरे स्वाद का पदार्थ खाता है तो उसे अप्रसन्नता होती है। मोहचरित पुरुष की रुचि अनियत होती है। वह विक्षिप्त चित्त पुरुष की तरह नाना प्रकार के वितर्क करते हुए भोजन करता है।

14.5.4 दर्शन

दर्शन से तात्पर्य किसी वस्तु की ओर देर तक देखना। रागचरित पुरुष थोड़ा भी मनोरम रूप देखकर विस्मित भाव से चिरकाल तक उसका अवलोकन करता रहता है। थोड़ा भी गुण हो तो उसमें अनुरक्त हो जाता है। वह यथार्थ दोष का भी ग्रहण नहीं करता। मनोरम रूप के पास से हटने की उसकी इच्छा नहीं होती। द्वेषचरित पुरुष थोड़ा भी अमनोरम रूप देखकर खेद को प्राप्त होता है। वह उसकी ओर देर तक देख नहीं सकता। थोड़ा भी दोष उसकी निगाह से बचकर नहीं जा सकता। यथार्थ गुण का भी वह ग्रहण नहीं करता। मोहचरित पुरुष जब कोई रूप देखता है तो वह उसके विषय में उपेक्षाभाव रखता है। दूसरों को निन्दा करते देखकर निन्दा और प्रशंसा करते देखकर प्रशंसा करता है।

14.5.5 धर्म प्रवृत्ति

धर्म प्रवृत्ति से तात्पर्य व्यक्ति की वृत्तियों से है। रागचरित पुरुष में माया, शठता, मान, पापेच्छा, असन्तोष, चपलता, लोभ, शृंगारभाव आदि धर्मों की बहुलता होती है। द्वेषचरित पुरुष में क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या मात्सर्य, दम्भ आदि धर्मों की बहुलता होती है। मोहचरित पुरुष में संदेह, आलस्य, चित्तविक्षेप, चित्त की अकर्मण्यता, पश्चात्ताप, दृढ़ आग्रह आदि धर्मों की बहुलता होती है। इस संदर्भ में श्रद्धाचरितादि रागचरितादि से कुछ भिन्न होते हैं। श्रद्धाचरित पुरुष का परित्याग निःसंङ्ग. होता है। वह आर्यों के दर्शन की तथा सद्धर्म-श्रवण की इच्छा करता है। उसमें प्रीति की बहुलता है। वह शठता और माया से रहित है। उचित स्थान में वह श्रद्धा रखता है। बुद्धिचरित पुरुष स्निग्धभाषी, मितभोजी और कल्याणमित्र होता है। वह सदा जागृत रहता है। संसार का दुःख देखकर उसमें संवेग उत्पन्न होता है और वह उद्योग करता है। वितर्कचरित पुरुष की कुशलधर्मों में अनिच्छा होती है। उसका चित्त चलायमान होता है। वह बहुभाषी और समाज-प्रिय होता है। वह इधर से उधर आलम्बनों के पीछे दौड़ता है।

14.5.6 शयनासन

उपर्युक्त चिह्नों के आधार पर आचार्य योगी की चर्या को जानकर निश्चय करता है कि यह पुरुष रागचरित है या द्वेष-चरित है। किस चरित वाले योगी को किस प्रकार का वातावरण देना चाहिए, यही शयनासन के अन्तर्गत निश्चित किया जाता है। शयनासन में मुख्यतः आवास, चीवर (वस्त्र), पात्र, मार्ग, भोजन ईर्यापथ और आलम्बन पर विचार किया जाता है।

उदाहरणार्थ रागचरित पुरुष को तृणकुटी में, पर्णशाला में, एक और झुके हुए पर्वतों के अधोभाग में या वेदिका से घिरे हुए अपरिशुद्ध भूमितल पर निवास करना चाहिये। उसका आवास धूल से भरा हुआ, छिन्न-भिन्न, अति ऊंचा अथवा नीचा, गंदा, चमगादड़ों से परिपूर्ण, छाया और पानी से रहित, सिंह व्याघ्र आदि के भय से युक्त, देखने में विरूप और अप्रशस्त रंगों वाला होना चाहिए। ऐसा आवास रागचरित पुरुष के लिए उपयुक्त है। चीवर (वस्त्र) की दृष्टि से रागचरित पुरुष के लिए ऐसा चीवर उपयुक्त होगा जो किनारों पर फटा हो, जिसके धागे चारों ओर से लटकते हों, जो देखने में जालाकार हो, जो छूने में खुरदरा और देखने में भद्दा, मैला और भारी हो। पात्र की दृष्टि से उसका पात्र मिट्टी का या लोहे का होना चाहिए। देखने में बदसूरत और भारी हो; कपाल की तरह घृणास्पद हो। उसकी भिक्षाचर्या का मार्ग विषम, अमनोरम और ग्राम से दूर होना चाहिये। भिक्षा के लिए उसे ऐसे गांव में जाना चाहिये जहां के लोग उसकी उपेक्षा करें, जहां एक कुल से भी जब उसे भिक्षा न मिले तब लोग भोजनशाला में बुलाकर उसे जौ से बना हुआ

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भोजन दें और वह बिना पूछे चलते बनें। परोसनेवाले भी दास या नौकर हों जो बेमन से भोजन देते हों। रागचरित योगी का भोजन रूक्ष, दुर्वर्ण और नीरस होना चाहिये। भोजन में कोदो (एक प्रकार का धान), चावल के कण, सड़ा हुआ छाछ और जीर्ण शाक का सूप होना चाहिये। उसका ईर्यापथ स्थान या चंक्रमण होना चाहिए अर्थात् उसे या तो खड़े रहना चाहिये या टहलना चाहिये। आलम्बन में नीलादि वर्ण-कसिणों में जिस आलम्बन का रंग (वर्ण) अप्रशस्त हों वह उसके लिए उपयुक्त है।

द्वेषचरित पुरुष के आवास (शयनासन) को न बहुत ऊंचा और न बहुत नीचा होना चाहिये। उसे छाया और जल से सम्पन्न तथा सुवासित होना चाहिए। उसका भूमितल समुज्ज्वल, मृदु, सम और स्निग्ध हो, सुन्दर तथा कुसुममाला और नानावर्ण के कपड़ों के वितानों से समलंकृत हो और जिसके देखने मात्र से चित्त को आह्लाद प्राप्त हो। उसको हल्का सुरक्त और शुद्ध वर्ण का रेशमी या पतला वस्त्र धारण करना चाहिए। उसका पात्र मणि की तरह चमकता हुआ और लोहे का होना चाहिए। भिक्षा का मार्ग भयरहित, सम, सुन्दर तथा ग्राम से न बहुत दूर और न बहुत निकट ही होना चाहिये। जिस ग्राम में वह भिक्षाचर्या के लिये जाए वहां के लोग आदरपूर्वक उसको भोजन के लिए अपने घर पर निमंत्रित करें और आसन पर बैठाकर अपने हाथ से भोजन करायें। परोसने वाले मन को प्रिय लगने वाले वस्त्र धारण कर, आभरणों से प्रतिमण्डित हो आदर के साथ भोजन परोसें। भोजन वर्ण, गन्ध और रस से सम्पन्न हो और हर प्रकार से उत्कृष्ट हो। ईर्यापथ में उसके लिए शय्या या निषद्या उपयुक्त है अर्थात् उसे लेटना या बैठना चाहिए। आलम्बन के अन्तर्गत नीलादि वर्ण कसिणों में जो आलम्बन सुपरिशुद्ध वर्ण का हो वह उसके लिए उपयुक्त है।

मोहचरित पुरुष का आवास खुले हुए स्थान में होना चाहिए; जहां बैठकर वह सब दिशाओं को स्पष्ट रूप देख सके। चार ईर्यापथों में से इसके लिए टहलना उपयुक्त है। आलम्बनों में छोटे (क्षुद्र) आलम्बन इसके लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि घिरी जगह में चित्त और भी मोह को प्राप्त होता है। इसलिए मोहचरित पुरुष का आलंबन विस्तृण होना चाहिए। शेष बातों में मोहचरित पुरुष द्वेषचरित पुरुष के समान है।

श्रद्धाचरित के लिए आलम्बन के अलावा सारा वातावरण द्वेषचरित की भांति होना चाहिए। आलम्बन की दृष्टि से अनुस्मृति स्थान भी उपयुक्त है। 'अनुस्मृति' का अर्थ है बार-बार स्मरण अथवा 'अनुरूप स्मृति।' जो स्मृति उचित स्थान में प्रवर्तित होती है वह योगी के अनुरूप होती है। अनुस्मृति के दस विषय हैं। इन्हें अनुस्मृति स्थान कहते हैं जिनका विस्तृत विवेचन 'कर्मस्थान' नामक पाठ में उपलब्ध है।

बुद्धिचरित पुरुष के लिए आवासादि किसी भी प्रकार के हो सकते हैं। उसके लिए कुछ भी अनुपयुक्त नहीं होता है।

वितर्कचरित पुरुष के लिए दिशाभिमुख, खुला हुआ आवास उपयुक्त नहीं है, क्योंकि ऐसे स्थान से उसको बगीचा, वन तालाब आदि दिखलाई देंगी, जिससे चित्त का विक्षेप होगा और वितर्क की वृद्धि होगी। इसलिए उसे गंभीर पर्वत-विवर में रहना चाहिए। इसके लिए विपुल आलम्बन भी उपयुक्त नहीं होगा; क्योंकि यह भी वितर्क की वृद्धि में हेतु होगा। उसका आलम्बन छोटा होना चाहिये। शेष बातों में वितर्कचरित पुरुष रागचरित पुरुष के समान है।

इस प्रकार चर्या क्या है, उसके कितने प्रकार हैं; उसके कारण क्या हैं तथा किस चर्या वाले योगी को किस वातावरण में रहकर समाधि की साधना करना चाहिये—इत्यादि बातों का संक्षेप में विवेचन किया गया। अब हम साधना में बाधक बनने वाले तत्त्वों का अध्ययन करेंगे जिन्हें पलिबोध की संज्ञा दी गई है।

14.6 सारांश-इस प्रकार इस पाठ में हमने चर्या तथा पलिबोध (विघ्न) की जानकारी प्राप्त की।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

14.7 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. चर्या के ऊपर विस्तार से प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. पलिबोध क्या है? संक्षिप्त में विवेचन करें।
2. नीवरण से आप क्या समझते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक पंक्ति में उत्तर दें—

1. चर्या का अर्थ क्या है?
2. चर्या के मूल में कितने प्रकार हैं?
3. चर्या के निदान से आप क्या समझते हैं?
4. चर्या के कितने लक्षण निर्दिष्ट हैं? नामोल्लेख करें।
5. धर्म प्रवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है?
6. कामछन्द का अर्थ क्या है?
7. पांच नीवरणों के समाप्त होने से किन पांच अंगों का उदय होता है?
8. पलिबोधों का उल्लेख करें।
9. औद्धत्य से आप क्या समझते हैं?
10. कौकृत्य से आप क्या समझते हैं?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–15 : ध्यान का विषय (कर्मस्थान)

संरचना

15.0 प्रस्तावना
15.1 उद्देश्य
15.2 दस कसिण
15.3 दस अशुभ
15.4 दस अनुस्मृति
15.5 चार ब्रह्मविहार
15.6 चार आरूप्य
15.7 सारांश
15.8 अभ्यास प्रश्नावली

15.0 प्रस्तावना

समाधि की साधना में चित्त की एकाग्रता का महत्त्व है। विविध दिशागामी चित्त को एकाग्र बनाने के लिए उसे किसी एक वस्तु अथवा आलम्बन पर केन्द्रित किया जाता है। ध्यान अथवा समाधि के आलम्बन को ही बौद्ध-ध्यान पद्धति में कर्मस्थान कहा जाता है। दूसरे शब्दों में कर्मस्थान समाधि के साधन को कहते हैं। योगानुयोग अर्थात् समाधि के अनुकूल प्रवृत्ति ही कर्म है। इसका स्थान अर्थात् 'निष्पत्ति हेतु' कर्मस्थान है। इसीलिए कर्मस्थान उसे कहते हैं जिसके द्वारा समाधि भावना की निष्पत्ति होती है। कर्मस्थान चालीस हैं। इन चालीस साधनों में से किसी एक का जो अपनी चर्या के अनुकूल हो, ग्रहण करना पड़ता है। कर्मस्थान को देने वाला कल्याण मित्र कहलाता है।

चालीस कर्मस्थानों को पाली में 'परिहारिय कम्मट्ठान' कहते हैं, क्योंकि इनमें से जो चर्या के अनुकूल होता है उसका नित्य परिहरण अर्थात् पालन (अनुयोग) करना पड़ता है। परिहारिक कर्मस्थान के अतिरिक्त 'सव्वत्थक-कम्मट्ठान' भी हैं। सर्वार्थक इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि वे सबको लाभ पहुंचाते हैं। मैत्री भावना, मरण-स्मृति और कुछ आचार्यों के अनुसार अशुभ-संज्ञा भी सर्वार्थक कर्मस्थान कहलाते हैं।

बुद्धघोष ने विशुद्धिमग्ग में चालीस कर्मस्थानों का विस्तृत वर्णन किया है जिन पर साधक को अपना चित्त लगाना चाहिए। परन्तु इनकी संख्या अधिक भी हो सकती है। यह कल्याण मित्र की बुद्धि पर निर्भर रहता है कि वह अपने शिष्य को चित्तवृत्ति के अनुसार उचित कर्मस्थान की व्यवस्था करे।

चालीस कर्मस्थान ये हैं—दस कसिण (कृत्स्न), दस अशुभ, दस अनुस्मृति, चार ब्रह्मविहार, चार आरुप्य, एक संज्ञा, एक व्यवस्थान।

15.1 उद्देश्य– इसके अध्ययन से ध्यान के विषय कर्मस्थान की जानकारी हो सकेगी।

15.2 दस कसिण

कसिण शब्द संस्कृत 'कृत्स्न' से निष्पन्न हुआ है। कृत्स्न अर्थात् सम्पूर्ण। जो विषय सम्पूर्ण रूप से अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। इनकी ओर लगने से चित्त का सम्पूर्ण अंश विषय के आकार का हो जाता है। इसी कारण इन्हें कसिण संज्ञा प्राप्त है। इनकी संख्या दस है—पृथ्वी कृत्स्न (पुढवी कसिण), जल, तेज, वायु, नील, लोहित, पीत, अवदात (ओदात/सफेद), आलोक तथा परिच्छिन्नाकाश। इन कसिणों पर ध्यान करने की प्रक्रिया निम्नानुसार है—

1. पुढवी कसिण—इसमें मिट्टी के बने किसी पात्र का चुनाव किया जाता है। वह पात्र या मिट्टी रंग-बिरंगी नहीं होनी चाहिए। अन्यथा चित्त पृथ्वी से हटकर उसके रंग और आकार पर आकृष्ट हो जाता है। एकान्त स्थान में चित्त को उस पात्र पर केन्द्रित करना चाहिए। साथ ही साथ पृथ्वी तथा उसके वाचक शब्दों का धीरे-धीरे उच्चारण करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया के अभ्यास से नेत्र बंद कर देने पर उसी वस्तु का आकार भीतर झलकने लगता है। इसका नाम है—उग्गहनिमित्त का उदय। साधक उस एकान्त स्थान से हटकर अपने निवास स्थान पर जा सकता है। परन्तु उसे उस निमित्त पर ध्यान सतत लगाते रहना चाहिये। इससे उसके बाधा/विघ्नों तथा क्लेशों का नाश होता है। समाधि के इस उद्योग (उपचार समाधि) से चित्त

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक आलम्बन पर स्थिर होता है और इस स्थिति में वह वस्तु चित्त में पूर्व की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट तथा उज्ज्वल रूप से दृष्टिगत होने लगती है। इसे 'परिभाग निमित्त' का उदय कहते हैं। अब चित्त ध्यान की भूमियों में धीरे-धीरे आरोहण करता है। शेष कसिणों में भी यही प्रक्रिया रहेगी।

2. आपो कसिण—इसमें समुद्र, तालाब, नदी या वर्षा का जल ध्यान का विषय होता है।
3. तेजो कसिण—इसमें दीपक की लौ, चूल्हे में जलती हुई अग्नि या दावानल ध्यान के आलम्बन होते हैं।
4. वायु कसिण—इसमें बांस के सिरे या बाल के सिरे को हिलाने वाली वायु पर ध्यान देना होता है।
5. नील कसिण—इसमें नीले रंग के पुष्पों से भरे हुए किसी पात्र विशेष पर ध्यान दिया जाता है। उस पात्र को कपड़े से इस प्रकार ढक देना चाहिए जिससे वह ढोल के आकार का मालूम पड़ने लगे। तब उसके चारों ओर विभिन्न रंग की चीजें रख देनी चाहिए। साधक को इन नाना रंगों से चित्त को हटाकर केवल नील रंग पर ही लगाना चाहिए। यह 'नील कसिण' की प्रक्रिया है।
6. पीत कसिण—इसमें पीले रंग की वस्तुएं होनी चाहिए। प्रक्रिया पूर्ववत्।
7. लोहित कसिण—इसमें लाल रंग की वस्तुओं पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।
8. अवदात कसिण—इसमें सफेद या शुभ्र रंग की वस्तुओं पर ध्यान किया जाता है।
9. आलोक कसिण—इसमें प्रकाश के ऊपर ध्यान देना होता है; जैसे दीवाल या वृक्षों के पत्तों के छेद से होकर आने वाली चन्द्रकिरण या सूर्यकिरण।
10. परिच्छिन्नाकाश कसिण—इसमें परिच्छिन्न अर्थात् परिमित आकाश पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है; जैसे दीवार या खिड़की का बड़े छेद से दिखाई देने वाले आकाश को ध्यान का विषय बनाना होता है। भिन्न-भिन्न कसिणों में ऊपर लिखित विषयों पर ध्यान लगाना चाहिए। उन शब्दों का उच्चारण करते रहना चाहिए। तब उनके ऊपर चित्त समाहित होता है।

15.3 दस अशुभ

अशुभ कर्मस्थान में मृतक शरीर को ध्यान का विषय नियत किया गया है। बुद्ध धर्म में मृतक शरीर के ध्यान से जगत् की अनित्यता की शिक्षा लेने पर विशेष जोर दिया गया है। जब इस सुंदर शरीर का चरम परिणाम यह कुरूप मृतक शरीर है, तब चित्त में अभिमान के लिए स्थान कहां? सौन्दर्य की भावना से अपने चित्त को गर्वोन्नत करने की आवश्यकता ही कौन सी है? मृतक शरीर की दस अवस्थायें हैं जिन्हें लक्ष्य मानने से अशुभ कर्मस्थान दस प्रकार का होता है जो निम्नानुसार है—

11. उद्धुमातकम्—फूला हुआ शव।
12. विनीलकम्—शव का रंग नीला पड़ जाता है।
13. विपुब्बकम्—पीब से भरा शव।
14. विच्छिदकम्—अंग भंग से युक्त शव।
15. विक्खायितकम्—कुत्ते या सियारों से छिन्न-भिन्न शव।
16. विक्खित्तम्—बिखरे हुए अंग वाला शव।
17. हतविक्खित्तम्—कुछ नष्ट और कुछ छिन्न-भिन्न अंग वाला शव।
18. लोहितकम्—खून से इधर-उधर ढका हुआ शव।
19. पुलुवकम्—कीड़ों से भरा हुआ शव।
20. अट्टिकम्—शव का अस्थि पंजर

अशुभ कर्मस्थान में उपयुक्त शरीरों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। बुद्धघोष ने शव के स्थान आदि के विषय में भी अनेक नियम बताये हैं। इन विषयों पर ध्यान देने से वह वस्तु चित्त में स्फुरित होती है। क्लेशों तथा नीवरणों का नाश होता है। चित्त समाहित होता है।

15.4 दस अनुस्मृति

अब तक वर्णित कर्मस्थान वस्तु रूप हैं जिनकी बाह्य सत्ता विद्यमान है। अनुस्मृतियों में ध्येय विषय कल्पनामात्र है, बाह्यरूप में उनकी सत्ता नहीं। वस्तु की प्रतीति या कल्पना पर चित्त लगाने से समाधि की अवस्था उत्पन्न होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21. बुद्धानुस्मृति—भगवान् बुद्ध पर ध्यान केन्द्रित करके उनके गुणों की भावना की जाती है।
22. धर्मानुस्मृति—धर्म की भावना की जाती है।
23. संघानुस्मृति—संघ के गुणों पर चित्त लगाना होता है।
24. शीलानुस्मृति—शील पर चित्त को केन्द्रित करना होता है।
25. देवतानुस्मृति—देवता अर्थात् देवलोक में जन्म लेने के उपाय की भावना पर चित्त लगाना होता है।
26. त्यागानुस्मृति—त्याग की भावना पर चित्त लगाना होता है।
27. मरणानुस्मृति—इसमें शव को देखकर मरण की भावना पर चित्त को केन्द्रित किया जाता है जिससे चित्त में जगत् की अनित्यता का भाव उत्पन्न होता है।
28. कायगतानुस्मृति—साधक को शरीर के नाना प्रकार के मल से मिश्रित अङ्ग.-प्रत्यङ्ग.ों की भावना पर चित्त लगाना चाहिए। मानव शरीर क्या है? अनेक प्रकार के मल-मूत्रादि का समूह मात्र ही तो है। यही भावना इस कर्मस्थान का विषय है।
29. आनापानानुस्मृति (प्राणायाम)—इस अनुस्मृति का वर्णन दीघनिकाय में 'अनुसति' के नाम से विशेष रूप से मिलता है। एकान्त स्थान में बैठकर आश्वास और प्रश्वास पर ध्यान देना चाहिए। आश्वास नाभि से प्रारम्भ होता है, हृदय से होकर जाता है तथा नासिकाग्र से वह बाहर निकलता है। इस प्रकार उसका आदि, मध्य तथा अन्त तीनों हैं। आश्वास तथा प्रश्वास को नियमत: करने से चित्त में शांति का उदय होता है। बुद्धघोष ने प्राणायाम के विषय में अनेक ज्ञातव्य विषयों का निर्देश किया है।
30. उपशमानुस्मृति—उपशम से तात्पर्य निर्वाण, मुक्ति या मोक्ष से है। इस अनुस्मृति में निर्वाण पर ध्यान किया जाता है।

15.5 चार ब्रह्मविहार

मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा यह चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थायें हैं। इनको 'ब्रह्मविहार' कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन हैं। जीवों के प्रति किस प्रकार सम्यक् व्यवहार करना चाहिये, इसका भी यह निदर्शन है। जो योगी इन चार ब्रह्मविहारों की भावना करते हैं वे ब्रह्मलोक में जन्म लेते हैं और वहां की आनंदमय वस्तुओं का उपयोग करते हैं। वह सब प्राणियों के हित-सुख की कामना करता है। वह दूसरों के दु:खों को दूर करने की चेष्टा करता है। जो सम्पन्न हैं, गुणवान् हैं उसको देखकर वह प्रसन्न होता है। उनसे ईर्ष्या नहीं करता। सब प्राणियों के प्रति उसका समभाव होता है, किसी के साथ वह पक्षपात नहीं करता।

संक्षेप में इन चार भावनाओं के द्वारा राग, द्वेष, ईर्ष्या, दूसरों का दोष देखना, निकालना आदि चित्त के मलों का शोधन होता है। योग की अन्य क्रियाएं केवल आत्महित के साधन हैं किन्तु ये चार ब्रह्मविहार परहित के भी साधन हैं। इन्हें आर्यधर्म के ग्रन्थों में 'अप्रमाण' भी कहा है, क्योंकि अपरिमित प्राणी या जीव इन भावनाओं के आलम्बन होते हैं।

31. **मैत्री**—जीवों के प्रति स्नेह और सहृदयभाव प्रवर्तित करना मैत्री है। मैत्री की प्रवृत्ति परहित-साधन के लिए है। जीवों का उपकार करना, उनके सुख की कामना करना, द्वेष और द्रोह का परित्याग इसके लक्षण हैं। मैत्री भावना की सम्यक्-निष्पत्ति से द्वेष का उपशम होता है। मैत्री की प्रवृत्ति जीवों के शील आदि गुणों के कारण होती है। राग भी गुण देखकर बढ़ता है। इस प्रकार राग और मैत्री में समानता है। इसलिए कभी-कभी राग मैत्री की भांति प्रतीत होता है। सम्यक् स्मृति का थोड़ा सा भी लोप होने से साधक मैत्री के स्थान पर राग को आलम्बन बना लेता है। इसलिए यदि विवेक और सावधानी से भावना न की जाय तो चित्त के रागारूढ़ होने का भय रहता है। इस विषय में यह स्मरण रखना चाहिये कि मैत्री तृष्णा के कारण नहीं होती अपितु जीवों के हितसिद्धि के लिए होती है। राग लोभ और मोह के कारण होता है किन्तु मैत्री का स्नेह मोहवश नहीं होता अपितु ज्ञानपूर्वक होता है। मैत्री का स्वभाव अद्वेष है और यह अलोभ-युक्त होता है।
32. **करुणा**—पराये दु:ख को देखकर सत्पुरुषों के हृदय में जो कम्पन होता है उसे 'करुणा' कहते हैं। करुणा की प्रवृत्ति जीवों के दु:ख को दूर करने के लिए होती है। दूसरों के दु:ख को देखकर करुणाशील

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

का हृदय करुणा से द्रवित हो जाता है। करुणा-भावना की सम्यक्-निष्पत्ति से विहिंसा का उपशम होता है। शोक की उत्पत्ति से इस भावना का नाश होता है। शोक, दौर्मनस्य इस भावना के विरोधी या बाधक तत्त्व हैं।

33. **मुदिता**—मुदिता का लक्षण 'हर्ष' है। जो मुदिता की भावना करता है वह दूसरों को सम्पन्न देखकर हर्ष करता है, उनसे ईर्ष्या या द्वेष नहीं करता। दूसरों की सम्पत्ति, पुण्य और गुणोत्कर्ष को देखकर उसको असूया और अप्रीति नहीं उत्पन्न होती। मुदिता की भावना की निष्पत्ति से अरति/अप्रीति का उपशम होता है पर यह प्रीति संसारी पुरुष की प्रीति नहीं है। मुदिता भावना में हर्ष का जो उत्पाद होता है उसका शान्त प्रवाह होता है। वह उद्वेग और क्षोभ से रहित होता है।

34. **उपेक्षा**—जीवों के प्रति उदासीन भाव 'उपेक्षा' है। 'उपेक्षा' की भावना करने वाला योगी जीवों के प्रति सम-भाव रखता है। वह प्रिय-अप्रिय में कोई भेद नहीं करता। सबके प्रति उसकी उदासीन वृत्ति होती है। वह प्रतिकूल और अप्रतिकूल इन दोनों आकारों का ग्रहण नहीं करता, इसीलिए उपेक्षा-भावना की निष्पत्ति होने से हिंसा और अनुनय दोनों का उपशम होता है।

इस प्रकार मैत्री भावना का विशेष कार्य द्वेष का प्रतिघात करना है। करुणा भावना का विशेष कार्य हिंसा का प्रतिघात करना है। मुदिता भावना का विशेष कार्य अरति, अप्रीति का नाश करना है और उपेक्षा-भावना का विशेष कार्य राग का प्रतिघात करना है।

15.6 चार आरूप्य

चार ब्रह्मविहारों के पश्चात् चार अरूप-कर्मस्थान उद्दिष्ट हैं। अरूप-आयतन चार हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, अकिञ्चन्यायतन ओर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

अब तक वर्णित कर्मस्थान वासनामय जगत् से भौतिक जगत् में ले जाते हैं। उसके आगे के लोग 'अभौतिक जगत्' में जाने के लिए उपर्युक्त चार अरूप वस्तुओं पर ध्यान करते हैं।

35. आकाशानन्त्यायतन—इसमें तीन संज्ञाओं का निवारण होता है—रूपसंज्ञा अर्थात् जड़सृष्टि सम्बन्धी; प्रतिघसंज्ञा अर्थात् इन्द्रिय और विषयों का प्रत्याघातमूलक इन्द्रियों और विषयों के सम्पर्क से होनेवाला संवेदनमूलक विचार (प्रत्याघातमूलक) विचार; नानात्वसंज्ञा अर्थात् अनेकविध रूप-शब्दादि आलम्बनों का विचार। इन तीनों संज्ञाओं का अनुक्रम से समतिक्रम (अतिक्रमण), अस्तंगम (दिखाई नहीं देना) और अमसिकाए (मन में विकल्प न होना) होने पर 'आकाश अनन्त' है, ऐसी संज्ञा (बोध) उत्पन्न होती है। इसे आकाशानन्त्यायतन-ध्यान कहते हैं।

आकाश कसिण के अन्तर्गत भी आकाश पर ध्यान किया जाता है किन्तु इस नवीन कर्मस्थान में अनन्त आकाश पर चित्त केन्द्रित किया जाता है। कसिण प्रथम छोटे आकार का होता है जिसे अनुक्रम से बढ़ाकर समस्त विश्वाकार किया जाता है। उस विश्वाकार आकृति पर चतुर्थ ध्यान (इसकी चर्चा समाधि के प्रकार वाले पाठ में देखें।) से सिद्ध करने के पश्चात् योगी अपने ध्यान-बल से उस आकृति को दूर करके 'विश्व में केवल एक आकाश ही भरा हुआ है' ऐसा देखता है। चतुर्थ ध्यान तक रूपात्मक आलम्बन था; अब अरूपात्मक आलम्बन है। इसलिए 'आकाश अनन्त है' ऐसी संज्ञा होने से इसे आकाशानन्त्यायतन कहा है। इससे पञ्चम ध्यान का उदय होता है।

36. विज्ञानानन्त्यायतन—इस ध्यान में योगी आकाश-संज्ञा का अतिक्रमण करता है। आकाश की अनन्त मर्यादा ही विज्ञान की मर्यादा है। ऐसी संज्ञा उत्पन्न करने पर वह विज्ञान की अनन्तता का आलम्बन लेता है, इससे षष्ठम ध्यान का उदय होता है।

37. आकिञ्चन्यायतन—इस ध्यान में योगी विज्ञान में भी दोष देखता है और उसका अतिक्रमण करने के लिए विज्ञान के अभाव की संज्ञा प्राप्त करता है। 'अभाव भी अनन्त है; कुछ भी नहीं है, कुछ भी नहीं है, सब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कुछ शान्त है' इस प्रकार की भावना करने पर योगी इस तृतीय अरूप-ध्यान को प्राप्त करता है। इससे सप्तम ध्यान का उदय होता है।

38. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—अभाव की संज्ञा भी बड़ी स्थूल है। अभाव की संज्ञा का भी अभाव जिसमें है, ऐसा अतिशान्त सूक्ष्म यह चौथा आयतन है। इस ध्यान में संज्ञा अति 'सूक्ष्म-रूप' में रहती है, इसलिए उसे असंज्ञा नहीं कह सकते और स्थूल-रूप में न होने के कारण उसे संज्ञा भी नहीं कहते हैं। पालि में एक उपमा के द्वारा इसे समझाया गया है। गुरु और शिष्य प्रवास में थे। रास्ते में थोड़ा पानी था। शिष्य ने कहा आचार्य! मार्ग में पानी है, इसलिए जूता निकाल लीजिये। गुरु ने कहा—'अच्छा तो स्नान कर लूं, लोटा दो।' शिष्य ने कहा—'गुरुदेव! स्नान करने जितना पानी नहीं है।' जिस प्रकार जूतों को भिगाने के लिए पर्याप्त पानी है किन्तु स्नान के लिए पर्याप्त नहीं, इसी प्रकार इस आयतन में संज्ञा का अतिसूक्ष्म अंश विद्यमान है किन्तु संज्ञा का कार्य हो, इतना स्थूल भी वह नहीं है, इसीलिए इस आयतन को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन कहा है। इससे अष्टम ध्यान का उदय होता है।

इस आयतन को प्राप्त करने पर ही योगी निरोध-समापत्ति को प्राप्त कर सकता है, जिसमें अमुक काल (सात दिन) तक योगी की मनोवृत्तियों का पूर्णरूप से निरोध होता है।

इन चार अरूप ध्यानों में केवल दो ही ध्यानाङ्ग. रहते हैं—उपेक्षा और एकाग्रता। ये चार ध्यान अनुक्रम से शान्ततर, प्रणीततर और सूक्ष्मतर होते हैं।

39. आहार में प्रतिकूल संज्ञा—आरूप्य कर्मस्थानों के अनन्तर आहार में प्रतिकूल-संज्ञा नामक कर्मस्थान निर्दिष्ट है। 'आहरण' करने के कारण 'आहार' कहते हैं। यह चार प्रकार का है—कवलीकार (खाद्य पदार्थ), स्पर्शाहार, मनोसञ्चेतनाहार और विज्ञानाहार। इनमें से कवलीकार आहार तेजस्वितायुक्त रूप का आहरण करता है। स्पर्शाहार सुख, दुःख, उपेक्षा इन तीन वेदनाओं का आहरण करता है। मनोसञ्चेतनाहार काम, रूप, अरूप भवों में प्रतिसन्धि का आहरण करता है। विज्ञानाहार प्रतिसन्धि के क्षण में नाम-रूप का आहरण करता है। इन चारों आहारों में से यहां केवल कवलीकार आहार ही अभिप्रेत है। उस आहार में प्रतिकूलसंज्ञा अर्थात् भोजन से घृणा होना, यही कर्मस्थान है। इसमें भोजन से सम्बद्ध बुराइयों पर ध्यान दिया जाता है। भोजन के लिए दूर-दूर जाना, भोजन के न पचने से अनेक बुराइयां आदि बातों पर ध्यान देने से साधक का चित्त प्रथमतः भोजन की तृष्णा से निवृत्त होता है और बाद में सब प्रकार की तृष्णा से।

इस संज्ञा में योगी की रस-तृष्णा नष्ट होती है। वह केवल दुःख निस्सरण के लिए ही आहार का सेवन करता है। पांच प्रकार के काम-गुण में राग उत्पन्न नहीं होता है।

40. चतुर्धातु व्यवस्थान—चालीस कर्मस्थानों में यह अंतिम कर्मस्थान है। स्वभाव-निरूपण द्वारा विनिश्चय को 'व्यवस्थान' कहते हैं। महासतिपट्ठान, महादृत्थिपादोपम, राहुलोवाद आदि सूत्रों में इसका विशेष वर्णन आता है। महासतिपट्ठान-सुत में कहा है—भिक्षुओं! जिस प्रकार कोई दक्ष गोघातक बैल को मारकर चौराहे पर खण्ड-खण्ड कर रख दे और उसे उन खण्डों को देखकर 'यह बैल है' ऐसी संज्ञा उत्पन्न नहीं होगी, उसी प्रकार भिक्षु इसी शरीर (काय) को धातु द्वारा व्यवस्थित करता है कि इस काय में पृथ्वी-धातु है, आपो-धातु है, तेजो-धातु है, वायु-धातु है। इस प्रकार के व्यवस्थान से शरीर में 'यह सत्त्व है, यह पुद्गल है, यह आत्मा है' ऐसी संज्ञा नष्ट होकर धातु-संज्ञा ही उत्पन्न होती है।

चतुर्धातु-व्यवस्थान में संलग्न योगी शून्यता में अवगाह करता है। सत्त्वसंज्ञा का विनाश करता है और महाप्रज्ञा को प्राप्त करता है।

15.7 सारांश–इस प्रकार हमने इस पाठ में कर्मस्थानों की अत्यन्त संक्षेप में जानकारी प्राप्त की। विस्तार हेतु बौद्ध-धर्म-दर्शन ग्रन्थ का अवलोकन करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

15.8 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कर्मस्थान पर विस्तार से प्रकाश डालें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. अरूप ध्यानों पर प्रकाश डालें।
2. चार ब्रह्मविहारों को स्पष्ट करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

एक वाक्य में उत्तर दें—

1. कर्मस्थान से आप क्या समझते हैं?
2. कल्याण मित्र किसे कहते हैं?
3. अवदात कसिण में किस पर ध्यान किया जाता है?
4. उग्गह निमित्त किसे कहते हैं?
5. मैत्री और राग में क्या अंतर हैं?
6. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में क्या सर्वथा संज्ञा का अभाव होता है?
7. आहार के कितने प्रकार हैं? उल्लेख करें।
8. मरणानुस्मृति किसे कहते हैं?
9. चालीस कर्मस्थानों की चर्चा कहां मिलती है?
10. चतुर्धातु व्यवस्थान की चर्चा किन ग्रन्थों में पाई जाती है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–4 : कर्म के स्वरूप

इकाई–16 : कर्म स्वरूप, बंध के हेतु एवं प्रक्रिया

संरचना

16.0 प्रस्तावना
16.1 उद्देश्य
16.2 जैन कर्म सिद्धान्त की महत्वपूर्ण विशेषताएं
16.3 भारतीय दर्शन में कर्म स्वीकृति का हेतु
16.4 आत्मा का आंतरिक वातावरण बनाम परिस्थिति
16.5 जैन दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ
16.6 कर्म की परिभाषा और उसके आठ प्रकार
16.7 घाति–अघाति कर्म
16.8 द्रव्य कर्म और भावकर्म
16.9 जैन कर्म सिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियां और फलितार्थ
16.10 जैन कर्म सिद्धान्त का समन्वयवादी दृष्टिकोण
16.11 भारतीय दर्शन में कर्म–सिद्धान्त
16.12 भारतीय दर्शनों में कर्म–बंध
16.13 जैन कर्म सिद्धान्त की विलक्षणता
16.14 बंध–प्रक्रिया
16.15 सारांश
16.16 अभ्यास प्रश्नावली

16.0 प्रस्तावना

प्रथम पत्र में जैन इतिहास, संस्कृति, साहित्य और कला के क्षेत्र में तथा दूसरे पत्र में जैन तत्त्व–मीमांसा एवं आचार–मीमांसा के क्षेत्र में जैन विद्या का अध्ययन आपको उन–उन क्षेत्र में मुक्त विचरण एवं गहन अवगाहन का अवसर प्रदान कर रहा है। पाठ्यक्रम का तीसरा पत्र आपको जैन विद्या के उस क्षेत्र में ऊंची उड़ान की क्षमता प्रदान करेगा जो अनेक दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रथम खण्ड जैन योग और दूसरा खण्ड जैन कर्म सिद्धान्त—ये दोनों विषय अपने आप में इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि ये जैन दर्शन के व्यावहारिक पक्ष—जीवन-दर्शन को छूते हैं। विद्यार्थियों! 'जीवन–दर्शन' हमें अपने वर्तमान जीवन को सम्यग् रूप से जीने का ज्ञान कराने के साथ–साथ ही हमारे शाश्वत अस्तित्व के प्रति भी हमें जगाता है। इसलिए दर्शन की अपेक्षा जीवन–दर्शन अधिक व्यावहारिक और उपयोगी है। जैन ध्यान–योग एवं जैन कर्म–सिद्धान्त से संभवत: आप उन गहरे रहस्यमय जगत् में प्रवेश करेंगे जिससे न केवल जीवन के अनेक अज्ञात–अछूते पहलू आपके समक्ष उजागर होंगे, अपितु वैयक्तिक एवं अंत:वैयक्तिक जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में भी आपको बहुमूल्य ज्ञान–सामग्री उपलब्ध होंगी। अस्तु! इस दूसरे खण्ड में हम शुरू कर रहे हैं अपनी यात्रा—कर्म-जगत् में कर्म की सम्पूर्ण अवधारणा को हमें सर्वतोरूपेण आत्मसात् करने की कोशिश करनी है।

हमारी इस यात्रा का सबसे पहला पड़ाव है—कर्म-सिद्धान्त का स्वरूप।

हम मूल विषय की चर्चा प्रारंभ करें, इससे पूर्व हम इसकी भूमिका को समझने के लिए कुछ बहुत ही सामान्य तथ्यों पर चिन्तन करें। आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, इहलोक–परलोक, सदाचार, धर्म आदि के सारे चिन्तन के साथ सबसे पहले जिस 'तत्त्व' पर हमें बहुत ध्यान देना होगा—वह है 'कर्म'। अढ़ाई अक्षरों का यह तत्त्व अपने आप में लगभग समस्त अध्यात्म के रहस्य को समेटे हुए हैं। जैनदर्शन का तो मुख्य केन्द्र ही कर्म-सिद्धान्त है।

16.1 उद्देश्य

भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा और कर्म के स्वरूप के विषय में जब हमें चिन्तन करना है तो पहले हम जैनदर्शन में कर्म के स्वरूप का चिन्तन करेंगे और तत्पश्चात् अन्य भारतीय दर्शन में कर्म की अवधारणा एवं कर्म के स्वरूप पर चर्चा करेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.2 जैन कर्म-सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण विशेषताएं

जैन कर्म-सिद्धान्त की लाक्षणिक विशेषताओं को हमें समझना होगा, जैसे—

1. कर्म एक सार्वभौम नियम है, जो सभी संसारी जीवों को प्रभावित करता है।
2. यह अपने आप में एक ऐसा पौद्गलिक (भौतिक) बल है, जो आत्मा के द्वारा विशेष प्रकार के पारमाणविक समुदय (स्कन्धों) को ग्रहण कर, उनमें अपनी आध्यात्मिक दशानुसार (जिसमें काषायिक दशा एवं प्रवृत्यात्मक दशा—दोनों का समावेश होता है।) फल-शक्ति का उत्पादन कर भोगा जाता है। इस दृष्टि से इसे आध्यात्मिक-भौतिक बल के रूप में समझना होगा। मूलतः तो यह पौद्गलिक (भौतिक) ही है।
3. प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध प्रवाह रूप से अनादिकाल से है; व्यक्तिशः सादि-आदि सहित है।
4. कर्म के बंधन के बाद उसमें परिवर्तन की गुंजाइश होती है।
5. कर्म की कर्त्ता एवं भोक्ता आत्मा स्वयं है।
6. कर्म-फल-दान आत्मा को स्वतः मिलता है—किसी ईश्वर आदि बाह्य माध्यम से नहीं।
7. आत्मा ही अपने पुरुषार्थ द्वारा अनादिकालीन बद्ध-अवस्था से मुक्त हो सकती है।
8. आध्यात्मिक साधना का सारा मार्ग नए कर्म के बंधन को रोकने तथा बद्ध कर्मों के प्रभाव से मुक्त होकर उन्हें आत्मा से दूर करने की प्रक्रिया के रूप में ही है।

इन मुख्य-मुख्य बिन्दुओं के अतिरिक्त और भी अनेक बिन्दु हो सकते हैं, कर्म-सिद्धान्त को समझने के। इन सभी विषयों की पूरी मीमांसा हमें करनी होगी। हम प्रारंभ में इस बिन्दु की चर्चा कर रहे हैं कि कर्म-स्वीकृति का हेतु क्या है तथा विभिन्न दार्शनिकों ने उसे किस रूप में किया है।

16.3 भारतीय दर्शन में कर्म-स्वीकृति का हेतु

हम संसार में रहने वाले समस्त प्राणियों में नानाविध अंतर देखते हैं—जैसे—ज्ञान, बुद्धि, पाण्डित्य, अंतःदर्शन, इंद्रिय-शक्ति, सुख, दुःख, क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, शोक, हर्ष, काम-विकार, आयु, जैविक लक्षण—जीव-जाति आदि—शारीरिक संरचना, जन्म-कुल, शक्ति आदि अनेक ऐसे बिन्दु हैं, जिनमें हम एक जीव और दूसरे जीव के बीच तारतम्य—न्यूनाधिकता देखते हैं। यह जीव-जगत् की विविधता, विचित्रता है जो एक विभक्ति को पैदा करती है।

जब भारत के सभी आस्तिक दर्शनों ने जीव-जगत् की विभक्ति या विचित्रता को स्वीकार किया है। उसे सहेतुक माना है। उस हेतु को वेदान्ती 'अविद्या', बौद्ध 'वासना', सांख्य 'क्लेश' और न्याय-वैशेषिक 'अदृष्ट' तथा जैन 'कर्म' कहते हैं। कई दर्शन कर्म का सामान्य निर्देश-मात्र करते हैं और कई उसके विभिन्न पहलुओं पर विचार करते-करते बहुत आगे बढ़ जाते हैं। न्याय-दर्शन के अनुसार अदृष्ट आत्मा का गुण है। अच्छे-बुरे कर्मों का आत्मा पर संस्कार पड़ता है, वह अदृष्ट है। जब तक उसका फल नहीं मिल जाता, तक तब वह आत्मा के साथ रहता है, उसका फल ईश्वर के माध्यम से मिलता है। कारण कि यदि ईश्वर कर्मफल की व्यवस्था न करे, तो कर्म निष्फल हो जाएं। सांख्य कर्म को प्रकृति का विकार मानता है। अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का प्रकृति पर संस्कार पड़ता है। उस प्रकृतिगत-संस्कार से ही कर्मों के फल मिलते हैं। बौद्धों ने चित्तगत वासना को कर्म माना है। यही कार्य-कारण-भाव के रूप में सुख-दुःख का हेतु बनती है।

जैन-दर्शन कर्म को स्वतंत्र तत्त्व मानता है। कर्म अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध हैं। वे समूचे लोक में व्याप्त हैं। जीवात्मा की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों के द्वारा उसके साथ बंध जाते हैं, यह उनकी बध्यमान (बंध) अवस्था है। बंधने के बाद वे तुरंत फल न देकर पकते हैं यानि उनका परिपाक होता है, यह सत् (उदय) अवस्था है। परिपाक के बाद उनसे सुख-दुःख रूप तथा आवरण-रूप फल मिलता है, वह उदयमान (उदय) अवस्था है। अन्य दर्शनों में कर्मों की क्रियमाण, संचित और प्रारब्ध—ये तीन अवस्थाएं बताई गई हैं। वे ठीक क्रमशः बंध, सत्ता और उदय की समानार्थक हैं।

क्या कर्म का फल शीघ्र मिल सकता है? क्या कर्म की अवधि (कालमान) या तीव्रातीव्रता में कमी-वृद्धि की जा सकती है? क्या कर्मों का रूपान्तरण किया जा सकता है? बंध के कारण क्या हैं? बंधे हुए कर्मों का फल निश्चित होता है या अनिश्चित? कर्म जिस रूप में बंधते हैं, उस रूप में उनका फल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मिलता है या अन्यथा? धर्म करने वाला दुःखी और अधर्म करने वाला सुखी कैसे? आदि-आदि विषयों पर जैन ग्रंथकारों ने विस्तृत विवेचन किया है।

16.4 आत्मा का आंतरिक वातावरण बनाम परिस्थिति?

आत्मा की आंतरिक योग्यता की न्यूनाधिकता का कारण कर्म है। कर्म के संयोग से वह (आंतरिक योग्यता) आवृत होती है या विकृत होती है। कर्म के विलय (वियोग) से उसका स्वभावोदय होता है। बाहरी स्थिति आंतरिक स्थिति को उत्तेजित कर आत्मा पर प्रभाव डाल सकती है, पर सीधा प्रभाव नहीं डाल सकती। शुद्ध या कर्म-मुक्त आत्मा पर बाहरी परिस्थिति का कोई भी असर नहीं होता। अशुद्ध या कर्म-बद्ध आत्मा पर ही उसका प्रभाव होता है, वह भी अशुद्धि की मात्रा के अनुपात से। शुद्धि की मात्रा बढ़ती है, बाहरी वातावरण का असर कम होता है। शुद्धि की मात्रा कम होती है, बाहरी वातावरण छा जाता है। परिस्थिति ही प्रधान होती, तो शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ पर समान असर होता, किन्तु ऐसा नहीं होता है। परिस्थिति उत्तेजक है, कारक नहीं।

विजातीय सम्बन्ध विचारणा की दृष्टि से आत्मा के साथ सर्वाधिक घनिष्ठ सम्बन्ध कर्म-पुद्गलों का है। समीपवर्ती का जो प्रभाव पड़ता है, वह दूरवर्ती का नहीं पड़ता। परिस्थिति दूरवर्ती घटना है। वह कर्म की उपेक्षा कर आत्मा को प्रभावित नहीं कर सकता। उसकी पहुंच कर्म-संघटना तक ही है। उससे कर्म-संघटना प्रभावित होती है, फिर उससे आत्मा। जो परिस्थिति कर्म-संस्थान को प्रभावित न कर सके, उसका आत्मा पर कोई असर नहीं होता।

बाहरी परिस्थिति सामूहिक होती है। कर्म को वैयक्तिक परिस्थिति कहा जा सकता है। यही कर्म की सत्ता का स्वयंभू-प्रमाण है।

काल (time), क्षेत्र (space), स्वभाव (nature), पुरुषार्थ (effort), नियति (universal law) और कर्म की सह-स्थिति का नाम ही परिस्थिति है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से ही सब कुछ होता है, यह एकांगी दृष्टिकोण मिथ्या है।

काल, क्षेत्र, स्वभाव, पुरुषार्थ, नियति और कर्म से भी कुछ होता है, यह सापेक्ष दृष्टिकोण सत्य है।

वर्तमान के जन-मानस में काल-मर्यादा, क्षेत्र-मर्यादा, स्वभाव-मर्यादा, पुरुषार्थ-मर्यादा और नियति-मर्यादा का जैसा स्पष्ट विवेक या अनेकान्त-दर्शन है, वैसा कर्म-मर्यादा का नहीं रहा है। जो कुछ होता है, वह कर्म से ही होता है—ऐसा घोष साधारण हो गया है। यह एकान्तवाद सच नहीं है। आत्म-गुण का विकास कर्म से नहीं होता, कर्म के विलय (आत्मा से कर्म के दूर होने) से होता है। परिस्थितिवाद के एकान्त आग्रह के प्रति जैन दृष्टि यह है—रोग देश-काल की स्थिति से ही पैदा नहीं होता, किन्तु देश-काल की स्थिति से कर्म-उत्तेजना (उदीरणा) होती है और उत्तेजित कर्म-पुद्गल आत्मा में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन लाते हैं। परिवर्तन पदार्थ का स्वभाव-सिद्ध धर्म है। वह संयोग-कृत होता है, तब विभाव-रूप होता है और यदि दूसरे के संयोग से नहीं होता, तब उसकी परिणति स्वाभाविक हो जाती है।

16.5 जैन-दर्शन में कर्म शब्द का अर्थ

कर्म का साधारण अर्थ क्रिया होता है और वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रन्थों तक वैदिक परम्परा में कर्म का क्रियापरक अर्थ ही दृष्टिगत होता है, परन्तु जैन दर्शन में कर्म शब्द विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जीव के शारीरिक, मानसिक एवं वाचिक व्यापार को जैन दर्शन में योग कहा गया है। कर्मग्रन्थ में कर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'जीव की क्रिया का जो हेतु है वह कर्म है।[1] कर्म-सिद्धान्त में कर्म का तात्पर्य वे पुद्गल-परमाणु (कर्म-वर्गणा) हैं जो किन्हीं क्रियाओं के परिणामस्वरूप आत्मा की ओर आकर्षित होकर आत्मा के साथ बंधते हैं तथा कालक्रम में अपना फल प्रदान करते हैं और आत्मा में विशिष्ट भाव उत्पन्न करते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

---

1 (क) कीरइ जिएणं हेउहिं, जेण तो भण्णए कम्मं। —कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग।
(ख) विसय कसायेहि रंगयहं जे अणुया लग्गंति।
जीए-एसहं मोहियहं ते जिण कम्म भणंति॥ परमात्मप्रकाश, 1/62

यहां कर्म के भौतिक स्वरूप से तात्पर्य उन कर्म-पुद्गलों से है जिनका आत्मा के साथ बंध होता है। जैन परम्परानुसार आत्मा का बंधन स्वतः नहीं होता है; अतः इसका कोई निमित्त कारण अवश्य होना चाहिये। बंधन के हेतु कषाय, राग, द्वेष, मोह आदि भाव भी आत्मा में स्वतः उत्पन्न नहीं होते अपितु कर्म-वर्गणा के विपाक के फलस्वरूप चेतना के सम्पर्क में आने पर ये तज्जनित भाव बनते हैं। ये कर्म-पुद्गल प्राणी की क्रिया द्वारा उसकी ओर आकर्षित होते हैं, ये क्रियाएं ही बंधन की मूल कारण हैं। उदाहरणस्वरूप जिस प्रकार कुंभकार, चाक आदि निमित्त कारणों के बिना मिट्टी स्वतः घट का निर्माण नहीं कर सकती, उसी प्रकार आत्मा किसी बाह्य निमित्त के बिना बंधन में नहीं आ सकती। आत्मा के बंधन में जिन बाह्य निमित्तों का योगदान है, उन्हें कर्म-वर्गणा के पुद्गल कहते हैं। जैसे बीज और वृक्ष में पारस्परिक कार्य-कारण भाव है, वैसे ही आत्मा के बंधन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध वृत्तियां (कषाय और मोह) और कर्म-वर्गणा के पुद्गलों में पारस्परिक सम्बन्ध है। वस्तुतः बंधन की दृष्टि से जड़ कर्म परमाणु और आत्मा में निमित्त और उपादान का सम्बन्ध है। कर्म-पुद्गल बंधन के निमित्त कारण हैं और आत्मा उपादान कारण। इन्हें क्रमशः द्रव्यकर्म और भावकर्म की संज्ञा दी गई है।

इस प्रकार जैन आचार्यों ने एकान्त रूप से न तो आत्मा को बंधन का कारण माना है और न ही कर्म पुद्गलों को, अपितु दोनों के पारस्परिक संयोग से आत्मा बंधन में आता है—यह स्वीकार किया है।

16.6 कर्म की परिभाषा और उसके आठ प्रकार

जीव चेतनामय अरूपी पदार्थ है। उसके साथ लगे हुए सूक्ष्म मलावरण को कर्म कहते हैं। कर्म पुद्गल, जड़ है। कर्म के परमाणुओं को कर्मदल कहते हैं। आत्मा पर रही हुई राग-द्वेष रूपी चिकनाहट और योगरूपी चंचलता के कारण कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपक जाते हैं। कर्म-दल आत्मा के साथ अनादिकाल से चिपके हुए हैं, उनमें से कई अलग होते हैं तो कई नये चिपक जाते हैं। इस प्रकार यह क्रिया बराबर चालू रहती है। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के कारण आत्मा कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है और यही कर्म है। कर्म-वर्गणा एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्मरज है जिसे सर्वज्ञ या अवधिज्ञानी ही जान सकते हैं। कार्मण वर्गणा के चतुःस्पर्शी एवं अनन्त प्रदेशी स्कन्ध ही कर्मरूप में परिणत हो सकते हैं, अन्य नहीं।

शुभ एवं अशुभ प्रवृत्ति के द्वारा आकृष्ट और सम्बन्धित होकर जो पुद्गल आत्मा के स्वरूप को आवृत्त करते हैं, विकृत करते हैं और शुभा-शुभ फल के कारण बनते हैं (शुभाशुभ रूप से उदय में आते हैं), उन आत्मगृहीत पुद्गलों का नाम है—कर्म। यद्यपि ये पुद्गल एकरूप हैं तो भी ये जिस आत्म-गुण को आवृत्त, विकृत या प्रभावित करते हैं, उसके अनुसार ही उन पुद्गलों का नाम हो जाता है।

आत्मा के गुण आठ हैं—केवलज्ञान, केवलदर्शन, असंवेदन, आत्म-रमण, अटल अवगाहन, अमूर्तिकपन, अलघुगुरुपन और लब्धि (शक्ति)।

आत्मा का पहला गुण है—केवलज्ञान। उसको रोकनेवाले पुद्गलों का नाम है—ज्ञानावरणीय कर्म। संसार में जितनी आत्माएं हैं, उन सब में अनन्तज्ञान विद्यमान है, परन्तु जब तक ज्ञानावरणीय-कर्म क्षीण नहीं होता तब तक वह ज्ञान कर्म से आवृत्त रहता है और कर्म के क्षीण होने से ही केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।

आत्मा का दूसरा गुण है—केवलदर्शन। यह भी ज्ञान की भांति सब आत्माओं में विद्यमान है। इस द्वितीय गुण को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गलों का नाम है—दर्शनावरणीय कर्म। इस कर्म के क्षीण होने से ही केवलदर्शन की प्राप्ति होती है।

आत्मा का तीसरा गुण है—असंवेदन। उसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—वेदनीय कर्म।

आत्मा का चौथा गुण है—आत्म-रमण। उसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—मोहनीय कर्म।

आत्मा का पांचवां गुण है—अटल अवगाहन। इस शाश्वत-स्थिरता को रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—आयुष्यकर्म।

आत्मा का छठा गुण है—अमूर्तिकपन। उसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—नामकर्म। नामकर्म के उदय से ही शरीर मिलता है।

आत्मा का सातवां गुण है—अगुरुलघुपन (न छोटापन, न बड़ापन)। उसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—गोत्र-कर्म।

आत्मा का आठवां गुण है—शक्ति। उसको रोकने वाले पुद्गलों का नाम है—अंतराय-कर्म।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार आठ प्रकार के हैं—1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयुष्य, 6. नाम, 7. गोत्र, 8. अंतराय।

कर्म-वर्गणा के पुद्‌गल (कर्म-योग्य पुद्‌गल) चतु:स्पर्शी होते हैं, अष्टस्पर्शी नहीं।

प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाले विश्व के समस्त पुद्‌गलों को दो विभागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. अष्ट-स्पर्शी—वे पुद्‌गल जिनमें वर्ण, रस, गंध रस के साथ हल्कापन, भारीपन आदि आठों स्पर्श हों।
2. चतु:स्पर्शी—वे पुद्‌गल जिनमें वर्ण, गंध, रस तथा शीत, ऊष्ण, स्निग्ध और रूक्ष—ये चार स्पर्श हों।

16.7 घाति-अघातिकर्म

आत्मा के साथ चिपकने वाले कर्म पुद्‌गलों को दो भागों में बांटा गया है—घाति-कर्म और अघाति-कर्म।

(क) घाति-कर्म—जो कर्म-पुद्‌गल आत्मा से चिपककर आत्मा के मुख्य या स्वाभाविक गुणों का घात करते हैं—उनका हनन करते हैं, उनको घाति कर्म कहते हैं। इन कर्मों का मूलोच्छेद होने से ही आत्मा सर्वज्ञ या स्वदर्शी बन सकती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अंतराय—ये चार घाति-कर्म कहलाते हैं।

(ख) अघाति-कर्म—जो कर्म आत्मा के मुख्य गुणों का घात नहीं करते, उनको हानि नहीं पहुंचाते, वे अघाति-कर्म कहलाते हैं। घाति-कर्मों के अभाव में ये कर्म पनपते नहीं, उसी जन्म में शेष हो जाते हैं। वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र—ये चार अघाति-कर्म हैं।

16.8 द्रव्यकर्म और भावकर्म

आत्मा के राग, द्वेष, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद एवं कषाय और परिणाम भावकर्म कहलाते हैं और उनके फलस्वरूप जो कार्मण-वर्गणा के पुद्‌गल आते हैं और राग, द्वेष के निमित्त से आत्मा के साथ बंधते हैं; उन्हें द्रव्यकर्म कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'आत्मा नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती लिखते हैं कि पुद्‌गल पिण्ड द्रव्यकर्म और उसकी चेतना को प्रभावित करने वाली शक्ति भावकर्म है। जीव का परिणमन भावकर्म है और उसके फलस्वरूप आत्मा के साथ होने वाला कर्म-पुद्‌गलों का बंध द्रव्यकर्म है।

द्रव्यकर्म और भावकर्म के स्वरूप पर विचार करने पर यही लगता है कि दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं तथा ये दोनों एक-दूसरे से इतने घुले-मिले हैं कि इनमें से किसी एक के अभाव में दूसरे की कल्पना ही नहीं हो सकती। द्रव्यकर्म एवं भावकर्म के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए पण्डित सुखलालजी लिखते हैं कि 'भावकर्म के होने में द्रव्यकर्म निमित्त है और द्रव्यकर्म के होने में भावकर्म निमित्त है। इन दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्य-कारण-भावसम्बन्ध है। पण्डित मालवणिया जी लिखते हैं कि 'भावकर्म कारण है और द्रव्यकर्म कार्य है किन्तु यह कार्य-कारणभाव मुर्गी और उसके अण्डे के कार्य-कारणभाव के सदृश है। मुर्गी से अण्डा होता है; अत: मुर्गी कारण है और अण्डा कार्य। यदि कोई व्यक्ति प्रश्न करें कि मुर्गी पहले थी या अण्डा, तो इसका उत्तर नहीं दिया जा सकता, यह सत्य है कि अण्डा मुर्गी से होता है परन्तु मुर्गी भी अण्डे से उत्पन्न हुई है। अत: दोनों में कार्य-कारण भाव तो है परन्तु दोनों में पहले कौन? यह नहीं कहा जा सकता। संतति की अपेक्षा से इनका पारस्परिक कार्य-कारणभाव अनादि है।

कभी-कभी भावकर्म के सम्बन्ध में यह शंका उपस्थित होती है कि वास्तव में जीव की किन क्रियाओं को भावकर्म कहा जाय? क्या क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय जो आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम हैं? अथवा राग, द्वेष, मोह, रूप आत्मा के आभ्यन्तर परिणाम भावकर्म हैं? चूंकि संसारी आत्मा सदैव शरीर-सहित होती है। उनमें स्वाभाविक रूप से निरन्तर उक्त परिणाम का होना अवश्यंभावी है। कषाय एवं राग-द्वेष तथा मोह में कोई मौलिक भेद नहीं है इनसे लगभग एक ही अर्थ प्रतिध्वनित होता है। इसे स्पष्ट करते हुए पण्डित मालवणिया का कथन है कि जैसे कपड़े और उसके रंग को भिन्न-भिन्न भी कहते हैं, वैसे ही आत्मा की इस प्रवृत्ति के भी दो नाम हैं—योग और कषाय। रंग से हीन कोरा कपड़ा एकरूप ही होता है। इसी प्रकार कषाय के रंग से विहीन मन, वचन और काय की प्रवृत्ति एकरूप होती है। इससे स्पष्ट होता है कि कषाय एवं राग, द्वेष तथा मोह में कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मुख्यरूप से कषाय को ही भावकर्म कहते हैं क्योंकि इनसे कर्मों का बंधन दृढ़ होता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय अथवा राग, द्वेष एवं मोह भावकर्म हैं और इनके निमित्त से कर्म पुद्गलों का आत्मा के सान्निध्य में आकर नीर-क्षीरवत् एकीभूत हो जाना द्रव्यकर्म है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि द्रव्य कर्म एवं भावकर्म का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। मात्र व्यावहारिक दृष्टि से ही इन दोनों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। यदि हम इनके पारस्परिक सम्बन्ध को न मानें और इन्हें पूर्णतया एक-दूसरे से पृथक् मानें तो ऐसा संभव ही नहीं हो सकता; क्योंकि दोनों एक-दूसरे से अभिन्न हैं। यदि भावकर्म द्रव्यकर्म के बंधन में सहायक है तो द्रव्यकर्म भी विविध प्रकार के आत्मिक परिणमन रूप भावकर्म का उत्प्रेरक है, अर्थात् द्रव्यकर्म के कारण ही आत्मा में विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और इन भावों से द्रव्यकर्म का बंधन होता है। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे की उत्पत्ति के कारण कहे जा सकते हैं।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म की उत्पत्ति होती है परन्तु भावकर्म की उत्पत्ति में द्रव्यकर्म कितना सहायक है? यह प्रश्न विचारणीय है। इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए पण्डित दलसुख मालवणिया लिखते हैं कि 'यदि द्रव्यकर्म के अभाव में भी भावकर्म की उत्पत्ति संभव हो तो मुक्त जीवों में भी भावकर्म का प्रादुर्भाव होगा और उन्हें फिर संसार में आना होगा। फिर संसार और मोक्ष में कुछ भी अंतर न रह जायेगा। जैसी बंध-योग्यता संसारी जीव की है वैसी ही मुक्त जीव में माननी पड़ेगी। ऐसी दशा में कोई भी व्यक्ति मुक्त होने के लिए क्यों प्रयत्नशील होगा? अत: हमें स्वीकार करना होगा कि मुक्त जीव में द्रव्यकर्म न होने के कारण भावकर्म भी नहीं है और द्रव्यकर्म के होने के कारण ही संसारी जीव में भावकर्म की उत्पत्ति होती है। इस उल्लेख से भी द्रव्यकर्म के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है, साथ ही यह भी फलित होता है कि इनमें से एक के अभाव में दूसरे की कल्पना असंभव है।

16.9 जैन कर्म सिद्धान्त की मौलिक स्वीकृतियां और फलितार्थ

कर्म सिद्धान्त यह मानकर चलता है कि जीव द्वारा किये हुए कर्मों का अपने फलों से घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रत्येक कर्म कालक्रम में अपना फल अवश्य देता है। इसकी दूसरी मान्यता यह है कि पूर्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता कर्म करने वाला व्यक्ति ही होता है अर्थात् पूर्ववर्ती कर्मों का कर्त्ता ही उसके भावी परिणामों का भोक्ता होता है। जैन कर्म सिद्धान्त यह भी मानकर चलता है कि यदि जीव अपने किये हुए कर्मों के फल का भोग वर्तमान जीवन में नहीं कर पाता है तो उसे अपने कर्मों के फलभोग हेतु भावी जन्म ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रकार जैन कर्म सिद्धान्त के साथ पुनर्जन्म की अवधारणा भी जुड़ी हुई है।

कर्म सिद्धान्त की उपर्युक्त मान्यताओं के उल्लेख आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, स्थानांग, भगवती, प्रज्ञापना आदि में उपलब्ध हो जाते हैं। आचारांग में स्पष्ट उल्लेख है कि 'कामभोगों में आसक्त जन कर्मों का संचय करते रहते हैं और इन कर्मों के फलस्वरूप वे पुन:-पुन: जन्म धारण करते रहते हैं।'[1] इसमें 'ससिच्चमाणापुणरेंति गब्भं' शब्द कर्म और पुनर्जन्म की अवधारणा को इंगित करता है। इससे यह ध्वनित होता है कि पहले तो मनुष्य राग आदि निमित्तों से विविध प्रकार के कर्मों का बंधन एवं संचय करते हैं एवं अनन्तर इन कर्मों का काल परिपाक होने पर एक जन्म में इन कर्मों का फलोपभोग नहीं करने पर पुन: दूसरा जन्म धारण करते हैं।

सूत्रकृतांग में कर्म और उसके फल के पारस्परिक सम्बन्ध को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि 'जो व्यक्ति जैसा कर्म करता है उसके अनुसार ही उसे उस जन्म या भावी जन्म में फल मिलता है।'[2] इस उल्लेख से कर्म और उसके फल के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का तो स्पष्टीकरण होता ही है, साथ ही पुनर्जन्म सम्बन्धी मान्यता भी परिपुष्ट होती है। उत्तराध्ययन में भी उल्लेख है कि कर्म का कर्त्ता कर्मफल का भोग अनिवार्य रूप से करता है।[3]

---

1 कामेसु गिद्धा णियचं करेंति।
संसिच्चमाणा पुणरेंति गब्भं॥ —आयारो, 3/2/31

2 जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छइ संपराए।
एगंत दुक्खं भवमज्जिणित्ता, वेदेंति दुक्खी तमणं तदुक्खं॥ —सूयगडो, 1/5/50

3 न तस्स दुक्खं विभयन्ति नाइओ, न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
एक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं, कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं॥ —उत्तराध्ययन, 13/23

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्थानांगसूत्र के एक उल्लेख से भी कर्म-पुनर्जन्म की मान्यता का विकास परिलक्षित होता है, जहां स्पष्ट कहा गया है कि 'इस लोक में किये हुए सुचीर्ण कर्मों के सुखदायी फल इस लोक में मिल सकते हैं। इस लोक में नहीं मिलते हैं, तो परलोक में सुखदायी फल मिलते हैं। इसी प्रकार दुश्चीर्ण कर्म का दुःखफल भी इहलोक अथवा परलोक में मिलता है।[4]

भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर स्वयं स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'मनुष्य स्वकृत क्रिया, दुःख और वेदना का भोग करता है, परकृत का नहीं।[5] इस उल्लेख से भी यह फलित होता है कि कर्मों का कर्त्ता ही उसके फलों का भोक्ता है। जैनदर्शन 'कर्म' के सम्बन्ध में यह स्पष्ट घोषणा करता है कि जो कर्म है, उनका निपटारा दो प्रकार से ही संभव है—या तो इन्हें भोगा (वेदा) जाए या इनको तपस्या के द्वारा क्षय किया जाए।[6] इन उल्लेखों से यह स्पष्ट होता है कि जैनदर्शन में कर्म सिद्धान्त की इन अवधारणाओं का विकास प्राचीन काल में हो गया था। अंग आगम में आचारांग एवं सूत्रकृतांग सर्वाधिक प्राचीन हैं और इनमें इन मान्यताओं का उल्लेख मिलना इनकी प्राचीनता का ज्वलन्त प्रमाण है।

16.10 जैन कर्म सिद्धान्त का समन्वयवादी दृष्टिकोण

जहां कालवाद के समर्थक काल को, स्वभाववाद के समर्थक स्वभाव को, नियतिवाद के समर्थक नियति को, कर्मवाद के समर्थक कर्म को और पुरुषार्थ को जागतिक वैषम्य का मूल कारण मानते हैं, वहीं जैन दार्शनिक इन पाचों के समवाय को जागतिक वैषम्य का मूल कारण मानते हैं और अपने कर्म सिद्धान्त में उपयुक्त वादों का समन्वय स्थापित करते हैं।

कारण सम्बन्धी इन वादों को अलग-अलग लेकर इनके आधार पर यदि हम जागतिक वैविध्य की व्याख्या करने का प्रयत्न करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वाद जागतिक वैविध्य की समीचीन व्याख्या दे पाने में असमर्थ हैं। उदाहरण के लिए कालवाद की मान्यता के अनुसार यदि हम काल को ही सांसारिक जीवन के सुख एवं दुःख का एकमात्र कारण मानें तो यह कथन न्यायसंगत नहीं लगता, क्योंकि यदि वास्तव में काल ही सुख-दुःख का एकमात्र कारण होता है तो एक समय में प्रत्येक व्यक्ति को सुख-दुःख का अनुभव एक समान होना चाहिये। परन्तु व्यावहारिक जीवन में ऐसा दृष्टिगत नहीं होता, हम प्रायः एक ही समय में एक व्यक्ति को सुखी एवं दूसरे को दुःखी देखते हैं। पुनः एकमात्र काल शुभ-अशुभ प्रवृत्तियों का प्रेरक भी नहीं हो सकता अन्यथा एक युग में सभी की एक समान प्रवृत्तियां होंगी। इस प्रकार काल सुख-दुःखात्मक अनुभूति का आधार नहीं हो सकता। इसी प्रकार विश्व-वैचित्र्य के कारण ही व्याख्या स्वभाव के आधार पर भी नहीं हो सकती। यदि हम यह मानें कि व्यक्ति की सद्-असद् प्रवृत्तियों का कारण या प्रेरक तत्त्व स्वभाव है और हम उसका अतिक्रमण नहीं कर सकते हैं तो फिर किसी प्रकार का सुधार या प्रगति कैसे होगी? इसी प्रकार नियति को कारण मानकर चलने पर व्यक्ति के स्वतंत्र कर्त्तृत्व एवं पुरुषार्थ का कोई महत्त्व ही नहीं रहता है। कर्म और पुरुषार्थ—इन दोनों का सापेक्ष महत्त्व प्रत्यक्ष जगत् में स्पष्ट है।

इस प्रकार ये समस्त वाद एकान्त रूप में खरे नहीं उतरते हैं। काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ कोई भी वाद निरपेक्ष रूप से जागतिक वैविध्य के युक्तिसंगत कारण प्रतीत नहीं होते हैं। इन वादों की भ्रान्त धारणाओं को दूर करने हेतु कर्म सिद्धान्त का उद्भव हुआ।

जैन कर्म सिद्धान्त में इन वादों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। जहां एक-दूसरे से स्वतंत्र होकर ये वाद निरपेक्ष रूप से जागतिक वैविध्य के युक्तिसंगत कारण प्रतीत नहीं होते हैं। इन वादों की भ्रान्त धारणाओं को दूर करने हेतु कर्म सिद्धान्त का उद्भव हुआ।

जैन कर्म सिद्धान्त में इन वादों को समन्वित करने का प्रयास किया गया है। जहां एक-दूसरे से स्वतंत्र होकर ये वाद जागतिक वैविध्य की व्याख्या नहीं कर पाते हैं वहीं कर्म सिद्धान्त में परस्पर समन्वित होकर उसे समीचीन रूप से प्रस्तुत करते हैं।

---

4 इहलोगे सुचिण्णा कम्मा इहलोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवंति। इहलोगे सुचिण्ण कम्मा परलोगे सुहफलसंजुत्ता भवंति। सुहफलविवाग —स्थानांगसूत्र, 4/250

5 भगवती, 17/50-64

6 दशवैकालिक चूलिका 1, सू. 18—'पावाणं च खलु भो! कडाणं कम्माणं पुव्विं दुच्चिण्णाणं दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन कर्म सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कालवाद का स्थान कर्म के विपाक-काल के रूप में हैं; क्योंकि प्रत्येक कर्म की विपाक की दृष्टि से एक निश्चित काल-मर्यादा होती है और अपने विपाक-काल में ही कर्मों में फल प्रदान करने की शक्ति होती है। प्रत्येक कर्म का अपना एक नियत स्वभाव होता है और उसके अनुसार ही वे अपना फल देते हैं। किसी कर्म का फल सुखद होता है तो किसी का दुःखद। जैनदर्शन की यह भी मान्यता है कि निकाचित कर्म का फल अवश्यमेव भोगना पड़ता है। यदि किसी कर्म का फल वर्तमान समय में नहीं मिलता है तो उसके लिए भावी जन्म लेना पड़ता है। इस रूप में कर्म सिद्धान्त में नियति का तत्त्व भी प्रविष्ट है। चूंकि कर्म सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति स्वयं ही अपना निर्माता, नियन्ता और स्वामी है तथा दलिक रूप कृत कर्मों को तपस्या द्वारा नष्ट भी किया जा सकता है, इसलिए पुरुषार्थ का महत्त्व स्पष्ट है।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि 'काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकर्म और पुरुषार्थ परस्पर निरपेक्ष रूप में कार्य की व्याख्या करने में अयथार्थ बन जाते हैं, जबकि यही सिद्धान्त परस्पर सापेक्ष रूप में समन्वित होकर कार्य की व्याख्या करने में सफल हो जाते हैं।[1]

16.11 भारतीय दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

भारतीय जन-जीवन में 'कर्म' शब्द बालक, युवक और वृद्ध सभी की जिह्वा पर चढ़ा हुआ है। भारत के विचारक, दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, तत्त्व-चिन्तक आदि प्रायः सभी कर्म को एक या दूसरे रूप में मानते हैं।

'कर्म' शब्द भारत के सभी आस्तिक धर्म-ग्रन्थों, दर्शनों या धर्मशास्त्रों में प्रयुक्त हुआ है। भारत के सभी आस्तिक दर्शनों और धर्मों ने 'कर्म' या इसके समान एक ऐसी सत्ता को स्वीकार किया है जो आत्मा की विभिन्न शक्तियों को, गुणों को या शुद्धता को प्रभावित, आवृत्त एवं कुंठित कर देती है। कर्म के स्थान पर इन धर्म-दर्शनों ने उसके विभिन्न नाम दिए हैं—

वेदान्त दर्शन ने कर्म को 'माया' या 'अविद्या' कहा है।

सांख्य दर्शन ने कर्म को 'प्रकृति' या 'संस्कार' की संज्ञा दी है।

योग दर्शन में इसके लिए 'कर्म-आशय' या 'क्लेश' आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

न्याय दर्शन के 'अदृष्ट' और 'संस्कार' शब्द भी इसी कर्म के द्योतक हैं।

बौद्ध दर्शन में कर्म को 'वासना' और 'अविज्ञप्ति' कहा है।

वैशेषिक दर्शन में प्रयुक्त 'धर्माधर्म' शब्द भी जैनदर्शन के कर्म शब्द का समानार्थक हैं।

शैव दर्शन में 'पाश' शब्द भी जैनदर्शन के 'कर्म' का पर्यायवाची है।

मीमांसा दर्शन का 'अपूर्व' शब्द कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

दैव, भाग्य, पुण्य-पाप आदि अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग सामान्य रूप से सभी दर्शन-ग्रन्थों में हुआ है। जैनागमों में कर्म के साथ 'कर्ममल', 'कर्मरज' आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है।

16.11.1 वेदों में कर्म-सिद्धान्त

भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे ने धर्मशास्त्र के इतिहास (पंचम भाग) में लिखा है—'कर्म' शब्द ऋग्वेद में 40 बार से अधिक प्रयुक्त हुआ है, कहीं-कहीं इसका अर्थ है—'पराक्रम' या 'वीर कार्य', यथा ऋग्वेद (1.22.19) में विष्णु के कर्म (पराक्रम) का निरीक्षण करें। प्रशंसा के योग्य उस (इन्द्र) के प्राचीन कर्मों की घोषणा अपने शब्दों (श्लोकों) में करो।

ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर 'कर्म' का अर्थ है—धार्मिक कृत्य (यज्ञ, दान आदि)। वैदिक परम्परा में वेदों से लेकर ब्राह्मण तक यज्ञ-याग और नित्य-नैमित्तिक क्रियाओं को कर्म कहा गया।

स्मार्त विद्वानों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास—इन चार आश्रमों के लिए विहित कर्त्तव्यों एवं मर्यादाओं के पालन करने को कर्म कहा है।

पौराणिकों के मत में व्रत, नियम आदि धार्मिक क्रियाएं कर्म कहलाती हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में फलाकांक्षा रहित होकर निष्काम भाव से या समर्पण भाव से कृत कर्म या सहज कर्म, ज्ञानयुक्त कर्म, कर्म-कौशल आदि सभी प्रकार के क्रिया व्यापारों के व्यापक अर्थ में 'कर्म' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिस अर्थ में जैनदर्शन में कर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है, उस अर्थ में उसका प्रयोग वेदों में नहीं मिलता।

---

1 सन्मति तर्क प्रकरण, 3/531

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.11.2 उपनिषदों में कर्म

बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि मनुष्य अपने कर्मों एवं आचरण से अपना भविष्य बनाता है। जो जैसा आचरण करता है, वह वैसा ही होगा। अच्छे कर्मों वाला अच्छा जन्म पाएगा, दुष्कर्मों वाला बुरा जन्म पायेगा। पुण्य कर्मों से व्यक्ति पुण्य-पवित्र होता है और दुष्कर्मों से बुरा।

आगे कहा गया है—'मनुष्य काममय है, उसकी जैसी कामना होगी, वैसी ही उसकी इच्छा-शक्ति होगी। उसकी जैसी इच्छा होगी, वैसा ही उसका कर्म होगा और जो कुछ कर्म वह करता है, वैसा ही वह होगा, वैसा ही फल वह प्राप्त करेगा।'

एक अन्य श्लोक में कहा गया है—'जिस किसी से किसी का मन एवं सूक्ष्म देह संलग्न रहता है, उसके पास अपने कर्मों के फलों के साथ वह जाता है और जो कुछ कर्म वह करता है, वैसा ही वह होगा, वैसा ही फल प्राप्त करेगा।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है—'सुषुम्ना नाड़ी हृदय से निकलकर ऊपर मस्तक में गई है। उसके द्वारा वायु ऊपर शरीर में विचरण करती है। उदान वायु ऊपर की ओर विचरता है। जिस मनुष्य के शुभ कर्मों के भाग उदय हो जाते हैं, उस पुण्यशील व्यक्ति को उदान वायु वर्तमान शरीर से निकालकर पुण्य लोक अर्थात् स्वर्गादि उच्च लोकों में ले जाता है। पाप कर्मों से युक्त मनुष्य को पाप-योनियों (शूकर-कूकूर आदि) और रौरवादि नरकों में ले जाता है। जो पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मों का मिश्रित फल भोगने के लिए अभिमुख हुए रहते हैं, उनको मनुष्य-शरीर में ले जाता है।

कर्मों की विचित्र गति है—'जीव मन, वचन और काया के कर्मों—प्रवृत्तियों से उत्पन्न दोषों के द्वारा ही नरक, तिर्यंक् (पशु-पक्षी) और स्थावर (पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि) योनियों में सैंकड़ों भवों से भ्रमण कर रहा है।

शुभ कर्मों से जीव को देवगति मिलती है। मिश्र कर्म योग से मनुष्यगति की प्राप्ति होती है और अशुभ कर्मों से तिर्यंक् योनि प्राप्त होती है।

16.11.3 वैदिक धर्म में कर्म

कर्म को तीन दलों में रखा गया है, यथा—1. संचित 2. प्रारब्ध एवं 3. क्रियमाण (संचीयमान)।

संचित—यह कर्म अतीत के अस्तित्वों के कर्मों का योगफल है, जिसके प्रतिफलों की अनुभूति अभी नहीं की जा सकती है।

प्रारब्ध—प्रारब्ध कर्म वह है जो इस वर्तमान जीवन के आरंभ होने के पूर्व संचित कर्मों में सबसे प्रबल था और जिसे ऐसा परिकल्पित किया गया है कि उसी के आधार पर वर्तमान जीवन निश्चित होता है।

क्रियमाण—इस वर्तमान जीवन में व्यक्ति जो कुछ संगृहीत करता है, वही क्रियमाण कर्म है। आगे आने वाला जीवन (अस्तित्व) संचित एवं क्रियमाण के सम्मिलित कर्मों में अत्यन्त प्रबल (या कुछ लोगों के मत से सबसे आरम्भिक) कर्म द्वारा निर्धारित एवं निश्चित होता है।

16.11.4 बौद्ध दर्शन में कर्म-सिद्धान्त

बौद्ध दर्शन में शारीरिक, वाचिक और मानसिक इन तीनों प्रकार की क्रियाओं के अर्थ में 'कर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहां केवल चेतना को इन क्रियाओं में प्रमुखता दी गई है। चेतना को 'कर्म' कहते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—भिक्षुओं, चेतना ही कर्म है, ऐसा मैं कहता हूँ। चेतना के द्वारा ही (जीव) कर्म को वाणी से, काया से या मन से करता है।' भाव यह है कि चेतना के होने पर ही ये सभी कर्म-क्रियाएं संभव हैं।

कर्म के प्रकार—इस प्रकार कर्म के मूलतः दो प्रकार हैं—1. चित्त कर्म (मानसिक कर्म) और 2. चैतसिक कर्म (काय और वचन से उत्पन्न कर्म)

इनमें भी चित्त कर्म प्रधान है। कर्म पहले 'कृत' होते हैं और फिर 'उपचित' होते हैं। कर्म करने की पृष्ठभूमि में चित्त भावना का आधार होता है।

कर्म ही पुनर्जन्म का मूल कारण है। सद्गति और असद्गति का आधार कर्म को ही माना गया है। यही उसका विपाक है।

कुशल और अकुशल कर्म—कुशल और अकुशल कर्मों का सम्बन्ध दो प्रकार के ध्यानों से होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अकुशल कर्म—पाप का वर्गीकरण—बौद्ध दर्शन के मतानुसार कायिक, वाचिक और मानसिक आधार पर निम्न दस प्रकार के अकुशल कर्मों या पापों का वर्णन मिलता है—

(क) कायिक पाप—1. प्राणातिपात (हिंसा) 2. अदत्तादान (चोरी) 3. कामेसुमिच्छाचार (कामभोग सम्बन्धी दुराचार)

(ख) वाचिक पाप—4. मुसावाद (असत्य भाषण) 5. पिसुनावाचा (पिशुन वचन) 6. फरुसावाचा (कठोर वचन) 7. सप्रमाप (व्यर्थ आलाप)

(ग) मानसिक पाप—8. अभिज्जा (लोभ) 9. व्यापाद (मानसिक हिंसा या अहित-चिन्तन) 10. मिच्छादिट्ठी (मिथ्यादृष्टि)।[1]

बौद्धदर्शन में कुशल कर्म—पुण्य—संयुक्त निकाय में कहा गया है कि अन्न, वस्त्र, शय्या, आसन एवं चादर के दानी पंडित पुरुष में पुण्य की धाराएं आ गिरती हैं। अभिधम्मत्थ संगहो में 1. श्रद्धा 2. अप्रमत्तता (स्मृति) 3. पाप कर्म के प्रति लज्जा 4. पाप कर्म के प्रति भय 5. अलोभ (त्याग) 6. अद्वेष (मैत्री) 7. समभाव 8. मन की पवित्रता 9. शरीर की प्रसन्नता 10. मन का हल्कापन 11. शरीर का हल्कापन 12. मन की मृदुता 13. शरीर की मृदुता 14. मन की सरलता 15. शरीर की सरलता—को भी चैतसिक कहा गया है।

कर्म की उत्पत्ति के हेतु

महात्मा बुद्ध ने कहा है—'भिक्षुओं! कर्मों की उत्पत्ति के तीन हेतु हैं।

लोभ कर्मों की उत्पत्ति का हेतु है। द्वेष कर्मों की उत्पत्ति का हेतु है। मोह कर्मों की उत्पत्ति का हेतु है। जो मूर्ख लोभ, द्वेष अथवा मोह से प्रेरित होकर चाहे छोटा, चाहे बड़ा कुछ भी कर्म करता है, उसे वह यहीं भोगना पड़ता है। दूसरे को दूसरे का किया हुआ नहीं भोगना पड़ता। इसलिए बुद्धिमान भिक्षु को चाहिए कि लोभ, द्वेष और मोह को त्यागकर विद्या का लाभ कर सारी दुर्गतियों से मुक्त हो।

लोभ, द्वेष और मोह—ये तीन अकुशल मूल हैं तथा अलोभ, अद्वेष, अमोह, निर्वेद, विराग आदि कुशल-मूल हैं।

कर्म का स्वरूप—बुद्ध की दृष्टि में कर्म एक चित्त-संकल्प है। उसे वे न तो वैदिक सिद्धान्त के अनुसार अदृष्ट शक्ति मानते हैं और न जैनों के समान पौद्गलिक शक्ति मानते हैं।

बौद्ध कर्म को अनादि और अविच्छिन्न परम्परा में घटित एक घटना मात्र मानते हैं। उनके अनुसार स्वकृत कर्मों के फल का भोक्ता प्राणी स्वयं होता है, अन्य नहीं। अपने बारे में ही फल भोग का वर्णन करते हुए बुद्ध ने कहा—'मैंने इकानवें कल्प पहले एक पुरुष का वध किया था, उसी कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर बिन्ध गये हैं। मैं जो अच्छा या बुरा कर्म करता हूं उसी का भागी होता हूँ। समग्र प्राणी कर्म के पीछे चलते हैं, जैसे रथ पर चढ़े हुए व्यक्ति रथ के पीछे चलते हैं।

कर्म संसरण का मूल कारण है। संसरण का अर्थ है—संसार में जन्म-मरण ग्रहण करना। भगवान् बुद्ध को अपने शिष्यों के पुनर्जन्म के विषय में ज्ञान था। उनका यह ज्ञान उनके स्वयं संवेद्य अनुभव का परिणाम था।

16.11.5 पातंजल योगदर्शन में कर्माशय

महर्षि पतंजलि लिखते हैं—'क्लेशमल कर्माशय—कर्म-संस्कारों का समुदय वर्तमान और भविष्य दोनों ही जन्मों में भोगा जाने वाला है।'

कर्मों के संस्कारों की जड़—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये पांच क्लेश हैं। यह क्लेशमूलक कर्माशय जिस प्रकार इस जन्म में दुःख देता है, उसी प्रकार भविष्य में होने वाले जन्मों में भी दुःखदायक है।

जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं, तब उनसे सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुण का जब तमोगुण से मेल होता है तब उसके उल्टे अज्ञान,

1 बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ. 480

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अधर्म, अवैराग्य और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यही दोनों प्रकार के कर्म शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य या शुक्ल-कृष्ण कहलाते हैं।

कर्मवाद और जन्मान्तर के अनुसार महर्षि पतंजलि लिखते हैं—'कर्म और भोग के साथ सैकड़ों हजारों जातियों, दूर-दूर के देशों और करोड़ों कल्प समय का अंतर रह जाता है किन्तु इससे उनके आनंतर्य में कुछ भी हानि नहीं होती, उनका सामंजस्य बना रहता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार एक से ही बने रहते हैं।

16.11.6 योगवासिष्ठ में कर्मफल

योगवासिष्ठ में लिखा है—'ऐसा कोई पर्वत नहीं है, ऐसा कोई आकाश नहीं है, ऐसा कोई समुद्र नहीं है, ऐसा कोई स्वर्ग नहीं है, जहां कि अपने किये हुए कर्मों का फल न मिलता हो। यह कहा जाता है और अनुभव में भी आता है कि मन का स्पन्दन ही कर्मरूपी वृक्ष का बीज है और तरह-तरह के फल वाली विविध क्रियाएं उसकी शाखा है। परब्रह्म से सब जीव अकारण ही उदित होते हैं, फिर उनके कर्म उनके सुख, दु:ख के कारण हो जाते हैं। सब क्रियाएं वासना (कामना) रहित होने पर फलदायिनी—बंधकारक नहीं होती। चाहे वे अशुभ फल लाने वाली ही क्यों न हों, जिस प्रकार फल देने वाली लताएं भी सींचे बिना फल नहीं देती। वसिष्ठजी कहते हैं—'हे राम! जो कुछ (कर्म) स्वच्छ, सम और निर्विकार बुद्धि से किया जाता है, उसमें कोई दोष (कर्म-बंधन) उत्पन्न नहीं होता।

16.11.7 न्याय-वैशेषिक दर्शनों में कर्म

न्याय-वैशेषिक दर्शनों में चलनात्मक अर्थ में 'आत्मा के संयोग और प्रयत्न द्वारा हाथ आदि से होने वाली क्रिया को कर्म कहा गया है। जो एक द्रव्य हो, द्रव्य मात्र के आश्रित हो, जिसमें कोई गुण न रहे और जो संयोग तथा विभाग में कालान्तर की अपेक्षा न करे, वह कर्म है।

नैयायिकों ने राग, द्वेष और मोह रूप इन तीनों दोषों को स्वीकार किया है। इन दोषों से प्रेरणा पाकर जीवों में मन, वचन और काय की प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्ति से धर्म और अधर्म की उत्पत्ति होती है। उन्होंने धर्म व अधर्म को 'संस्कार' कहा है। नैयायिकों ने जिस राग, द्वेष और मोह इन तीन दोषों का उल्लेख किया है, वे जैन दर्शन को मान्य हैं, जैन दार्शनिक उन्हें भावकर्म कहते हैं।

नैयायिक जिसको दोषजन्य प्रवृत्ति की संज्ञा देते हैं, उसे जैन 'योग' कहते हैं। दूसरी ओर नैयायिकों ने प्रवृत्तिजन्य धर्माधर्म को संस्कार अथवा अदृष्ट का नाम दिया है। जैनदर्शन में इसे पौद्गलिक कर्म या द्रव्यकर्म की संज्ञा दी है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि इस मत के अनुसार गुण और गुणी का भेद होने के कारण केवल आत्मा ही चेतन है। उसका गुण-संस्कार चेतन नहीं कहला सकता, क्योंकि संस्कार में चैतन्य का समवाय सम्बन्ध नहीं।

16.12 भारतीय दर्शनों में कर्म-बंध

16.12.1 वेदान्त में कर्म-बंध का कारण—अज्ञान

वेदान्त में अज्ञान (अविद्या) को बंध का मूल कारण कहा गया है। अज्ञान को सत् और असत् से भिन्न अनिर्वचनीय कहा गया है। क्योंकि सत् वस्तु का ब्रह्म की तरह ही नाश नहीं होता और असत् आकाश-पुष्प अथवा बन्ध्या-पुत्र के समान प्रतीति में नहीं आता, परन्तु अज्ञान का नाश भी होता है और प्रतीति में आता है। अज्ञान के कारण ही जीव संसार-चक्र में बंधा हुआ है।

16.12.2 सांख्य दर्शन में कर्म-बंध का कारण

सांख्य दर्शन में भी ज्ञान के विपर्यय को कर्मबंध का कारण माना गया है। अनुराधा व्याख्या में चतुर्वेदी जी ने कहा है—'विपर्ययात्' पद से ज्ञान के विपरीत अज्ञान का ग्रहण होता है। यह मोह के विपरीत संसार-बंध का कारण है। यहां बंधन तीन प्रकार का माना गया है—1. प्राकृतिक 2. वैकृतिक 3. दाक्षणिक।

प्राकृतिक—प्रकृति को आत्मा मानकर उसकी उपासना करना प्राकृतिक बंध है।

वैकृतिक—पांच महाभूत, इन्द्रिय, अहंकार और बुद्धि को ही पुरुष मानकर उपासना करना वैकृतिक बंध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दाक्षणिक—यज्ञ की समाप्ति पर प्राप्त दक्षिणा में ही आस्था रखकर आजीवन यज्ञादि कर्म कराते रहना दाक्षणिक बंध है।

16.12.3 मीमांसा दर्शन में कर्मबंध के कारण

वैदिक अनुष्ठान-विधियों को, सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित करने के लिए, जैमिनी सूत्रों का प्रणय किया। मीमांसा दर्शन में अनेक प्रकार के कर्म माने गये हैं—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म, काम्य कर्म, प्रतिषिद्ध कर्म। इनमें स्नान, संन्ध्या-वंदना आदि नित्य कर्म और अनिष्ट ग्रह-शांति, प्रायश्चित्त आदि नैमित्तिक कर्म—बंध के कारण नहीं होते। इन कर्मों को यज्ञार्थ कर्म भी कहा जाता है।

पुत्र-प्राप्ति अथवा स्वर्ग-प्राप्ति आदि फलों की कामना रख, किए जाने वाले कर्म बंध के कारण कहे जाते हैं।

16.12.4 न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म-बंध के कारण

न्याय दर्शन में बंध के कारण मुख्य राग, द्वेष और मोह को माना है। राग से काम, स्पृहा, तृष्णा और लोभ—ये पांच दोष उत्पन्न होते हैं, द्वेष से क्रोध, ईर्ष्या, असूया, तृष्णा और आमर्ष—ये पांच दोष उत्पन्न होते हैं। इन चौदह दोषों के कारण ही प्राणी संसार में, बंध को प्राप्त होता है। इन दोषों में मोह सबसे प्रधान दोष माना जाता है। क्योंकि मोह के कारण ही अविद्या, राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं जिससे देहादि अनात्मक वस्तुओं में, आत्मा की प्रतीति होने लगती है।

वैशेषिक दर्शन में अविद्या के चार कारण बताये गये हैं—संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और स्वप्न।

अविद्या का कारण बताते हुए कणाद ने कहा है—'इन्द्रियदोषात्संस्कारदोषच्चाविद्या'।

16.12.5 योग-दर्शन में कर्मबंध का कारण

योग दर्शन के अनुसार क्लेश संसार का अर्थात् बंध का मूल कारण है। सब क्लेशों का मूल अविद्या है। सांख्य दर्शन में जिसे विपर्यय कहा गया है, योग दर्शन में उसे ही क्लेश कहा गया है।

वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्व कौमुदी में योगदर्शन में मान्य पांच क्लेशों को क्रमशः 1. तमस् 2. मोह 3. महामोह 4. तामिस्र और 5. अहंकार कहा है।

योग दर्शन के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःखमय और अनात्म वस्तु में नित्य सुखमय और आत्म-बुद्धि ही अविद्या है।

16.12.6 जैनदर्शन एवं अन्य दर्शनों की तुलना

अब हम जैनदर्शन के कर्म एवं अन्य दर्शन कर्म-विषयक स्वरूप के कुछ महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं की तुलना कर रहे हैं।

16.12.7 जैन-बौद्ध सम्मत कर्म सिद्धान्त की तुलना

1. बौद्ध कुशल एवं अकुशल कर्म की तुलना जैनधर्म में वर्णित पुण्य-पाप से की जा सकती है।
2. जैनदर्शन में बंधन का कारण जड़ एवं चेतन दोनों है। बौद्ध दर्शन में बंधन का कारण चेतन है।
3. जैनदर्शन में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बंधन के प्रमुख कारण हैं। इसके अतिरिक्त राग और द्वेष भी बंधन का प्रमुख कारण है। बौद्ध दर्शन में भी अविद्या, वासना, तृष्णा, आसक्ति आदि चैतसिक तत्त्वों के अतिरिक्त क्रोध, द्वेष, मोह को बंधन का कारण बताया गया है। इस दृष्टि से दोनों में समानता है।
4. दोनों ही दर्शनों में आश्रव को बंधन का कारण माना है। बौद्धों में आश्रव के तीन भेद हैं—1. काम 2. भव 3. अविद्या। अंगुत्तर-निकाय में 'दृष्टि' को भी आश्रव कहा है। धम्मपद में प्रमाद को आश्रव कहा है, अतः दोनों ही दर्शनों में प्रमाद भी आश्रव है।

16.12.8 जैन एवं सांख्ययोग दर्शन में कर्म

सांख्ययोग और जैनदर्शन दोनों ही इस बात से सहमत है कि पुरुष या आत्मा का शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होना मोक्ष है। सांख्य में प्रकृति की मुक्ति एवं बंधन होता है। जैनदर्शन में बंधन एवं मोक्ष आत्मा का होता है। सांख्य बंधन का प्रमुख कारण अज्ञान को मानता है, जबकि जैनदर्शन अविद्या (मिथ्यात्व) के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को भी बंधन का कारण मानता है। योगदर्शन में क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को कर्म बंधन में प्रमुख कारण माना गया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.12.9 जैन एवं न्याय-वैशेषिक दर्शन में कर्म

न्याय दर्शन ईश्वर को कर्मफल का नियामक मानता है। जैनदर्शन की मान्यता है कि कर्म स्वत: फल देने में सक्षम है। मोक्ष के विषय में भी दोनों में मतभेद है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मोक्षावस्था में आत्मा अचेतन हो जाती है, वहां आनंद भी नहीं रहता है। जैनदर्शन मुक्तावस्था में चेतना और आनंद दोनों को मानता है।

बंधन के कारणों में दोनों दर्शनों में अधिकाधिक समानता है। न्यायदर्शन में राग-द्वेष एवं मोह को बंधन का प्रमुख कारण माना गया है। जैनदर्शन में भी इन्हीं को बंधन का प्रमुख कारण माना है।

16.12.10 जैनदर्शन और योग वासिष्ठ

योग वासिष्ठ की तुलना जैनदर्शन के साथ करने पर दोनों में काफी समानता ही प्रतीत होती है। जहां योगवासिष्ठ में बंधन का प्रमुख कारण वासना को माना है वहां जैनदर्शन में राग और द्वेष को बंधन का कारण मानता है। जो वासना के ही दूसरे रूप हैं। मोक्ष के सम्बन्ध में भी दोनों ने आत्मा की शुद्धावस्था को मोक्ष माना है।

16.12.11 शंकर के अद्वैत वेदान्त के कर्म से जैन के कर्म की तुलना

जैन एवं अद्वैत सिद्धान्त के बंध एवं मोक्ष सम्बन्धी संदर्भों में प्रमुख अंतर निम्न है—

1. शंकर ने कर्मबंध में अविद्या को प्रमुख कारण माना है। जैन अविद्या के साथ-साथ अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग को कर्मबंधन का महत्त्वपूर्ण कारण माना गया है।
2. अद्वैत वेदान्त में बंधन और मोक्ष को व्यावहारिक दृष्टि से सत्य माना गया है, परमार्थत: उसे मिथ्या माना गया है। जबकि जैन बंधन और मोक्ष को सत्य मानता है।
3. अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति का हेतु ज्ञान है। कर्म (प्रवृत्ति) से मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि कर्म का परिणाम किसी वस्तु को प्रारंभ करना है। जिससे वस्तु का आरंभ होता है, वह अनित्य होता है। किन्तु मोक्ष नित्य है और ज्ञान भी नित्य है। ज्ञान में भी सब प्रकार के ज्ञान को नहीं अपितु तत्त्वज्ञान को मोक्ष का हेतु बताया गया है, जबकि जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन व सम्यग्चरित्र को भी मोक्ष-प्राप्ति का हेतु माना है।

समानता—दोनों ही आत्मा की स्वाभाविक दशा को ही मोक्ष मानते हैं। दोनों बंधन को आत्मा की वैभाविक दशा स्वीकार करते हैं। शंकराचार्य आत्मा की वैभाविक अवस्था को प्रतीति मात्र मानते हैं, परन्तु सत्य नहीं, जबकि जैनदर्शन में विभाव की दशा प्रतीति न होकर सत्य मानी गयी है। शंकर ने अविद्या या मिथ्यात्व जिसे जैन परम्परा में मोह माना गया है बंधन का एकमात्र महत्त्वपूर्ण कारण माना है।

16.13 जैन कर्म सिद्धान्त की विलक्षणता

जैनदर्शन का कर्म-सिद्धान्त इन सबसे भिन्न है। इस सम्बन्ध में उनका अपना मौलिक चिन्तन है।

16.13.1 कर्म की पौद्गलिकता

जैन दर्शनानुसार कर्म मूर्त्त है, पौद्गलिक है। आश्रव के द्वारा कर्म-पुद्गल आकृष्ट होते हैं। वे आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप को आवृत्त कर देते हैं। शुभ प्रवृत्ति द्वारा पुण्य-बंध तथा अशुभ प्रवृत्ति द्वारा पाप का बंध होता है।

16.13.2 परिवर्तन की संभावना

कर्मबंध के परिणामों की तीव्रता एवं मंदता के आधार पर कर्म के दो भेद किये गये हैं—निकाचित और अनिकाचित। निकाचित कर्म तीव्र—गाढ़ बंध युक्त होते हैं। अनिकाचित कर्म निर्जरा द्वारा—तपश्चरण द्वारा समयावधि से पूर्व ही निर्जीर्ण हो सकते हैं।

16.13.3 अनेकान्त-दृष्टि

जैनों ने जगत् को एकान्त रूप से न तो जड़ ही माना है और न ही एकान्त चेतन रूप माना है। उन्होंने जगत् की व्याख्या में जड़-चेतन दोनों की सत्ता स्वीकार की है। बौद्धों के एकान्त क्षणिकवाद में कर्म नियम की व्याख्या असंगत है, क्योंकि एकान्त क्षणिकवाद में तो कृत-प्रणाश और अकृत भोग दोष होता है। नित्य-अपरिवर्तनशील निरपेक्ष की अवधारणा में भी कर्म की व्यवस्था ठीक नहीं बैठती है। जैनों ने सत् को

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक मानकर कर्म-सिद्धान्त की व्याख्या के लिए परिणामी-नित्यत्ववाद की धारणा प्रस्तुत की, जिसमें कर्म सिद्धान्त को सुव्यवस्थित रूप से व्याख्यायित किया जा सकता है। कर्म का सिद्धान्त न तो जड़-जगत् में संभव है और न ही मात्र शुद्ध चेतन में।

16.13.4 अपूर्व एवं विलक्षण सिद्धान्त

जैन सिद्धान्त के अतिरिक्त किसी भारतीय दर्शन में कर्म का इतना गंभीर विवेचन नहीं हुआ है। कर्म-सिद्धान्त का स्वतंत्र एवं विशाल साहित्य जैन के अतिरिक्त किसी भी दर्शन में उपलब्ध नहीं होता है। कुछ सीमा तक मीमांसा ने कर्म की विवेचना की है किन्तु पूर्व मीमांसा दर्शन में कर्म का तात्पर्य यज्ञ आदि कर्मों से है। इसमें कर्म की विवेचना बंधन के सिद्धान्त के रूप में नहीं की गई। वह मात्र किसी विशिष्ट प्रकार के फल के साथ सम्बन्ध सूचित करता है। पूर्व मीमांसा दर्शन की कर्म-सम्बन्धी व्याख्याएं वस्तुतः एक प्रकार की क्रियाकाण्डी विवेचना है, जबकि जैन दर्शन की कर्म-सम्बन्धी विवेचना मुख्यतः बंधन के स्वरूप से सम्बन्धित है। जैनकर्म सिद्धान्त की यह विशेषता है कि वह कर्मवर्गणाओं के नाम से एक भौतिक तथ्य द्रव्य का संकेत करता है। कर्म के इस भौतिक पक्ष का उल्लेख अन्य दर्शनों में प्रायः अनुपलब्ध ही है। यद्यपि भारतीय दर्शनों में अदृष्ट, अपूर्व या संस्कारों से उत्पन्न लिंग-शरीर की कल्पना की गयी है और यह भी माना गया है कि यह लिंग-शरीर पुनर्जन्म का कारण है। फिर भी जैनों की कर्म पुद्गलों के स्वरूप, उनकी स्थिति, रसघात, अनुभाग आदि की जो चर्चा है, वह विलक्षण है।

16.13.5 कर्म-मुक्ति

आत्मा के अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख एवं अनन्त वीर्य (शक्ति) आदि गुणों को ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और मोहनीय आदि कर्म आवृत्त करते हैं।

जैनदर्शन के अनुसार समग्र कर्मों का क्षय मोक्ष है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप जो कर्मों द्वारा आवृत्त था, कर्मक्षय हो जाने से प्रगट हो जाता है। यह आत्मा की अनन्त ज्ञानमय, अनन्त दर्शनमय, अनन्त सुखमय अवस्था है। जैनदर्शन के अनुसार मुक्तावस्था का आनन्द शाश्वत, नित्य, निरुपम, निरतिशय और विलक्षण है, जिसे शब्द प्रगट नहीं कर सकते।

मोक्ष प्राप्ति के दो उपाय हैं—1. संवर द्वारा नये कर्मों का निरोध तथा 2. निर्जरा द्वारा पूर्वसंचित कर्मों का क्षय। इसे नौका का उदाहरण देकर समझाया गया है—एक नौका है, उसके बीच में कई छेद हैं। उनसे उसमें पानी भरता रहता है। यदि छेदों को बंद कर दिया जाय तो पानी नहीं भरता है। उसी प्रकार मानसिक वाचिक; कायिक प्रवृत्ति आदि आश्रवों का संवर द्वारा निरोध कर देने पर जीव में कर्मों का प्रवेश नहीं होता। प्रवेश रूक जाने से नया संचय नहीं होता, संचित कर्म तपश्चरण द्वारा निर्जीर्ण होते हैं। वह जीव की मुक्तावस्था या सिद्धावस्था है।

बंधन से मुक्ति के प्रसंग में जैन, बौद्ध तथा अन्य परम्पराएं श्रद्धा, ज्ञान और आचरण को मुक्ति के मार्ग के रूप में स्वीकार करती है। वैदिक परम्परा में उसे मनोयोग, भक्तियोग और कर्मयोग कहा गया है। बौद्ध परम्परा में श्रद्धा, प्रज्ञा और शील के रूप में जाने गये हैं। जैनदर्शन में उन्हें सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यग्चारित्र के रूप में श्रद्धा या भक्ति को प्रधानता दी है, बौद्धदर्शन में प्रज्ञा को प्रधानता दी है। किन्तु जैनों ने तीनों के समन्वय को ही मुक्ति-मार्ग माना है—सम्यग्ज्ञान-दर्शन चारित्राणि मोक्षमार्गः।

इस प्रकार जैन एवं अन्य परम्पराओं में आंशिक समानता एवं आंशिक विषमता है। फिर भी इतना अवश्य ही मानना पड़ेगा कि जैनों में जितना गंभीर एवं सूक्ष्म रूप में कर्म-सिद्धान्त का वर्णन है, उतना अन्यत्र दुर्लभ है।

16.14 बंध-प्रक्रिया

बंध की परिभाषा करते हुए कहा गया है—कर्म-पुद्गलादानं बन्धः। (जैन सिद्धान्त दीपिका, 4/6)—कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करना बंध कहलाता है। दूसरे शब्दों में आत्मा अपनी सद्-असद् प्रवृत्तियों के द्वारा जो कर्म बनने की योग्यता रखते हैं ऐसे पुद्गलों का आकर्षण कर उन्हें अपने साथ बांध देती है। इसी प्रक्रिया का नाम बंध है। इस प्रक्रिया को समझने के लिए हमें कुछ मूलभूत तथ्यों पर पहले विचार करना होगा।

16.14.1 अनादिकाल बंध-प्रक्रिया

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध कब से है—यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस सन्दर्भ में आचार्य भिक्षु ने एक सुन्दर प्रश्नोत्तर-रूप संवाद प्रस्तुत किया है—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रश्न-1. क्या जीव और कर्म आदि है?
उत्तर-1. नहीं; क्योंकि ये कभी उत्पन्न हुए ही नहीं। अर्थात् अनादि हैं
प्रश्न-2. पहले जीव और बाद में कर्म हुए—क्या यह बात ठीक है?
उत्तर-2. नहीं; क्योंकि यदि पहले जीव हुआ, तो कर्म-रहित अवस्था में वह कहां रहा? मुक्त जीव कभी वापिस संसार में आता नहीं।
प्रश्न-3. पहले कर्म, बाद में जीव हुए—क्या यह बात ठीक है?
उत्तर-3. नहीं; क्योंकि कर्म जीव के करने से होते हैं अतः यदि पहले जीव नहीं था, तो कर्म किए किसने? कर्म किए बिना होते नहीं।
प्रश्न-4. जीव और कर्म एक साथ उत्पन्न हुए—क्या यह बात ठीक है?
उत्तर-4. नहीं; क्योंकि इन्हें उत्पन्न हुए मानने से प्रश्न होगा कि इन्हें उत्पन्न करने वाला कौन है? इनका कोई उत्पादक नहीं है, अतः ये एक साथ उत्पन्न हुए—ऐसा कहना ठीक नहीं है।
प्रश्न-5. क्या जीव कर्म-मुक्त है, यह बात ठीक है?
उत्तर-5. नहीं, क्योंकि यदि जीव कर्म-मुक्त हों, तो क्रिया किसलिए करेगा?
प्रश्न-6. तो फिर जीव और कर्म का मिलाप (अनुबंध) कैसे होता है?
उत्तर-6. जीव और कर्म दोनों का अनुबंध अनादि काल से अपश्चानुपूर्वीतया—अर्थात् न पहले, न पीछे—चला आ रहा है। ज्यों तेल और तिल, घृत और दूध, धातु और मिट्टी (धातु का खनिज-रूप—ore)—दोनों परस्पर मिले हुए हैं, त्यों जीव और कर्म का बंध प्रवाह रूप से अनादि काल से है।"

इस संवाद से यह भली-भांति स्पष्ट है कि जैन दर्शन ने आत्मा और कर्म के अस्तित्व को आदि'रहित मानकर एक साथ अनेक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत कर दिया है। आदि मानने से ही उपर्युक्त सारी शंकाएं खड़ी होती हैं, जिनका समाधान कठिन है। 'ईश्वरवाद' के सिद्धान्त में भी मूलतः ईश्वर का अस्तित्व 'अनादि' ही माना जाता है। आधुनिक विज्ञान भी मूल उपादान को अनादि ही स्वीकार करता है। आइन्स्टीन के अभिमत को प्रस्तुत करते हुए डा. लिंकन बारनेट अपनी पुस्तक "दी यूनिवर्स एण्ड डॉ. आइन्स्टीन" में लिखते हैं "विश्व के निर्माण का चिन्तन विश्व की आदि को अनन्त भूत में ढकेल देता है।"

[Lincoln Barneit, the author of **The Universe and Dr.Einatein**, concluding his chapter on the origin of the universe, expresses this thus: It merely pushes the time of creation into the infinite past. for while theorists have adduced mathematically impeccable accounts of the fabrication of galaxies, stars, star-dust, and even of the atorh's components; every theory rests ultimately on the alatpriori assumption hat some thing was already in existence-- whether free neutrons, energy quanta, or simply the blank inscorutable "world stuff", the cosmid essence, of which the multiferious universe was subsequently wrought.]

इस प्रकार जैन दर्शन का अनादि जीव-कर्म-सम्बन्ध का सिद्धान्त सहज बुद्धिगम्य हो जाता है।

16.14.2 कर्मबंधः कारण

कर्म के सम्बन्ध में बहुत लम्बी चर्चा हो जाने पर भी एक प्रश्न ज्यों-का-त्यों खड़ा है। वह है बन्धन की प्रक्रिया से सम्बन्धित। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन क्यों होता है? बन्धन सहेतुक है या निर्हेतुक? वह आमन्त्रित है या अनायास हो जाता है? आत्मा चेतन है और कर्म जड़ है। जड़ और चेतन का योग संभव है क्या?

'न हि अकारणं कार्यं भवति' कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता; यह शाश्वत नियम है। इसी के आधार पर कारणकार्यवाद की परम्परा चली। कर्म-बन्धन भी अकारण नहीं है। यदि इसे अकारण मान लिया जाए तो सिद्धों के भी कर्म-बन्धन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। इसलिए हमें बन्धन के हेतु पर विचार करना होगा।

कर्म के हेतुओं की चर्चा भिन्न-भिन्न रूपों में मिलती है जिसके मूल में कषाय और योग इन दो तत्त्वों का ही योगदान है। कर्मबंध के हेतु के विषय में कहीं योग और प्रमाद इन दो को कारण बतलाया गया है। कहीं राग और द्वेष तथा कहीं पांच आस्रवों को बंध का कारण माना गया है। कर्म बंधः प्रक्रिया एवं कारणों का संक्षिप्त विवेचन निम्नानुसार है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

16.14.3 बंध की प्रक्रिया

आत्मा में अनन्त वीर्य (सामर्थ्य) होता है। उसे लब्धि-वीर्य कहा जाता है। यह शुद्ध आत्मिक सामर्थ्य है। इसका बाह्यय जगत् में कोई प्रयोग नहीं होता। आत्मा का बहिर्-जगत् के साथ जो सम्बन्ध है, उसका माध्यम शरीर है। वह पुद्गल परमाणुओं का संगठित पुंज है। आत्मा और शरीर —इन दोनों के संयोग से जो सामर्थ्य पैदा होता है, उसे करण-वीर्य या क्रियात्मक शक्ति कहा जाता है। शरीरधारी जीव में यह सतत् बनी रहती है। कम्पन अचेतन वस्तुओं में भी होता है, किन्तु वह स्वाभाविक होता है। उनमें चैतन्य-प्रेरित कम्पन नहीं होता। चेतन में कम्पन का प्रेरक गूढ़ चैतन्य होता है। इसलिए इसके द्वारा विशेष स्थिति का निर्माण होता है। शरीर की आन्तरिक वर्गणा द्वारा निर्मित कम्पन में बाहरी पौद्गलिक धाराएं मिलकर आपसी क्रिया-प्रतिक्रिया द्वारा परिवर्तन करती रहती हैं।

क्रियात्मक शक्ति-जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म-परमाणुओं का संयोग होता है। इस प्रक्रिया को आस्रव कहा जाता है। आत्मा के साथ संयुक्त कर्म-योग परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित होते हैं। इस प्रक्रिया को बंध कहा जाता है।

आत्मा और कर्म-परमाणुओं का फिर वियोग होता है। इस प्रक्रिया को निर्जरा कहा जाता है।

आस्रव और निर्जरा के बीच की स्थिति बंध है। आस्रव के द्वारा बाहरी पौद्गलिक धाराएं शरीर में आती हैं। निर्जरा के द्वारा वे फिर शरीर के बाहर चली जाती हैं। कर्म-परमाणुओं के शरीर में आने और फिर चले जाने के बीच की दशा को संक्षेप में बंध कहा जाता है।

शुभ और अशुभ परिणाम आत्मा की क्रियात्मक शक्ति के प्रवाह हैं। ये अजस्र रहते हैं। दोनों एक साथ नहीं, दोनों में से एक अवश्य रहता है। कर्म-शास्त्र की भाषा में शरीर-नाम-कर्म के उदय-काल में चंचलता रहती है। उसके द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है। शुभ परिणति के समय शुभ और अशुभ परिणति के समय अशुभ कर्म-परमाणुओं का आकर्षण होता है।

16.14.4 बंध के भेद

बन्ध— जीव के असंख्य प्रदेश हैं। मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से जीव के असंख्यात प्रदेशों में कम्पन पैदा होता है। इस कम्पन के फलस्वरूप जिस क्षेत्र में आत्म-प्रदेश हैं उस क्षेत्र में विद्यमान अनन्तानन्त कर्म-वर्गणा के पुद्गल जीव के एक-एक प्रदेश के साथ चिपक जाते हैं, बन्ध जाते हैं। जीव-प्रदेशों के साथ इन कर्म-पुद्गलों का इस प्रकार चिपक जाना (बन्ध जाना) ही बन्ध कहलाता है। जीव और कर्म का यह सम्बन्ध ठीक वैसा ही है जैसा दूध और पानी का, अग्नि और तप्त लोह-पिण्ड का। इस प्रकार आत्म-प्रदेशों के साथ बन्ध को प्राप्त कार्मण-वर्गणा के पुद्गल ही कर्म कहलाते हैं। जीव संख्यात या असंख्यात परमाणुओं से बने हुए कर्म-पुद्गलों को ग्रहण नहीं करता परन्तु अनन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है। बंध आत्मा और कर्म के सम्बन्ध की पहली अवस्था है। वह चार प्रकार की है—1. प्रकृति, 2. स्थिति, 3. अनुभाग, 4. प्रदेश।

1. प्रकृति-बन्ध

कर्म-परमाणु कार्य-भेद के अनुसार आठ वर्गों में बंट जाते हैं। इसका नाम प्रकृति-बंध (स्वभाव-व्यवस्था) है। कर्म की मूल प्रकृतियां (स्वभाव) आठ हैं—1. ज्ञानावरण, 2. दर्शनावरण, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयुष्य 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

जीव की शुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्म-पुद्गल शुभ तथा अशुभ प्रवृत्ति के समय ग्रहण किए हुए कर्म पुद्गल अशुभ होते हैं। कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने पर, ज्ञान को रोकने का स्वभाव, दर्शन को रोकने का स्वभाव इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्वभाव का होना प्रकृति-बन्ध कहलाता है।

2. स्थिति-बन्ध

यह काल-मर्यादा की व्यवस्था है। प्रत्येक कर्म आत्मा के साथ निश्चित समय तक ही रह सकती है। स्थिति पकने पर वह आत्मा से अलग हो जाता है। यह स्थिति-बंध है।

जीव के द्वारा जो शुभाशुभ कर्म-पुद्गल ग्रहण किये गये हैं, वे अमुक काल तक अपने स्वभाव को रखते हुए जीव-प्रदेशों के साथ बन्धे रहेंगे, उसके बाद वे शुभ या अशुभ रूप में उदय में आयेंगे, इस प्रकार से कर्मों का निश्चित काल तक के लिए जीव के साथ बंध जाना—स्थिति-बन्ध है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. अनुभाग-बन्ध

यह फलदान-शक्ति की व्यवस्था है। इसके अनुसार गृहीत कर्म-पुद्गलों में रस की तीव्रता और मंदता का निर्माण होता है। यह अनुभाग-बंध है।

कुछ कर्म तीव्र रस से बंधते हैं और कुछ के मन्द रस से। शुभाशुभ कार्य करते समय जीव की जितनी मात्रा में तीव्र या मन्द प्रवृत्ति रहती है, उसी के अनुरूप कर्म भी बंधते हैं और उनमें फल देने की वैसी ही शक्ति होती है।

4. प्रदेश-बन्ध

बन्ध का अर्थ है—आत्मा और कर्म का संयोग और कर्म का निर्मापण—व्यवस्थाकरण। ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल अविभक्त होते हैं। ग्रहण के पश्चात् वे आत्मप्रदेशों के साथ एकीभूत होते हैं। यह प्रदेश-बंध (या एकीभाव की व्यवस्था) है।

भिन्न-भिन्न कर्म-दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश-बंध है। ग्रहण किए जाने पर भिन्न-भिन्न स्वभाव में परिणत होने वाली कर्म-पुद्गल-राशि-स्वभावानुसार अमुक-अमुक परिणाम में बंट जाती है—यह परिणाम विभाग ही प्रदेश-बन्ध कहलाता है।

बंध के चारों प्रकार एक साथ ही होते हैं। कर्म की व्यवस्था के ये चारों प्रधान अंग हैं। आत्मा के साथ कर्म पुद्गलों के आश्लेष या एकीभाव की दृष्टि से 'प्रदेश-बंध' सबसे पहला है। इसके होते ही उनमें स्वभाव-निर्माण, काल-मर्यादा और फलशक्ति का निर्माण हो जाता है। इसके बाद अमुक-अमुक स्वभाव, स्थिति और रस-शक्ति वाला पुद्गल-समूह अमुक-अमुक परिणाम में बंट जाता है। यह परिमाण-विभाग भी प्रदेश-बंध है। बंध के वर्गीकरण का मूल बिन्दु स्वभाव-निर्माण है। स्थिति और रस का निर्माण उसके साथ-साथ हो जाता है। परिणाम-विभाग इसका अन्तिम विभाग है।

16.14.5 बंध के हेतु

कर्म-सम्बन्ध के अनुकूल आत्मा की परिणति या योग्यता ही बन्ध का हेतु है। बन्ध के हेतुओं का निरूपण अनेक रूपों में हुआ है। भगवती सूत्र में बंध के दो कारण निर्दिष्ट हैं—प्रमाद और योग। उदाहरणार्थ—

गौतम ने पूछा—भगवन्! जीव कांक्षा मोहनीय कर्म बांधता है?

भगवान्—गौतम! बांधता है।

गौतम—भगवन्! वह किन कारणों से बांधता है?

भगवान्—गौतम! उसके दो हेतु हैं—प्रमाद और योग।

गौतम—भगवन्! प्रमाद किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—योग से।

गौतम—योग किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—वीर्य से।

गौतम—वीर्य किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—शरीर से।

गौतम—शरीर किससे उत्पन्न होता है?

भगवान्—जीव से।

तात्पर्य यह है कि जीव शरीर का निर्माता है। क्रियात्मक वीर्य का साधन शरीर है। शरीरधारी जीव ही प्रमाद और योग के द्वारा कर्म (कांक्षा-मोहनीय) का बन्ध करता है। स्थानांग और प्रज्ञापना में कर्मबंध के क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार कारण बतलाए हैं।

मूलतः कर्म-बन्धन का कारण है आस्रव। आस्रव पांच हैं—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। प्रथम चार आस्रव अव्यक्त हैं और योग आश्रव व्यक्त है। कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करने का सर्वाधिकार इसी योग आस्रव को प्राप्त है। योग तीन प्रकार का होता है—मन योग, वचन योग और काय योग। इन तीनों में काय योग स्थूल है। इसलिए मन और वचन योग की प्रवृत्ति का हेतु योग ही बनता है।

योग की प्रवृत्ति निरन्तर होती रहती है। प्रवृत्ति के साथ बन्धन का अविनाभावी सम्बन्ध है। स्थूल और सूक्ष्म प्रत्येक प्रवृत्ति समग्रता से कर्म पुद्गलों को (आवाहन) ग्रहण करती है। इस दृष्टि से बन्धन के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कारणों को विश्लेषित करना कठिन है। फिर भी स्थूल रूप से कुछ कारणों का संकेत किया जा सकता है—

ज्ञान या ज्ञानी के प्रति असद् व्यवहार ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दर्शन या दर्शनी के प्रति असद् व्यवहार दर्शनावरणीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

दु:ख देने और दु:ख न देने की प्रवृत्ति वेदनीय कर्म-बन्धन का हेतु है।

तीव्र कषाय का प्रयोग करने से मोह कर्म का बन्धन होता है।

क्रूर व्यवहार, वंचनापूर्ण व्यवहार, ऋजु व्यवहार और संयत व्यवहार से क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव आयुष्य का बन्धन होता है।

कथनी और करनी की समानता से शुभ नाम तथा असमानता से अशुभ नाम कर्म का बन्धन होता है।

अहंकार करने से नीच गोत्र और अहंकार विसर्जन करने से उच्च गोत्र कर्म का बन्धन होता है।

किसी के कार्य में बाधा डालने से अन्तराय कर्म का बन्धन होता है।

कर्म आठ हैं। आठों कर्मों के बन्धन में स्थूल रूप से निमित्त बनने वाले आठ कारणों को यहां उल्लिखित कर दिया गया है। यह मात्र संकेत है। ऐसे और भी अनेक कारण हैं, जो बन्धन में निमित्त हैं।

16.14.6 आस्रव

जिस परिणाम से आत्मा में कर्मों का आस्रवण—प्रवेश होता है, उसे आस्रव कहा जाता है। जिस प्रकार मकान के दरवाजा होता है, तालाब के नाला होता है, नौका के छेद होता है, उसी प्रकार जीव के आस्रव होता है। आस्रव जीव का परिणाम है, इसलिए वह जीव है। आस्रव कर्म-बन्ध का हेतु है, इस दृष्टि से मोक्ष का बाधक है। शुभ योग से कर्मों की निर्जरा होती है, इस दृष्टि से वह मोक्ष का बाधक है। कर्म-बन्धन के जितने द्वार हैं—निमित्त हैं, वे सब आस्रव हैं। प्रमुख रूप से उसके पांच भेद किए जाते हैं। आस्रव के बीस भेदों का उल्लेख भी यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। ये भेद विवक्षाकृत हैं। इस वर्गीकरण में प्रथम पांच मूल के भेद हें। शेष पन्द्रह भेद योग आस्रव के अवांतर भेद हैं उन सबका योग में समाहार हो जाता है, इसलिए प्रस्तुत प्रसंग में पांच ही आस्रवों का ग्रहण किया गया है।

मिथ्यात्व आस्रव

विपरीत तत्त्वश्रद्धा का नाम मिथ्यात्व है। जीव की दृष्टि को विकृत करने वाले मोह-परमाणुओं के उदय से अयथार्थ में यथार्थ और यथार्थ में अयथार्थ की जो प्रतीति होती है, वह मिथ्यात्व आस्रव है। इसके आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक आदि पांच भेद हैं।

अव्रत आस्रव

अत्याग भाव का नाम अव्रत है। इसका सम्बन्ध चारित्र मोह के परमाणुओं से है। ये परमाणु जब तक सक्रिय है। अंश रूप में या सम्पूर्ण रूप में हिंसा आदि पापकारी प्रवृत्तियों के त्यागने का मनोभाव नहीं बनता। अव्रत आस्रव देशव्रत और सर्वव्रत दोनों का बाधक है।

प्रमाद आस्रव

अध्यात्म के प्रति होने वाले आन्तरिक अनुत्साह का नाम प्रमाद है। इसका सम्बन्ध भी मोह-कर्म के परमाणुओं से है।

कषाय आस्रव

राग-द्वेषात्मक उत्ताप का नाम कषाय है। चारित्रमोह के परमाणुओं का उदयकाल इसका अस्तित्वकाल है। यह वीतराग-चारित्र की उपलब्धि में बाधक है।

योग आस्रव

योग का अर्थ है प्रवृत्ति। शरीर, भाषा और मन की शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप आत्मपरिणति का नाम है योग-आस्रव। जब तक प्रवृत्ति है, तब तक बन्धन है। अशुभ योग से अशुभ कर्म का बन्ध होता है और शुभ योग से शुभ कर्म का। योग का सर्वथा निरोध होने से अयोग संवर अथवा शैलेशी अवस्था प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन कारणों में प्राणियों की समस्त क्रियाओं का वर्गीकरण किया हुआ है। साधारण बुद्धि वाले व्यक्ति इन्हें यथार्थ रूप में हृदयंगम नहीं कर सकते। इसलिए कर्म-बन्ध के हेतुओं का विस्तृत वर्णन करना आवश्यक है। प्रत्येक कर्म-बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण ये हैं—

16.14.7 आठ कर्मों के बन्ध के कारण

ज्ञानावरणीय कर्म-बन्ध के कारण

1. ज्ञान-प्रत्यनीकता—ज्ञान या ज्ञानी से प्रतिकूलता रखना।
2. ज्ञान-निह्नव—ज्ञान तथा ज्ञानदाता का अपलाप (अस्वीकार) करना अर्थात् ज्ञानी को कहना कि ज्ञानी नहीं है।
3. ज्ञानान्तराय—ज्ञान को प्राप्त करने में अन्तराय (विध्न) डालना।
4. ज्ञान-प्रद्वेष—ज्ञान या ज्ञानी से द्वेष रखना।
5. ज्ञान-आसातना—ज्ञान या ज्ञानी की अवहेलना करना।
6. ज्ञान-विसंवादन—ज्ञान या ज्ञानी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना।

दर्शनावरणीय कर्म-बन्ध के कारण

1. दर्शन-प्रत्यनीकता—दर्शन या दर्शनी से प्रतिकूलता रखना।
2. दर्शन-निह्नव—दर्शन या दर्शनदाता का अपलापन करना अर्थात् दर्शनी को कहना कि वह दर्शनी नहीं है।
3. दर्शनान्तराय—दर्शन को प्राप्त करने में अन्तराय (विध्न) डालना।
4. दर्शन-प्रद्वेष—दर्शन या दर्शनी से द्वेष रखना।
5. दर्शन-आसातना—दर्शन या दर्शनी की अवहेलना करना।
6. दर्शन-विसंवादन—दर्शन या दर्श्नी के वचनों में विसंवाद अर्थात् विरोध दिखाना।

वेदनीय कर्म-बन्ध के कारण

सातावेदनीय[1] कर्म-बन्ध के कारण छह हैं—

1. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को अपनी असत् प्रवृत्ति से दुःख न देना।
2. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को हीन न बनाना।
3. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों के शरीर को हानि पहुंचाने वाला शोक पैदा न करना।
4. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को न सताना।
5. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों पर लाठी आदि से प्रहार न करना।
6. प्राण, भूत, जीव, सत्त्वों को परितापित न करना।

उक्त कामों के करने से असातावेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

मोहनीय कर्म-बन्ध के कारण

तीव्र क्रोध, तीव्र मान, तीव्र माया, तीव्र लोभ, तीव्र दर्शन-मोह, तीव्र चारित्र-मोह, तीव्र मिथ्यात्व। हास्य, रति आदि तीव्र नो-कषाय।

आयुष्य कर्म-बन्ध के कारण

(क) नरक-आयु बन्धने के कारण हैं :—

1. महाआरम्भ, 2. महापरिग्रह, 3. पंचेन्द्रिय-वध और 4. मांसाहार।

---

[1] (प्राणाः द्विस्त्रिः चतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः।
जीवाः पंचेन्द्रिया ज्ञेयाः, शेषाः सत्त्वाः उदीरिता॥
दो, तीन और चार इन्द्रिय वाले जीव 'प्राण' वनस्पति के जीव 'भूत', पांच इन्द्रिय वाले सभी प्राणी 'जीव' और शेष चार स्थावर(पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु के) जीव 'सत्त्व' कहलाते हैं।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(ख) तिर्यञ्च-आयु बन्धने के कारण हैं: —

1. माया करना, 2. गूढमाया, (एक कपट को ढंकने के लिए दूसरा छल) करना, 3. असत्य वचन बोलना, 4. कूट तोल-माप करना।

(ग) मनुष्य-आयु बन्धने के चार कारण हैं: —

1. सरल-प्रकृति होना 2. प्रकृति-विनीत होना, 3. दया के परिणाम रखना, 4. ईर्ष्या न करना।

(घ) देव-आयु बन्धने के चार कारण हैं: —

1. सराग-संयम—राग-युक्त संयम का पालन (आयुष्य का बन्ध न तो राग से होता है और न संयम से होता है, वह तो सरागी संयमी की तपश्चर्या से होता है। अभेदोपचार से उसे सराग-संयम कहा गया है)।

2. संयमासंयम—श्रावकपन का पालन।

3. बाल-तपस्या—मिथ्यात्वी की तपस्या।

4. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की इच्छा के बिना की जाने वाली तपस्या।

नाम कर्म-बन्ध के कारण

शुभ नामकर्म बंधने के चार कारण हैं: —

1. काय-ऋजुता—दूसरों को ठगने वाली शारीरिक चेष्टा न करना।
2. भाव-ऋजुता—दूसरे को ठगने वाली मानसिक चेष्टा न करना।
3. भाषा-ऋजुता—दूसरे को ठगने वाली वचन की चेष्टा न करना।
4. अविसंवादन-योग—कथनी और करनी में विसंवादन न करना।

उक्त कार्यों को करना अशुभ नामकर्म बंधने के कारण हैं।

गोत्र कर्म-बन्ध के कारण

गोत्र कर्म-बन्ध के आठ कारण हैं—1. जाति, 2. कुल, 3. बल, 4. रूप, 5. तपस्या, 6. श्रुत (ज्ञान), 7. लाभ, 8. ऐश्वर्य—इनका मद—अहं न करना उच्च गोत्र-बन्ध के कारण और इनका मद—अहं करना नीच गोत्र-बन्ध के कारण हैं।

अन्तराय कर्म-बन्ध के कारण

अन्तराय कर्म-बन्ध के पांच कारण हैं—1. दान, 2. लाभ, 3. भोग, 4. उपभोग, 5. वीर्य (उत्साह या सामर्थ्य)—इन सब में बाधा डालना।

16.15 सारांश– उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि जैन दर्शन में कर्म सिद्धान्त की सूक्ष्म मीमांसा की गयी है।

16.16 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन में कर्म के स्वरूप के मुख्य बिन्दुओं को स्पष्ट करते हुए किसी एक अन्य भारतीय दर्शन के कर्म-स्वरूप के साथ उसकी तुलना करें। **अथवा**

जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य भारतीय दर्शनों में कर्म के स्वरूप की विस्तृत विवेचना करें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्म और क्रिया (प्रवृत्ति) के भेद को जैनदर्शन के आधार पर स्पष्ट करें।
2. बौद्ध दर्शन में कर्म-सम्बन्धी मान्यताओं को संक्षेप में प्रस्तुत करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

क. निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर एक या दो वाक्यों में दें—

1. बद्ध कर्मों से निपटारा पाने के कौन से दो विकल्प जैनदर्शन में बताए गए हैं?
2. प्रारब्ध किसे कहते हैं?
3. बौद्धदर्शन में कर्म को किन नामों से पुकारा गया है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

4. ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य में कर्म को क्या कहा गया है?
5. जिसे जैन 'योग' कहते हैं, उसे नैयायिक क्या संज्ञा देते हैं?

ख. निम्नलिखित रिक्त स्थान पूर्ति करें—

1. कर्म को ...... परिस्थिति कहा जा सकता है यही कर्म की सत्ता का स्वयं-भू प्रमाण है।
2. काल ...... नियति, कर्म और पुरुषार्थ—ये पांच समवाय हैं।
3. मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद ...... और योग के कारण आत्मा कर्म-वर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करती है।
4. वेदनीय, ... नाम और गोत्र—ये चार .... कर्म हैं।
5. जीव का परिणमन .... कर्म है और उसके फलस्वरूप आत्मा के साथ होने वाला कर्म-पुद्गलों का बंध द्रव्यकर्म है।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–17 : कर्म के भेद–प्रभेद

संरचना

17.0 प्रस्तावना
17.1 उद्देश्य
17.2 कर्म-प्रकृतियों के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा
17.3 प्रकृतियों का वर्गीकरण
17.4 कर्म प्रकृति : वैज्ञानिक दृष्टि
17.5 सारांश
17.6 अभ्यास प्रश्नावली

17.0 प्रस्तावना

इस अध्याय में बंधन के अनन्तर किस कर्म का क्या परिणाम प्राप्त होता है इसको उनके भेद, प्रभेदों के आधार पर बताया गया है। इन भेदों को ही पारिभाषिक शब्दावली में 'प्रकृति' कहा जाता है। मुख्यत: कर्म आठ हैं। विभाग करने पर प्रत्येक कर्म अनेक भेदों और प्रभेदों में विभक्त हो जाता है जिनके आधार पर कर्म का स्वरूप तो ज्ञात होता ही है साथ-साथ प्रत्येक कर्म फलदान की कितनी विचित्र शक्तियां रखता है—यह भी स्पष्ट होता है।

17.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से कर्म के भेद-प्रभेद की विस्तृत जानकारी हो सकेगी।

17.2 कर्म–प्रकृतियों के विकास की ऐतिहासिक रूपरेखा

प्रस्तुत प्रसंग में मुख्य रूप से कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों के विकास को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया गया है। दूसरे शब्दों में, इसमें यह जानने का प्रयास किया गया है कि कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का विकास कैसे-कैसे हुआ है? अर्थात् सर्वाधिक प्राचीन जैनग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों के कौन से रूप दृष्टिगत होते हैं और क्रमश: बाद में उनके स्वरूप में किस प्रकार के परिवर्तन–परिवर्द्धन होते हैं और अन्त में किस काल के ग्रन्थों में इनका पूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है? तदनन्तर कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।

जैन ग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों का वर्णन अत्यन्त विस्तृत रूप में हुआ है। ऐतिहासिक विकासक्रम की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन जैन आगम ग्रन्थ **आचारांग** एवं **सूत्रकृतांग** में कर्मप्रकृतियों का कोई उल्लेख नहीं है। यद्यपि कर्मसिद्धान्त की मूलभूत अवधारणा इनमें पायी जाती है—जैसे कर्म बन्धन है, व्यक्ति को उसके शुभाशुभ कर्म का फल मिलता है।

स्थानांग सूत्र में कर्म की आठ मूलप्रकृतियों का तो विवरण है पर उनकी उत्तरप्रकृतियों का विस्तृत उल्लेख नहीं है। इसमें ज्ञानावरणीयकर्म के दो भेद दृष्टिगत होते हैं—1. मतिज्ञानादि को ढकने वाला देशज्ञानावरणीय और 2. केवलज्ञान को ढकने वाला सर्वज्ञानावरणीय। उक्त दो भेद दर्शनावरणीयकर्म के भी किये गये हैं, यथा—1. देशदर्शनावरणीय एवं 2. केवलदर्शनावरणीय। इसी प्रकार वेदनीयकर्म के साता, असाता मोहनीयकर्म के दर्शनमोहनीय एवं चारित्रमोहनीय आयुकर्म के 1. अध्वायुष्य (जो मनुष्य और तिर्यञ्चों को होता है) तथा 2. भवायुष्य (जो देवों और नारकों को होता है); नामकर्म के 1. शुभनामकर्म एवं 2. अशुभनामकर्म गोत्रकर्म के 1. उच्च गोत्रकर्म और नीच गोत्रकर्म; और अन्तराय कर्म के भी दो भेद दृष्टिगत होते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि आचारांग एवं सूत्रकृतांग की तुलना में स्थानांग सूत्र में कर्मप्रकृतियों की चर्चा कुछ विकसित है, परन्तु इसमें भी कर्म की सभी उत्तरप्रकृतियों का पूर्ण उल्लेख नहीं है। प्रथम बार **समवायांग सूत्र** में दर्शनावरणीय कर्म की 9 उत्तरप्रकृतियों के उल्लेख मिलते हैं, यथा—निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला, स्त्यानर्द्धि, चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण। इसमें चारित्र मोहनीयकर्म के दो भेदों—कषायमोहनीय एवं नोकषायमोहनीय में कषायमोहनीय कर्म के 16 अवान्तर भेदों के भी उल्लेख दृष्टिगत होते हैं, जैसे—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, एवं संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार इसमें नामकर्म की 14 पिण्ड प्रकृतियों एवं 28 प्रत्येक प्रकृतियों के उल्लेख से नामकर्म के 42 भेदों की भी चर्चा है। समवायांग सूत्र में ज्ञानावरणीय कर्म की 5, वेदनीय की 2, आयु की चार, नामकर्म की 42 और अन्तरायकर्म की 5, इस प्रकार 58 उत्तरप्रकृतियों की चर्चा उपलब्ध होती है। इससे यह फलित होता है कि समवायांग सूत्र के रचनाकाल तक उक्त कर्मों की उत्तरप्रकृतियों की पूर्ण अवधारणा बन चुकी थी।

समवायांग सूत्र में कर्म की अधिकांश उत्तरप्रकृतियों की चर्चा है, किन्तु इसमें दर्शनावरणीयकर्म की 9 एवं चारित्र मोहनीयकर्म के 16 नामों तथा नामकर्म के 42 भेदों को छोड़कर अन्य शेष कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के नाम निर्देश नहीं हैं।

भगवती सूत्र में कर्मों की मात्र आठ मूलप्रकृतियों का ही उल्लेख है। अंगसाहित्य के अन्य ग्रन्थों में कर्मप्रकृतियों की कोई विशिष्ट चर्चा नहीं है।

उपांगों में मुख्य रूप से प्रज्ञापना में कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का पूर्ण विवरण है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अंग साहित्य के समवायांग सूत्र में कर्म की जिन उत्तरप्रकृतियों की चर्चा नहीं है उनकी विस्तृत चर्चा प्रज्ञापना सूत्र में है।

उत्तराध्ययन सूत्र में भी कर्म की आठ मूल प्रकृतियों एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों की संख्या निर्दिष्ट है, पर मोहनीय कर्म एवं नामकर्म की उत्तरप्रकृतियों के पूर्ण उल्लेख नहीं हैं। समवायांग और उत्तराध्ययन की कर्मप्रकृतियों की चर्चा में बहुत कुछ समानता है।

जहां तक कर्मप्रकृतियों के सुव्यवस्थित विवरण का प्रश्न है, इनकी विस्तृत एवं सुव्यवस्थित चर्चा हमें कर्मसाहित्य के स्वतन्त्र ग्रन्थों में देखने को मिलती है। षट्खण्डागम के जीवस्थान की प्रकृतिसमुत्कीर्तन नामक चूलिका में इनका परिपूर्ण विकसित स्वरूप दृष्टिगत होता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी कर्म की मूल एवं उनकी उत्तरप्रकृतियों का पूर्ण उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा के देवेन्द्रसूरिविरचित कर्मविपाक नामक प्रथम ग्रन्थ में भी सभी कर्मप्रकृतियों की चर्चा है।

निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जैन साहित्य में कर्म की आठ मूलप्रकृतियों एवं उनकी सभी उत्तरप्रकृतियों की पूरी अवधारणा क्रमशः विकसित हुई।

17.3 प्रकृतियों का वर्गीकरण

जैन विचारणा के अनुसार कर्म आठ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं—1. ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4. मोहनीय, 5. आयु, 6. नाम, 7. गोत्र और 8. अन्तराय।

17.3.1 ज्ञानावरण—ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल। ज्ञानावरण के पांच भेद हैं—

1. आभिनिबोधिक ज्ञानावरण—इन्द्रिय और मन के द्वारा होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।
2. श्रुत-ज्ञानावरण—शब्द और अर्थ की पर्यालोचना से होने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।
3. अवधि-ज्ञानावरण—मूर्त्त द्रव्य-पुद्गल को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।
4. मनःपर्याय-ज्ञानावरण—मन की पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।
5. केवल-ज्ञानावरण—सर्व द्रव्य और पर्यायों को साक्षात् जानने वाले ज्ञान को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

17.3.2 दर्शनावरण—सामान्य बोध को आवृत करने वाले कर्म-पुद्गल। दर्शनावरण के नौ भेद हैं—

1. चक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के द्वारा होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।
2. अचक्षु-दर्शनावरण—चक्षु के सिवाय शेष इन्द्रिय और मन से होने वाले दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।
3. अवधि-दर्शनावरण—मूर्त्त द्रव्यों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।
4. केवल-दर्शनावरण—सर्व-द्रव्य-पर्यायों के साक्षात् दर्शन (सामान्य ग्रहण) का आवरण।
5. निद्रा—सामान्य नींद (सोया हुआ व्यक्ति सुख से जाग जाए, वह नींद)।
6. निद्रानिद्रा—घोर नींद (सोया हुआ व्यक्ति कठिनाई से जागे, वह नींद)।
7. प्रचला—खड़े या बैठे हुए जो नींद आये।
8. प्रचला-प्रचला—चलते-फिरते जो नींद आए।
9. स्त्यानर्धि—(स्त्यानि-गृद्धि) संकल्प किये हुए कार्य को नींद में कर डाले, वैसी प्रगाढ़तम नींद।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

17.3.3 वेदनीय—सुख-दु:ख की अनुभूति के निमित्त कर्म-पुद्गल। वेदनीय कर्म के दो प्रकार हैं—1. सात वेदनीय—सुखानुभूति का निमित्त—(क) मनोज्ञ शब्द, (ख) मनोज्ञ रूप, (ग) मनोज्ञ गन्ध, (घ) मनोज्ञ रस, (ङ) मनोज्ञ स्पर्श, (च) सुखित मन, (छ) सुखित वाणी, (ज) सुखित काय।

2. असात वेदनीय—दु:खानुभूति का निमित्त—(क) अमनोज्ञ शब्द, (ख) अमनोज्ञ रूप, (ग) अमनोज्ञ गन्ध, (घ) अमनोज्ञ रस, (ङ) अमनोज्ञ स्पर्श, (च) दु:खित मन, (छ) दु:खित वाणी, (ज) दु:खित काय।

17.3.4 मोहनीय— आत्मा को मूढ़ बनाने वाले कर्म-पुद्गल। मोहनीय कर्म के मुख्य दो भेद हैं—

(क) दर्शन मोहनीय—सम्यक्-दृष्टि को विकृत करने वाले कर्म-पुद्गल।

1. सम्यक्त्व-वेदनीय—औपशमिक और क्षायिक सम्यक्-दृष्टि के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।
2. मिथ्यात्व-वेदनीय—सम्यक्-दृष्टि (क्षायोपशमिक) के प्रतिबन्धक कर्म-पुद्गल।
3. मिश्र-वेदनीय—तत्त्व-श्रद्धा की दोलायमान दशा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

(ख) चारित्र मोहनीय—चरित्र-विकार उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

कषाय-वेदनीय—राग-द्वेष उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नो-कषाय-वेदनीय—कषाय को उत्तेजित करने वाले कर्म-पुद्गल—

हास्य—सकारण या अकारण (बाहरी कारण के बिना भी) हंसी उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

रति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति राग उत्पन्न करने वाले या संयम में रुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

अरति—सकारण या अकारण पौद्गलिक पदार्थों के प्रति द्वेष उत्पन्न करने वाले (परस्पर विरोधी अर्थ) या संयम में अरुचि उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

शोक—शोक उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

भय—भय उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

जुगुप्सा—घृणा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

स्त्री-वेद—पुरुष के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

पुरुष-वेद—स्त्री के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

नपुंसक-वेद—स्त्री-पुरुष दोनों के साथ भोग की अभिलाषा उत्पन्न करने वाले कर्म-पुद्गल।

17.3.5 आयु—जीवन के निमित्त कर्म-पुद्गल। आयुष्य कर्म के चार भेद हैं—

1. नरकायु—नरक-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।
2. तिर्यञ्चायु—तिर्यञ्च-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।
3. मनुष्यायु—मनुष्य-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।
4. देवायु—देव-गति में टिके रहने के निमित्त कर्म-पुद्गल।

17.3.6 नाम—जीवन की विविध सामग्री की उपलब्धि के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। इसके 42 भेद हैं—

गति-नाम—जन्म-सम्बन्धी विविधता की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल—इसके भी मुख्यत: चार भेद हैं।

(क) नरक-गति-नाम—नारक जीवन दु:खमय दशा की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) तिर्यञ्च-गति-नाम—पशु, पक्षी आदि के जीवन (दु:ख-बहुल दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) मनुष्य-गति-नाम—मनुष्य-जीवन (सुख-दु:ख मिश्रित दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) देव-गति-नाम—देव-जीवन (सुखमय दशा) की उपलब्धि के निमित्त कर्म-पुद्गल।

जाति-नाम—इन्द्रिय-रचना के निमित्त कर्म-पुद्गल—इसके भी मुख्यत: पांच भेद हैं।

(क) एकेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन (त्वग्) इन्द्रिय की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ख) द्वीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन और जिह्वा— इन दो इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ग) त्रीन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा और नाक—इन तीनों इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(घ) चतुरिन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक और चक्षु—इन चार इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

(ङ) पंचेन्द्रिय-जाति-नाम—स्पर्शन, जिह्वा, नाक, चक्षु और कान—इन पांच इन्द्रियों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

शरीर-नाम—शरीर-प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल—
(क) औदारिक-शरीर-नाम—स्थूल शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ख) वैक्रिय-शरीर-नाम—विविध क्रिया कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ग) आहारक-शरीर-नाम—आहारक-लब्धिजन्य शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(घ) तैजस्-शरीर-नाम—तेज, पाक तथा तेजस् और शीत लेश्या का निर्गमन कर सकने वाले शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ङ) कार्मण-शरीर-नाम—कर्म समूह या कर्म विकारमय शरीर की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
शरीर-अंगोपांग-नाम—शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल—इसके चार भेद हैं।
(क) औदारिक-शरीर अंगोपांग-नाम—औदारिक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ख) वैक्रिय-शरीर अंगोपांग-नाम—वैक्रिय शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ग) आहारक-शरीर अंगोपांग-नाम—आहारक शरीर के अवयवों और प्रत्यवयवों की प्राप्ति के निमित्त कर्म-पुद्गल।

तैजस् और कामर्ण शरीर अत्यन्त सूक्ष्म होते हैं, इसलिए इनके अवयव नहीं होते।

शरीर-बन्धन-नाम—पहले ग्रहण किये हुए और वर्तमान में ग्रहण किए जाने वाले शरीर-पुद्गलों के पारस्परिक सम्बन्ध का हेतुभूत कर्म।
(क) औदारिक-शरीर बन्धन-नाम—इस शरीर के पूर्व-पश्चाद् गृहीत पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध जोड़ने वाला कर्म।
(ख) वैक्रिय-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।
(ग) आहारक-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।
(घ) तैजस-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।
(ङ) कार्मण-शरीर-बन्धन-नाम—ऊपरवत्।
कर्म-ग्रन्थ में शरीर-बन्धन नाम-कर्म के पन्द्रह भेद किये गए हैं:

1. औदारिक-औदारिक बन्धन नाम।
2. औदारिक-तैजस् बन्धन नाम।
3. औदारिक-कार्मण बन्धन नाम।
4. वैक्रिय बन्धन नाम।
5. वैक्रिय-तैजस् बन्धन नाम।
6. वैक्रिय-कार्मण बन्धन नाम।
7. आहारक-आहारक बन्ध नाम।
8. आहारक-तैजस् बन्धन नाम।
9. आहारक-कार्मण बन्धन नाम।
10. औदारिक-तैजस् बन्धन नाम।
11. वैक्रिय-तैजस् बन्धन नाम।
12. आहारक-तैजस् कार्मण बन्धन नाम।
13. तैजस्-तैजस् बन्धन नाम।
14. तैजस्-कार्मण बन्धन नाम।
15. कार्मण-कार्मण बन्धन नाम।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक—ये तीन शरीर परस्पर-विरोधी होते हैं। इसलिए इनके पुद्गलों का आपस में सम्बन्ध नहीं होता।

शरीर-संघातन-नाम—शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

(क) औदारिक-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ख) वैक्रिय-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ग) आहारक-शरीर-संघान-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(घ) तैजस्-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघात के निमित्त कर्म-पुद्गल।
(ङ) कार्मण-शरीर-संघातन-नाम—इस शरीर के गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों की यथोचित व्यवस्था या संघातन के निमित्त कर्म-पुद्गल।
संहनन-नाम—इसके उदय का 'हड्डियों की व्यवस्था' पर प्रभाव होता है, हड्डियों की व्यवस्था के हेतुभूत कर्म-पुद्गल।
(क) वज्रऋषभ-नाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। वज्र-कील, ऋषभ—वेष्टन पट्ट, नाराच—मर्कट-बन्ध—दोनों ओर आपस में एक-दूसरे को बांधे हुए हों, वैसी आकृति; आंटी लगाए हुए हो, वैसी आकृति; बन्दर का बच्चा जैसे अपनी मां की छाती से चिपका हुआ हो, वैसी आकृति; जिनमें सन्धि की दोनों हड्डियां आपस में आंटी लगाए हुए हों, उन पर तीसरी हड्डी का वेष्टन हो, चौथी हड्डी की कील उन तीनों को भेद कर रही हुई हो—ऐसे सुदृढ़तम अस्थि-बन्धन का नाम 'वज्रऋषभ-नाराच-संहनन' है।
(ख) ऋषभनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल, 'ऋषभ-नाराच संहनन' में हड्डियों की आंटी और वेष्टन होता है, कील नहीं होती। यह दृढ़तर है।
(ग) नाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'नाराच-संहनन' में केवल हड्डियों की आंटी होती है, वेष्टन और कील नहीं होती।
(घ) अर्धनाराच-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'अर्धनाराच संहनन' में हड्डी का एक छोर मर्कट-बन्ध से बंधा हुआ और दूसरा छोर कील से भिदा हुआ होता है।
(ङ) कीलिका-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कीलिका संहनन' में हड्डियां केवल कील से जुड़ी हुई होती हैं।
(च) सेवार्त-संहनन-नाम—इस संहनन के हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'सेवार्त संहनन' में केवल हड्डियां ही आपस में जुड़ी हुई होती हैं।
संस्थान-नाम—इसके उदय का शरीर की आकृति-रचना पर प्रभाव होता है, इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल।
समचतुरस्र-संस्थान—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। पालथी मारकर बैठे हुए व्यक्ति के चारों कोण सम होते हैं। वह 'समचतुरस्र संस्थान' है।
न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण और नीचे के अवयव प्रमाणहीन होते हैं, वह 'न्यग्रोध-परिमंडल-संस्थान' है।
सादि-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। नाभि के ऊपर के अवयव प्रमाणहीन और नीचे के अवयव पूर्ण होते हैं, वह 'सादि-संस्थान' है।
वामन-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'वामन-संस्थान'—बौना।
कुब्ज-संस्थान-नाम—इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। 'कुब्ज संस्थान'—कुबड़ा।
हुंड-संस्थान-नाम— इसके हेतुभूत कर्म-पुद्गल। सब अवयव बेढंग या प्रमाणशून्य होते हैं, वह हुंड-संस्थान है।
वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर के रंग पर प्रभाव पड़ता है।
(क) कृष्ण-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग काला हो जाता है।
(ख) नील-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग नीला हो जाता है।
(ग) लोहित-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग लाल हो जाता है।
(घ) हारिद्र-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग पीला हो जाता है।
(ङ) श्वेत-वर्ण-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रंग सफेद हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर के गंध पर प्रभाव पड़ता है।
(क) सुरभि-गन्ध-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर सुगन्धवासित होता है।
(ख) दुरभि-गन्ध-नाम—इन कर्म के उदय से दुर्गन्धिवासित होता है।
रस-नाम—इस कर्म के उदय का शरीर के रस पर प्रभाव पड़ता है।
(क) तिक्त-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस तिक्त होता है।
(ख) कटु-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कड़वा होता है।
(ग) कषाय-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस कसैला होता है।
(घ) आम्ल-रस-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर का रस खट्टा होता है।
(ङ) मधुर-रस-नाम— इस कर्म के उदय से शरीर का रस मीठा होता है।
स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर के स्पर्श पर प्रभाव पड़ता है।
(क) कर्कश-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कठोर होता है।
(ख) मृदु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर कोमल होता है।
(ग) गुरु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर भारी होता है।
(घ) लघु-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर हल्का होता है।
(ङ) स्निग्ध-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर चिकना होता है।
(च) रूक्ष-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर रूखा होता है।
(छ) शीत-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर ठंडा होता है।
(ज) उष्ण-स्पर्श-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर गरम होता है।
अगुरुलघु-नाम—इस कर्म के उदय से शरीर न सम्हल सके वैसा भारी भी नहीं होता और हवा में उड़ जाए वैसा हल्का भी नहीं होता।
उपघात-नाम—इस कर्म के उदय से विकृत बने हुए अपने ही अवयवों से जीव क्लेश पाता है। (अथवा) इसके उदय से जीव आत्महत्या करता है।
पराघात-नाम—इसके उदय से जीव प्रतिपक्षी और प्रतिवादी द्वारा अपराजेय होता है।
आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(क) नरक-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित नरक-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ख) तिर्यञ्च-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित तिर्यञ्च-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(ग) मनुष्य-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित मनुष्य-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
(घ) देव-आनुपूर्वी-नाम—विश्रेणि-स्थित देव-सम्बन्धी जन्मस्थान की प्राप्ति का हेतुभूत कर्म।
उच्छ्वास-नाम—इसके उदय से जीव श्वास-उच्छ्वास लेता है।
आतप-नाम—इसके उदय से शरीर में से उष्ण प्रकाश निकलता है।
उद्योत-नाम—इसके उदय से शरीर में से शीत प्रकाश निकलता है।
विहायोगति-नाम—इसके उदय का जीव की चाल पर प्रभाव पड़ता है।
(क) प्रशस्त विहायोगति-नाम—इसके उदय से जीव की चाल श्रेष्ठ होती है।
(ख) अप्रशस्त विहायोगित-नाम—इसके उदय से जीव की चाल खराब होती है।
त्रस-नाम—इसके उदय से जीव चर (इच्छापूर्वक गति करने वाले) होते हैं।
स्थावर-नाम—इसके उदय से जीव स्थिर (इच्छापूर्वक गति न करने वाले) होते हैं।
सूक्ष्म-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (अतीन्द्रिय) शरीर मिलता है।
बादर-नाम—इस कर्म के उदय से जीव को स्थूल शरीर मिलता है।
पर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण करते हैं।
1अपर्याप्त-नाम—इसके उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्तियां पूर्ण नहीं करते हैं।
साधारण-शरीर-नाम—इसके उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिलता है।
प्रत्येक-शरीर-नाम— इसके उदय से प्रत्येक जीव को अपना स्वतन्त्र शरीर मिलता है।
स्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव स्थिर होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अस्थिर-नाम—इसके उदय से शरीर के अवयव अस्थिर होते हैं।
शुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं।
अशुभ-नाम—इसके उदय से नाभि के नीचे के अवयव अशुभ होते हैं।
सुभग-नाम—इसके उदय से किसी प्रकार का उपकार किए बिना और सम्बन्ध के बिना भी जीव दूसरों को प्रिय लगता है।
दुर्भग-नाम—इसके उदय से उपकारक और सम्बन्धी भी अप्रिय लगते हैं।
सुस्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर प्रीतिकारक होता है।
दु:स्वर-नाम—इसके उदय से जीव का स्वर अप्रीतिकारक होता है।
आदेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन मान्य होता है।
अनादेय-नाम—इसके उदय से जीव का वचन युक्तिपूर्ण होते हुए भी मान्य नहीं होता।
यशकीर्ति-नाम—यश और कीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल।
अयशकीर्ति-नाम—अयश और अकीर्ति के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल।
निर्माण-नाम—अवयवों के व्यवस्थित निर्माण के हेतुभूत कर्म-पुद्‌गल।
तीर्थंकर-नाम—तीर्थंकर पद की प्राप्ति का निमित्त्भूत कर्म।
गोत्र—मान प्रतिष्ठा अथवा अपमान प्राप्ति में हेतुभूत कर्म पुद्‌गल। इसके दो भेद हैं—
उच्च गोत्र—इनके उदय से सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-उच्च-गोत्र—मातृपक्षीय सम्मान।
(ख) कुल-उच्च-गोत्र—पितृपक्षीय सम्मान।
(ग) बल-उच्च-गोत्र—बलपक्षीय सम्मान।
(घ) रूप-उच्च-गोत्र—रूपपक्षीय सम्मान।
(ङ) तप-उच्च-गोत्र—तपपक्षीय सम्मान।
(च) श्रुत-उच्च-गोत्र—ज्ञानपक्षीय सम्मान।
(छ) लाभ-उच्च-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय सम्मान।
(ज) ऐश्वर्य-उच्च-गोत्र— ऐश्वर्यपक्षीय सम्मान।

17.3.7नीच गोत्र—इसके उदय से असम्मान और अप्रतिष्ठा मिलती है।

(क) जाति-नीच-गोत्र—मातृपक्षीय असम्मान।
(ख) कुल-नीच-गोत्र—पितृपक्षीय असम्मान।
(ग) बल-नीच-गोत्र—बलपक्षीय असम्मान।
(घ) रूप-नीच-गोत्र—रूपपक्षीय असम्मान।
(ङ) तप-नीच-गोत्र—तपपक्षीय असम्मान।
(च) श्रुत-नीच-गोत्र—ज्ञानपक्षीय असम्मान।
(छ) लाभ-नीच-गोत्र—प्राप्तिपक्षीय असम्मान।
(ज) ऐश्वर्य-नीच-गोत्र—ऐश्वर्यपक्षीय असम्मान।

17.3.8 अन्तराय—इसके उदय से क्रियात्मक शक्ति पर प्रभाव होता है। यह पांच भेदों में विभक्त है—

(क) दान-अन्तराय—इसके उदय से सामग्री की पूर्णता होने पर भी दान नहीं दिया जा सकता।
(ख) लाभ-अन्तराय—इसके उदय से लाभ नहीं होता।
(ग) भोग-अन्तराय—इसके उदय से भोग नहीं होता।
(घ) उपभोग-अन्तराय—इसके उदय से उपभोग नहीं होता।
(ङ) वीर्य-अन्तराय—इसके उदय से सामर्थ्य का प्रयोग नहीं किया जा सकता।

17.4 कर्मप्रकृति : वैज्ञानिक दृष्टि

ऊपर हमने कर्मप्रकृतियों के तात्त्विक स्वरूप को अत्यन्त संक्षेप में जाना। अब हम उन प्रकृतियों के वैज्ञानिक स्वरूप को समझने का प्रयास करेंगे। यहां कर्मप्रकृतियों का वैज्ञानिक दृष्टि से विवेचन जेठाभाई झवेरी व मुनिश्री महेन्द्रकुमार जी ने अपनी पुस्तक 'Neuroscience and Karma' में बहुत अच्छे ढंग से प्रस्तुत किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

यहाँ मात्र मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन कैसे हो इसकी झलक प्रस्तुत की जा रही है।

मानवशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। किस प्रकार के आवेग में किस प्रकार की स्थिति बनती है, यह स्पष्ट है। एक व्यक्ति का मुक्का उठा और हमने समझ लिया कि वह गुस्से में है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति बनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तंत्र पर पड़ता है, पेशियों पर होता है। एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है। पेशियां उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। आवेग का प्रभाव हमारे स्नायु-तंत्र पर, पेशियों पर, रक्त पर और रक्त के प्रवाह पर, फेफड़ों पर, हृदय की गति पर, श्वास पर और ग्रंथियों पर होता है।

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरंग उठती है। वह मस्तिष्क तक उस संदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा हो जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मांसपेशियों तक पहुंचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रिनल ग्रन्थि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति में कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत हो जाती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति में आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है और फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं, जिनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। इन सारी बातों के साथ एक बात और जोड़ दें—कर्मशास्त्र की। आवेगों के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले जोड़ दें और एक बात पीछे जोड़ दें। पहले यह जोड़ें कि भय परिस्थिति से उत्पन्न नहीं है, परिस्थिति से उद्भूत है। उत्पन्न होना अलग बात है और उद्भूत होना अलग बात है। परिस्थिति से भय उद्भूत हुआ, जागृत हुआ, जो सोया हुआ था, वह जाग उठा। किन्तु वह उत्पन्न हुआ है मोह के कारण। भय-वेदनीय-मोह के कारण भय उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति में ऐसे परमाणु संचित हैं जो किसी निमित्त का सहारा पाकर उत्पन्न हो जाते हैं। यह पहले जोड़ने वाली बात है। एक बात बाद में जोड़ें। जो डरता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नहीं करता किन्तु दूसरे परमाणुओं का संग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु संग्रहीत कर लेता है जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। कुछ उपआवेग हैं। उनकी संख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद—ये सात या वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में हम विभक्त करें तो उप-आवेग नौ हो जाते हैं। इन्हें 'नौ कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नौ कषाय' हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, आदर देना आदि-आदि आवेग हैं या नहीं—यह प्रश्न होता है। कर्मशास्त्र में भी आवेग के रूप में स्वीकृत नहीं है। मानसशास्त्र में भी ये आवेग नहीं माने गये हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं। ये सम्मिश्रण हैं, मिश्रित आवेग हैं। इनमें अनेक आवेगों का एक साथ मिश्रण हो जाता है। ये मूल नहीं हैं। कर्म-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित हैं, मूल नहीं हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नहीं हैं। इनमें भी बहुत तारतम्य है। यह मोह-परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। आचार का और दृष्टिकोण का गहरा सम्बन्ध है। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार सम्यक् होता है। उसके सम्यक् होने की अधिक संभावना होती है। ऐसा तो नहीं है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ-ही-साथ सारा-का-सारा आचार सम्यक् हो जाये। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होगा, फिर आचार सम्यक् होगा। कर्म का मूल मोहनीय कर्म है। मोह के परमाणु जीव में मूर्च्छा उत्पन्न करते हैं। दृष्टिकोण मूर्च्छित होता है और चरित्र भी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूर्च्छित हो जाता है। व्यक्ति के दृष्टिकोण, चरित्र और व्यवहार की व्याख्या इस मूर्च्छा की तरतमता के आधार पर की जा सकती है। मेंक्डूगल के अनुसार व्यक्ति में चौदह मूल प्रवृत्तियां और उतने ही मूल संवेग होते हैं—

मूल प्रवृत्तियां	**मूल संवेग**
1. पलायनवृत्ति	भय
2. संघर्षवृत्ति	क्रोध
3. जिज्ञासावृत्ति	कुतूहल भाव
4. आहारान्वेषणवृत्ति	भूख
5. पित्रीयवृत्ति	वात्सल्य, सुकुमार भावना
6. यूथवृत्ति	एकाकीपन तथा सामूहिकता भाव
7. विकर्षणवृत्ति	जुगुप्सा भाव, विकर्षण भाव
8. कामवृत्ति	कामुकता
9. स्वाग्रहवृत्ति	स्वाग्रह भाव, उत्कर्ष भावना
10.आत्मलघुतावृत्ति	हीनता भाव
11.उपार्जनवृत्ति	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
12.रचनावृत्ति	सृजन भावना
13.याचनावृत्ति	दु:खभाव
14.हास्यवृत्ति	उल्लसित भाव

कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म की अट्ठाईस प्रकृतियाँ हैं, और उसके अट्ठाईस ही विपाक हैं। मूल प्रवृत्तियों और मूल संवेगों के साथ इनकी तुलना की जा सकती है।

मोहनीय कर्म के विपाक	**मूल संवेग**
1. भय	भय
2. क्रोध	क्रोध
3. जुगुप्सा	जुगुप्सा भाव, विकर्षणभाव
4. स्त्रीवेद	
5. पुरुषवेद	कामुकता
6. नपुंसक वेद	
7. अभिमान	स्वाग्रहभाव, उत्कर्ष भावना
8. लोभ	स्वामित्व भावना, अधिकार भावना
9. रति	उल्लसित भाव
10.अरति	दु:खभाव

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि संवेग के उद्दीपन से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार बदलता रहता है।

17.5 सारांश–इस प्रकार इस अध्याय में हमने संक्षेप में कर्म के भेद-प्रभेदों की ऐतिहासिक रूपरेखा तथा उनके तात्विक एवं वैज्ञानिक स्वरूप को संक्षेप में जाना।

कार्य—कर्मग्रन्थों का स्वाध्याय करें। 'Neuroscience & Karma' पुस्तक पढ़ें।

17.6 अभ्यास प्रश्नावली

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्मप्रकृतियों की ऐतिहासिक रूपरेखा पर संक्षेप में प्रकाश डालें।
2. आठ कर्मों के मुख्य भेदों के स्वरूप का स्पष्टीकरण करें।
3. आठ कर्मों में से किन्हीं चार कर्मों के अवान्तर भेदों (प्रभेदों) संक्षिप्त विवेचन करें।
4. किसी एक कर्म-प्रकृति के वैज्ञानिक-स्वरूप पर प्रकाश डालें?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

परिभाषा लिखें—

1. ज्ञानावरण.......... पुद्गल।
2. केवल ज्ञानावरण...........।
3. दर्शनावरण........... कर्म-पुद्गल।
4. प्रचला..........।
5. शरीर-अंगोपांग-नाम.........।

एक शब्द में उत्तर दें—

1. संहनन का अर्थ क्या है।
2. संस्थान से क्या तात्पर्य है।
3. शरीर के रंगों पर किस कर्म का क्या प्रभाव है?
4. साधारण शरीर नामकर्म का क्या कार्य है?
5. प्रत्येक शरीर नामकर्म से क्या होता है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–18 : कर्म की पौद्‌गलिकता एवं कर्म की दस अवस्थाएं

संरचना

18.0 प्रस्तावना
18.1 उद्देश्य
18.2 जैन तत्व-मीमांसा के संदर्भ में
18.3 कर्म का भौतिक स्वरूप
18.4 अन्य दर्शनों का दृष्टिकोण
18.5 वैज्ञानिक दृष्टिकोण
18.6 कर्मो की दस अवस्थाएं
18.7 सारांश
18.8 अभ्यास प्रश्नावली

18.0 प्रस्तावना

हमने पिछले पाठ में कर्म के स्वरूप की चर्चा भारतीय दर्शनों के संदर्भ में सामान्य रूप से एवं जैन दर्शन के संदर्भ में विशेष रूप से की थी। जैन दर्शन ने कर्म-मीमांसा को जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह अपने आप में बहुत ही विलक्षण है। 'कर्म' को 'पौद्‌गलिक' मान कर तथा आत्मा के साथ उसका अनादिकालीन संबंध स्वीकार कर जैन दर्शन ने समग्र दार्शनिक जगत् के समक्ष एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक सिद्धान्त प्रस्तुत किया है।

18.1 उद्देश्य–इस पाठ में "कर्म की पौद्‌गलिकता" को हम अनेक दृष्टिकोणों से समझने की कोशिश करेंगे।

18.2 जैन तत्त्व-मीमांसा के संदर्भ में

जैन तत्त्व-दर्शन में आत्मा और पुद्‌गल के स्वतंत्र वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार कर दोनों की परस्पर अन्त:क्रिया को प्रतिपादित किया गया है।

18.2.1 जीव और पुद्‌गल का संबंध

भगवती सूत्र (1/312-313) में जीव और पुद्‌गल के परस्पर संबंध की अवधारणा को बहुत ही सुन्दर रूप में अभिव्यक्त किया गया है, जो एतद् विषयक समस्या का जैन दर्शन द्वारा प्रस्तुत एक तर्क संगत समाधान है।

वहां गौतम स्वामी द्वारा भगवान् महावीर से पूछा गया—

"भंते! क्या जीव और पुद्‌गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत, अन्योन्य-घटतया बने हुए हैं?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—

हां, बने हुए हैं।

गौतम—भंते! यह किस अपेक्षा से कहा जा रहा है—जीव और पुद्‌गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं?

महावीर—गौतम! जैसे कोई द्रह (नद) है। वह जल से पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाला, छलकता हुआ, हिलोरें लेता हुआ चारों ओर से जलजलाकार हो रहा है।

कोई व्यक्ति उस द्रह में एक बहुत बड़ी सैकड़ों आश्रवों और सैकड़ों छिद्रों वाली नौका को उतारे। गौतम! वह नौका उन आश्रव-द्वारों के द्वारा जल से भरती हुई, पूर्ण, परिपूर्ण प्रमाण वाली, छलकती हुई, हिलोरें लेती हुई, चारों ओर से जलजलाकार हो जाती है?

हां, हो जाती है।

गौतम! इस अपेक्षा से यह कहा जा रहा है—जीव और पुद्‌गल अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध और अन्योन्य-एकीभूत बने हुए हैं।"

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"जीव और पुद्गल दोनों में अत्यन्ताभाव है। जीव चेतन है और पुद्गल अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं बनता, अचेतन कभी चेतन नहीं बनता। अस्तित्व की त्रैकालिक स्वतन्त्रता होने पर भी क्या इनमें कोई संबंध हो सकता है? प्रस्तुत सूत्र में इस विषय पर विमर्श किया गया है। गौतम ने जिज्ञासा की—भंते! क्या जीव और पुद्गल परस्पर बद्ध, स्पृष्ट, अवगाढ़, स्नेहप्रतिबद्ध और एक घटक के रूप में रहते हैं?"

भगवान् ने इसका उत्तर 'हां' में दिया। इन दोनों तत्त्वों में प्रगाढ़ संबंध है। संबंध और विसंबंध के आधार पर जीव दो भागों में विभक्त हो जाते हैं—संसारी जीव और मुक्त जीव। जो जीव पुद्गल के साथ घुले-मिले होते हैं, वे संसारी या बद्ध कहलाते हैं। पुद्गल से अस्पृष्ट जीव मुक्त या सिद्ध कहलाते हैं।

संसारी जीव पुद्गल से इतने घुलेमिले हैं कि पुद्गल को छोड़कर उनकी व्याख्या नहीं की जा सकती। आचार्य सिद्धसेन ने जीव और पुद्गल के संबंध पर अनेकान्त दृष्टि से विचार किया है। उन्होंने बताया है—'जीव और पुद्गल दूध और पानी की तरह परस्पर ओत-प्रोत हैं; इसलिए उनमें 'यह जीव' और 'वह पुद्गल' है—ऐसा विभाग करना उचित नहीं है। यह जीव और पुद्गल का अभेदात्मक प्रतिपादन है। रूप आदि तथा बाल्य, यौवन आदि पर्याय शरीरगत होते हैं, पर वे जीव से अप्रभावित हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। जीव में इन्द्रिय-ज्ञान, स्मृति-ज्ञान आदि के पर्याय होते हैं, उन्हें भी पुद्गल से अप्रभावित नहीं माना जा सकता। इस दृष्टि से जीव और पुद्गल में प्रगाढ़ संबंध स्थापित होता है। उनका तात्त्विक स्वरूप भिन्न है, इसलिए उनमें स्वरूपगत भेद भी है। यह जीव और पुद्गल के भेदाभेद की अनेकान्त दृष्टि है।' सन्मति, 1/47, 48—

अण्णोण्णाणुगयाणं 'इमं तं व' त्ति विभयणमजुत्तं।
जह दुद्ध-पाणियाणं जावंत विसेसपज्जाया॥
रूआइ पज्जवा जे देहे जीवदवियम्मि सुद्धम्मि।
ते अण्णोण्णाणुगया पण्णवणिज्जा भवत्थम्मि॥

जीव और पुद्गल का संबंध भौतिक होता है या अभौतिक? यह एक प्रश्न है। संसारी अवस्था में जीव सर्वथा अभौतिक नहीं होता; इसलिए जीव और पुद्गल के संबंध को भौतिक माना जा सकता है। प्रस्तुत सूत्र के अनुसार यह संबंध केवल जीव या पुद्गल की ओर से ही नहीं होता, किन्तु दोनों ओर से होता है। इसकी जानकारी हमें 'स्नेह-प्रतिबद्ध' से मिलती है। जीव में स्नेह—आश्रव। और पुद्गल में स्नेह है—आकर्षित होने की अर्हता। इस उभयात्मक स्नेह के द्वारा परस्पर संबंध स्थापित हो जाता है। नौका में छिद्र है तो पानी अपने आप उसमें भर जाएगा। प्रस्तुत सूत्र में इस संबंध को बंध, स्पर्श, अवगाह, स्नेह-प्रतिबद्ध और 'घट्टन' (एकीभूत अवस्था) इन पांच रूपों में प्रतिपादित किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जीव में होने वाले स्निग्ध परिणाम का प्रतिपादन किया है। (पञ्चास्तिकाय, गा. 128-130 पर तत्त्वप्रदीपिकावृत्ति, पृ.188—इह हि संसारिणो जीवादनादिबंधनोपाधिवशेन, स्निग्धः परिणामो भवति।)

18.2.2 शरीर और मनस् का संबंध

शरीर (Body) और मनस् (Mind) के संबंध को लेकर दर्शन-जगत् में काफी विचार-विमर्श किया गया है। भगवती सूत्र 13/126 में बताया गया है—

"भंते! मन आत्मा है या अन्य है?
गौतम—मन आत्मा नहीं है, अन्य है।
भंते! मन रूपी है या अरूपी है?
गौतम—मन रूपी है, अरूपी नहीं है।
भंते!—मन सचित्त है, या अचित्त है?
गौतम—मन सचित्त नहीं, अचित्त है।
भंते!—मन जीव है या अजीव है?
गौतम—मन जीव नहीं है, अजीव है।
भंते! मन जीवों के होता है या अजीवों के होता है?" भगवती, 13/126—
गौतम -मन जीवों के होता है अजीवों के नहीं होता है।

आया भंते! मणे? अण्णे मणे?
गोयमा! नो आया मणे, अण्णे मणे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

रूविं भंते! मणे? अरूविं मणे?
गोयमा! रूविं मणे, नो अरूविं मणे।
सचित्ते भंते! मणे? अचित्ते मणे?
गोयमा! नो सचित्ते मणे, अचित्ते मणे।
जीवे भंते! मणे? अजीवे मणे?
गोयमा! नो जीवे मणे, अजीवे मणे।
जीवाणं भंते! मणे? अजीवाणे मणे?
गोयमा! जीवाणं मणे, नो अजीवाणं मणे।

आचार्य श्री महाप्रज्ञजी ने स्पष्ट किया है—"जैन दर्शन के अनुसार चित्त चैतन्य स्वरूप और मनस् अचेतन होता है। फिर भी व्यावहारिक परिभाषा के अनुसार हम चित्त के स्थान पर मन का प्रयोग कर रहे हैं। मन चेतन है और शरीर अचेतन है, फिर इन दोनों में संबंध कैसे हो सकता है और ये एक दूसरे को प्रभावित कैसे कर सकते हैं? इस विषय में जैन दर्शन का स्पष्ट अभिमत है कि संसारी जीव स्वरूपतः चेतन होते हुए भी पुद्‌गल या शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। इन दोनों में नैसर्गिक संबंध चला आ रहा है। ये दोनों परस्पर संबद्ध हैं; इसलिए इनमें अन्तःक्रिया होती है और इसलिए वे एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में मन और शरीर के संबंध की समस्या बहुत दिनों से चली आ रही है। देकार्ते ने मन की धारणा को नए रूप में प्रस्तुत किया। उससे पहले दार्शनिकों ने मन और शरीर को एक ही तत्त्व के दो पहलुओं के रूप में स्वीकार किया था। परन्तु देकार्ते ने मन को शरीर से भिन्न माना। पहले मन तथा शरीर सापेक्ष माने जाते थे, परन्तु देकार्ते ने निरपेक्ष रूप से दोनों की सत्ता स्वीकार की। देकार्ते के अनुसार शरीर भौतिक गुणों का विस्तार है और मन में चेतन तत्त्व वर्तमान है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि शरीर का मन पर और मन का शरीर पर कैसे प्रभाव पड़ता है? जब यह कोई कार्य अपनी इच्छा से करते हैं तो जान पड़ता है कि मन का शरीर पर प्रभाव है और जब ज्ञानेन्द्रियों से अनुभव करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि शरीर का मन पर प्रभाव होता है।"

स्पिनोजा के अनुसार मन और शरीर एक ही द्रव्य के दो पहलु हैं। दोनों का संबंध ईश्वर से है। वे इसी सत्ता के चिंतन और विस्तार के रूप हैं। एक ही द्रव्य के गुण के आकार होने के कारण दोनों एक दूसरे से मिले रहते हैं, यद्यपि क्रियात्मक रूप से मन और शरीर अलग-अलग जान पड़ते हैं। शरीर पर सदैव बाह्य पदार्थों के प्रभाव पड़ते रहते हैं तथा उसमें निरन्तर नए रूप दिखलाई पड़ते रहते हैं। इन परिवर्तनों का बोध मन को होता रहता है। बाह्य पदार्थ जिस रूप में शरीर को प्रभावित करते रहते हैं, मन उसको भी उसी रूप में ही जान सकता है, वास्तविक रूप में नहीं। इससे सिद्ध होता है—मन को शरीर प्रभावित नहीं करता और न शरीर को मन प्रभावित करता है।

लाइबनित्स ने शरीर और मन के संबंध को कार्य-कारणवाद के आधार पर समझाया। उसके अनुसार शरीर और मन स्वतंत्र रूप से अपनी-अपनी क्रियाएं करते हैं। मन और शरीर एक दूसरों को प्रभावित नहीं करते।

मनोविज्ञान में भी जिज्ञासा है कि शरीर और मन में क्या संबंध हैं? शरीर मन को प्रभावित करता है या मन शरीर को प्रभावित करता है? ठीक यही प्रश्न हमारे सामने है कि शरीर चेतना को प्रभावित करता है या चेतना शरीर को प्रभावित करती है? इन दोनों में परस्पर क्या संबंध है? ये दोनों एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, इन्हें अलग नहीं किया जा सकता है। शरीर और चेतना को सर्वथा स्वतंत्र स्वीकार कर हम व्याख्या नहीं कर सकते, किन्तु सापेक्ष स्वतंत्र स्वीकार कर हम उनके संबंध और पारस्परिक प्रभाव की व्याख्या कर सकते हैं।

18.2.3 परिभोक्ता और परिभोग्य

"भगवती के आलोच्य सूत्र" (1/313) में जीव को परिभोक्ता और पुद्‌गलों को परिभोग्य कहा है जीव और पुद्‌गल में परिभोक्ता और परिभोग्य का संबंध है। जीव चेतन है, इसलिए वह परिभोक्ता है। अजीव अचेतन है, इसलिए वह परिभोग्य है। चेतन में परिभोक्तृत्व नामक पर्याय है और अचेतन में परिभोग्य नामक पर्याय है। (भ. 25/17—जीवदव्वाणं अजीवदव्वाणं परिभोगत्ताए हव्वमागच्छंति। भ. वृ. प. 856—इह जीवद्रव्याणि परिभोजकानि सचेतनत्वेन ग्राहकत्वाद् इतराणि तु परिभोग्यान्यचेतनतया ग्राह्यत्वात्।।) इन पर्यायों के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कारण चेतन और अचेतन में संबंध स्थापित होता है। हम खाते हैं, काम करते हैं, इन्द्रिय-संवेदन करते हैं, श्वास लेते हैं, बोलते हैं और सोचते हैं, यह अचेतन का चेतन पर प्रभाव है। मस्तिष्क द्वारा संवेदन और ज्ञान हो रहा है। अचेतन शरीर चेतन बना हुआ है, यह चेतन का अचेतन पर प्रभाव है।

संबंध-प्रक्रिया को जानने का दार्शनिक मूल्य ही नहीं, इसका आध्यात्मिक मूल्य भी है। संबंधातीत, विचारातीत और प्रभावातीत साधना संबंध-ज्ञान के बाद ही संभव हो सकती है।

18.2.4 निष्कर्ष

1. अनेकान्त दृष्टि के अनुसार चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं; इसलिए इनमें संबंध हो सकता है।
2. इस संसार में जीव का अस्तित्व पुद्गल-मुक्त नहीं है; संसारी जीव शुद्ध नहीं, यौगिक है।
3. चेतन और अचेतन को सर्वथा भिन्न तथा संसारी जीव को सर्वथा शुद्ध मानने पर ही संबंध की समस्या जटिल बनती है।
4. भेद-विज्ञान की साधना चेतन और अचेतन के सापेक्ष संबंध के आधार पर ही हो सकती है, आध्यात्मिक दृष्टि से इसका बहुत मूल्य है।

18.3 कर्म का भौतिक स्वरूप

जैन दर्शन के अनुसार बंधन और मुक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या बिना अजीव (जड़) तत्त्व के संभव नहीं। आत्मा के बंधन का कारण क्या है? जब यह प्रश्न जैन दार्शनिकों के समक्ष आया, तो उन्होंने बताया कि आत्मा के बंधन का कारण मात्र आत्मा नहीं हो सकता। पारमार्थिक दृष्टि से विचार किया जाये तो आत्मा में स्वत: के बंधन में आने का कोई कारण नहीं है। जैसे बिना कुम्हार, चाक आदि निमित्तों के मिट्टी स्वत: घट का निर्माण नहीं कर सकती, वैसे ही आत्मा स्वत: बिना किसी बाह्य निमित्त के कोई भी ऐसी क्रिया नहीं कर सकता जो उसके बंधन का कारण हो। वस्तुत: क्रोध आदि कषाय, राग, द्वेष एवं मोह आदि बंधक मनोवृत्तियां भी आत्मा में स्वत: उत्पन्न नहीं हो सकतीं जब तक कि वे कर्मवर्गणाओं के विपाक के रूप में चेतना के समक्ष उपस्थित नहीं होतीं।

कर्म के पुद्गल स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द पंचास्तिकाय (गा. 61) में कहते हैं कि "आत्मा चूंकि अपने स्वभाव को करता है इसलिए अपने स्वभाव का ही कर्त्ता है, न कि पुद्गल-कर्मों का।" इस कथन से यह स्पष्ट है कि आत्मा अपने स्वभाव से भिन्न कर्म को नहीं करता और ऐसा वह भिन्न कर्म पुद्गल रूप है।

18.3.1 निमित्त और उपादान

यदि वैज्ञानिक दृष्टि से कहा जाये तो जिस प्रकार हमारे संवेगों (भावों) का कारण शरीररसायनों और रक्तरसायनों के परिवर्तन हैं और संवेगों के कारण हमारे रक्तरसायन और शरीररसायन में परिवर्तन होते हैं, दोनों परिवर्तन परस्पर सापेक्ष हैं, उसी प्रकार कर्म के लिए आत्मतत्त्व और आत्मा के लिए जड़ कर्म-वर्गणाएं परस्पर सापेक्ष हैं। जड़ कर्म-वर्गणाओं के कारण भाव उत्पन्न होते हैं और उन भावों के कारण आस्रव एवं बंध होता है जो अपनी विपाक अवस्था में पुन: भावों (कषायों) का कारण बनते हैं। इस प्रकार भावों (आत्मिक प्रवृत्ति) और जड़ कर्म-परमाणुओं के परस्पर प्रभाव का क्रम चलता रहता है। जैसे वृक्ष और बीज में पारस्परिक संबंध है वैसे ही आत्मा के बंधन की दृष्टि से आत्मा की अशुद्ध वृत्तियों (कषाय एवं मोह) और कर्म परमाणुओं में पारस्परिक संबंध है। जड़ कर्म परमाणु और आत्मा में बंधन की दृष्टि से क्रमश: निमित्त और उपादान का संबंध माना गया है। कर्म-पुद्गल बंधन का निमित्त कारण है और आत्मा उपादान कारण है।

18.3.2 द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म

द्रव्यकर्म और भावकर्म की प्राथमिक चर्चा हम कर चुके हैं। आत्मा के मानसिक विचार भाव-कर्म हैं और ये मनोभाव जिस निमित्त से होते हैं या जो इनका प्रेरक है वह द्रव्य कर्म है।

यह संसारी जीव कर्म और नो कर्म (कर्म के सहायक) का किस तरह अपने साथ संबंध कर लेता है? इस विषय में 'गोम्मटसार' के कर्त्ता आचार्य नेमिचन्द्र (गोम्मटसार में कर्मकाण्ड, गा. 3) कहते हैं कि "जीव औदारिक, वैक्रियिक, आहारक व तैजस् शरीर नाम कर्म के उदय से योग सहित होकर ज्ञानावरण आदि आठ कर्म-रूप होने वाली कर्मवर्गणाओं को चारों शरीर रूप होने वाली नोकर्मवर्गणाओं को हर समय चारों तरफ से ग्रहण (अपने साथ संबद्ध) करता है। जैसे कि आग से तपा हुआ लोहे का गोला पानी को सब

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ओर से अपनी तरफ खींचता है। अर्थात् जब यह शरीर सहित आत्मा मन-वचन-काय की प्रवृत्ति करता है, तभी इसके कर्मों का बंध होता है। किन्तु मन-वचन-काय की क्रिया रोकने से कर्मबंध नहीं होता।"

कर्म के चेतन-अचेतन पक्षों की व्याख्या करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र (वही, कर्मकाण्ड, गा. 6 में) लिखते हैं 'पुद्गल-पिण्ड द्रव्यकर्म है और आत्मा की चेतना को प्रभावित करने वाली, शक्ति भाव-कर्म है।' कर्म सिद्धान्त की समुचित व्याख्या के लिए यह आवश्यक है कि कर्म के आकार (Form) और विषय-वस्तु (Matter) दोनों ही हों। जड़-कर्म परमाणु-कर्म की विषयवस्तु हैं और भाव उसके आकार हैं। हमारे सुख-दु:खादि अनुभवों अथवा शुभाशुभ कर्मसंकल्पों के लिए कर्म परमाणु भौतिक कारण हैं और भाव चैतसिक कारण है। आत्मा में जो मिथ्यात्व (अज्ञान) और कषाय रूप, राग, द्वेष आदि भाव है वही भाव-कर्म है। भाव-कर्म आत्मा का वैभाविक परिणाम (दूषित वृत्ति) है और स्वयं आत्मा ही उसका उपादान है। भाव-कर्म का आन्तरिक कारण आत्मा है, जैसे घट का आन्तरिक (उपादान) कारण मिट्टी है। द्रव्य कर्म सूक्ष्म कार्मण जाति के परमाणुओं का विकार है और आत्मा उसका निमित्त कारण है जैसे कुम्हार घड़े का निमित्त कारण है। आचार्य विद्यानन्दि ने अष्टसहस्री में द्रव्यकर्म को 'आवरण' और भाव-कर्म को 'दोष' के नाम से अभिहित किया है। चूंकि द्रव्य-कर्म आत्म-शक्तियों के प्रकटन को रोकता है, अत: वह 'आवरण' है और भाव-कर्म स्वयं आत्मा की ही विभावावस्था है, अत: वह 'दोष' है। जिस प्रकार जैन दर्शन में कर्म के आवरण और दोष दो कार्य होते हैं, उसी प्रकार वेदान्त में माया के दो कार्य माने गये हैं—आवरण और विक्षेप। जैनाचार्यों ने आवरण और दोष अथवा द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म के मध्य कार्य-कारण भाव स्वीकार किया है। जैन कर्मसिद्धान्त में मनोविकारों का स्वरूप कर्म-परमाणुओं की प्रकृति पर निर्भर करता है और कर्म-परमाणुओं की प्रकृति का निर्धारण मनोविकारों के आधार पर होता है। इस प्रकार जैन धर्म में कर्म के चेतन और अचेतन दोनों पक्षों को स्वीकार किया गया है जिसे वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में द्रव्यकर्म और भावकर्म कहता है।

जैसे किसी कार्य के लिए निमित्त और उपादान दोनों कारण आवश्यक हैं, वैसे ही जैन कर्म-सिद्धांत के अनुसार आत्मा (जीव) के प्रत्येक कर्मसंकल्प के लिए उपादान-रूप में भावकर्म (मनोविकार) और निमित्तरूप में द्रव्यकर्म (कर्म-परमाणु) दोनों आवश्यक हैं। जड़ परमाणु ही कर्म का भौतिक या अचित् पक्ष है और जड़ कर्म-परमाणुओं से प्रभावित विकारयुक्त चेतना की अवस्था कर्म का चैतसिक पक्ष है।

18.3.3 द्रव्य-कर्म और भाव-कर्म का संबंध

पं. सुखलालजी लिखते हैं कि भाव-कर्म के होने में द्रव्य-कर्म निमित्त है और द्रव्य-कर्म में भाव-कर्म निमित्त है दोनों का आपस में बीजांकुर की तरह कार्य-कारणभाव संबंध है। इस प्रकार जैन दर्शन में कर्म के चेतन और जड़ दोनों पक्षों में बीजांकुरवत् पारस्परिक कार्यकारणभाव माना गया है। जैसे बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज बनता है और उनमें किसी को भी पूर्वापर नहीं कहा जा सकता, वैसे ही द्रव्यकर्म और भावकर्म में भी किसी पूर्वापरता का निश्चय नहीं किया जा सकता। यद्यपि प्रत्येक द्रव्यकर्म की अपेक्षा से उसका भावकर्म पूर्व होगा और प्रत्येक भावकर्म के लिए उसका द्रव्यकर्म पूर्व होगा। वस्तुत: इनमें सन्तति अपेक्षा से अनादि कार्य-कारण भाव है। उपाध्याय अमरमुनिजी लिखते हैं कि भावकर्म के होने में पूर्वबद्ध द्रव्य-कर्म निमित्त है और वर्तमान में बध्यमान द्रव्यकर्म में भावकर्म निमित्त है। दोनों में निमित्त नैमित्तिक रूप कार्यकारण संबंध है।

18.4 अन्य दर्शनों का दृष्टिकोण

जैन दर्शन की तरह अन्य दर्शनों में भी इस विषय पर विमर्श किया गया है। हमें देखना होगा कि उन्हाने कैसे कर्म की भौतिकता को स्वीकार या इन्कार किया है तथा उनका अभिप्राय कहां तक संगत है। इस विषय में डॉ. नथमल टाटिया ने "स्टडीज इन जैन फिलोसोफी", पृष्ठ 223-231 में विस्तृत विमर्श किया है—

18.4.1 बौद्ध दृष्टिकोण एवं उसकी समीक्षा

यहां यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि कर्मों के भौतिक पक्ष को क्यों स्वीकार करें? बौद्ध दर्शन कर्म के चैतसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है और यह मानता है कि बंधन के कारण अविद्या, वासना, तृष्णादि चैतसिक तत्त्व ही हैं। डा. टाटिया के अनुसार "बौद्ध मान्यता है कि अविद्या चेतना का आवरण है और संसारिक अस्तित्व का बीज है। अविद्या चेतना की भांति अमूर्त्त है, क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार अमूर्त्त को अमूर्त्त ही प्रभावित कर सकता है। 'रूप' (मूर्त्त या भूत तत्त्व) 'नाम' (चेतना) का आवरण नहीं हो सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैन दर्शन का इस विषय में यह प्रतिकार है कि यदि संसार का उपादान (बीज) स्वयं चेतना के भीतर ही है और उसी प्रकृति का ही है (अर्थात् चैतसिक ही है) तथा भौतिक तत्त्व पर यत्किञ्चित् भी आधारित नहीं है, तो मुक्ति कभी भी संभव नहीं होगी। संसार-प्रक्रिया का निमित्त भीतर ही है, चैतसिक ही है और बिना कोई बाह्य अपेक्षा के चेतना के ही अभिन्न अंश-रूप ही है, तो संसार से मुक्ति का भी कोई अर्थ नहीं हो सकता। वस्तु का स्वभाव वस्तु से अलग नहीं हो सकता।

Studies in Jain Philosophy p. 226 "The Buddhist regards nescience as the cover on consciousness [uijnãna] and as such the seed of worldly existence. Nescince is as formless [amurta] as the consciousness, for, according to the Buddhist only the formless can affect the formless. The material [rupa] connot cover the conscious [nama]. But the jaina contention is that if the seed of worldly existence lise within the consciousness itself and is of the same nature and is not dependent upon the material, emancipation will not be possible at any time. If the condition of world process lies within and is integral to consciousness irrespective of anything external, what reason can there be for emancipation from it? Nature is inalienable form the thing."

जो स्वभाव है वह आन्तरिक एवं स्वतः है और यदि स्वभाव में स्वतः बिना किसी बाह्य निमित्त के ही विकार आ सकता है, तो फिर बंधन में आने की संभावना सदैव बनी रहेगी और मुक्ति का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। यदि पानी में स्वतः ही ऊष्णता उत्पन्न हो जावे तो शीतलता उसका स्वभाव नहीं हो सकता। आत्मा में भी यदि मनोविकार स्वतः ही उत्पन्न हो सके तो वह निर्विकार नहीं रह सकता। जैन दर्शन यह मानता है कि ऊष्णता के संयोग से जिस प्रकार पानी स्वगुण शीतलता को छोड़ विकारी हो जाता है, वैसे ही आत्मा जड़ कर्म-परमाणुओं के संयोग से ही विकारी बनता है। कषायादि भाव आत्मा की विभावावस्था के सूचक हैं, वे स्वतः ही विभाव के कारण नहीं हो सकते। विभाव स्वतः प्रसूत नहीं होता, उसका कोई बाह्य निमित्त अवश्य होना चाहिए। जैसे पानी को शीतलता की स्वभाव-दशा से ऊष्णता की विभावदशा में परिवर्तित होने के लिए अपने स्वभाव से भिन्न अग्नि का संयोग (बाह्य निमित्त) आवश्यक है, वैसे ही आत्मा को ज्ञान-दर्शन रूप स्वस्वभाव का परित्याग कर कषायरूप विभावदशा को ग्रहण करने के लिए बाह्य निमित्त रूप कर्म-पुद्गलों का होना आवश्यक है। जैन विचारकों के अनुसार जड़ कर्म-परमाणु और चेतन आत्मा के पारस्परिक संबंध के बिना विभावदशा या बंधन संभव नहीं।

बौद्ध विचारक यह भी मानते हैं कि अमूर्त्त (चैतसिक) तत्त्व ही अमूर्त चेतना को प्रभावित करते हैं। मूर्त्त जड़ (रूप) अमूर्त्त चेतन (नाम) को प्रभावित नहीं करता। लेकिन इस आधार पर जड़-चेतनमय जगत् या बौद्ध परिभाषा में नाम-रूपात्मक जगत् की व्याख्या संभव नहीं है। यदि चैतसिक तत्त्वों और भौतिक तत्त्वों के मध्य कोई कारणात्मक संबंध स्वीकार नहीं किया जाता है, तो उनके संबंधों से उत्पन्न इस जगत् की तार्किक व्याख्या संभव नहीं होगी। विज्ञानवादी बौद्धों ने इसी कठिनाई से बचने के लिए भौतिक जगत् (रूप) का निरसन किया, लेकिन यह तो वास्तविकता से मुंह मोड़ना ही था। बौद्ध दर्शन कर्म या बंधन के मात्र चैतसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है। लेकिन थोड़ी अधिक गहराई से विचार करने पर दिखाई देता है कि बौद्ध दर्शन में भी दोनों पक्ष मिलते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद में विज्ञान (चेतना) तथा नाम-रूप के मध्य कारण-संबंध स्वीकार किया गया है। मिलिन्दप्रश्न में तो स्पष्ट रूप से कहा गया है कि नाम (चेतन पक्ष) और रूप (भौतिक पक्ष) अन्योन्याश्रयभाव से संबद्ध हैं। वस्तुतः बौद्ध दर्शन भी नाम (चेतन) और रूप (भौतिक) दोनों के सहयोग से ही कार्य-निष्पत्ति मानता है। उसका यह कहना कि चेतना ही कर्म है, केवल इस बात का सूचक है कि कार्य-निष्पत्ति में चेतना सक्रिय तत्त्व के रूप में प्रमुख कारण है।

18.4.2 सांख्य-दर्शन और शांकरवेदान्त के दृष्टिकोण की समीक्षा

सांख्य-दार्शनिकों ने पुरुष को कूटस्थ मानकर केवल जड़ प्रकृति के आधार पर बंधन और मुक्ति की व्याख्या करना चाहा, लेकिन वे भी पुरुष और प्रकृति के मध्य कोई वास्तविक संबंध स्थापित नहीं कर पाये और दार्शनिकों के द्वारा कठोर आलोचना के पात्र बने। उन्होंने बुद्धि, अहंकार और मन जैसे चैतसिक तत्त्वों को भी पूर्णतः जड़-प्रकृति का परिणाम माना जो कि इस आलोचना से बचने का पूर्वप्रयास ही कहा जा सकता है। सांख्य दर्शन बंधन और मुक्ति को प्रकृति से संबन्धित कर नैतिक जगत् में अपनी वास्तविकवादिता

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की रक्षा नहीं कर पाया। यदि बंधन और मुक्ति दोनों जड़-प्रकृति से ही होते हैं, तो फिर बंधन से मुक्ति की ओर प्रयास रूप नैतिकता भी जड़-प्रकृति से ही संबन्धित होगी। लेकिन सांख्य की नैतिक चेतना जिस विवेकज्ञान पर अधिष्ठित है, वह जड़-प्रकृति में संभव नहीं। विवेकाभाव और विवेकज्ञान दोनों का संबंध तो पुरुष से है। यदि पुरुष अविकारी, अपरिणामी और कूटस्थ है तो उसमें विवेकाभावरूप विकार जड़-प्रकृति के कारण कैसे हो सकता है। कूटस्थ आत्मवाद आत्मा के विभाव या बंधन की तर्क संगत व्याख्या नहीं करता। इस प्रकार सांख्य दर्शन तार्किक दृष्टि से अपनी रक्षा करने में असमर्थ रहा।

शांकरवेदान्त में कर्म एवं माया पर्यायवाची हैं। उसमें भी सांख्य के पुरुष के समान आत्मन् या ब्रह्मन् को निर्विकारी एवं निरपेक्ष माना गया है, लेकिन यदि आत्मा निर्विकारी और निरपेक्ष है तो फिर बंधन, मुक्ति और नैतिकता की सारी कहानी अर्थहीन है। इसी कठिनाई को समझकर शांकरवेदान्त ने बंधन और मुक्ति को मात्र व्यवहारदृष्टि से स्वीकार किया।

18.4.3 गीता का दृष्टिकोण

सैद्धान्तिक दृष्टि से गीता सांख्य दर्शन से प्रभावित है और बंधन को मात्र जड़-प्रकृति से संबन्धित मानती है। उसमें आत्मा को अकर्त्ता ही कहा गया है, लेकिन गीता में जो बंधन का कारण है, वह पूर्णतया जड़ (भौतिक) नहीं है। जब तक जड़ प्रकृति की उपस्थिति में पुरुष या आत्मा अहंकार से युक्त नहीं होता, तब तक बंधन नहीं होता। आत्मा का अहंभाव ही वह चैतसिक पक्ष है, जो बंधन का मूलभूत उपादान है और जड़ प्रकृति उस अहंभाव का निमित्त है। अहंकार के लिए निमित्त रूप प्रकृति और उपादान रूप चेतन पुरुष दोनों ही अपेक्षित हैं। प्रकृति अहंकार का भौतिक पक्ष है और पुरुष उसका चेतन पक्ष। इस प्रकार यहां गीता और जैन-दर्शन निकट आ जाते हैं। गीता की प्रकृति जैन-दर्शन के द्रव्यकर्म के समान है और गीता का अहंकार भावकर्म के समान है। दोनों में कार्य-कारणभाव है और दोनों की उपस्थिति में ही बंधन होता है।

18.4.4 न्याय-वैशेषिक-दर्शन का दृष्टिकोण और समीक्षा

यद्यपि न्याय-वैशेषिक दर्शन बंधन के रूप में पुण्य और पाप को आत्मा के अन्तर्भूत माना है, फिर भी उन्हें आत्मा से अत्यन्त भिन्न और पृथक् स्वीकार करता है। आत्मा कूटस्थ (नित्य) और विभु (सर्वव्यापी) है, जबकि पुण्य और पाप जिन्हें अदृश्य क्षमता के रूप में माना जाता है आत्मा में गुण के रूप में अन्तर्निहित हैं। 'किन्तु आत्मा के ही गुण आत्मा के ही बंधन के लिए उत्तरदायी कैसे हो सकते हैं? यदि बंधन का अभाव माना जाय तो यह मानना पड़ेगा कि आत्मा सदा बंधन मुक्त ही रहती है'—ये प्रश्न जैन दार्शनिकों ने उपस्थित किए हैं (प्रमेयक- मलमार्तण्ड)। यदि न्याय-वैशषिक दर्शन इसके उत्तर में यह तर्क प्रस्तुत करें कि जैसे क्रोध, मान आदि कषाय आत्मा के बंधन की स्थितियां हैं और ये कषाय आत्मा के ही गुण हैं तो फिर आत्मा के गुण-रूप पुण्य-पाप उसके बंधन के हेतुभूत क्यों नहीं बन सकते? तो जैन दर्शन का उत्तर होगा—क्रोध, मान आदि कषाय जो आत्मा के परिणाम हैं वे बंध के पारतन्त्र्य स्वभाव-रूप हैं, क्रोध आदि रूप परिणमन अपने आप में आत्मा के बंधन ही हैं—वे पारतन्त्र्य (बंधन) के निमित्त नहीं हैं। कषाय ही बंधन हैं। कषाय के निमित्त उनसे भिन्न होने चाहिए। कषाय आत्मा के परिणमन (गुण) हैं; इसलिए कषाय के निमित्त उनसे भिन्न होने के कारण आत्मा से भी भिन्न प्रकृति के होने चाहिए। अर्थात् उनका स्वरूप अचेतन-भौतिक होना चाहिए। न्याय-वैशेषिक-दर्शन इस तथ्य को तो स्वीकार करते हैं कि 'जीव और भूत (पुद्गल) के परस्पर संबंध के बिना 'बंधन' संभव नहीं है और बंधन के बिना जीव और भूत का संबंध संभव नहीं है'; पर आत्मा को एकान्ततः नित्य मानने एवं द्रव्य से गुणों का एकान्ततः भेद मानने के कारण, अपने यथार्थवादी दृष्टिकोण के साथ संगत मत प्रस्तुत नहीं कर पाता। जब तक सम्बद्ध द्रव्यों में भेदाभेद (कथंचित् भेद, कथंचित् अभेद) को स्वीकार नहीं किया जाता, तब तक दो द्रव्यों में परस्पर संबंध की वास्तविकता का प्रत्यय असंभव है। वैसी स्थिति में पुण्य और पाप का आत्मा के साथ संबंध भी असंभव हो जाएगा। जैन दर्शन ने आत्मा (जीव) और पुद्गल (भूत) के बीच भेदाभेद पूर्ण संबंध स्वीकार किया है। उसका यह स्पष्ट अभिमत है कि एकान्त भेद की स्थिति में जीव का सांसारिक (बंधन-युक्त) अस्तित्व कभी संभव नहीं है। इसलिए सांसारिक स्थिति में जीव और पुद्गल (कर्म) कथंचित् अभिन्न होते हैं। न्याय-वैशेषिक का यह अभिमत कि आत्मा और भूत एकान्त भिन्न हैं, फिर भी पुण्य-पाप आत्मा के गुणों के रूप में हो सकते हैं किसी भी तरह बुद्धिसंगत नहीं हो सकता। जो स्पष्टतः

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

किसी भी अनुभव में अबाधित है एवं सुप्रमाणित यथार्थ अनुभव है उसे स्वीकार न करने के कारण ही न्याय-वैशेषिक कर्म की पौद्गलिकता की पूर्ण व्याख्या देने में असमर्थ हो जाता है।[1]

18.4.5 ऐतिहासिक विकास-क्रम

चेतन और भूत के पारस्परिक संबंधों पर भारतीय दर्शनों में जो वैचारिक विकास-क्रम बना, उसकी चर्चा करते हुए डा. टाटिया ने यह स्पष्ट किया है कि जहां अन्य दर्शन 'चेतन' को ही 'भूत' से सर्वथा या एकान्ततः अस्पृष्ट मानने के प्रत्यय को मूल आधार मान कर यत्किञ्चित् भेद के साथ चेतन-भूत के संबंधों की व्याख्या प्रस्तुत करते गए, वहां जैन दर्शन ने अनेकान्त एवं यथार्थवाद के आधार पर चेतन-पुद्गल-संबंधों को समझाया। यही कारण है कि कर्म की पौद्गलिकता का सिद्धान्त केवल जैन दर्शन में ही प्रस्तुत हुआ। डा. टाटिया ने ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय दर्शन के विकास-क्रम के विवेचन को प्रस्तुत कर निष्कर्ष-रूप लिखा है—"इस ऐतिहासिक संकल्पना से हम समझ सकते हैं कि सांख्य-योग (वेदान्त-सहित), न्याय-वैशेषिक तथा बौद्ध दर्शनों को क्यों आत्मा/चेतन को भूत से एकान्ततः भिन्न मानना पड़ा, जबकि जैन दर्शन आत्मा और कर्म-पुद्गल के अन्तःप्रभाव की अवधारणा करने में सफल हुए। 'आत्मा की अपरिवर्तनीयता' की अवधारणा ने उद्विकसित दर्शनों (सांख्य आदि) पर किसी-न-किसी रूप में प्रभुत्व जमाए रखा तथा इसी अवधारणा के कारण इन दर्शनों ने आत्मा के भूत से एकान्त भेद की मान्यता का आग्रह रखा। यहां तक कि क्षणिकवादी बौद्ध दर्शन भी इस अवधारणा के प्रभाव से अपने आप को मुक्त नहीं रख सका और इसीलिए जैनों की तरह आत्मा और कर्म-पुद्गल के संबंध को न स्वीकारते हुए उसने चेतन और भूत के बीच किसी ठोस संबंध की मान्यता को अस्वीकार कर दिया।

---

[1] **Dr. N. Tatia, Stadies in Jain Philosophy, p-. 225-226—**

The Nyãya-Vaisesika admits that the conditions of bondage viz. merit and demerit belong to the soul, but keeps them quite distinct and aloof from it. The soul is held to be immutable and ubiquitous, and merit and demerit, Jointly called unseen potency, inhere in it as qualities. But how can the qualities of the soul be responsible for the bondage of the soul? And in the absence of the bondage of the soul, it should be admitted that soul ever, remains free from bondage. It may be argued that as the anger, pride etc. condition the bondage of the soul although they are qualities of it, so there should be no difficulty in admitting that the qualities of the soul can be responsible for the bondage of the soul. But the Jain's reply to such a contention is: Such changes of the soul of the passions of anger and the like are of the nature of bondage; the changes into anger and the like are indeed the bondage itself of the soul, and not the conditions of the bondage. The passions constitute the bondage. And their conditions must necessarily be distinct and different from them. And the passions being the qualities of the soul, it follows that the conditions of the passions are something distinct and separate from the qualities of the soul. And so the conditions of the passions and the bondage that they constitute must be sought for in what is material. Creation is a veritable intermixture of the spiritual and the material, a beginningless inter-influencing of the two. There is no bondage without the inter-relation of spirit and matter, and there is no inter-relation of spirit and matter without the bondage. The philosopher of the Nyãya-Vaisesika school also admits the fact. But because of his bias for the absolute immutability of the soul and the absolute separateness of the qualities from its substance, he fails to remain consistent with his realisitic position by following the verdicts of uncontradicted and well attested experience. How can the mind relate the body with the soul without itself being really related with both? Even the merit and demerit remain without any real relation with the soul. It is impossible to conceive of any real relation without admitting some kind of identity-cum-difference between the relate—a fact which the Nyãya-Vaisesika is unwilling to accept. According to the Jaina philosopher, the worldly existence is impossible without the admission of the relation of identity-cum-difference between the spiritual and the material, and, therefore, it is maintained that the soul and the matter become somehow identical in the state of worldly existence. The Nyäya-Vaisesika does not admit any sort of identity between spirit and matter, and yet regards merits and demerits as qualities of the soul, born of various activities of the material body and mind. This is certainly ununderstandable.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इन दर्शनों से अलग रहकर जैनों ने अपनी विशुद्ध यथार्थवादी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए प्रत्यक्ष अनुभव से अकाट्य प्रमाणों का आधार लेकर अपनी अवधारणा का विकास किया। इसी मौलिक यथार्थवादी एवं अनुभवप्रधान दृष्टिकोण की बदौलत जैन दर्शन में आत्मा और पुद्गल (भूत) के अन्योन्य-सहकारी-संयोग की अवधारणा एवं कषाय की आत्मीय दशाओं के संवादी भौतिक (कर्म-पौद्‌गलिक) परिणमनों की प्रकल्पना को प्रस्तुत किया। [Studies in Jain Philosophy, p.p. 230-231— "But this historical speculation may help to us understand the reason why the Sānkhya-Yoga (the Vedāntin also included), the Nyāya-Vaisesika and the Buddhist had to keep spirit or consciousness quite aloof from matter, while the Jaina could conceive of inter-influencing of the soul and the karmic matter. The conception of the immutability of soul dominated in some form or other, the evolved systems, and was responsible for their insistence on the absolute aloofness of spirit from matter. Even the Buddhists who believed in radical momentary change could not escape from the influence of this conception, inasmuch as they do not admit as concrete a relation between the conscious and the material as do the Jainas between soul and karmic matter. The Jainas, on the other hand, were faithful to their thoroughly realistic tradition building up itself on the uncontradicted verdicts of experience. The Jaina conception of co-operative association of spirit and matter and the postulation of the material counterpart of the spiritual states of passions owe their origin to this faithfulness to the original realistic and empirical attitude."]

18.4.6 एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक

कर्ममय नैतिक जीवन की समुचित व्यवस्था के लिए, बंधन और मुक्ति के वास्तविक विश्लेषण के लिए, एक समग्र दृष्टिकोण आवश्यक है। एक समग्र दृष्टिकोण बंधन और मुक्ति को न तो पूर्णतया जड़ प्रकृति पर आरोपित करता है और न उसे मात्र चैतसिक तत्त्वों पर आधारित करता है। यदि कर्म का अचेतन या जड़ पक्ष ही स्वीकार किया जाये, तो कर्म आकारहीन विषयवस्तु होगा और यदि कर्म का चैतसिक पक्ष ही स्वीकारें तो कर्म विषयवस्तुविहीन आकार होगा। लेकिन विषयवस्तुविहीन आकार और आकारविहीन विषयवस्तु दोनों ही वास्तविकता से दूर हैं।

जैन कर्म-सिद्धान्त कर्म के भौतिक एवं भावात्मक पक्ष पर समुचित जोर देकर जड़ और चेतन के मध्य एक वास्तविक संबंध बनाने का प्रयास करता है। डॉ. नथमल टाटिया के समग्र विमर्श का सार यह है कि जैन दर्शन के मन्तव्यों के संदर्भ में कर्म-पुद्गल की वास्तविक सत्ता को हमें समझना होगा।

1. जैन दर्शन यथार्थवादी (realist) है, अतः उसमें भौतिक विश्व की वास्तविक वस्तु-निष्ठ सत्ता को स्वीकार किया गया है। जो दर्शन एकान्तवाद के आधार पर या विशुद्ध तर्क (abstract logic) के आधार पर भौतिक (पौद्‌गलिक) तत्त्व की स्वतंत्र वस्तु-निष्ठ सत्ता को इन्कार करते हैं, उसका जैन दर्शन इस आधार पर खण्डन करता है कि जो प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा 'वस्तु-निष्ठ' अस्तित्व के रूप में जाना जाता है, उसे हम कैसे अस्वीकार करें? जैसे बौद्ध दर्शन के एक सम्प्रदाय (योगाचार) ने भौतिक जगत् को केवल चैतसिक पर्याय मानकर उसकी स्वतंत्र वास्तविक सत्ता को स्वीकार नहीं किया। किन्तु जैन दर्शन बताता है कि जितना आत्मा का अस्तित्व वास्तविक है, उतना ही पुद्गल का भी है।

2. दूसरी बात यह है कि सचेतन आत्मा या जीव तत्त्व और अचेतन पुद्गल तत्त्व के परस्पर संबंध एवं प्रभाव को जैन दर्शन बहुत ही स्पष्ट रूप में स्वीकार करता है। अमूर्त्त आत्मा और मूर्त्त (कर्म-पुद्गल)—इन दोनों का अन्योन्य प्रभाव स्वीकार किए बिना बद्ध और मुक्त आत्मा की सारी अवधारणा निराधार हो जाएगी। इसलिए जहां अन्य दर्शन मूर्त्त और अमूर्त्त के परस्पर प्रभाव को स्वीकार करने में कठिनाई अनुभव करते हैं, वहां जैन दर्शन उसे अनुभव एवं तर्क—दोनों आधारों पर बहुत असंदिग्ध रूप से स्वीकृति देता है। सामान्य अनुभव में भी मद्य आदि मादक पदार्थों का सीधा प्रभाव चेतना पर देखा जाता है। तो फिर अमूर्त्त आत्मा पर मूर्त्त पुद्गल के प्रभाव को स्वीकार करने में क्यों हिचकिचाहट हो? इस जीव-पुद्गल-संबंध एवं प्रभाव के आधार पर ही जीव का सांसारिक (अनादि) अस्तित्व संभव है। जो दर्शन आत्मा और पुद्गल (भूत) में ठोस संबंध एवं प्रभाव को स्वीकार करने में संकोच करते हैं, वे फिर भौतिक तत्त्व के स्वतंत्र अस्तित्व को तर्क-संगत न मानते हुए उसकी आवश्यकता को भी अस्वीकार कर देते हैं। किन्तु जैन दर्शन ऐसे विशुद्ध तर्क की वेदी पर कभी भी अनुभव के असंदिग्ध तथ्य की बलि चढ़ाने के पक्ष में नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उक्त दो मुख्य अवधारणाओं के संदर्भ में हमें वेदान्त सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं बौद्ध दर्शनों के कर्म की पौद्‌गलिकता के विरोध में प्रस्तुत मतों की समीक्षा करने की आवश्यकता है।

जैन दर्शन जीव (संसार-दशा में बद्ध आत्मा) के वास्तविक परिणमनों एवं जीव के साथ कर्म-पुद्‌गलों के ठोस संबंधों या प्रभावों को स्वीकार कर सांख्य-योग दर्शन की इस कठिनाई का परिहार करता है कि पुरुष (आत्मा) जो सदा अपरिवर्तनीय है उसका परिवर्तनशील प्रकृति (पुद्‌गल) के साथ संबंध कैसे हो सकता है, क्योंकि जैन दर्शन ने आत्मा के यथार्थ परिणमन तथा कर्म-पुद्‌गलों के साथ उसके संबंधों को स्पष्ट रूप में स्वीकार किया है। जैन दर्शन का स्पष्ट प्रतिपादन है कि आत्मा में सदा अपना स्वाभाविक परिणमन चलता ही रहता है और सांसारिक दशा में यह परिणमन उसके साथ बंधे हुए कर्म-पुद्‌गलों के स्वरूप (प्रकृति आदि) से प्रभावित होकर होते हैं। नए कर्म-पुद्‌गलों का स्वरूप/संरचना के बंधन का आधार बनता है—आत्मा के परिणामों में कषाय की तीव्रता/मंदता एवं प्रवृत्ति (योग) की प्रखरता एवं स्वरूप/कषायों एवं योग के परिणमन का आधार पुनः बद्ध कर्म-पुद्‌गलों के उदय या अनुदय पर आधारित होता है। इस प्रकार—

कर्म-पुद्‌गल—कषाय एवं योग

कषाय एवं योग—कर्म-पुद्‌गल

यह चक्र अनादि काल से चलता रहता है। इस चक्र की आदि न होने से आत्मा एवं पुद्‌गल का प्रथम संबंध कब हुआ?—यह प्रश्न उठता ही नहीं। अनादि-कालीन आत्मा-कर्मप्रवाह-संबंध का सिद्धान्त सहज स्वीकार होने से सभी दर्शनों के लिए ग्राह्य बन जाता है—क्योंकि मूलतः तो 'उपादान' की अनादिकालीन स्थिति को तो सभी स्वीकार करते ही हैं

न्याय-वैशेषिक ने 'प्रारंभ' का प्रश्न हल करने के लिए 'ईश्वर' की कल्पना की। फिर भी इस तथ्य को तो स्वीकार किया ही कि ईश्वर कर्म का फल भी पूर्व कर्मों के अनुसार देता है—अपनी इच्छा से नहीं। जैन दर्शन सृष्टि-नियंता या कर्म-फल-दाता के रूप में किसी ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं करता। उसके अनुसार कर्म का फल कर्म स्वतः दे देते हैं। फल का निर्धारण आत्मा की कषाय-दशा के आधार पर होता है तथा विपाक के पश्चात् कर्म स्वतः उदय में आकर फल भी स्वयं देते हैं। इस प्रकार ईश्वर के बिना ही विशेष प्रकार के पुद्‌गल (कर्म) की अवधारणा से सारी समस्या हल हो जाती है।

सांख्य-योग प्रकृति (जो पुद्‌गल है) को संसार में आत्मा (पुरुष) के अस्तित्व का कारण मानते हुए भी, पुरुष को ऐकान्तिक रूप में शुद्ध मानकर उसके साथ प्रकृति के प्रभावशाली संबंध को स्वीकार करने में असमर्थता व्यक्त करता है। किन्तु जैन दर्शन अमूर्त्त आत्मा को एकान्ततः अपरिवर्तनीय न मानकर कर्म-पुद्‌गल के प्रभाव से परिवर्तनीय प्रतिपादित करता है और इसीलिए जैन दर्शन के अनुसार संसारी आत्मा को जो स्वभावतः अमूर्त्त है कर्म के साथ संबंध के कारण कथंचित्—किसी एक अपेक्षा से 'मूर्त्त' भी कहा जा सकता है।

धम्मसंग्रहणी, गा. 626—

अहवा नेगन्तो यं संसारी सव्वहा अमुत्तोत्ति।
जं अनादि-कम्म-संतति-परिणामावन्न-रूवो सोत्ति॥

इस प्रकार जैन दर्शन का अनेकान्तात्मक यथार्थवाद (non-absolutistic realism) सांख्य-योग के यथार्थवाद के आधार पर ही उसकी ऐकान्तिक मान्यता को अस्वीकार कर देता है।

दूसरी ओर बौद्ध दर्शन चेतना की संसार-दशा का आधारभूत कारण एकान्ततः चेतना के भीतर ही बताता है, क्योंकि एकान्ततः आदर्शवादी होने के कारणभूत (पुद्‌गल) तत्त्व का स्वतंत्र वास्तविक अस्तित्व उसे स्वीकार नहीं है। किन्तु जैन दर्शन इसे सांख्य-दर्शन का बिल्कुल दूसरा छोर बताता है। जहां सांख्य ऐकान्तिक रूप में प्रकृति को ही संसार का कारण बताता है, वहां बौद्ध चेतना को ही ऐकान्तिक रूप में संसार का कारण बताता है। इस प्रकार ये दोनों दर्शन एकान्तवाद के दो विरोधी छोरों पर खड़े हो जाते हैं। बौद्ध दर्शन का ऐकान्तिक मन्तव्य भी किस प्रकार दोषपूर्ण है, इसकी चर्चा हम कर चुके हैं

जैन दर्शन ने एकान्तवाद की दुविधा को मिटाने के लिए ही द्रव्यकर्म और भावकर्म की अवधारणाएं प्रस्तुत की हैं—द्रव्य-कर्म विशुद्ध पुद्‌गल है, अजीव या अचेतन हैं, मूर्त्त द्रव्य हैं। भाव-कर्म चेतना की विभाव दशा है, जो द्रव्यकर्म के कारण और कार्य—दोनों की भूमिका निभाते हैं। द्रव्य-कर्म को 'आवरण' और भाव-कर्म को 'दोष' कहा गया है (अष्टसहस्री)। कषाय यानि आत्मा की क्षमताओं की न्यूनता या विकृतियां

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'दोष' हैं जबकि जिन कर्म-पुद्गलों के कारण ये न्यूनता या विकृतियां पैदा होती हैं वे 'आवरण' हैं। यद्यपि गोम्मटसार में द्रव्य-कर्म की शक्ति को भाव-कर्म की संज्ञा दी गई है (कर्मकाण्ड, गा. 6), फिर भी यह मत विमर्शनीय है। वस्तुतः तो द्रव्य-कर्म (आवरण) और भावकर्म (दोष)—ये दोनों परस्पर यानी एक-दूसरे के कारण हैं और कार्य भी हैं (अष्टसहस्री)। दोषावरणयो जीव-पुद्गल-परिणामयोर् अन्योन्य-कार्यकारण-भाव-ज्ञापनार्थत्वात्। यह तभी संभव है जबकि जीव की सांसारिक दशा को अनादिकालीन माना जाय। जैन दर्शन को अन्य दर्शनों की भांति इस अनादि संसार को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है (तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 447— जीवस्य भावास्रवो.....कषायादि.....स च कर्म-बन्धानुसारतोऽनेकप्रकारो.....कर्म पुनर् नृणाम् अनेक प्रकारं कषायविशेषाद् भावकर्मण इति हेतु-फलव्यवस्था। परस्पराश्रयान् न तद्व्यस्थेति चेन् न, बीजांकुरवद् अनादित्वात् कार्य-कारण-भावस्य, तत्र सर्वेषां संप्रतिपत्तेश्च।)

जैन दर्शन की शब्दावली में अब हम कह सकते हैं कि सांख्य-योग (वेदान्तसांख्य) दर्शन केवल पौद्गलिक कर्म (द्रव्य कर्म) को स्वीकार करता है किन्तु उसके संवादी भावकर्म स्वीकार नहीं करता जबकि बौद्ध दर्शन केवल भावकर्म को स्वीकार करता है, द्रव्यकर्म को नहीं करता।

"कर्म अपने पूर्ण विश्लेषण में जड़ और चेतन के मध्य योजक कड़ी है—यह चेतन और चेतनसंयुक्तजड़ पारस्परिक परिवर्तनों की सहयोगात्मकता को अभिव्यंजित करता है। सांख्य योग के अनुसार कर्म पूर्णतः जड़प्रकृति से संबंधित है और इसलिए वह प्रकृति ही है जो बंधन में आती है और मुक्त होती है। बौद्ध दर्शन के अनुसार कर्म पूर्णतया चेतना से संबन्धित है और इसलिए चेतना ही बंधन में आती है और मुक्त होती है। लेकिन जैन विचारक इन एकांगी दृष्टिकोणों से सर्वथा दूर हैं। उनके अनुसार संसार का अर्थ है जड़ और चेतन का पारस्परिक बंधन तथा मुक्ति का अर्थ है—दोनों का अलग-अलग हो जाना।" (Studies in Jaina Philosophy, p. p. 227-228—

"The yogäcära Buddhist avoids the difficulty by asserting the unreality of the material world itself. But the Jaina as a realist is not prepared to accept the unreality of the worldly career which is as much a fact as the existence of the spirit. The Jaina does not believe in the difficulty of the material (murta) affecting the spiritual (amurta). Consciousness which is spiritual is certainly found to be affected by intoxicating drugs which are material. The worldly existence means concrete association of the spiritual and the material. Impossibility of co-operation between spirit and matter, in the Buddhist terminology between näma (the conscious) and rupa (the material), means impossibility of the world order. Those who do not believe in concrete association or co-operation are finally led to reject the material as illogical and unnecessary. The jaina philosopher, as a staunch realist, is not prepared to proceed on abstract logic and reject what is so unambiguously given in experience.

The Jaina avoids all these absolutist conceptions of the nature of karman. He avoids the Sänkhya-yogs difficulty of relation between the immutable purusa (principle of consciousness) and the mutable prakrti by adimitting real modification of the soul and its concrete association with karmic matter. The soul is ever changing by its own nature and in the state of worldly existence, this change is determined by the nature of the karmic matter that is associated with it. The nature of the associated karmic matter (karma-pudgala) is determined by the nature of the passions (kasäyas) of the soul and the nature of the passions is determined by the nature of the karmic matter. This mutual determination has no beginning in time, and this explains the apparent difficulty of the first beginning of the process. The Jaina does not blink the difficulty by admitting beginninglessness, but only asserts a fact which is admitted by all the other schools. The Nyäya-Vaisesika leaves the initiative in the hands of God, and yet he has to admit that God only gives the fruits of the past actions and cannot determine anything of his own accord. The jaina does not believe in an Divine power taking interest in the destiny of the universe. This is of course a digression. In contrast with the concrete mutual co-operation of the soul and the karmic matter, the Sänkhya-Yoga envisages only an apparent relation between immutable consciousness and prakrti. The Jaina, as a thoroughgoing realist, smells grounds for refutation of realism it self in the Sänkhya-Yoga conception. Once we are unfaithful to our experience and tread the path of absolutist logic,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

we are sure to enter the pitfall of subjectivism or, worse than that, nihilism. The Jaina philosopher goes so far as to asy that, in the state of worldly existence, the soul possesses, in common with the karmic matter with which it is associated, material form (murtatva) which is regarded as only a characteristic of the material things. The Buddhist conceives the condition of the world order as lying exclusively in the consciousness. But the Jaina considers this as another untenable extreme exactly like the counter-extreme of the Sänkhya-Yoga who regards the condition as lying exclusively in the prakrti. We have already recorded the objections against the position. The Jainas distinguish between the material karman called dravya-karman, and its spiritual counterpart called bhäva-karman. The former is also called ävarana (cover) and the latter dosa (defects). The defects are the passions or privations and perversions of the capacities of the soul while the covers are constituted by karmic matter that brings about those privations and perversions. The material karman and its spiritual counterpart are mutually relatad as cause and effect, each of the other. This is possible only if the worldly existence is accepted to be without beginning. And the Jaina, like all the other schools finds no difficulty in admitting it."

Now, in Jaina terminology, we can that the Sänkya-Yoga (the Vedäntin also included) admits only material karman and not its spiritual counterpart as well while the Buddhist admits only the spiritual counterpart and not the material karman. Karman, in the ultimate analysis, is a link between spirit and matter, and lasts as long as the worldly existence lasts. it co-ordinates the mutual changes of the spirit and the matter associated with spirit. In the Sankhya-Yoga view, karman belongs exclusively to the prakrti and hence it is only the prakrti that is bound or emancipated. In the Buddhist view, the karman belongs exclusively to the consciousness and it is only the consciousness that is bound and emancipated. But the Jaina philosopher is not satisfied with this unilateral view of the worldly existence. Worldly existence means bondage of both spirit and matter, in relation to one another. Emancipation means emancipation of both spirit and matter. If the various states of passions make up the bondage of the spirit the change of the material atoms into karmic matter makes up the bondage of matter. The freedom of a soul from the passions and their effects means also the freedom of karman matter from association with the soul."

18.5 वैज्ञानिक दृष्टिकोण

आधुनिक विज्ञान के क्षेत्र में पुद्गल (matter) की विचित्र शक्तियों के नियमों को खोजने का प्रयत्न किया गया है। सचेतन (प्राणी) को पौद्गलिक पदार्थ या ऊर्जा किस-किस रूप में प्रभावित करती हैं, इस पर गहन और व्यापक शोधकार्य हो चुका है। चैतन्य (consciousness) और जड़ पदार्थ (पुद्गल) के पारस्परिक अन्तःक्रिया के विषय में यह बहुत स्पष्ट अवधारणा है कि विशेष रासायनिक योगज चैतन्य को गहरे रूप में प्रभावित करते हैं। जैविक प्रक्रियाएं भी पौद्गलिक पदार्थों/ऊर्जाओं के प्रभाव से परे नहीं हैं। विष (poison) वे विशेष रासायनिक योगज हैं जो जैविक प्रक्रिया को स्तम्भित करने की क्षमता रखते हैं। मादक या नशीले पदार्थ (intoxicants) भी विशेष रासायनिक गुणों के कारण सचेतन प्राणियों की चेतना को उन्मत्त या नशे के प्रभाव से प्रभावित कर देते हैं।

18.5.1 जैविकी में पौद्गलिक प्रभाव

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सजीव पदार्थों (प्राणियों और वनस्पतियों) की विशेष रासायनिक संरचना के कारण बाह्य भौतिक पदार्थों के साथ उनकी अन्तःक्रिया (interaction) होती रहती हैं। इन्हीं अन्तःक्रिया के परिणाम-स्वरूप नाना प्रकार की जैविक प्रक्रियाएं निष्पन्न होती हैं।जैव-रासायनिक (bio-chemical) अभिक्रियाएं (reactions) जो शरीर की कोषिकाओं, ऊतकों, अवयवों आदि में घटित होती हैं, उनमें भी पदार्थ-विशेष के प्रभाव परिलक्षित होते हैं। जीवत्-शरीर (living body) में घटित होने वाली घटनाओं की व्याख्या शरीर-क्रिया-विज्ञान (physiology) के माध्यम से करने का प्रयत्न किया गया है। उससे यह स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है कि पुद्गलों (जैव-रसायन रासायनिक पदार्थों, भौतिक ऊर्जाओं आदि) का न केवल चैतन्य की बौद्धिक प्रक्रियाओं पर प्रभाव पड़ता है, अपितु भावात्मक प्रक्रियाओं एवं व्यवहारों पर भी गहरा प्रभाव पड़ता है। अन्तःस्रावी ग्रंथि-तंत्र के स्राव (जिन्हें होर्मोन कहा जाता है) सभी प्राणियों के भाव-तंत्र व्यवहार-तंत्र के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

लिए मूलतः जिम्मेवार हैं—यह तथ्य अब बहुत ही स्पष्ट रूप से उजागर हो चुका है। चैतन्य की इच्छा का प्रभाव शारीरिक क्रियाओं पर तथा शारीरिक रसायनों का प्रभाव चैतन्य की भावदशाओं पर होने का अर्थ है चेतना और पुद्गल परस्पर अन्तःक्रिया करते हैं जिसकी निष्पत्ति जैविक प्रक्रियाएं हैं।

जैविकी के इस सिद्धान्त की तुलना आसानी से जीव-कर्म (पुद्गल)-संबंध के साथ की जा सकती है। कर्म-पुद्गल सूक्ष्मस्तर पर घटित होने वाली पौद्गलिक प्रक्रिया है जो सीधे जीव के सूक्ष्म चेतना-स्तरों में प्रभाव उत्पन्न कर तदनुसार समग्र रासायनिक उपक्रम को स्थूल शरीर में घटित कर देती है। कर्म-पुद्गल के प्रभाव के संवादी जैव-रसायन आदि पुद्गल कर्मानुसार परिणत शरीर के स्वायत्त-तंत्रों (autonomous systems) में घटित कर देते हैं। स्वायत्त-तंत्रिका तंत्र एवं अन्तःस्रावी ग्रंथि तंत्र ही प्राणी के भाव, व्यवहार, आचार आदि का नियंत्रण करते हैं। इस प्रकार कर्म-पुद्गल की पौद्गलिकता तथा रासायनिक स्रावों की पौद्गलिकता चैतन्य की परिणतियों के लिए जिम्मेवार है—यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से समझ में आ सकता है। ध्यान आदि साधना के उपक्रम भी मूलतः कार्मिक परिणतियों को प्रभावित कर स्थूल-देहगत रासायनिक परिणतियों में परिवर्तन लाकर चेतना का रूपान्तरण घटित करने में सक्षम हो रहे हैं, यह अनेकों प्रमाणों से सिद्ध है। इस विषय की विस्तृत चर्चा इकाई 8, पाठ 22, 23 में की गई है।

18.5.2 भौतिकी में चेतना की स्वीकृति

यद्यपि भौतिकी (physics) के क्षेत्र में मूलतः जड़ पदार्थ एवं ऊर्जा के संबंध में ही समग्र विमर्श किया जाता है, फिर भी आधुनिक विज्ञान के कुछ जटिल सिद्धांतों में जहां आणविक (atomic) या अवर-आणविक (Sub-atomic) प्रक्रियाओं का अध्ययन एवं व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है, वहां चैतन्य की स्वीकृति के आधार पर चैतन्य एवं भूत (पुद्गल) के परस्पर संबंधों को भी स्वीकार किया गया है। अभी तक इस दिशा में बहुत कुछ प्राक्-कल्पना (hypothesis) के स्तर पर है, फिर भी जो संकेत स्पष्ट हो रहे हैं, वे चैतन्य-पुद्गल-संबंध के विषय को बल देने वाले प्रतीत हो रहे हैं। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक डेविड बोह्म (David Bohm) ने भौतिकी के क्षेत्र में अपनी एक नई अवधारणा प्रस्तुत की है जिसे "theory of implicate order" की संज्ञा दी गई है। डा. फ्रिटजोफ काप्रा अपने प्रसिद्ध ग्रंथ too of physics में लिखते हैं—"To uderstand the implicate order Bohm has found it necessary to regard consciousness as an essential feature of the holomovement and to take it into account explicitly in his theory. He sees mind and matter as being interdependent and correlated, but not causally connected. They are mutually enfolding projection of higher reality which is neither matter nor consciousness. " (Tao of Physics, p. 310)

"इम्प्लीकेट ओर्डर (स्वभावगत सुबद्धता) को समझने के लिए बोह्म ने यह जरूरी माना है कि चैतन्य को होलोमुवमेंट (एक सतत् परिवर्तनशील 'उपादान' जो समस्त अभिव्यक्त भौतिक पदार्थों का मूल स्रोत है) का एक अनिवार्य लक्षण मानना होगा और उसने उसे (चैतन्य को) अपने सिद्धांत में स्पष्टतः स्थान दिया। बोह्म अचेतन और चेतन को परस्पर आधारित एवं परस्पर संबद्ध मानते हैं, किन्तु उन्हें परस्पर उपादान-कारणकार्य भाव वाले नहीं मानते। एक ऐसे वास्तविक उच्च सत् के वे परस्पर एक-दूसरे को समेटे हुए उत्तर-रूप हैं जो अपने आप में न जड़ है, और न चैतन्य (ताओ आफ फिजिक्स पृ. 310)

डेविड बोह्म का उपर्युक्त सिद्धांत यद्यपि अति-पारिभाषिक शब्दावली एवं उच्च गणितीय अवधारणाओं से सम्बद्ध है, फिर भी इतना तो समझना आसान है कि मूलभूत भौतिकी के क्षेत्र में अब 'चैतन्य' के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार कर चैतन्य एवं जड़ पदार्थ (पुद्गल) के परस्पर संबंध और प्रभाव को स्वीकार कर लिया गया है। भगवती सूत्र में प्रयुक्त 'अन्योन्य-बद्ध, अन्योन्य-स्पृष्ट, अन्योन्य-अवगाढ़, अन्योन्य-स्नेहप्रतिबद्ध, अन्योन्य-एकीभूत' की तुलना बोह्म के "interdependent and correlated " शब्दों के साथ करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और पौद्गलिक पदार्थ (कर्म) के परस्पर संबंधों के आधार पर ही समग्र सृष्टि के स्वरूप को समझा जा सकता है। यद्यपि कर्म-पुद्गलों के सूक्ष्म स्वरूप के विषय में आधुनिक विज्ञान की कोई अवधारणा सामने नहीं आई है, फिर भी पौद्गलिक पदार्थ/ऊर्जा के जीव पर प्रभाव की अवधारणा जिस रूप में स्पष्ट हो रही है, उससे जैन दर्शन-सम्मत कर्म की पौद्गलिकता की अवधारणा सम्पुष्ट हो रही है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

18.6 कर्मों की दस अवस्थाएं

हर पदार्थ की भिन्न-भिन्न अवस्थाऐं होती हैं। ये अवस्थाएँ पदार्थ की सत्ता के साथ जुड़ी हुई हैं। क्योंकि प्रत्येक पदार्थ (द्रव्य) गुण और पर्यायों का समूह है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ/द्रव्य में जो परिवर्तनशील नहीं हैं, वे गुण हैं तथा जो परिवर्तित होते रहते हैं, रूपान्तरण होता रहता है या जिनमें बदलाव होता है वे पर्याय कही जाती हैं। परिवर्तनशील ये पर्यायें पूर्व अवस्था का परित्याग तथा नयी अवस्था को स्वीकार करती है। यही प्रक्रिया कर्म के साथ भी जुड़ी रहती है। संसारी जीव कर्म सहित होते हैं। कर्म के संयोग से वे विविध अवस्थाओं को प्राप्त करते हैं और जीव के पुरुषार्थ से कर्म की विविध अवस्थाएँ हो जाती हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जीव का योग पाकर कर्म कर्म है और कर्म के योग से जीव संसारी जीव है।

जैन दर्शन में कर्म का परिवर्तन मान्य है (भगवतीसूत्र के सूत्र नं.23, 24, 44, 46, 47 एवं 357 प्रथम शतक का भाष्य)। अशुभ एवं शुभ दोनों प्रकार की भावधारा के साथ कर्म की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने गोम्मटसार (कर्मकाण्ड, गाथा 441-450) में गुणस्थानों का वर्णन करते हुए कर्म की 10 अवस्थाओं का वर्णन किया है, जिन्हें 10 करण की संज्ञा से अभिहित किया गया है। कर्म परिवर्तन की ये 10 अवस्थाएं हैं—1. बंध 2. सत्ता 3. उदय 4. उदीरणा 5. उद्वर्तन 6. अपवर्तन 7. संक्रमण 8. उपशम 9. निधत्ति 10. निकाचना।

18.6.1 बंध—आत्मा और कर्मों के एकीभूत होने की अवस्था को बंध कहा गया है। जैन दर्शन में बंध शब्द करणादि साधन में देखा जाता है। करण साधन की विवक्षा में जिनके द्वारा कर्म बन्धता है, वह बंध है। जिनसे कर्म बंधे वह कर्मों का बांधना बन्ध है। (राजवार्तिक 8/2/11 एवं 1/4/10) कर्म प्रदेशों का आत्म-प्रदेशों में एक क्षेत्रावगाह हो जाना बन्ध है।

18.6.2 सत्ता—जैन दर्शन में सत्ता, सत्व, सत्, सामान्य, द्रव्य, अन्वय, वस्तु अर्थ और विधि ये सब एकार्थक कहे गये हैं। धान्य संग्रह के समान जो पूर्व संचित कर्म हैं, उनके आत्मा में अवस्थित रहने को सत्व कहते हैं (पं.सं.3/3 धण्णस्स संगहो वा संतं .....)। कषाय प्राभृत के अनुसार जीव से संबद्ध हुए वे ही कर्म स्कन्ध दूसरे समय से लेकर फल देने से पहले समय तक 'सत्व' इस संज्ञा को प्राप्त होते हैं (1.1, 13-14)। अर्थात् जब तक बंध के बाद कर्म फल नहीं देते, उस समय उसका अस्तित्व है, परन्तु सक्रिय नहीं है। इस दृष्टि से उस अवस्था को सत्ता (सत्व) के रूप में माना गया है। इसी भाव को प्रस्तुत करनेवाली परिभाषा है—"अबाधाकालो विद्यमानता च-सत्ता।"

18.6.3 उदय—आत्मा के साथ एकीभूत कर्म जब शुभ या अशुभ रूप सक्रिय हो जाता है। फल देने में प्रवृत्त हो जाता है, उस स्थिति को उदय कहते हैं। जीव के पूर्वकृत जो शुभ या अशुभ कर्म उसकी चित्तभूमि पर अंकित पड़े रहते हैं, वे अपने-अपने समय पर परिपक्व दशा को प्राप्त होकर जीव को फल देकर खिर जाते हैं। इसे ही कर्मों का उदय कहते हैं। उदय दो प्रकार का है—फलोदय एवं प्रदेशोदय। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट हो जाता है, उसे फलोदय या विपाकोदय कहते हैं तथा जो केवल आत्म-प्रदेशों में भोगा जाता है उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

18.6.4 उदीरणा—कर्म के उदय की भांति उदीरणा भी कर्मफल की व्यक्तता का नाम है। परन्तु यहाँ इतनी विशेषता है कि किन्हीं क्रियाओं या अनुष्ठान विशेषों के द्वारा कर्म को अपने समय से पहले ही पका लिया जाता है। कर्मों के फल भोगने के काल को उदय कहते हैं और अपक्वकर्मों के पाचन को उदीरणा कहते हैं। अर्थात् निश्चित् उदयकाल से पहले विशेष पुरुषार्थ का प्रयोग कर कर्मों को उदय में ले आना उदीरणा है। उदीरणा के लिए अपवर्तना के द्वारा कर्म की स्थिति को कम कर दिया जाता है।

18.6.5 उद्वर्तन—जिस कर्म की जितनी स्थिति बंधी हुई है और जैसा रस है उसे किसी निमित्त से बढ़ा देना उद्वर्तन है। स्थिति बंध एवं अनुभाग-बंध के बढ़ने को उद्वर्तन कहते हैं। इसीलिए कहा गया है—"कर्मणां स्थित्यनुभागवृद्धिः-उद्वर्तना।" अर्थात् कर्मों की स्थिति और अनुभाग में वृद्धि का होना ही उद्वर्तना है।

18.6.6 अपवर्तन—अपवर्तन नाम घटने का है। भुज्यमान आयु के घटने का नाम कदलीघात और बध्यमान आयु के घटने का नाम अपवर्तन घात है। इस प्रकार कर्मों की बंधी हुई स्थिति और उसके रस (अनुभाग)

को उससे कम कर देना अपवर्तन है। "स्थित्यनुभागहानिः-अपवर्तना।" अर्थात् स्थिति और अनुभाग की हानि होती है, उसे अपवर्तना कहते हैं।

18.6.7 संक्रमण—संक्रमण का अर्थ है एक का दूसरे में परिवर्तन। जिस प्रयत्न से कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ अपनी सजातीय प्रकृतियों में बदल जाती है। उसे संक्रमण कहते हैं। एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म-प्रकृति में परिवर्तित होना संक्रमण है। एक ही कर्म की भिन्न-भिन्न प्रकृतियाँ जब परस्पर संक्रांत हो जाती हैं, तब उस स्थिति को संक्रमण कहा जाता है। आयुष्यकर्म की प्रकृतियों तथा दर्शन मोह और चारित्र मोह का आपस में संक्रमण नहीं होता।

18.6.8 उपशमन—आठ कर्मों में सर्वाधिक सक्षम मोहनीय कर्म को दबाना या उसे अकिंचित्कर बना देना उपशम है। जिस समय मोहनीय-कर्म का प्रदेशोदय और विपाकोदय नहीं रहता, उस अवस्था को उपशम कहते हैं। आत्मा में कर्म की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है। परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का अनुद्भूत रहना अर्थात् प्रकट न होना उपशम है। कर्मों के उदय को कुछ समय के लिए रोक देना ही उपशम है। उपशम में मोहकर्म को उदय, उदीरणा, निधत्ति एवं निकाचना के अयोग्य कर दिया जाता है।

18.6.9 निधत्ति—"उद्वर्तनापवर्तनं विहाय शेषकरणायोग्यत्वम्-निधत्तिः।"

अर्थात् उद्वर्तना एवं अपवर्तना के सिवाय शेष करणों के अयोग्य अवस्था को निधत्ति कहते हैं। दूसरे शब्दों में कर्म और आत्मा का प्रगाढ़ सम्बन्ध बनाना निधत्ति है। इसमें कर्मों का उद्वर्तन एवं अपवर्तन (वृद्धि एवं हानि) नहीं होता। शेष सभी करणों का सम्बन्ध और गाढ़ रूप में बन जाता है।

18.6.10 निकाचना—आत्मा और कर्म के सम्बन्ध को इतना प्रगाढ़ बना देना कि जहाँ स्थिति आदि में न्यूनता-अधिकता हो ही न सके, वह निकाचना है। सब करणों के अयोग्य अवस्था को निकाचना कहते हैं। जिन कर्मों का फल निश्चित् स्थिति और अनुभाग के आधार पर भोगा जाता है, जिनके विपाक को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता, वे निकाचित-कर्म कहलाते हैं। इनका आत्मा के साथ गाढ़ सम्बन्ध होता है। इनके उद्वर्तन, अपवर्तन, उदीरणा आदि नहीं होते।

18.7 सारांश–जैन सिद्धान्त में कर्मवाद का वही स्थान है जो व्याकरण में कारक का है। संसारी प्राणियों की विविधता का कारण कर्म ही है। कोई विद्वान् है, कोई मूर्ख है, कोई आसक्त है, कोई विरक्त है, किसी का जन्म होता है, किसी की मृत्यु होती है, किसी का संयोग, किसी का वियोग, किसी का सत्कार, किसी का तिरस्कार। विद्वान् धनहीन है और मूर्ख धनी है। कोई लेखक है, वक्ता भी है। कोई योग्यता न रखते हुए भी स्वामी है और योग्यता वाला लेखक है—इत्यादि अगणित विविधताएं हैं। उनका आन्तरिक हेतु कर्म है। परिस्थिति के सहयोग से ये प्रकट होकर जीवन को प्रभावित करते हैं।

इस प्रकार हमने इस अध्याय में कर्मबंध की प्रक्रिया, कारण और उसकी विभिन्न दशाओं पर संक्षेप में विचार किया।

18.8 अभ्यास प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. किन-किन दर्शनों ने कर्म की पौद्गलिकता को अस्वीकार किया है? उनके अभिमतों को प्रस्तुत करते हुए जैन दर्शन के आधार पर उसकी समीक्षा करें।
2. कर्म की दस अवस्थाओं को समझाते हुए उन पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. भगवती सूत्र में जीव-पुद्गल के परस्पर संबंधों को कैसे समझाया गया है?
2. क्या आधुनिक विज्ञान चैतन्य और भूत के संबंध को स्वीकार करता है? अपने उत्तर को सप्रमाण स्पष्ट करें।

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. देकार्ते ने मन को

(क) शरीर का अंग माना है　　(ख) शरीर से भिन्न माना है

(ग) भौतिक गुणों का विस्तार माना है　　(घ) नहीं माना है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

2. जैन दर्शन मन को
(क) अरूपी मानता है। (ख) अमूर्त्त मानता है।
(ग) चेतन मानता है। (घ) रूपी मानता है।

3. (क) चेतन और अचेतन को भिन्नाभिन्न मानने पर (ख) चेतन और अचेतन को सर्वथा भिन्न मानने पर
(ग) अचेतन को न मानने पर (घ) चेतन को न मानने पर
चेतन-अचेतन के संबंध की समस्या जटिल बनती है।

4. 'आत्मा अपने स्वभाव को करता है' यह आचार्य कुंदकुंद ने बताया है
(क) तत्त्वार्थ सूत्र में (ख) प्रवचनसार में
(ग) पंचास्तिकाय में (घ) उत्तराध्ययन में

5. आत्मा कर्म-बंधन का
(क) निमित्त कारण है (ख) सहायक कारण है
(ग) उपादान कारण है (घ) कारण नहीं है।

6. अविद्या चेतना की भांति अमूर्त्त है—यह मत
(क) सांख्य दर्शन का है। (ख) जैन दर्शन का है।
(ग) वेदांत दर्शन का है। (घ) बौद्ध दर्शन का है।

7. (क) गीता (ख) सांख्य दर्शन
(ग) न्याय वैशैषिक दर्शन (घ) जैन दर्शन
के अनुसार आत्मा का अहंभाव बंधन का मूल उपादान है।

8. न्याय-वैशेषिक दर्शन ने
(क) पुण्य-पाप को (ख) कर्म को
(ग) ज्ञान को (घ) ईश्वर को
आत्मा का गुण मानते हुए भी आत्मा से एकान्ततः भिन्न माना है।

9. (क) जैविकी (ख) भौतिकी
(ग) मनोविज्ञान (घ) दर्शन
में अब चैतन्य के अस्तित्व को स्वीकार कर चैतन्य एवं जड़ पदार्थ के परस्पर प्रभाव को स्वीकार कर लिया है।

10. जैन दर्शन संसारी जीव को
(क) अमूर्त्त (ख) कथंचित् मूर्त्त
(ग) कथंचित् अमूर्त्त (घ) एकांत मूर्त्त
मानता है।

11. .... उद्वर्तना कहते हैं।
12. .... अपवर्तना कहते हैं।
13. .... प्रथम चार आस्रव ...... और योग आस्रव हैं।
14. .... मिथ्यात्व है।
15. .... कषाय है।
16. ज्ञान असातना .... ।
17. अकाम निर्जरा ....।
18. निधत्ति.........।
19. .... को उपशम कहते हैं।
20. भाषा ऋजुता ....।

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–19 : आत्मा एवं कर्म का पारस्परिक सम्बन्ध एवं मुक्ति की प्रक्रिया

संरचना

19.0 प्रस्तावना
19.1 उद्देश्य
19.2 कर्मग्रहणानुरूप आत्म–परिणति ही कर्म की कर्ता
19.3 कर्म का सम्बन्ध अनादि
19.4 आत्मा कर्ता है : नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण
19.5 एकान्त कर्तृत्ववाद के दोष
19.6 आत्म–कर्तृत्व के संबंध में कुन्दकुन्द के विचार
19.7 एकान्त अकर्तृत्ववाद के दोष
19.8 बौद्ध दृष्टिकोण की समीक्षा
19.9 गीता का दृष्टिकोण
19.10 आत्मा भोक्ता है
19.11 सारांश
19.12 अभ्यास प्रश्नावली

19.0 प्रस्तावना

कर्म की कर्त्ता आत्मा है या कर्म? इस प्रश्न पर दो अभिमत हैं आगमकार की भाषा में कर्म की कर्त्ता आत्मा है। आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कर्म का कर्त्ता कर्म है (इसकी चर्चा पीछे विस्तार में की गई है)। ये दोनों सापेक्ष दृष्टिकोण हैं। इनमें तात्पर्य–भेद नहीं है। मूल आत्मा (चिन्मय अस्तित्व) और आत्म–पर्याय (मूल आत्मा के निमित्त से निष्पन्न विभिन्न अवस्थाएं)—ये दो वस्तुएं हैं। इन्हें हम अभेद और भेद—दोनों दृष्टियों से देखते हैं। जब हम अभेद की दृष्टि से देखते हैं तब कहा जाता है—आत्मा कर्म की कर्त्ता है और जब भेद की दृष्टि से देखते हैं तब कहते हैं—कर्म कर्म का कर्त्ता है। कर्म का कर्त्ता कषाय–आत्मा है। वह मूल आत्मा का एक पर्याय है। यदि मूल आत्मा कर्म की कर्त्ता हो तो वह कभी भी कर्म का अकर्त्ता नहीं हो सकती। उसका स्वभाव चैतन्य है, इसलिए वह चैतन्य की ही कर्त्ता हो सकती है। कर्म पौद्गलिक है, अचेतन है। वह उसकी कर्त्ता नहीं हो सकती। मूल आत्मा के आयतन में कषाय–आत्मा (राग और द्वेष) का वलय है। उसमें कर्म–पुद्गलों का आकर्षण होता है। वे कषाय को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार कषाय से कर्म और कर्म से कषाय चलता रहता है। मिथ्या दृष्टिकोण, आकांक्षा और आत्म–विस्मृति—ये तीनों आत्म–पर्याय भी कर्म के कर्त्ता हैं। किन्तु वास्तव में ये सब कषाय के उपजीवी हैं। मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्ति भी कर्म की कर्त्ता है। किन्तु उसमें कर्म–पुद्गलों को बांधकर रखने की क्षमता नहीं है। कषाय के क्षीण हो जाने पर केवल प्रवृत्ति के द्वारा जो कर्म–पुद्गल का प्रवाह आता है, वह पहले क्षण में कर्म–शरीर से जुड़ा है, दूसरे क्षण में फल देकर तीसरे क्षण में निर्जीण (आत्मा से पृथक्) हो जाता है। ठीक इसी तरह जैसे सूखी रेत भींत पर डाली गई, भींत का स्पर्श किया और नीचे गिर गई।

19.1 उद्देश्य–हमारे सामने दो बड़े प्रश्न हैं—कर्म का कर्त्ता कौन है? कर्म का भोक्ता कौन है? इस संदर्भ में जैन आगमकारों ने तो सूक्ष्मता और विस्तार से चिन्तन किया ही है साथ–साथ अन्य धर्म–दर्शनों में भी इस विषय में सोचा गया है। प्रस्तुत पाठ में तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न संदर्भों में इन दो प्रश्नों पर प्राप्त चिन्तन को प्रस्तुत किया गया है।

19.2 कर्मग्रहणानुरूप आत्म–परिणति ही कर्म की कर्त्ता

कर्म की तीन अवस्थाएं होती हैं—स्पृष्ट, बद्ध और बद्ध–स्पृष्ट। कषाय का वलय टूट जाता है तब कोरी प्रवृत्ति से कर्म आत्मा से स्पृष्ट होते हैं। कर्म का दीर्घकालीन या प्रगाढ़ बंध कषाय के होने पर ही होता है। हमारी बहुत सारी अनुभूतियां कषाय–चेतना की अनुभूतियां हैं। आवेश, अहंकार, प्रवंचना, लालसा—ये सब कषाय की ऊर्मियां हैं। भय, शोक, घृणा, वासना—ये सब कषाय की उपजीवी ऊर्मियां हैं। इन ऊर्मियों की अनुभूति के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

क्षण क्षुब्ध और उत्तेजनापूर्ण होते हैं। जिस क्षण हम केवल चेतना की अनुभूति करते हैं, वह शांत-कषाय का क्षण होता है। जिन क्षणों में हम संवेदन करते हैं, उनमें प्रत्यक्षतः या परोक्षतः चेतना कषाय-मिश्रित होती है। हम जब कषाय-चेतना में होते हैं तब किसी को प्रिय मानते हैं और किसी को अप्रिय। किसी को अनुकूल मानते हैं और किसी को प्रतिकूल। हमारी कषाय-चेतना शांत होती है, तब ये सब विकल्प समाप्त हो जाते हैं। फिर कोरा ज्ञान ही सामने शेष रहता है। उसमें न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय। न कोई इष्ट होता है और न कोई अनिष्ट न कोई अनुकूल होता है और न कोई प्रतिकूल। इस स्थिति में कर्म का बंध नहीं होता।

कषाय-चेतना पर पहला प्रहार तब होता है, जब भेद-ज्ञान का विवेक जागृत होता है। आत्मा भिन्न है और शरीर भिन्न है—यह विवेक जब अपने वलय का निर्माण करता है तब कर्म-शरीर से लेकर कषाय तक के सारे वलय टूटने लग जाते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र ने बहुत ही सत्य कहा है—

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
तस्यैवाभावतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन॥

इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं, जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है, जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की पृथक् सत्ता अनुभव में आ गई।

ऐसा होते ही कर्म का मूल हिल उठता है। जिसने अचेतन और चेतन का भेद समझ लिया उसने कर्म और कषाय को आत्मा से भिन्न समझ लिया। यह समझ कर्म के मूल स्रोत पर प्रहार करती है। जिस कषाय से कर्म आ रहे हैं, उसके मूल पर कुठाराघात करती हैं। कर्म-बंधन को तोड़ने का मूल-हेतु भेद का विज्ञान है, तो कर्म-बंध का मूल-हेतु भेद का अविज्ञान है। आचार्य अमृतचन्द्र की भाषा को उलटकर आचार्य महाप्रज्ञ लिखते हैं—**भेदाविज्ञानतो बद्धाः, बद्धा ये किल केचन।**

तस्यैवाभावतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन॥

इस संसार में वे ही लोग कर्म से बद्ध हैं जिनमें भेद-विज्ञान का अभाव है। आत्मा की उपलब्धि उन्हीं व्यक्तियों को हुई है जिनका भेद-विज्ञान सिद्ध हो गया, अचेतन से चेतन की पृथक् सत्ता अनुभव में आ गई।

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बंधन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना के वलयों की एकता की अनुभूति होती है, उनका बंधन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्‌गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नहीं हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकमेक करती है। मुक्त आत्मा के साथ पुद्‌गल एकरस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण कर्म-शरीर की विद्यमानता में 'संवर'—कर्म-पुद्‌गलों के संबंध को रोकने वाला आत्मा का प्रयत्न विशेष और उसके (कर्म-शरीर के) अभाव में आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म-पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। यहां सजातीय-सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कषाय-चेतना की परिणतियां पुद्‌गल-मिश्रित हैं। पुद्‌गल पुद्‌गल को आकर्षित करता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुत सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें, जहां कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव में कर्म का प्रगाढ़ बंध होता है और साधना के द्वारा उसकी ग्रंथि का भेदन होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्‌गल की जिन धाराओं को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और बाह्य परिणतियों में सामंजस्य हुए बिना दोनों में संबंध स्थापित नहीं हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की मीमांसा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैसी परिणति होती हे वैसे ही पुद्गलों का हम ग्रहण करते हैं। उन पुद्गलों का अपने आप में परिपाक होता है। परिपाक के बाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आन्तरिक परिणति हो जाती है। यह एक श्रृंखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निन्दा की; ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल में वह कर्म-पुद्गलों को ग्रहण करता है। वे कर्म पुद्गल आत्मा की सारी शक्तियों को प्रभावित करते हैं। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति में गृहीत पुद्गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप में होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मों की मीमांसा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति यदि ठगने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्गल अनुभव दशा में उसके सुख में बाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप में परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्गल धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यंत आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-संघर्ष में आने वाली बाधाओं को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी की क्षमताओं में अवरोध पैदा होता है ऐसी भिन्न-भिन्न समस्याएं हैं। साधना के द्वारा इनका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि मान पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी। जिस समस्या से जूझना है, उसी के मूल पर प्रहार करने वाली साधना चुननी होगी। यह बहुत सूक्ष्म पद्धति है। रहस्य हमारी समझ में आ जाए तो समस्याओं को सुलझाने में हम बहुत सफल हो सकते हैं।

19.3 कर्म का सम्बन्ध अनादि

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट होता है कि कर्म संयुक्त आत्मा ही कर्म की कर्त्ता है, क्योंकि अकर्म के कर्म का बंध नहीं होता। पूर्व-कर्म से बंधा हुआ जीव ही नये कर्मों का बंध करता है। मोह-कर्म के उदय से जीव राग-द्वेष में परिणत होता है तब वह अशुभ कर्मों का बंध करता है। मोह-रहित प्रवृत्ति करते समय शरीर-नाम कर्म के उदय से जीव शुभ कर्म का बंध करता है। नये-बंधन का हेतु पूर्व-बंधन न हो, तो अबद्ध (मुक्त) जीव भी कर्म से बंधे बिना नहीं रह सकता। इस दृष्टि से यह सही है कि बंधा हुआ ही बंधता है, मुक्त नहीं।

जब आत्मा को कर्त्ता मान लिया तब कर्मबंध के संदर्भ में एक गहन प्रश्न उठता है कि आत्मा के पहले-पहले कर्म कैसे लगे? पर हम आत्मा एवं कर्म की पहल निकाल ही नहीं सकते, क्योंकि उनका प्रारम्भ है ही नहीं, तब श्रीगणेश कैसे बतलाएं? इसका समुचित उत्तर यही है कि आत्मा और कर्म का संबंध अपश्चानुपूर्वी है अर्थात् वह संबंध न तो पीछे है और न पहले। दूसरे शब्दों में आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि से है।

यदि कर्मों से पहले आत्मा को मानें तो फिर उसके कर्म लगने का कोई कारण नहीं बनता। कर्मों को भी आत्मा से पहले नहीं मान सकते क्योंकि वे किए बिना होते नहीं और आत्मा के बिना उनका किया जाना सर्वथा असम्भव है। इन दोनों का एक साथ उत्पन्न होना भी अयौक्तिक है। पहले तो उन्हें उत्पन्न करने वाला ही नहीं। दूसरे, कल्पना करो कि यदि ईश्वर को इनका उत्पादक मान लें तो भी हमारी गुत्थी सुलझती नहीं। प्रत्युत् इतनी विकट समस्याएं हमारे सामने आ खड़ी होती हैं कि उनका हल नहीं निकाला जा सकता। ईश्वर ने क्या असत् से सत् का निर्माण किया या सत् का परिवर्तन किया? असत् से सत् और सत् से असत् नहीं हो सकता, यह एक सर्वमान्य सिद्धान्त है। सत् का रूपान्तर भी क्यों किया एवं क्या से क्या किया? पहले क्या था और बाद में क्या किया। इनका कोई भी संतोषजनक समाधान नहीं हो सकता। अतः इनका अनादि (अपश्चानुपूर्वी) संबंध ही संगत एवं युक्ति संगत है। आत्मा कर्म को आकर्षित करता है किन्तु यह आकर्षण प्रक्रिया यादृच्छिक नहीं है। इसमें भी एक विशेष प्रकार का क्रम है जिसकी चर्चा प्रज्ञापना सूत्र में अत्यन्त सरल शब्दों में निम्नोक्त प्रकार से की गई है।

गौतम—भगवन्! जीव कर्म-बंध कैसे करता है?

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भगवान्—गौतम! ज्ञानावरण के तीव्र उदय से दर्शनावरण का तीव्र उदय होता है। दर्शनावरण के तीव्र उदय से दर्शन-मोह का तीव्र उदय होता है। दर्शन-मोह के तीव्र उदय से मिथ्यात्व का उदय होता है। मिथ्यात्व के उदय से जीव के आठ प्रकार के कर्मों का बंध होता है।

कर्म-बंध का मुख्य हेतु कषाय है, जिसकी चर्चा विस्तार में हम ऊपर कर चुके हैं। संक्षेप में कषाय के दो भेद हैं—राग और द्वेष। विस्तार में उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ। आत्मा कर्म का कर्त्ता है, यह समझना जितना आवश्यक है उतना ही यह जानना भी आवश्यक है कि वह किस अर्थ में कर्त्ता है।

19.4 आत्मा कर्त्ता है : नीतिशास्त्रीय दृष्टिकोण

नीतिशास्त्रीय दृष्टि से आत्मा ही नैतिक अनैतिक कर्मों का कर्त्ता है। लेकिन हमें यह विचार करना है कि आत्मा किस अर्थ में कर्त्ता है। पाश्चात्य नैतिक विचारणा में नैतिक अथवा अनैतिक कर्मों का कर्त्ता मनुष्य को मान लिया गया है, अतः वहां कर्तृत्व की समस्या विवाद का विषय नहीं रही है, लेकिन भारतीय परम्परा में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण रहा है। भारतीय विचारक इस संबंध में तो एकमत हैं कि मनुष्य नैतिक-अनैतिक कर्मों का कर्त्ता है। लेकिन भारतीय विचारक और गहराई में उतरे। उन्होंने बताया कि मनुष्य तो भौतिक शरीर और चेतन आत्मा के संयोग का परिणाम है, उसमें चित् अंश भी है और अचित् अंश भी है। अतः प्रश्न यह है कि चित् एवं अचित् अंश में इन नैतिक कर्मों का कर्त्ता एवं उत्तरदायी कौन है? इस प्रश्न का उत्तर तीन प्रकार से दिया गया। कुछ विचारकों ने अचित् अंश, अचेतन जड़-प्रकृति को कर्त्ता माना। सांख्य विचारकों ने बताया कि जड़-प्रकृति ही शुभाशुभ कर्मों की कर्त्री है। वही नैतिक उत्तरदायित्व के आधार पर बंधन में आती है और मुक्त होती है। शंकर ने इस कर्तृत्व को मायाधीन पाया और उसे एक भ्रान्ति माना। इस प्रकार सांख्य दर्शन एवं शंकर ने आत्मा को अकर्त्ता कहा, दूसरी ओर न्याय वैशषिक आदि विचारकों ने आत्मा को कर्त्ता माना, लेकिन जैन विचारकों ने इन दोनों ऐकान्तिक मान्यताओं के मध्य का रास्ता चुना।

जैन आचारग्रंथों में यह वचन बहुतायत से उपलब्ध होते हैं कि आत्मा कर्त्ता है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है कि आत्मा ही सुखों और दुःखों का कर्त्ता और भोक्ता है। यह भी कहा गया है कि सिर काटने वाला शत्रु भी उतना अपकार नहीं करता जितना दुराचरण में प्रवृत्त अपनी आत्मा करती है।

यही नहीं, सूत्रकृतांग में आत्मा को अकर्त्ता मानने वाले लोगों की आलोचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहा गया है—कुछ दूसरे (लोग) तो धृष्टतापूर्वक कहते हैं कि करना कराना आदि क्रिया आत्मा नहीं करता, वह तो अकर्त्ता है। इन वादियों को सत्य ज्ञान का पता नहीं और न उन्हें धर्म का ही भान है। **उत्तराध्ययनसूत्र** में शरीर को नाव और जीव को नाविक कहकर जीव पर नैतिक कर्मों का उत्तरदायित्व डाला गया है।

डॉ. सागरमल जैन के मत से उक्त संदर्भों के आधार पर यह समझ लेना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि जैन आचारदर्शन आत्मकर्तृत्ववाद को मानता है, क्योंकि ऐकान्तिक रूप में माना गया आत्मर्कृत्ववाद भी नैतिक समीक्षा की कसौटी पर दोषपूर्ण उतरता है।

19.5 एकान्त कर्तृत्ववाद के दोष

1. यदि आत्मा को एकान्त रूप से कर्मों का कर्त्ता माना जाय, तो कर्तृत्व उसका स्वलक्षण (स्वाभाविक लक्षण) होना चाहिए और ऐसी स्थिति में निर्वाणावस्था में भी उसमें कर्तृत्व रहेगा। यदि कर्त्तापन आत्मा का स्वलक्षण है तो वह कभी छूट नहीं सकता और जो छूट सकता है वह स्वलक्षण नहीं हो सकता।
2. जिस प्रकार स्वर्ण स्वर्णाभूषण का कारण हो सकता है, रजताभूषण का नहीं; उसी प्रकार यदि आत्मा को कर्त्ता माना जाय तो वह मात्र चैतसिक अवस्थाओं का ही कर्त्ता सिद्ध हो सकता है, जड़ (भौतिक) कर्मों का कर्त्ता नहीं। जैन नैतिक विचारणा में आत्मा को कर्मों का कर्त्ता माना है, लेकिन जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने स्वयं ही प्रश्न किया है कि कर्म तो जड़ है और आत्मा चेतन, दोनों भिन्न हैं; फिर आत्मा को जड़ कर्मों का कर्त्ता कैसे माना जाय? आत्मा जड़ में नहीं और जड़ आत्मा में नहीं, फिर वह चेतन आत्मा जड़ कर्मों का कर्त्ता कैसे हो सकता है? तप्त लौह-पिण्ड में अग्नि रहते हुए भी उसका कर्त्ता या कारण नहीं हो सकता, वस्तुतः तो वहां भी लौह लौह में है और अग्नि अग्नि में।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. आत्मा को स्वलक्षण की दृष्टि से कर्त्ता मानने पर मुक्ति की सम्भावना ही समाप्त हो जायेगी, क्योंकि यदि कर्तृत्व स्वलक्षण है तो मोक्ष दशा में भी रहेगा और इसके कारण उसे बंधन में आने की सम्भावना बनी रहेगी।

19.6 आत्म-कर्तृत्व के संबंध में कुन्दकुन्द के विचार

इन आक्षेपों को दृष्टि में रखते हुए महावीर के परवर्ती कुछ जैन विचारकों ने भी जब आत्मकर्तृत्व की इस समस्या की गहन समीक्षा की तो उन्होंने भी यह कह दिया कि आत्मा कर्त्ता नहीं। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में एक गहन समीक्षा के पश्चात् स्पष्ट रूप से कह दिया कि जीव (आत्मा) अकर्त्ता है, गुण ही कर्मों के कर्त्ता हैं। जो यह जानता है कि आत्मा (कर्मों का) कर्त्ता नहीं है, वही (सच्चा) ज्ञानी है। आत्मा को धर्म (शुभ) अथवा पाप (अशुभ) आदि के वैचारिक परिणामों का कर्त्ता कहा जाता है, लेकिन वह किसी भी प्रकार कर्त्ता नहीं होता है, जो इस प्रकार जानता है, वही ज्ञानी है। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द आत्म-कर्तृत्व की मान्यता का स्पष्ट निषेध करते हैं। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि यह विचारणा आचार्य की स्वयं की है और पूर्ववर्ती साहित्य में इसका कोई उल्लेख नहीं है। सर्वाधिक प्राचीन जैनागम आचारांगसूत्र में भी ऐसा संकेत मिलता है कि जो गुण (इन्द्रियविषय) है, वही बंधन है। इस प्रकार यहां भी बंधन अथवा कर्तृत्व का उत्तरदायित्व आत्मा पर नहीं, वरन् गुणों (इन्द्रियविषयों) पर डाला गया है। पूर्ववर्ती बंधन अपने विपाक में नया बंधन अर्जित करता है और यह परम्परा चलती रहती है, आत्मा तो कहीं बीच में आता ही नहीं है। फिर उसे कर्त्ता कैसे माना जाय? इस प्रकार जहां एक ओर अनेक जैनाचार्यों के आत्मा को कर्त्ता कहा, वहां कुन्दकुन्द ने उसके अकर्तृत्व पर बल दिया। इन परस्पर-विरोधी दो दृष्टिकोणों का कथन हम एक ही आचार-दर्शन में पाते हैं। लेकिन दोनों ही दृष्टिकोण सापेक्ष रूप में सत्य है, क्योंकि यदि आत्मा को एकान्तरूप से अकर्त्ता माना जाए तो भी नैतिक दृष्टि से कुछ समस्याएं उत्पन्न हो जाती है।

19.7 एकान्त अकर्तृत्ववाद के दोष

1. यदि आत्मा अकर्त्ता है तो उसे शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी नहीं माना जा सकेगा।
2. यदि आत्मा अकर्त्ता है तो शुभाशुभ कर्मों का वह कर्त्ता भी नहीं होगा और शुभाशुभ का कर्त्ता नहीं होने से वह बंधन में नहीं आयेगा।
3. उत्तरदायित्व के अभाव में नैतिकता का प्रत्यय अर्थहीन होता है, यदि आत्मा को अकर्त्ता माना जाए तो उत्तरदायित्व की व्याख्या सम्भव नहीं है।
4. नैतिक आदेश किसी कर्त्ता की अपेक्षा करते हैं। यदि आत्मा अकर्त्ता है तो नैतिक आदेश किसके लिए हैं?
5. मुक्ति यदि नैतिक आचरण का परिणाम है तो अकर्त्ता आत्मा के लिए उसका क्या अर्थ होगा?

आत्मकर्तृत्ववाद और आत्म-अकर्तृत्ववाद के विषय में आचार्य कुन्दकुन्द का दृष्टिकोण भी एकांगी नहीं, क्योंकि ऐकान्तिक मान्यताओं से इसका सम्यक् निराकरण नहीं हो सकता। आचार्य ने समयसार में 75 गाथाओं में इस समस्या की गहन समीक्षा प्रस्तुत की है। आचार्य भी कर्तृत्व और अकर्तृत्व के विवाद का समाधान सापेक्ष दृष्टि के आधार पर ही करते हैं, उनके सारे निर्णयों को निम्न तीन दृष्टिकोणों में अभिव्यक्त किया जा सकता है।

1. व्यवहारदृष्टि की अपेक्षा से आत्मा शरीर के सहयोग से (क्रियाओं का) कर्त्ता है। जब तक आत्मा कर्म-शरीर से युक्त है, वह कर्मों का कर्त्ता है और उस स्थिति तक शुभाशुभ कर्मों के लिए उत्तरदायी भी है।
2. पर्यायार्थिक निश्चयदृष्टि (अशुद्धनिश्चयनय) के अनुसार आत्मा जड़ कर्मों का कर्त्ता नहीं है, वरन् मात्र कर्म पुद्गल के निमित्त से अपने चैतसिक भावों (अध्यवसाय) का कर्त्ता है।
3. शुद्धनिश्चयनय या द्रव्यार्थिक (परमार्थ) दृष्टि से आत्मा अकर्त्ता है।

19.8 बौद्ध दृष्टिकोण की समीक्षा

बौद्ध दर्शन अनात्मवादी है। उसमें आत्मकर्तृत्ववाद की समस्या ही नहीं है। वह आत्मा के स्थान पर चेतना (विज्ञान)के कर्तृत्व को स्वीकार करता है एवं चेतना या मनोवृत्ति के आधार पर ही कर्मों के औचित्य और अनौचित्य का नैतिक निर्णय करता है। लेकिन उसकी वह चेतना तो प्रवाह है। अतः जिसे नैतिक या अनैतिक कर्मों का कर्त्ता माना जाय अथवा उत्तरदायी बनाया जाय, ऐसी कोई चेतना नहीं रहती। नदी के प्रवाह में स्थितिशील वाली जल-धारा के समान वह तो परिवर्तनशील है। वास्तविक दृष्टि से देखें तो डूबने

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की क्रिया मात्र है, डूबने वाला कोई नहीं। क्रिया सम्पन्न होने तक भी जिसका अस्तित्व नहीं रहता, उसे कर्त्ता कैसे कहा जाय? फिर भी, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति को कर्त्ता माना गया है। बुद्ध कहते हैं, अपने से उत्पन्न, अपने से किया पाप, अपने कर्त्ता दुर्बुद्धि मनुष्य को वैसे ही विदीर्ण कर देता है जैसे मणि को वज्र काट देता है। अपने से किया पाप अपने को ही मलिन करता है, अपने से पाप नहीं करे तो स्वयं ही शुद्ध रहता है। शुद्धि-अशुद्धि प्रत्येक की अलग है, दूसरा दूसरे को शुद्ध नहीं कर सकता। इस प्रकार नैतिक जीवन की दृष्टि से बौद्ध दर्शन 'प्रवाही विज्ञान' (चेतना-सन्तति) को कर्त्ता एवं उत्तरदायी मानता है।

19.9 गीता का दृष्टिकोण

गीता कूटस्थ आत्मवाद को मानती है। गीता में ऐसे वचनों का अभाव नहीं है जो आत्मा के अकर्तृत्व को सूचित करते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है, वही सम्यक् द्रष्टा है। सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकार से मोहित अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं कर्त्ता हूं', ऐसा मान लेता है। हे अर्जुन! गुणविभाग और कर्मविभाग के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण गुण गुणों में वर्तते हैं, ऐसा मानकर आसक्त नहीं होता। गुणातीत होने से यह अविनाशी परमात्मा शरीर में स्थित होते हुए भी वास्तव में न करता है (और) न लिप्त होता है।

इस प्रकार गीता में आत्मा को अकर्त्ता माना गया है। फिर भी गीतोक्त नैतिक आदेशों का पालन नहीं करने से प्रत्युत्पन्न उत्तरदायित्व की संगत व्याख्या आत्मा के कर्तृत्व को माने बिना नहीं हो पाती। गीता में आत्मा को अकर्त्ता कहने का अर्थ इतना ही है कि प्रकृति से भिन्न विशुद्ध आत्मा अकर्त्ता है। आत्मा का कर्तृत्व प्रकृति के संयोग से ही है। जैसे जैन दर्शन तत्त्वदृष्टि से अकर्त्ता आत्मा में कर्मपुद्गलों के निमित्त से कर्तृत्वभाव माना गया है, वैसे ही गीता में भी अकर्त्ता आत्मा में प्रकृति के संयोग से कर्तृत्व का आरोपण हो सकता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो गीता का दृष्टिकोण आचार्य कुन्दकुन्द के दृष्टिकोण के अत्यधिक निकट प्रतीत होता है।

अब हमारे सामने कर्मफल-भोक्तृत्व का प्रश्न उपस्थित होता है। फल का भोक्ता कौन है? आत्मा को कृतकर्मानुरूप फल प्रदान करने वाली शक्ति कोई अन्य (ईश्वर) है अथवा वह स्वयं? इस सन्दर्भ में जो शंकाएं उपस्थित होती हैं उनके सन्दर्भ में यथोचित समाधान निम्नानुसार है—

19.10 आत्मा भोक्ता है

यदि नैतिक जीवन के लिए आत्मा को कर्त्ता मानना आवश्यक है तो उसे भोक्ता भी मानना पड़ेगा। क्यों कि जो कर्मों का कर्त्ता है उसे ही उनके फलों का भोग भी करना चाहिए। जैसे आत्मा का कर्तृत्व कर्मपुद्गलों के निमित्त से सम्भव है, वैसे ही आत्मा का भोक्तृत्व भी कर्मपुद्गलों के निमित्त से ही सम्भव है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व, दोनों ही शरीरयुक्त बद्धात्मा में पाये जाते हैं, मुक्तात्मा या शुद्धात्मा में नहीं। भोक्तृत्व वेदनीय कर्म के कारण ही सम्भव है। जैन दर्शन आत्मा का भोक्तृत्व भी सापेक्ष दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा में स्वीकार करता है।

1. व्यावहारिक दृष्टि से शरीरयुक्त बद्धात्मा भोक्ता है।
2. अशुद्धनिश्चयनय या पर्यायदृष्टि से आत्मा मानसिक अनुभूतियों का वेदक है।
3. परमार्थदृष्टि से आत्मा भोक्ता और वेदक नहीं, मात्र द्रष्टा या साक्षीस्वरूप है।

नैतिक दृष्टि से भोक्तृत्व कर्म और उसके प्रतिफल के संयोग के लिए आवश्यक है। जो कर्त्ता है, वह अनिवार्य रूप से उनके फलों का भोक्ता भी है अन्यथा कर्म और उसके फलभोग में अनिवार्य संबंध सिद्ध नहीं हो सकेगा। ऐसी स्थिति में नैतिकता का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। अतः यह मानना होगा कि आत्मा भोक्ता है, लेकिन आत्मा का भोक्ता होना बद्धात्मा या सशरीर आत्मा के लिए ही समुचित है। मुक्तात्मा भोक्ता नहीं है, वह तो मात्र साक्षीस्वरूप या द्रष्टा होता है। गीता और बौद्ध दर्शन भी सशरीर जीवात्मा में भोक्तृत्व को स्वीकार करते हैं। आत्मा के साथ कर्म का अनादि संबंध प्रवाह रूप से है, व्यक्ति रूप से नहीं, क्योंकि सभी कर्म अवधि-सहित होते हैं। कर्म-पुद्गलों में कोई एक भी ऐसा नहीं जो अनादिकाल से आत्मा के साथ लगा हुआ हो। सबसे उत्कृष्ट स्थिति मोहनीय कर्म की है। वह भी उत्कृष्ट रूप से 70 क्रोड़ाक्रोड़ सागर तक आत्मा के साथ संबंन्धित रह सकता है, उससे अधिक नहीं। इसलिए आत्मा की मुक्ति होने में कोई भी आपत्ति नहीं।

कर्म-बंध सहेतुक है। जब तक कर्म-बंध का कारण विद्यमान रहता है तब तक कर्म बंधता जाता है और अपना फल देने की अवधि पूर्ण होने पर अलग हो जाता है। जब आत्मा कर्म-बंध का द्वार रोक देती

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

है, उस समय कर्म का बंध रुक जाता है और जो कर्म पहले के बंधे हुए होते हैं, वे फल देकर नष्ट हो जाते हैं या उदीरणा से समय से पूर्व फलभोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं। आत्मा की मुक्ति हो जाती है।

प्रश्न—कर्म जड़ हैं। वे यथोचित फल कैसे दे सकते हैं?

उत्तर—यह ठीक है कि कर्म-पुद्गल यह नहीं जानते कि अमुक आत्मा ने यह काम किया है, अतः उसे यह फल दिया जाए। परन्तु आत्म-क्रिया के द्वारा जो शुभाशुभ पुद्गल आकृष्ट होते हैं, उनके संयोग से आत्मा की वैसी ही परिणति हो जाती है, जिससे आत्मा को उसके अनुसार फल मिल जाता है। शराब को नशा करने की ताकत का कब अनुभव होता है और विष ने मारने की बात कब सीखी? फिर भी शराब पीने से नशा होता है और विष खाने से मृत्यु। पथ्य भोजन आरोग्य देना नहीं जानता और दवा रोग मिटाना नहीं जानती, फिर भी पथ्य भोजन से स्वास्थ्य-लाभ होता है और औषधि-सेवन से रोग मिटता है। बाह्य रूप से ग्रहण किए हुए पुद्गलों का जब इतना असर होता है तो आन्तरिक प्रवृत्ति से गृहीत कर्म-पुद्गलों का आत्मा पर असर होने में संदेह कैसा? उचित साधनों के सहयोग से विष और औषधि की शक्ति में परिवर्तन किया जा सकता है, वैसे ही तपस्या आदि साधनों से कर्म की फल देने की शक्ति में भी परिवर्तन किया जा सकता है। अधिक स्थिति के एवं तीव्र फल देने वाले कर्म में भी उनकी स्थिति और फल देने की शक्ति में अपवर्तना के द्वारा न्यूनता की जा सकती है।

प्रश्न—प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है, दुःख नहीं। तो फिर वह पाप का फल स्वयं क्यों भोगेगी?

उत्तर—इस पर इतना कहना काफी होगा कि सुख और दुःख आत्मा के पुण्य-पाप के अनुसार मिलते हैं या चाहने के अनुसार? यदि चाहने के अनुसार मिलें तो कर्म कोई चीज ही नहीं। बस जो कुछ इच्छा की, वही मिल गया। ऐसी हालत में तो बस इच्छा ही सब कुछ है चाहे उसे चिन्तामणि कहें, चाहे कल्पवृक्ष। यदि कर्म कोई वस्तु है तब तो उसके अनुसार ही फल मिलेगा। अच्छे कर्म का अच्छा फल होगा, बुरे कर्म का बुरा। **'बुद्धि कर्मानुसारिणी'**—इस छोटे-से वाक्य से यह विषय और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। जैसा कर्म होता है, वैसी ही बुद्धि हो जाती है। जैसी बुद्धि होती है, वैसा ही काम किया जाता है और जैसा काम किया जाता है, वैसा ही फल मिलता है। अतएव कर्म का फल भोगने में किसी न्यायाधीश की जरूरत नहीं। एक मनुष्य अपने पूर्वकृत कर्मों के बल पर हिंसा करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, व्यभिचार-दुराचार-सेवन करता है। न्यायाधीश का क्या काम बिगड़ता था कि उसे कर्म का फल देने को इन निन्दनीय कार्यों में प्रवृत्त करना पड़ा? न्यायाधीश तो बुरी आदतों को छुड़ाने के लिए कर्म का फल देता है तो फिर हिंसा, चोरी आदि से कर्म-फल भुगताने का तरीका क्यों पसन्द किया गया, उस परम दयालु न्यायाधीश ईश्वर के द्वारा?

जैन-दर्शन के अनुसार यह सृष्टि अनादि और अनंत है। इस सृष्टि का न तो कभी आरंभ ही हुआ और न कभी अंत ही होगा। इस सृष्टि को उत्पन्न करने वाला कोई नहीं है। अन्य दर्शनों के अनुसार संसार सृष्टि है—एक कार्य है, इसलिए उसका कर्त्ता भी अवश्य है और उसी का नाम ईश्वर है। इस तर्क को मान लेने से कई नये प्रश्न उठ खड़े होते हैं। जैसे—यदि प्रत्येक कार्य का संचालक ईश्वर हो तो जीवों को सुख-दुःख देने में ईश्वर के ऊपर पक्षपाती होने का दोष आता है। जो जीव सुखी हैं उन पर ईश्वर का प्रेम है और जो दुःखी हैं उन पर ईश्वर का द्वेष है। ऐसे ईश्वर की आत्मा राग-द्वेष से मलिन है, अतः हम ऐसे ईश्वर को परमात्मा कैसे मानें?

यदि सृष्टि उत्पन्न करने वाली किसी शक्ति को मानें तो उसका कर्त्ता अथवा स्वामी भी किसी को मानना पड़ेगा, और फिर उसका स्वामी। इस तरह एक के बाद एक ऐसे स्वामियों की कतार-सी लग जायेगी जो अनंत तक चली जाएगी, फिर भी स्वामी का अंत नहीं दीखेगा। ईश्वर को कर्त्ता मान लेने से पुरुषार्थ के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। जैसा कर्त्ता को उचित लगी वैसी सृष्टि कर डाली। जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों की कर्त्ता है और वही सुख-दुःख की भोक्ता है। परमात्मा राग-द्वेष-रहित है, उसको संसार से मतलब ही क्या?

प्रश्न होता है—परिस्थिति के अनुसार एक साथ लाखों आदमी मर जाते हैं। जो धर्मिष्ठ हैं वे दुःखी देखे जाते हैं, जो पापी हैं, वे आनन्द करते हैं। अतः इन सबका कारण परिस्थिति ही है, कर्म क्यों?

उत्तर—युद्ध में जो एक साथ लाखों मनुष्य मरते हैं इसका कारण आयुष्य-कर्म की उदीरणा है। उदीरणा का अर्थ निश्चित काल के पश्चात् फल प्रदान करने वाले कर्म को विशेष प्रयत्न के द्वारा उस निश्चित समय से पूर्व फल फलोन्मुख करके भोग लेना। जो-जो आकस्मिक घटनाएं घटती हैं उनमें उदीरणा का मुख्य हाथ है। परिस्थिति एक प्रकार से कर्म का फल है। जिसके जैसे कर्म किए हुए होते हैं उसको वैसी ही अवस्था से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपना जीवन बिताना पड़ता है। परिस्थिति का जो परिवर्तन होता है उसका कारण तो कर्म ही है। एक बड़े घराने में जन्मता है और धूल फांकता हुआ मरता है। एक गरीब घर में जन्मता है और सारे विश्व पर शासन करता है। किसी के जीवन का पूर्वार्द्ध सुखमय है और किसी के जीवन का उत्तरार्द्ध। कोई धनी देश में भी गरीब है और कोई गरीब देश में धन-कुबेर। धन है पर शरीर स्वस्थ नहीं। शरीर स्वस्थ है पर धन नहीं। इन सब परिस्थितियों का परिवर्तन कर्म से ही होता है। इसलिए कर्म ही मुख्य है। कर्म ही परिस्थिति को बदलने वाला है। कर्म का प्रभाव अचूक है। यदि पूर्वजन्म में बुरे कर्म बंधे हैं और वे नियत हैं तो वर्तमान में धर्मपरायण होने पर भी वे अपना फल देगें और यदि अच्छे कर्म बंधे हुए हैं और नियत हैं, तो वर्तमान में पापी होने पर भी वे अपना फल देगें ही। इस प्रसंग में एक बात और जानने की है—कर्म पर भरोसा रखकर पुरुषार्थ को भूल जाने वाली बात जैन-दर्शन ने कभी नहीं सिखाई। जैन-दृष्टि से जैसा कर्म है, वैसा ही पुरुषार्थ (Self-effort)। कर्म की मुख्यता नहीं, पुरुषार्थ (प्रयत्न) का विरोध नहीं, किन्तु दोनों का समन्वय है। आत्म-विकास के लिए इसमें विशाल क्षेत्र है।

कर्मवाद का सिद्धान्त जीवन में आशा, उत्साह और स्फूर्ति का संचार करता है। उस पर पूर्ण विश्वास होने के बाद निराशा, अनुत्साह और आलस्य तो रह ही नहीं सकते। सुख-दु:ख के झोंके आत्मा को विचलित नहीं कर सकते। कर्म ही आत्मा को जन्म-मरण के चक्र में घुमाता है। हमारी वर्तमान अवस्था हमारे ही कर्मों का फल है। मनुष्य जो कुछ पाता है वह उसी की बोयी हुई खेती है।

"हम अपने विचारों और वासनाओं के अनुरूप भाग्य-निर्माण करते हैं। आज हम जो कुछ हैं वह हमारे ही पूर्वजन्मों का फल है। हमारी वर्तमान अवस्था के लिए ईश्वर जिम्मेवार नहीं। हम स्वयं अपनी इस अवस्था के लिए जिम्मेवार हैं—यदि इस तथ्य को, आत्मा के इस गुप्त रहस्य को—अच्छी तरह समझ लें तो अपने भविष्य का ऐसा सुन्दर निर्माण कर सकते हैं कि हमारा पतन तो रुक जाएगा और क्रमश: ऊंचे-ऊंचे उठते जाएंगे जब तक कि जीवन के लक्ष्य को प्राप्त न कर लें।"

आत्मा किसी रहस्यमय शक्तिशाली व्यक्ति की शक्ति और इच्छा के अधीन नहीं है। उसे अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए शक्तिशाली सत्ता (ईश्वर) का दरवाजा खटखटाने की जरूरत नहीं है। आत्म-उत्थान के लिए या पापों का नाश करने के लिए हमें किसी भी शक्ति के आगे न तो दया की भीख मांगने की जरूरत है और न उसके सामने रोने-गिड़गिड़ाने या मस्तक झुकाने की। कर्मवाद हमें बताता है कि संसार की सभी आत्माएं एक समान हैं, सभी में एक-सी शक्तियां विद्यमान हैं। चेतन जगत् में जो भेदभाव दिखाई पड़ता है उसका कारण इन आत्मिक शक्तियों का न्यूनाधिक विकास ही है।

19.11 सारांश

कर्मवाद के अनुसार विकास की सर्वोच्च सीमा को प्राप्त व्यक्ति ही ईश्वर है, परमात्मा है। हमारी शक्तियां कर्मों से आवृत हैं, अविकसित हैं, परन्तु आत्म-बल के द्वारा कर्म का प्रभाव दूर हो सकता है और इन शक्तियों का विकास किया जा सकता है। विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुंचकर हम परमात्मस्वरूप को भी प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक आत्मा प्रयत्न-विशेष से परमात्मा बन सकती है। इस प्रकार इस अध्याय में हमने यह जाना कि कर्म का ग्रहण, भोग और उससे मुक्ति तीनों आत्मा के अधीन हैं।

19.12 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. आत्मा कर्म का कर्त्ता है तुलनात्मक दृष्टि से विचार करें।
2. कर्मफल प्राप्ति के लिए ईश्वर की आवश्यकता है अथवा नहीं? सयुक्तिक उत्तर दें।
3. कर्मबंधन से आत्मा कैसे मुक्त हो सकता है।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कर्म की कर्त्ता आत्मा नहीं—इस बौद्ध दृष्टि को स्पष्ट करें।
2. आचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार कर्म का कर्त्ता कर्म है—इसे समझाइये।
3. ईश्वर को फलप्रदाता मानने से कौनसी आपत्तियां आती हैं?
4. कर्मफल जड़ हैं फिर भी फल देते हैं—इसे सोदाहरण स्पष्ट करें।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

(क) रिक्त स्थानों की पूर्ति करें:

1. आगमकार की भाषा में कर्म की कर्त्ता .... है।
2. आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में कर्म का कर्त्ता .... है।
3. कर्म की अवस्थाएं होती हैं— .... ।
4. कर्म की दीर्घकालीन या प्रगाढ़ बंध .... होने पर ही होता है।
5. .... ये सब कषाय की उपजीवी उर्मियां हैं।

(ख) एक शब्द में उत्तर दें:

1. कषाय चेतना पर पहला प्रहार कब होता है?
2. कर्मबंधन का मूल हेतु क्या है?
3. उदीरणा किसे कहते हैं?
4. व्यावहार दृष्टि से कौनसी आत्मा भोक्ता है?
5. गीता में किस आत्मा को अकर्त्ता माना है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर्ग–5 : कर्म और पुनर्जन्म

इकाई–5 : कर्मवाद और आध्यात्मिक साधना

संरचना

20.0 प्रस्तावना
20.1 उद्देश्य
20.2 कर्मशास्त्र और अध्यात्म
20.3 आचरण और कर्मशास्त्र
20.4 कर्म-बंध के दो स्थान-राग और द्वेष
20.5 कर्म पर चेताना का अंकुश
20.6 जागरण-आत्मा तक पहुंच
20.7 अतीत और भविष्य
20.8 ध्यान द्वारा परिवर्तन
20.9 कर्म बंध के मूल कारण
20.10 कषायों का वर्गीकरण
20.11 कषायों का तारतम्य
20.12 अन्तरंग साधना द्वारा कषाय-विजय
20.13 वैज्ञानिक दृष्टिकोण ओर साधना
20.14 सारांश
20.15 अभ्यास प्रश्नावली

20.0 प्रस्तावना

जैन कर्म-मीमांसा की मूलभूत अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों के प्राथमिक ज्ञान के पश्चात् अब आपको यह जानना होगा कि आध्यात्मिक साधना में कर्मवाद कहां तक उपयोगी है। ध्यान-साधना आदि का पुरुषार्थ किस प्रकार नए कर्मों के बन्धन से आत्मा को बचाता है तथा बद्ध कर्मों के विलय में सशक्त रूप में साधनभूत बनता है, आदि विषय साधना की सार्थकता की दृष्टि से जानना बहुत जरूरी है; साथ ही कर्मवाद के अन्तर्गत परिवर्तन की संभावनाओं को किस प्रकार व्यवहार में लाया जाय—इस का विवेचन भी अपेक्षित है।

20.1 उद्देश्य–अस्तु, इस महत्त्वपूर्ण विषय की मीमांसा निश्चित रूप में आपको कर्मवाद के मर्मज्ञ बनाने में सहयोगी होंगी।

20.2 कर्मशास्त्र और अध्यात्म

ज्ञान और अध्यात्म दो हैं। दोनों जरूरी हैं। ज्ञान के बिना अध्यात्म का ग्रहण नहीं किया जा सकता और अध्यात्म में उतरे बिना ज्ञान की शुद्धता नहीं हो सकती, ज्ञान का प्रस्फुटन नहीं हो सकता। ज्ञान अध्यात्म को बढ़ाता और अध्यात्म ज्ञान को नये-नये उन्मेष देता है। पश्चिम के दार्शनिकों ने मन का काफी गम्भीर अध्ययन प्रस्तुत किया है। उन्होंने मन के विषय में अनेक खोजें की हैं, मन का पूरा विश्लेषण किया है। मनोविज्ञान की एक पूरी शाखा विकसित हो गयी। प्रश्न होता है कि भारत के सत्य-वेत्ताओं ने क्या मानसशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था? इस प्रश्न के उत्तर में हम दो शाखाओं—योगशास्त्र और कर्मशास्त्र—पर ध्यान दें।

योगशास्त्र साधना की व्यवस्थित पद्धति है। इसके अन्तर्गत मन का पूरा विश्लेषण, मन की सूक्ष्मतम प्रक्रियाओं का अध्ययन और उसके व्यवहार का बोध आता है।

20.3 आचरण और कर्मशास्त्र

कर्मशास्त्र चेतना की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है। जिसमें मन का अध्ययन स्वतः समाहित है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मानसशास्त्र को ठीक व्याख्यायित नहीं कर सकते तथा मानसशास्त्र में जो आज अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं उन्हें समाहित नहीं कर सकते और न अध्ययन की गहराइयों में जा सकते।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्मशास्त्र के गंभीर अध्ययन का मतलब है—अध्यात्म की गहराइयों में जाने का एक गहरा प्रयत्न। जो केवल अध्यात्म का अनुशीलन करना चाहते हैं किन्तु कर्मशास्त्र पर ध्यान देना नहीं चाहते, वे न अध्यात्म की गहराइयों को ही समझ सकते हैं और न वहां तक पहुंच ही सकते हैं। इसलिए कर्मशास्त्र और योगशास्त्र तथा वर्तमान मानसशास्त्र—तीनों का समन्वित अध्ययन होने पर हम अध्यात्म के सही रूप को समझ सकते हैं और उसका उचित मूल्यांकन कर सकते हैं।

अध्यात्म को समझने के लिए कर्मशास्त्र को समझना आवश्यक है। यह इसलिए आवश्यक है कि कर्मशास्त्र में हमारे आचरणों की कार्य-कारणात्मक मीमांसा है। हम जो भी आचरण करते हैं, उसके दो कारण होते हैं। एक है बाहरी कारण और दूसरा है भीतरी कारण।

जो आन्तरिक आचरण है, आन्तरिक घटना है, उसके कारण की खोज आन्तरिकता में जाकर कर सकते हैं। हमारे जितने भी आचरण हैं; हम जो भी प्रवृत्ति करते हैं, एक अंगुली हिलाने से लेकर बड़ी-से-बड़ी प्रवृत्ति या आचरण करते हैं, उस आचरण का मूल स्रोत क्या है? कारण क्या है? हम अंगुली क्यों हिलाते हैं? हम क्यों बोलते हैं? हम दूसरों के साथ अच्छा या बुरा व्यवहार क्यों करते हैं? हम गुस्सा क्यों करते हैं? प्रेम क्यों करते हैं? जो भी आचरण हैं, उनका मूल स्रोत क्या है? मूल कारण क्या है? इस प्रश्न की खोज में कर्मशास्त्र की दिशा का अनावरण हुआ।

20.4 कर्म-बंध के दो स्थान—राग और द्वेष

महावीर ने पूछा—'भंते! कर्म का सम्बन्ध कितने स्थानों से होता है?

महावीर ने कहा—'दो स्थानों से कर्म का सम्बन्ध होता है। एक स्थान है राग का और दूसरा स्थान है द्वेष का। यह राग और द्वेष से स्थापित होने वाला सम्बन्ध है। कोरे ज्ञान से कोई सम्बन्ध नहीं होता, वासना से कोई सम्बन्ध नहीं होता, संस्कार से कोई सम्बन्ध नहीं होता, स्मृति से कोई सम्बन्ध नहीं होता। जब इनकी पृष्ठभूमि में राग नहीं होता, द्वेष नहीं होता तो कर्म का सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता चला जायेगा, जानने की हमारी क्षमता बढ़ती चली जाएगी; तब भी कर्म का कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा। कर्म का सम्बन्ध होगा राग से। कर्म का संबंध होगा द्वेष से।

दो प्रकार की अनुभूतियां हैं। एक है प्रीत्यात्मक अनुभूति और दूसरी है अप्रीत्यात्मक अनुभूति। प्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को राग कहते हैं और अप्रीत्यात्मक अनुभूति या संवेदना को द्वेष कहते हैं। प्रीति और अप्रीति—इनके अतिरिक्त तीसरी कोई संवेदना नहीं होती। सारी अनुभूतियां, सारी संवेदनाएं—इन दो अनुभूतियों, इन दो संवेदनाओं में समा जाती है। क्रोध, मान, माया और लोभ—यह इन्हीं का विस्तार है। भय, शोक, घृणा, हास्य, वासना (काम-वासना)—ये सारे इन्हीं दो अनुभूतियों के विस्तार हैं, प्रपंच है, किन्तु स्वतन्त्र अनुभूतियां नहीं हैं। सारी अनुभूतियां इन दो में समा जाती हैं।

जैन आचार्यों ने क्रोध और अभिमान को द्वेषात्मक अनुभूति और माया तथा लोभ को रागात्मक अनुभूति माना है। राग और द्वेष—यह सामान्य वर्गीकरण है। जब विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया, नयों की दृष्टियों से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण का विस्तार हुआ। संग्रह नय की दृष्टि से दो वृत्तियां हैं, दो ही अनुभूतियां हैं—एक है रागात्मक, दूसरी है द्वेषात्मक। व्यवहार नय और ऋजुसूत्र नय की दृष्टि से विचार किया गया तो इस वर्गीकरण में परिवर्तन आ गया। यह फलित हुआ कि अभिमान द्वेषात्मक है। क्यों कि अभिमान जो है वह दूसरे के गुणों के प्रति असहिष्णुता का प्रतीक है। व्यक्ति दूसरे को सहन नहीं कर पाता इसलिए अभिमान पैदा होता है। यह द्वेष है, अप्रीत्यात्मक संवेदना है। परन्तु एक प्रश्न होता है, क्या मान प्रीत्यात्मक नहीं होता? मान प्रीत्यात्मक भी हो सकता है। दूसरे की हीनता के प्रदर्शन में वह अप्रीत्यात्मक होता है और अपने उत्कर्ष की अनुभूति में वह प्रीत्यात्मक होता है।

माया को रागात्मक माना गया है। माया-काल में चेतना की जो अनुभूति होती है वह प्रिय लगती है कि मैंने बहुत समझदारी का काम किया कि वह परास्त हो गया, प्रताड़ित हो गया। उस समय सुखद अनुभव होता है, प्रीति का अनुभव होता है। माया प्रीत्यात्मक होती है। यह एक बात है।

माया वंचनात्मक चेतना है। यह दूसरे को ठगने का काम करती है। यह परोपघात है। जो परोपघात होगा वह निश्चित ही अप्रीत्यात्मक होगा, द्वेषात्मक होगा। इस प्रकार माया की अनुभूति केवल प्रीत्यात्मक या रागात्मक ही नहीं है, वह अप्रीत्यात्मक या द्वेषात्मक भी है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इसी प्रकार लोभ प्रीत्यात्मक तो है ही, क्योंकि वह एक आसक्ति है, कुछ लेने की भावना है, अपने लिए अर्जित करने की भावना है। बड़ी प्रियता है उसमें। किन्तु जब दूसरे के स्व को हड़पने के लिए चेतना काम करती है, दूसरे के अधिकारों को छीनने की भावना होती है, दूसरे के अधिकार में आये हुए पदार्थ को छीनने की इच्छा होती है, तब लोभ अप्रीत्यात्मक बन जाता है, परोपघात बन जाता है।

माया, मान और लोभ—ये तीनों प्रीत्यात्मक भी होते हैं और अप्रीत्यात्मक भी होते हैं। क्रोध ही एक ऐसा है जो कोरा अप्रीत्यात्मक होता है। उसका संबंध है द्वेष से, अप्रीति से। प्रीति से उसका संबंध नहीं जुड़ता। राग से उसका संबंध नहीं जुड़ता।

इस प्रकार हमारी सारी अनुभूतियां, हमारी सारी संवेदनाएं प्रीत्यात्मक या अप्रीत्यात्मक—इन दो चेतनाओं में समाहित हो जाती हैं।

इन सारी अनुभूतियों या संवदेनाओं का कारण है—रागात्मक चेतना और द्वेषात्मक चेतना। ये ही उन कर्म-पुद्गलों को आकृष्ट करते हैं। यह उलझन है कि क्या आत्मा में राग-द्वेष है, इसलिए कर्म-पुद्गल आ रहे हैं या कर्म आ रहे हैं, इसलिए राग-द्वेष चल रहा है। राग-द्वेष के आधार पर कर्म का प्रवेश और कर्म के आधार पर राग-द्वेष का जीवित रहना, चिरजीवी होना—यह एक वलय है। राग-द्वेष के चिर-जीवन का कारण है कर्म और कर्म के प्रवेश का कारण है—राग-द्वेष। यह एक पूरा चक्र है। यह निरन्तर गतिमान् है, कहीं टूटता नहीं। राग-द्वेष से कर्म और कर्म से राग-द्वेष चलता रहता है।

यह एक वृत्त है। इसमें सारी स्थितियां पलती जा रही हैं। यही वृत्त हमारे सभी आचरणों का आधार बनता है। यह स्थिति तब तक चलती रहती है, जब तक हम संज्ञातीत चेतना तक नहीं चले जाते, जब तक हमारी चेतना वीतराग नहीं बन जाती। जब तक वीतराग-चेतना प्राप्त नहीं होती, संज्ञातीत चेतना उपलब्ध नहीं होती, तक तब संज्ञा की चेतना, राग-द्वेष की चेतना चलती रहती है। यह चक्र निरन्तर गतिशील रहता है। हमारे सारे आचरण उससे प्रभावित रहते हैं।

हम किसी भी घटना या मानवीय आचरण की केवल परिस्थिति, हेतु या निमित्त के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। केवल शारीरिक या रासायनिक परिवर्तनों के आधार पर व्याख्या नहीं कर सकते। उनकी व्याख्या के लिए हमें अतीत को देखना होता है। दूसरे शब्दों में, कर्म के विपाक की व्याख्या करने के लिए, हमें कर्म के बीज को देखना होगा। हमें देखना होगा कि इस विपाक या परिणाम का बीज कहां है और क्या है? उसके बिना उसकी पूरी व्याख्या नहीं की जा सकती। कभी-कभी हमें लगता है कि यह आकस्मिक हो गया। किन्तु कुछ भी आकस्मिक नहीं होता। उसके पीछे एक हेतु होता है, एक कारण होता है। छिपा हुआ जो बीज है, वह कारण है। कारण को हम जब तक ठीक नहीं समझ लेते, तब तक उस आचरण का ठीक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकते।

जब-जब मनुष्य राग-द्वेष के भाव में जाता है, उस समय राग-द्वेष से जुड़ा हुआ चित्त चैतसिक कर्म बन जाता है और जब-जब मनुष्य चैतसिक कर्म में होता है, उस समय कुछ परमाणुओं का संग्रहण होता है। कुछ परमाणु हमारे साथ जुड़ जाते हैं, हमारे सूक्ष्मतर शरीर के साथ जुड़ जाते हैं। वे पौद्गलिक या पारिमाणिक कर्म बन जाते हैं। हम इन दोनों प्रकार के कर्मों से जुड़े हुए हैं।

इस स्थिति में एक नियम बन गया कि जहां चैतसिक कर्म है, राग-द्वेष-युक्त चैतन्य है, वहां परमाणुओं का संग्रहण होगा। वे कर्म परमाणु उस राग-द्वेष के अनुरूप ही अपना परिणाम प्रकट करेंगे।

इस संबध-सूत्र की खोज में कर्म तक पहुंचा गया। कर्म के तीन प्रकार हैं—चित्त का कर्म, घटना का कर्म और परमाणु का कर्म। चित्त की तीन अवस्थाएं होती हैं—तीव्र, मध्यम और मन्द। चित्त में राग-द्वेष तीव्र होता है, मध्यम होता है और मंद होता है। एक आदमी अत्यन्त तीव्र आसक्ति से प्रवृत्ति करता है। वह उसके चित्त की तीव्र अवस्था है। एक आदमी जीवन-यापन के लिए नानाविध प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होता है। न उसमें तीव्र आसक्ति है और न राग-द्वेष। वह केवल जीवन चलाने के लिए प्रवृत्ति करता है। वह उसके चित्त की मंद अवस्था है। एक आदमी प्रवृत्ति करता है और कभी-कभी उसकी सराहना भी कर देता है। उसकी प्रवृत्ति में कुछ आसक्ति रहती है और कुछ अनासक्ति। वह उसके चित्त की मध्यम अवस्था है।

जब मन्द चित्त से कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है, वह अल्प और अल्पविपाकी होता है। वे कर्म परमाणु अल्प शक्ति वाले होते हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जब तीव्र चित्त से कर्म परमाणुओं का आकर्षण होता है, तब वह आकर्षण सघन और बहु-विपाकी होता है। उनका संश्लेष गाढ़ होता है और वे तीव्र विस्फोट करने में समर्थ होते हैं।

20.5 कर्म पर चेतना का अंकुश

हम जब साधना की दृष्टि से कर्म-शास्त्र पर विचार करते हैं तब हमें इन बातों को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए—

पहली बात—कर्म पर भी अंकुश है। वह कोई निरंकुश सत्ता नहीं है। उस पर सबसे पहला अंकुश यह है कि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व है। यदि आत्मा के चैतन्य स्वभाव का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं होता तो फिर कर्म सब कुछ हो जाता। किन्तु आत्मा का स्वतंत्र स्वभाव है और वह चैतन्य कभी भी अपने स्वभाव को तोड़ने नहीं देता, नष्ट होने नहीं देता। इसलिए कर्म आत्मा पर एकाधिकार नहीं जमा सकता। जब आत्मा के चैतन्य स्वभाव का जागरण होता है तब कर्म की सत्ता डगमगा जाती है। कितना ही गहरा अधंकार हो, एक छोटी-सी प्रकाश की रेखा आती है, तब वह समाप्त हो जाता है। जब तक चैतन्य का जागरण नहीं होता, तब तक ही कर्म टिकता है। जैसे ही चेतना जागी, कर्म अपने आप समाप्त होने लग जाता है।

दूसरी बात—परिवर्तन का सिद्धान्त। विश्व में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है जो परितर्वनशील न हो। जो नित्य है वह अनित्य भी है और जो अनित्य है वह नित्य भी है। सब परिवर्तनशील हैं। भगवान् महावीर ने कर्म-शास्त्र के विषय में कुछ ऐसी नयी धारणाएं दीं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं या अप्राप्य हैं। उन्होंने कहा—कर्म को बदला जा सकता है। वैज्ञानिकों में एक शताब्दी तक ये धारणाएं चलती रहीं कि लोहा, तांबा, सोना, पारा ये—सारे मूल तत्त्व हैं, इनको एक-दूसरे में बदला जा सकता है। उन्होंने मूल तत्त्व सौ माने। किन्तु बाद में खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि ये सब मूल तत्त्व नहीं हैं। उनको एक-दूसरे में बदला जा सकता है। हजारों वर्ष पहले यह निश्चित मान्यता थी कि पारे से सोना बनाया जा सकता है, पारे को सोने में बदला जा सकता है। आज का विज्ञान भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचा है कि पारे से सोना बनाया जा सकता है। प्राचीन रसायन-शास्त्रियों ने पारे से सोना बनाने की अनेक विधियों का उल्लेख किया। जैन-ग्रन्थों में भी उनका यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त है।

महावीर ने कहा—तुम्हारी साधना प्रबल हो, तुम्हारी समता मजबूत हो तो पुराने बंधे हुए कर्मों का कितना ही उपचय हो, वह टूटने लग जाता है। पारा सोना बन गया। नये पाप कर्म तीव्र नहीं बंधेंगे, यह तो एक बात हो गई। जो पुराना संचय है, जो असत् है वह सत् में बदल जाता है, अशुभ शुभ में बदल जाता है, पाप पुण्य में बदल जाता है। कर्मों की उदीरणा की जा सकती है। कर्म कब उदय में आएगा? कर्म का भंडार कब खाली होगा? यह अनन्तकाल की बात हो जाती है। किन्तु महावीर ने कहा—अपने परिणामों की ऐसी श्रेणी निर्मित करो जिसमें न राग हो और न द्वेष हो। कर्मों की उदीरणा करो, बंधे हुए कर्मों को खींचो और तोड़ते जाओ। विपाक की प्रतीक्षा मत करो। पहले ही उन्हें समाप्त करते जाओ। यह परिवर्तन का सिद्धान्त कर्म पर बहुत बड़ा अंकुश है।

तीसरी बात—विपाक की सापेक्षता। कोई भी विपाक निरपेक्ष नहीं होता। वह देश, काल, भाव, पुद्गल, पुद्गल-परिणाम—इन सबके माध्यम से होता है। साधना के द्वारा हम निमित्तों को दूर करें, जो विकास में बाधक बनते हैं। हम ऐसे निमित्तों को विकसित करें, जो कर्म के विपाक को दूर कर सकें। विपाक निमित्तों से होता है। यह विपाक की सापेक्षता कर्म पर अंकुश है।

20.6 जागरण—आत्मा तक पहुंच

कर्म की सार्वभौम सत्ता नहीं है। सीमित ही उसकी सत्ता है और सीमित ही उसका प्रभाव है। प्रत्येक घटना कर्म से ही घटित नहीं होती। साधना का मूल सूत्र यही है कि कर्म सब कुछ नहीं है। साधना का मूल प्रयोजन है कि आत्मा अपने 'स्वरूप' में आ जाए, जागरण की एक चिनगारी भी मिल जाए। फिर साधक आत्मा को पूर्ण अनावृत करने में सक्षम हो सकता है।

ध्यान (प्रेक्षा) से चेतना का जागरण होता है। साधक इसके द्वारा मूल स्रोत—आत्मा, परमात्मा—तक पहुंचने में समर्थ हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ध्यान का प्रयोजन है उस अदृश्य तक पहुंचना। वह है चेतना का सूक्ष्म स्तर। यह अन्तिम सच्चाई है। शरीर के साथ काम करने वाली चेतना स्थूल होती है। इस चेतना को पार कर जब हम भीतर में जाते हैं, तब विद्युत्-शरीर के साथ सम्पर्क होता है। यह सूक्ष्म शरीर है जिसके द्वारा हमारा स्थूल शरीर संचालित होता है। उसको पार कर जब हम और गहरे में जाते हैं, तब हमारा संपर्क होता है सूक्ष्मतर शरीर से। वह है कर्म-शरीर। यह चेतना हमारे आचार, व्यवहार और विचार का संचालन करती है। ध्यान का प्रयोजन है कर्म-शरीर के साथ काम करने वाली चेतना तक पहुंच जाना और उन कर्म परमाणुओं को समझ लेना जो हमारी घटनाओं के लिए जिम्मेदार हैं। उनको समझ लेना ही पर्याप्त नहीं है, उनका क्षय करना भी जरूरी है।

ध्यान का प्रयोजन केवल गहरी नींद का आ जाना, रक्तचाप का संतुलन हो जाना, मधुमेह की बीमारी का मिट जाना या मानसिक तनाव का कम हो जाना नहीं है। ध्यान का मूल प्रयोजन है—इन सबको पैदा करने वाले कारणों को समाप्त कर देना। अर्थात् कर्म का शोधन करना, संस्कारों का क्षय करना। जब इन बिन्दु तक पहंच जाते हैं, तब ध्यान की सार्थकता स्पष्ट प्रतीत होने लग जाती है।

ध्यान का प्रयोजन है स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना। सूक्ष्म सत्यों और नियमों की खोज हमारे ज्ञान का संवर्धन करती है और उससे आदमी का आचरण और व्यवहार भी बदलता है। ध्यान नियमों को जानने का महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। नियमों को जानने का जिन लोगों ने प्रयत्न किया है, उन्होंने सूक्ष्मता का आलंबन लिया है, फिर चाहे वे नियम विज्ञान के हों या अध्यात्म के हों या अन्य किसी के। नियमों की जानकारी चैतसिक विकास के द्वारा भी की जा सकती है और सूक्ष्म यंत्रों के द्वारा भी की जा सकती है।

कर्म का सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म है। उसके नियमों को समझने में बहुत कठिनाई होती है। स्थूल बुद्धि से वे नियम समझ में नहीं आ सकते। आज के आनुवंशिकता के सिद्धान्त ने कर्म-सिद्धान्त को समझने में सुविधा दी है और प्रवेश द्वार खोला है। 'जीन' आनुवंशिक गुणों के संवाहक होते हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में जो भेद दिखाई देता है, वह जीन के द्वारा किया हुआ भेद है। प्रत्येक विशिष्ट गुण के लिए विशिष्ट प्रकार का जीन होता है। ये आनुवंशिकता के नियम कर्मवाद के संवादी नियम हैं। कर्मवाद इनसे एक चरण और आगे है। कर्म-परमाणु का संवहन करते हैं। व्यक्तिगत भेद का मूल कारण है कर्म। कम्मओणं विभत्तिभावं जणयई—सारे विभेद कर्मकृत होते हैं। प्रत्येक जैविक विशेषता के लिए विशेष कर्म उत्तरदायी होता है। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो आनुवंशिकता, जीन और रासायनिक परिवर्तन—ये तीनों सिद्धान्त कर्म के ही सिद्धान्त हैं। जीन हमारे स्थूल शरीर का अवयव है और कर्म हमारे सूक्ष्मतर शरीर का एक अवयव है। दोनों शरीर से जुड़े हुए हैं—एक स्थूल से और दूसरा सूक्ष्मतर शरीर से। यह सूक्ष्मतर शरीर कर्मशरीर है। जैसे विज्ञान की निरन्तर नयी-नयी खोजें होती हैं, एक दिन यह तथ्य भी अनुसंधान में आ जाएगा कि जीन केवल माता-पिता के गुणों या संस्कारों का ही संवहन नहीं करते, किन्तु ये हमारे किए हुए कर्मों का भी प्रतिनिधित्व करते हैं। ये जीन कर्म से भी जुड़े हुए हैं।

20.7 अतीत और भविष्य

कर्म एक नियति है, नियम है। कर्म के द्वारा अतीत को पढ़ा जा सकता है और भविष्य को समझा जा सकता है।

कर्म के दो विभाग हो जाते हैं। एक है पौद्गलिक या पारमाणुविक कर्म और दूसरा है चैतसिक कर्म। पारिभाषिक शब्दावली में एक है द्रव्यकर्म और दूसरा है भावकर्म। कर्म-परमाणुओं का संग्रहण और संश्लेषण होता है भावकर्म के द्वारा। प्राणी का भाव और भाव के द्वारा अर्जित परमाणु—ये दो प्रकार बन जाते हैं। भावों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का कर्म होने वाला है और कर्मों को देखकर जाना जा सकता है कि किस प्रकार का भाव चल रहा है। यह अतीत को जानने और भविष्य को देखने की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी के आधार पर अतीत को पढ़ा गया है और भविष्य को देखा गया है। आज भी यदि कोई व्यक्ति सूक्ष्म दृष्टि से निरीक्षण करे तो वह समझ सकता है कि अमुक व्यक्ति कैसा है। किस प्रकार का इसका व्यवहार है? इसने क्या सोचा था? इसका चिन्तन या भाव कैसा था? इसका आचरण कैसा था? ये सब बातें ज्ञात हो सकती हैं। इसी प्रकार वर्तमान के कर्मों की अवस्थाओं को देखकर यह समझा जा सकता है कि यह व्यक्ति भविष्य में किस प्रकार का चिन्तन, व्यवहार और आचरण करेगा? इस प्रकार अतीत और भविष्य को पकड़ा जा सकता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ध्यान करने वाले यदि यह सोच लें कि अच्छा कर्म किया था, इसलिए ध्यान-साधना में आ गए तो यह भ्रान्ति होगी। कर्म-ध्यान का साधक नहीं, बाधक बन सकता है। कर्म ध्यान में विघ्न उपस्थित कर सकता है। ध्यान करने या कराने में सहयोग देना कर्म का कार्य नहीं है।

हमें चेतना और कर्म की सीमा का पूरा अवबोध करना चाहिए। चैतन्य की अपनी सीमा है और कर्म की अपनी सीमा है। चैतन्य की दो धाराएं हैं। एक है राग-द्वेष की धारा और दूसरी है निर्मल चैतन्य की धारा। जहां राग-द्वेष की धारा है, वहां उसके साथ कर्म का सम्बन्ध खोजा जा सकता है। जहां निर्मल चेतना की धारा है, वहां कर्म का कोई सम्बन्ध नहीं होता।

ध्यान करने का प्रयोजन है—वर्तमान क्षण का अनुभव करना। वर्तमान क्षण का अनुभव राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव है। जब हम राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव करते हैं उस समय कर्म का योग नहीं होता, कर्म का बंध नहीं होता। उस समय हम कर्म से अतीत रहते हैं, उस समय केवल द्रष्टाभाव, ज्ञाताभाव बना रहता है। जहां केवल जानना, केवल देखना होता है, वहां कर्म का संबंध नहीं होता। यह केवल जानना, केवल देखना कर्म के द्वारा नहीं होता, कर्म से अलग होने पर होता है। यह शुद्ध चेतना का प्रयोग है। इसे दार्शनिक भाषा में पारिणामिक भाव कहा जाता है। यह चेतना का परिणमन है, जिसके साथ कर्म का कोई संबंध नहीं है।

20.8 ध्यान द्वारा परिवर्तन

कर्म कैसे करना चाहिए? यह भी महत्त्वपूर्ण बात है। यहां भी अध्यात्मवाद या कर्मवाद का रहस्य उद्‌घाटित होता है। जिस व्यक्ति ने कर्मवाद को नहीं समझा, उसने अध्यात्म को नहीं समझा। जिसने अध्यात्म को नहीं समझा, उसने कर्मवाद को नहीं समझा। दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। अध्यात्मवाद का रहस्य है कि कर्म राग-द्वेष-रहित भाव से होना चाहिए। राग-द्वेष जितना मंद हो सके, उतना मंद करना चाहिए। उससे जो कर्मबंध होगा वह मंद होगा। कर्म के साथ जुड़ा हुआ है प्रतिकर्म अर्थात् कर्म का बंध। उत्तराध्ययन सूत्र बताता है—

उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलिया मट्टिया मया।
दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सो तत्थ लग्गई॥

मिट्टी के दो गोले हैं। एक है गीला और दूसरा है सूखा। गीली मिट्टी का गोला भींत पर फेंकने से वहां चिपक जाता है और सूखा गोला भींत पर लगकर जमीन पर आ गिरता है। जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की तीव्रता होती है, वहां मिट्टी गीली हो जाती है और वह भींत पर चिपक जाती है। उससे कर्मबंध तीव्र होता है। जिस प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष मंद होता है, वही मिट्टी सूखी होती है। वह भींत पर चिपकती नहीं, उससे कर्मबंध मंद होता है। कर्म-परमाणु आते हैं, आत्म-प्रदेशों का स्पर्श कर झड़ जाते हैं।

यदि ध्यान के द्वारा हमारी प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन न आए, कर्म की धारा न बदले, कर्म कैसे करें —यह सिद्धान्त फलित न हो तो ध्यान करने का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। केवल आंखें मूंदकर बैठ जाना, कुछ क्षणों तक शान्ति या विश्राम का अनुभव कर लेना—इतना ही पर्याप्त नहीं है। ध्यान की निष्पत्ति है—'कर्म कैसे करें' की अनुभूति।

आज उद्योग के क्षेत्र में 'Know How' का सिद्धान्त आ गया है। उसी के आधार पर एक उद्योगपति रोज नये-नये उद्योग स्थापित करता है, जिससे कि पहले के उद्योगों को पोषण मिल सके। कर्म कैसे करें —यह भी अध्यात्मवाद का 'नो हाउ' का सिद्धान्त है। जब तक यह नहीं जाना जाता, तब तक ध्यान करने की भी सार्थकता नहीं होती। ध्यान की सार्थकता तभी होती है, जब हमें यह बोध हो जाता है कि हम प्रवृत्ति करें तो कैसे करें? प्रवृत्ति के साथ राग-द्वेष की धारा अत्यन्त मंद हो। राग-द्वेष रहे ही नहीं, यह तभी सम्भव है, जब व्यक्ति वीतराग बन जाता है। जब तक वह वीतराग नहीं बनता, तब तक राग-द्वेष सर्वथा क्षीण नहीं होता, मंद अवश्य हो सकता है। जब राग-द्वेष मंद होता है, तब कर्म का दोष भी मंद हो जाता है। बहुत सारे लोग इस बात को नहीं जानते।

ध्यान के संदर्भ में हम कर्मवाद की चर्चा कर रहे हैं। एक महत्त्वपूर्ण सूत्र हमारे पास है कि हमारी चेतना सूक्ष्म बने, चित्त और मन की स्थूलता मिटे। मन सूक्ष्म बने, चित्त सूक्ष्म बने, वाक् सूक्ष्म बने और हम सूक्ष्म सत्य के नियमों को पकड़ सकें। उन नियमों के आधार पर हम अतीत को व्याख्यायित कर सकते हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

और भविष्य को जान सकते हैं। वह जान सकता है कि अतीत में मैं क्या था और भविष्य में मरकर क्या होऊंगा? जिस व्यक्ति ने अपने चित्त को पढ़ना प्रारम्भ कर दिया, उसने अपने भावी जीवन को देखना प्रारम्भ कर दिया। वह चैतसिक कर्म अथवा आस्रव को पढ़ना प्रारम्भ कर देता है। अतीत और भविष्य—दोनों के चित्र जब उद्घाटित होते हैं, तब वर्तमान की घटनाओं का अच्छा विश्लेषण किया जा सकता है। उस स्थिति में दूसरों पर दोषारोपण करने की बात समाप्त हो जाती है। फिर व्यक्ति घटना के लिए स्वयं को उत्तरदायी मानने लग जाता है। जब घटना घटित होती है तब वह यह नहीं कहता कि अमुक-अमुक इसके लिए उत्तरदायी हैं, पर वह कहता है, मैं ही इसका उत्तरदायी हूं। दीपक जल रहा है। हवा का झोंका आया। दीपक बुझ गया। तेल भी समाप्त हो चुका था। पर सारा दोष हवा को दिया जाएगा। कहा जाएगा—हवा का झोंका आया और दीपक बुझ गया। यह निमित्त पर दोष देने की बात है। ध्यान के द्वारा जिसकी चेतना जाग जाती है, वह व्यक्ति पहले उपादान को देखता है। यह हमारी चेतना का आध्यात्मिक विकास है। जिस व्यक्ति की आध्यात्मिक चेतना जाग जाती है, वह उपादान की दृष्टि को प्राप्त हो जाता है। वह निमित्त को गौण मानकर देखता है।

ध्यान के साथ बदलने की बात जुड़ी हुई है। यदि ध्यान और धर्म की आराधना के द्वारा परिवर्तन घटित न हो, व्यक्ति न बदले तब वह ध्यान और धर्म की आराधना मात्र एक मनोरंजन बन जाती है। बदलना व्यक्तित्व-निर्माण की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यक्तित्व के निर्माण का अर्थ है जो अवांछनीय तत्त्व हैं, वे जीवन से निकल जायें और जो वांछनीय तत्त्व हैं, जीवन में आएं। यह है जीवन का निर्माण।

कर्मवाद की जो आन्तरिक धाराएं हैं, उनके अनुसार ही स्थूल शरीर के सभी अवयवों का निर्माण होता है। यह स्थूल शरीर, कर्म शरीर (सूक्ष्मतम शरीर) का संवादी शरीर है। जितनी प्रवृत्तियां, जितने प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होते हैं, उतने ही अंग, प्रत्यंग, अवयव इस स्थूल शरीर में बन जाते हैं। यह बिलकुल संवादी है। जो भाव जन्म लेते हैं, वे सारे कर्म के द्वारा संचालित हैं और वे नये कर्म का पुनः निर्माण करते हैं। यह एक वर्तुल है। कर्म के द्वारा निषेधक भावों का उत्पन्न होना और इन निषेधक भावों के द्वारा फिर कर्म का आगमन होना—यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। जब तक यह चक्र नहीं तोड़ा जाता, चक्रव्यूह को नहीं भेदा जाता, तब तक समस्या का समाधान नहीं हो सकता। समस्या को समाहित करने के लिए इस चक्र का भेदन अत्यावश्यक है और इस भेदन में ध्यान का बहुत महत्त्व है। यह एक उपाय है, जिसके द्वारा परिवर्तन घटित हो सकता है। ध्यान का अर्थ ही है—भावों का परिवर्तन। ध्यान का अर्थ ही है—भावों का बदल जाना। भावों का परिवर्तन होता है तो चक्रव्यूह अपने-आप टूट जाता है। भय, क्रोध, ईर्ष्या, अहंकार, कामवासना—ये सारे भाव हैं। इन भावों को बदलकर समस्या का समाधान निकालना है।

20.8.1 प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा

परन्तु प्रश्न होता है कि भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है? एक व्यक्ति, कारण हो या नहीं, बहुत डरता है। उसके मन में दिन-रात भय की कल्पनाएं उठती रहती हैं। अब इस अवस्था को कैसे बदलें?

दो प्रयोग हैं। एक है ध्यान (प्रेक्षा) का प्रयोग और दूसरा है अनुप्रेक्षा (चिन्तन) का प्रयोग। एकाग्रता का अभ्यास करना, एक आलंबन पर एकाग्र होना ध्यान है, पर यह परम ध्यान नहीं है, पर्याप्त नहीं है। एकाग्रता बहुत बुरी भी हो सकती है। क्या एक निशानेबाज कम एकाग्र होता है? क्या गोली दागने वाला कम एकाग्र होता है? क्या बगुला कम एकाग्र होता है? सब एकाग्र होते हैं। परम सिद्धि है—एकाग्रता के उपयोग का विवेक। ध्यान से ऊर्जा बढ़ती है, शक्ति बढ़ती है। ऊर्जा या शक्ति का बढ़ना ही श्रेयस्कर नहीं है। ऊर्जा और शक्ति के बढ़ने से क्रोध आदि आवेग भी बढ़ सकते हैं। इसलिए यदि ऊर्जा या शक्ति का समुचित उपयोग नहीं होता है तो वे खतरनाक भी बन जाते हैं। एकाग्रता एक शक्ति है, ऊर्जा है। ध्यान का अर्थ है—उसका कब, कहां, कैसे उपयोग करना। जो व्यक्ति ऊर्जा के उपयोग की बात नहीं जानता और केवल ऊर्जा बढ़ा लेता है, वह समस्याएं पैदा करता है, अनेक कठिनाइयों को जन्म देता है। जहां ऊर्जा के उपयोग का प्रश्न आता है, वहां अनुप्रेक्षा की बात आ जाती है।

अनुप्रेक्षा का सूत्र है—चिन्तन, मनन और स्वाध्याय। जो शक्ति बढ़ गई, उसका उपयोग कहां करें, कैसे करें, इसमें अनुप्रेक्षा बहुत सहायक बनती है। जिस व्यक्ति को भय लगता है, वह यदि मैत्री-अनुप्रेक्षा का प्रयोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करता है, वह भयमुक्त हो जाता है। भय और मैत्री—दोनों साथ नहीं रह सकते। दोनों विरोधी हैं। मित्र से डर नहीं लगता। डर लगता है शत्रु से। जिस किसी के प्रति शत्रुता का भाव हो गया, जिस किसी के प्रति यह भाव बन गया कि यह हानि पहुंचाएगा तो उससे भय लगता है, उससे खतरे की सम्भावना बनी रहती है। जिससे खतरे की अनुभूति होती है, जिससे हानि की अनुभूति होती है, उससे डर लगता है। जिससे खतरे की अनुभूति नहीं होती, हानि की अनुभूति नहीं होती, उससे कभी डर नहीं लगता। जहां लाभ की बात आती है, वहां डर नहीं लगता। सब लाभ की ओर जाते हैं। क्योंकि वह अभय का स्थान है। हानि भय का स्थान है। जिस व्यक्ति ने मैत्री भावना का विकास किया है, जिसने मैत्री-अनुप्रेक्षा की है, उसने अपने भाव-परिवर्तन के द्वारा भय के व्यूह को छिन्न-भिन्न कर डाला। यह है जाति का परिवर्तन, शक्ति का परिवर्तन। कर्म का परिणाम है भय। उसको अभय में बदल दिया। यह जात्यन्तर हो गया। जात्यन्तर की प्रक्रिया का नाम है—अनुप्रेक्षा।

प्रेक्षा ध्यान करने वाला जानता है कि अनुप्रेक्षा से पूर्व कायोत्सर्ग करना होता है। वह गहन सघनता, एकाग्रता, निष्ठा और आस्था के साथ निश्चित शब्दावली में पांच-दस मिनट तक सुझाव का प्रयोग करता है। पहले कुछ क्षणों तक उच्चारणपूर्वक, फिर मन-ही-मन, इससे आन्तरिक परिणमन प्रारम्भ हो जाता है। भाव में वह शक्ति है कि वह पदार्थ को भी बदल सकता है, पदार्थ में परिणमन कर सकता है। हमारे आस-पास भय के परमाणु हैं, भीतर भी भय के परमाणु हैं। हमारा प्रत्येक भाव परमाणु से जुड़ा होता है, फिर चाहे वह किसी सीमा में रसायन बन जाए, किसी सीमा में विद्युत् का प्रवाह बन जाए, कुछ भी बन जाए। ये सारे कार्य परमाणुओं से घटित होते हैं। वे परमाणु अनुप्रेक्षा से रूपान्तरित होने लग जाते हैं।

ध्यान (प्रेक्षा) का मुख्य उद्देश्य है—भावात्मक परिवर्तन। भाव का सम्बन्ध कर्मों के साथ है। हमारी आन्तरिक चेतना के साथ वे सब जुड़े हुए हैं। वे भाव विकृतियां और बीमारियां पैदा करते हैं। बीमारियां शारीरिक और मानसिक—दोनों प्रकार की होती है। भावों में परिवर्तन आने पर विकृतियां और बीमारियां मिट जाती हैं। भाव को भाव के द्वारा ही बदला जा सकता है। हीरे को हीरा ही काट सकता है। सजातीय को सजातीय काट सकता है। इसी प्रकार भाव के द्वारा ही भावात्मक परिवर्तन घटित हो सकता है। प्रेक्षा और अनुप्रेक्षा, ये दोनों भाव हैं। हम इनके प्रयोग से विधायक भावों का प्रयोग कर निषेधात्मक भाव को समाप्त कर सकते हैं। इससे कर्म का वलय टूटता है, छिन्न-भिन्न होता है।

हम श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा कर रहे हैं, उसका पूरा अर्थ सबकी समझ में आये या न आये, किन्तु यह निश्चित है कि हम एक प्रक्रिया में से गुजर रहे हैं। और उसके द्वारा मिथ्यात्व आदि चार आश्रवों के चक्रव्यूह को तोड़ने का प्रयास कर रहे हैं। प्रश्न होता है कि अनुप्रेक्षा के अभ्यासकाल में चिन्तन करते हैं, चिन्तन करना, प्रेक्षा में मन को इधर से उधर घुमाना, चंचलता को मिटाने का उपाय कैसे हो सकता है? प्रश्न सही है। हम अनुप्रेक्षा के समय चंचलता को नहीं मिटा रहे हैं, उसके लिए प्रयत्न भी नहीं कर रहे हैं। हम एक प्रकार की चंचलता के सामने दूसरे प्रकार की चंचलता खड़ी कर रहे हैं।

महर्षि पतंजलि ने कहा है—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'। एक पक्ष को तोड़ना है तो दूसरे प्रतिपक्ष को पैदा करो। अशुभ को तोड़ना है तो शुभ को पैदा करो। छोड़ना दोनों को है—शुभ को भी छोड़ना है अशुभ को भी छोड़ना है। पाप को भी छोड़ना है और पुण्य को भी छोड़ना है। किन्तु अशुभ को छोड़ने के लिए शुभ का संकल्प करें। बुरे को छोड़ने के लिए अच्छे का संकल्प करें। बुरी आदत छोड़ने के लिए अच्छी आदतें डालें। अन्यथा बुरी आदत छूटेगी नहीं। एक बार छूट भी जायेगी तो वह पुनः पकड़ लेगी।

अनुकूलता और प्रतिकूलता को सहन करने के लिए तितिक्षा की चेतना जागृत होनी चाहिए। कोई व्यक्ति बड़ी-से-बड़ी स्थिति में है। उसको बड़ी-से-बड़ी उपलब्धि है। सारे अनुकूल संयोग है। अकस्मात् सब छिन जाते हैं। सत्ता छिन जाती है, अधिकार छिन जाते हैं। संपदा नष्ट हों जाती है, परिवार बिखर जाता है। उस स्थिति में प्रतिकूलता को सहने की चेतना यदि जागृत नहीं होती तो व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो जाता है। जिसकी यह चेतना जागृत होती है, उसके लिए अनुकूलता या प्रतिकूलता में कोई अन्तर नहीं आता।

तितिक्षा की, परम चेतना की स्थिति में पहुंचकर साधक अनुकूलता और प्रतिकूलता के प्रकंपनों से परे हो जाता है। वह चेतना इतनी अप्रकम्प हो जाती है कि जहां केवल चेतना ही होती है, और कुछ भी नहीं होता। यदि द्वन्द्वों को सहन करने की चेतना का विकास नहीं होता है तो राग और द्वेष अवश्य होते हैं। उन्हें रोका नहीं जा सकता।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इस प्रकार वीतराग चेतना और तितिक्षा की चेतना—दोनों प्रकार की चेतनाओं का विकास करके ही हम कर्म-विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। यदि तितिक्षा की चेतना विकसित होती है तो मोहनीय कर्म का विपाक नहीं हो सकता, आवेग नहीं हो सकता। आवेग तभी होता है, जब तितिक्षा की चेतना विकसित नहीं होती, अहंकार और ममकार-शून्य चेतना विकसित नहीं होती। हम प्रतिपक्ष की चेतना को विकसित करें। क्रोध है तो मैत्री की चेतना को विकसित करें। मैत्री के संस्कारों को सुदृढ़ बनायें। मैत्री के संस्कार दृढ़ होंगे तो क्रोध का आवेग अपने आप कम होता चला जाएगा। प्रतिपक्ष की भावना साधना का बहुत बड़ा सूत्र है।

दशवैकालिक सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष का सुन्दर निरूपण प्राप्त है। यदि क्रोध के आवेग को मिटाना है, कम करना है, तो उपशम के संस्कार को पुष्ट करना होगा। क्रोध का प्रतिपक्ष है—उपशम। उपशम का संस्कार जितना पुष्ट होगा, क्रोध का आवेग उतना ही क्षीण होता चला जायेगा। मान के आवेग को नष्ट करना है मृदुता को पुष्ट करो। मान का प्रतिपक्ष है मृदुता। माया के आवेग को नष्ट करना है तो ऋजुता के संस्कार को पुष्ट करो। ऋजुता और मैत्री में कोई अन्तर नहीं है। मैत्री ऋजुता का ही प्रतिफलन है। जब ऋजुता है तो किसी के साथ शत्रुता हो ही नहीं सकती। शत्रुता से पूर्व कुटिलता आती है। शत्रुता कुटिलतापूर्वक ही होती है। बिना कुटिलता के शत्रुता नहीं होती। जब छिपाने की बात, ठगने की बात आयेगी तभी किसी के साथ अमैत्री का भाव होगा। जहां छिपाने जैसा कुछ भी नहीं है, सरलता ही सरलता है, पारदर्शी स्फटिक-सा जीवन है, वहां शत्रुता हो ही नहीं सकती। माया का प्रतिपक्ष है ऋजुता। लोभ के आवेग को नष्ट करना है तो संतोष को विकसित करें, उसे पुष्ट करें।

आवेगों को मिटाने के लिए प्रतिपक्ष के संस्कारों को पुष्ट करना है। जब तक प्रतिपक्ष का संस्कार पुष्ट नहीं होता, आवेगों का तनूभाव नहीं किया जा सकता, उन्हें पतला नहीं किया जा सकता, क्षीण नहीं किया जा सकता। जब तक आवेग क्षीण नहीं होते, उन्हें तोड़ा नहीं जा सकता। उन्हें इतना क्षीण कर देना होता है कि एक ही झटके में वे टूट जाएं।

क्रोध, मान, माया और लोभ—ये चार आवेग हैं। इनकी प्रतिपक्षी भावनाओं को पुष्ट करने से ये आवेग शांत हो जाते हैं। उनका विपाक बन्द हो जाता है। भय, काम-वासना, घृणा आदि आवेगों के लिए प्रतिपक्ष की भावना जरूरी है। साधना में प्रतिपक्ष भावना का बहुत बड़ा महत्त्व है। इसके बिना आवेगों से छुटकारा नहीं मिलता। हमारी अभय की भावना जितनी पुष्ट होगी, भय का आवेग उतना क्षीण हो जायेगा। चेतना की भावना, चैतन्य का अनुसंधान जितना पुष्ट होगा, काम-वासना उतनी ही क्षीण हो जायेगी। एकत्व का विकास होगा तो घृणा अपने आप मिट जायेगी।

20.8.2 ध्यान अकर्मण्यता नहीं है

ध्यान को कुछेक व्यक्ति पलायन कह सकते हैं और परिवार वाले समझ सकते हैं कि घर का काम न संभाल सकने के कारण आंखें मूंदकर बैठ जाना ही ध्यान है। ऐसा पलायन भी संभवतः पारिवारिक और सामाजिक स्थिति को नया मोड़ दे सकता है। नयी चेतना का जागरण हो सकता है और उससे व्यवहार की शुद्धि, प्रामाणिकता, सचाई का प्रादुर्भाव हो सकता है। उस स्थिति में परिवार एक नया परिवार बन सकता है और समाज एक नया समाज बन सकता है। ऐसा पलायन बुरा भी क्या है? अनेकान्त को समझने वाला किसी पलायन से नहीं डरता। वह सापेक्षता से अर्थ की मीमांसा करता है। वह जान जाता है कि पलायन अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। ध्यान का कोई पलायन माने तो भले ही माने, पर यह पलायन भी समस्या का समाधान दे सकता है। जब संवेग और वैराग्य की स्थिति बनती है, तब समस्याएं सुलझती हैं।

इस प्रसंग में जीवन का एक रहस्य उद्घाटित होता है। कर्म आदमी को कब और कैसे करना चाहिए? कर्म का अर्थ है—प्रवृत्ति। प्रवृत्ति (कर्म) तब करनी चाहिए जब अनिवार्यता हो। अनेक लोग इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि प्रतिपल कर्म करते रहना चाहिए। जैन कर्मवाद इससे सहमत नहीं है। कर्म या प्रवृत्ति हमारा उद्देश्य नहीं है। काम प्रयोजन की निष्पत्ति है। काम उतना ही हो जितनी अनिवार्यता हो।

प्रश्न था कि क्या ध्यान से कर्म का क्षय होता है? यदि होता है तो ध्यान की बहुत बड़ी सार्थकता है। यदि ध्यान से बन्धन टूटता है तो उसकी बहुत बड़ी सार्थकता है। यदि ध्यान से कर्म का क्षय नहीं होता, बन्धन नहीं टूटता तो फिर ध्यान का कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता। एक घंटा ध्यान किया और कुछ ताजगी आ गई, विश्राम मिला, शान्ति मिली तो यह ध्यान का प्रासंगिक फल है, गौण फल है। यदि इतने मात्र से ही

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संतोष कर लिया जाता है तो ध्यान के मुख्य फल की ओर ध्यान नहीं जाता। ध्यान का मुख्य प्रयोजन है कार्मिक बन्धन और पुराने संस्कारों से छुटकारा पाना। ये पुराने संस्कार ही भावों को दूषित बनाते हैं, मलिनता पैदा करते हैं। जब ये संस्कार टूटते हैं, तब व्यक्तित्व का पूरा रूपान्तरण होता है। कर्म का निरंजन ही ध्यान का मुख्य प्रयोजन है। इस प्रयोजनपूर्ति के लिए यदि दस दिन लगाए जाते हैं तो थोड़े हैं, दस हजार दिन भी थोड़े होंगे।

कर्मवाद और ध्यान की मीमांसा से हम एक निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ध्यान के द्वारा हम कर्म से अकर्म की ओर प्रस्थान करते हैं। वैदिक ऋषियों ने मंगलकामना की थी—तमसो मा ज्योतिर्गमय—अंधकार से प्रकाश की ओर ले चलो। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला व्यक्ति यह मंगल-भावना करे—कर्मण: अकर्म गमय—कर्म से अकर्म की ओर ले चलो। अकर्म प्रकाश है, कर्म अंधकार है। अकर्म भयमुक्त है, कर्म भयमय है। प्रत्येक ध्यान-साधक यह मंगल-भावना करे कि कर्म के सारे दोष और सारी मलिनताएं समाप्त हों , कृत्रिम समस्याएं और कल्पनाएं नष्ट हों। वह इस सच्चाई का अनुभव करे कि अकर्म का विकास किए बिना कर्म के साथ उत्पन्न होने वाला दोष कभी समाप्त नहीं होता। इसलिए हम अकर्म की दिशा में आगे बढ़ें और ध्यान जीवन का अनिवार्य अंग बने।

20.9 कर्म-बंध के मूल कारण

कर्म का बंध कर्म-परमाणुओं की अर्जन-क्रिया का परिणाम है। वह अर्जन तत्काल हो जाता है। यह नहीं कि क्रिया अभी हो रही है और कर्म का बंध बाद में होगा। किन्तु जो अर्जित हो गया, वह कब तक आत्मा के साथ रहेगा, कितनी तीव्रता या मंदता के साथ विपाक का अनुभव कराएगा, आदि सारी बातें बंध के क्षण निर्धारित हो जाती हैं। इसी के आधार पर बंध के चार प्रकार बनते हैं—प्रदेश-बंध, प्रकृति-बंध, अनुभाग-बंध, स्धिति-बंध।

पहली अवस्था है कर्म-परमाणुओं के आने की, उनके संग्रह की। इसे 'प्रदेश-बंध' कहा जाता है।

दूसरी अवस्था है कर्म-परमाणुओं के स्वभाव-निर्माण की। कौन-सा कर्म किस स्वभाव का होगा, इस अवस्था को 'प्रकृति-बंध' कहा जाता है।

तीसरी अवस्था है—कर्म-परमाणुओं से रस-शक्ति के निर्माण की। कौन-से कर्म में कितनी रस-शक्ति है, इस अवस्था को 'अनुभाग-बंध' कहा जाता है।

चौथी अवस्था है—कर्म-परमाणुओं के स्थिति-काल की। कौन-सा कर्म आत्मा के साथ कितने समय तक रह पायेगा, इस अवस्था को 'स्थिति-बंध' कहा जाता है।

20.9.1 कषाय और योग

ये चारों अवस्थाएं कर्म-बंध के साथ ही निष्पन्न हो जाती है। कर्म के स्थिति-काल के अनुसार उसका सत्ताकाल होता है। जब वह पूरा हो जाता है तब एक-एक निषेक का, परमाणु-पुंज का प्रकटीकरण होने लगता है और प्राणी फल भोगने लगता है। जब सारे परमाणुपुंज समाप्त हो जायेंगे, कर्म-स्थिति समाप्त हो जायेगी तब कर्म अपना फल प्रदर्शित कर शेष हो जायेंगे, नष्ट हो जायेंगे, आत्मा से विलग हो जायेंगे। इसे कर्म-क्षय कहा जाता है।

ये चार अवस्थाएं हैं। इनके घटक हैं—राग और द्वेष। हमारी रागात्मक और द्वेषात्मक प्रवृत्ति के द्वारा ये घटित होती हैं। हम अपनी चंचलता के द्वारा कर्म-परमाणुओं का आकर्षण करते हैं। कषाय के द्वारा उन कर्म-परमाणुओं को टिकाकर रखते हैं। आकृष्ट करना और टिकाकर रखना—ये दो बातें हैं। आकर्षण होता है मन, वचन और शरीर की चंचलता के द्वारा और उनका टिकाव होता है कषाय के द्वारा। वे कषाय के द्वारा बांधकर रखे जाते हैं। कषाय जितना तीव्र होगा, उतने ही दीर्घकाल तक कर्म-परमाणु आत्मा के साथ चिपके रहेंगे। कर्म-परमाणुओं को चिपकाये रखना कषाय का काम है और उन्हें आकृष्ट करना चंचलता का काम है।

क्या यह हमारा साधना का सूत्र या आधार नहीं बन सकता? यह साधना का सूत्र बन सकता है, आधार बन सकता है। हमारी साधना के दो आधार-बिन्दु हैं—चंचलता को रोकना और कषाय को कम करना, राग-द्वेष को कम करना। तटस्थ होना यानि समभाव में रहना तथा स्थिर रहना—ये ही साधना के दो सूत्र हैं। फल की तीव्रता और मंदता कषाय के आधार पर होती है। दीर्घकाल की स्थिति और अल्पकाल की स्थिति कषाय के आधार पर होती है। स्थिति और फलदान की शक्ति—ये दोनों कषाय पर निर्भर है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कषाय ही कर्म-स्थिति को घटाता-बढ़ाता है और कषाय ही फलदान की शक्ति में तीवव्रा या मंदता लाता है। कर्म का आकर्षण केवल चंचलता के आधार पर होता है।

20.9.2 स्थिरता और समभाव की साधना

कर्म को रोकना है तो हमें उसी क्रम से चलना पड़ेगा कि पहले चंचलता कम होती चली जाये, स्थिरता की मात्रा बढ़ती चली जाये। कायोत्सर्ग इसीलिए किया जाता है कि शरीर की चंचलता कम हो, समाप्त हो। हम श्वास की प्रेक्षा करते हैं, श्वास को मंद करते हैं, श्वास को सूक्ष्म करते हैं, इसीलिए कि चंचलता कम हो जाये। श्वास शरीर से भिन्न नहीं है। शरीर की चंचलता को कम करने के लिए श्वास का संयम करते हैं। मन को स्थिर करने का प्रयत्न करते हैं, निर्विचार और निर्विकल्प की साधना करते हैं कि चंचलता कम हो। मौन करते हैं ताकि वाणी की चंचलता कम हो। जब वाणी की चंचलता कम होती है, मन की चंचलता कम होती है और शरीर की चंचलता कम होती है तो कर्म-परमाणुओं का आना कम हो जाता है।

दूसरी बात है—काया की जो थोड़ी बहुत प्रवृत्ति शेष रहती है, वचन की अल्पमात्रा में प्रवृत्ति शेष रहती है और मन की भी यत्किंचित् प्रवृत्ति रहती है, उसके साथ भी आसक्ति न जुड़े, राग-द्वेष का भाव न जुड़े। तटस्थता का विकास हो, समता का विकास हो ताकि अवशिष्ट चंचलता या प्रवृत्ति के द्वारा जो भी कर्म-परमाणु आकृष्ट हों वे लम्बे समय तक हमारे साथ न टिक सकें और अपना तीव्र अनुभव, तीव्र प्रभाव हमारे ऊपर न डाल सकें। इससे साधना का कोई भी आयाम शेष नहीं रहता। साधना का सार यही है—चंचलता को रोकना और समभाव में रहना।

हम जिस संदर्भ में साधना की चर्चा कर रहे हैं, वह अन्यान्य साधनाओं से कुछ भिन्न है। हमारी समूची साधना की धारा दो तटों के बीच में ही बहे। एक तट है—स्थिरता का और दूसरा तट है—समता का, वीतरागता का, अकषाय भाव का, राग-द्वेष की न्यूनता का। हम कुछ भी करें, उन दोनों तटबंधों को इतना मजबूत बनाएं रखें कि उनमें कहीं दरार न होने पाये, छेद न होने पाये, और पानी इधर-उधर छितरे बिना तटबंधों के बीच में बहता रहे।

प्रश्न होता है कि कर्म के आकर्षण की प्रक्रिया और संश्लेष की प्रक्रिया के पीछे हेतु क्या है? ये दोनों प्रवृत्तियां दो आस्रवों के द्वारा होती है। एक आस्रव का नाम है—योग और दूसरे आस्रव का नाम है—कषाय। योग आस्रव और कषाय आस्रव—ये दो आस्रव हैं, जिनके द्वारा कर्मों का आकर्षण और कर्मों का संश्लेष होता है। चंचलता स्पष्ट है, कषाय उतना स्पष्ट नहीं है। वह दिखाई नहीं देता। रहस्य में जाना होगा। हमें कहीं-कहीं रहस्यवादी भी बनना होगा और जो छिपा हुआ है, उसके तल तक पहुंचना होगा। मनोविज्ञान ने मन के तीन विभाग किये हैं—1. अदस् (Id) मन 2. अहं (Ego) मन 3. अधिशास्ता (Super Ego) मन।

पहला विभाग है 'अदस्' मन। इस विभाग में जितनी प्रवृत्त्यात्मक आकांक्षाएं और इच्छाएं हैं, वे सब अदस् मन में पैदा होती हैं। इसमें अचेतन का भाग अधिक है, चेतन का भाग कम।

दूसरा विभाग है 'अहं' मन। समाज-व्यवस्था से जो नियंत्रण प्राप्त होता है, उससे आकांक्षाएं यहां नियंत्रित हो जाती हैं, और वे कुछ परिमार्जित हो जाती हैं। उन पर अंकुश-जैसा लग जाता है। मन में जो आकांक्षा या इच्छा पैदा हुई, 'अहं मन' उसे क्रियान्वित नहीं करता।

तीसरा विभाग है 'अधिशास्ता' मन। यह अहं पर भी अंकुश रखता है और उसे नियंत्रित भी करता है।

चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता के पीछे कोई-न-कोई आकांक्षा होती है। हम अपने आप नहीं बोलते। बोलने की जरूरत होती है, आकांक्षा उत्पन्न होती है, कोई विकल्प पैदा होता है, तब हम बोलते हैं। मौन का मतलब केवल नहीं बोलना ही नहीं है। उसका मतलब है कि बोलने की अपेक्षा कम हो जाये। जिसमें हमें बोलने की प्रेरणा मिलती है, हम बोलने के लिए बाध्य होते हैं, उन अपेक्षाओं का कम हो जाना मौन है, न कि वाणी का प्रयोग बंद कर समूचे शरीर को हिला देना, संकेतों से प्रवृत्ति करना मौन है।

आकांक्षा का कम होना, प्रयोजन का कम होना, इच्छाओं का कम होना, अपेक्षाओं का कम होना चंचलता का अपने आप कम होना है। चंचलता अपने आप नहीं होती। चक्का घूमता है, चाहे हवा से,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

चाहे बिजली से और चाहे और किसी साधन से। वह अपने आप नहीं घूमता, किसी प्रेरणा से घूमता है। चंचलता अपने आप नहीं होती। चंचलता की तह में कुछ और होता है।

पारिभाषिक शब्दावली में चंचलता को योग कहा जाता है। यह योग आस्रव है। योग आस्रव अपने आप प्रवृत्त नहीं होता, उसके पीछे अपेक्षा होती है। वह अपेक्षा है—अविरति। अविरति अर्थात् छिपी हुई चाह। वह छिपी हुई ज्वाला है, आग है। आग भभक रही है। चाह है—सुख को पाने की चाह और दुःख को मिटाने की चाह। यह जो विभिन्न प्रकार की आन्तरिक चाह है, आकांक्षा है, इसे मनोविज्ञान की भाषा में 'अदस् मन' कहा गया है। कर्मशास्त्र की भाषा में यह अविरति आस्रव है। अविरति का अर्थ है—विरति का अभाव। अभी तक चाह मिटी नहीं है, प्यास बुझी नहीं है, अतृप्ति है। अमिट चाह का जो स्रोत है, उसे अविरति आस्रव कहा गया है। इसकी मात्रा जितनी अधिक होगी, चंचलता अधिक बढ़ेगी। चंचलता यदि स्वाभाविक होती तो सब प्राणियों में समान होती।

चंचलता पैदा करने वाला, सक्रियता पैदा करने वाला, भटकाने वाला जो तत्त्व है, वह है अविरति। एक प्रश्न आता है कि जब हम इतना जान गए कि चंचलता का स्रोत है आकांक्षा, इच्छा, अतृप्ति, फिर भी उसे बुझा नहीं पाते। यह क्यों? इसका भी एक कारण है। यह भ्रम है कि आदमी ने जान लिया। वह अभी तक जान नहीं पाया है। इसका कारण है—मिथ्या दृष्टिकोण।

मिथ्यादृष्टि के अस्तित्व-काल में, यह जानते हुए भी कि प्यास है और प्यास बुझाने के साधन भी हैं, हम उन्हीं साधनों को ढूंढते हैं, जिनसे प्यास और अधिक बढ़ जाती है। यह इसलिए होता है कि उसकी तह में मिथ्यात्व अवस्थित है। मिथ्या दृष्टिकोण, मति का विपर्यय, बुद्धि का विपर्यास—सत्य को विपरीत ग्रहण करने के लिए बाध्य करता है।

जब तक मिथ्यात्व रहेगा, तब तक आकांक्षाएं रहेंगी, प्यास बनी-की-बनी रहेगी। जब तक प्यास बनी रहेगी, तब तक प्रमाद भी होता रहेगा, भ्रांति होती रहेगी, विस्मृति होती रहेगी। विस्मृति, जैसे—हमने एक बार जान लिया कि धन सुख का साधन नहीं है। यह तथ्य स्मृतिपटल पर अंकित है, किन्तु जैसे हम कार्यक्षेत्र में उतरेंगे, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करेंगे, तब इस बात को भूल जाएंगे कि धन, संपत्ति, ऐश्वर्य सुख के साधन नहीं हैं। हम यह मानने लग जाएंगे या हमें ऐसा लगने लगेगा कि संसार में कोई सारभूत वस्तु है तो वह धन है, संपत्ति है, ऐश्वर्य है। शेष सब कुछ असार-ही-असार है, व्यर्थ है, मिथ्या है। अब प्रश्न होता है कि ऐसा क्यों होता है? इसका समाधान यह है कि हम भूल जाते हैं, विस्मृति हो जाती है, प्रमाद उभर जाता है, इसलिए ऐसा होता है।

जब तक ये चार तत्त्व—मिथ्यात्व, अवरिति, प्रमाद और कषाय—अस्तित्व में रहते हैं, तब तक चंचलताओं को रोका नहीं जा सकता। चंचलता के चक्र को धीमा नहीं किया जा सकता। व्यक्ति ध्यान करने के लिए बैठता है तो कभी आकांक्षाओं का ज्वार आता है, कभी प्रमाद का अंधकार छा जाता है, कभी कषाय की आग भभक उठती है और वह ध्यान से भटक जाता है। ध्यान छूट जाता है और वह संकल्प-विकल्प के जाल में फंस जाता है। उस जाल में ऐसी समाधि लगेगी कि वास्तविक समाधि का छोर छूट जायेगा। यह इसलिए होता है कि हम शोधन करते हुए नहीं आ रहे हैं। हमारी वृत्तियों का शोधन नहीं हो पाया है।

साधना की सफलता के लिए हमें इन कर्मशास्त्रीय रहस्यों को समझना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। हम मिथ्या दृष्टिकोण को छोड़ें, सम्यक् दृष्टिकोण को अपनाएं; अविरति को छोड़ें और विरति को ग्रहण करें; प्रमाद को छोड़कर अप्रमाद में आएं और कषाय की आग को शांत करते चले जाएं। इतना होने पर चंचलता अपने आप कम होती रहेगी।

लोग कहते हैं—पहले ही क्षण में मन चंचल है। उसे शांत कैसे करें, ऐसा कोई जादू नहीं है कि पहले ही क्षण में मन शांत हो जाए। मन को शांत करने की एक प्रक्रिया है। उस प्रक्रिया में से गुजरें, मन शांत हो जायेगा। वह प्रक्रिया है—मिथ्या दृष्टिकोण, अविरति, प्रमाद और कषाय को उपशांत करते जाएं, मन शांत हो जायेगा। इन चारों को क्षीण करने की साधना करें, एक दिन ऐसा आयेगा कि मन शांत हो रहा है, हो गया है, वाणी शांत हो रही है, हो गयी है, शरीर शांत हो रहा है, हो गया है। हम इस प्रक्रिया को दृढ़ता से पकड़ें और उसको करते चले जाएं। उसमें से गुजरें, क्रमशः हम अपने लक्ष्य में सफल होते जाएंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मूल आत्मा और उसके परिपार्श्व में होने वाले वलयों का भेद-ज्ञान जैसे-जैसे स्पष्ट होता चला जाता है, वैसे-वैसे कर्म-बन्धन शिथिल होता चला जाता है। जिन्हें भेद-ज्ञान नहीं होता, मूल चेतना और चेतना के वलयों की एकता की अनुभूति होती है, उनका बन्धन तीव्र होता चला जाता है। कर्म पुद्‌गल है और वह अचेतन है। अचेतन चेतन के साथ एकरस नहीं हो सकता। हमारी कषाय-आत्मा ही कर्म-शरीर के माध्यम से उसे एकरस करती है। मुक्त आत्मा के साथ-साथ पुद्‌गल एकरस नहीं होता, क्योंकि उसमें केवल शुद्ध चैतन्य की अनुभूति होती है। शुद्ध चैतन्य की अनुभूति का क्षण कर्म-शरीर की विद्यमानता में 'संवर'—कर्म-पुद्‌गलों के सम्बन्ध को रोकने वाला और उसके (कर्म-शरीरके) अभाव में आत्मा का स्वरूप होता है। कषाय-मिश्रित चैतन्य की अनुभूति का क्षण आश्रव है। वह कर्म-पुद्‌गलों को आकर्षित करता है। यहां जातीय-सूत्र कार्य करता है। सजातीय सजातीय को खींचता है। कषाय-चेतना की परिणतियां पुद्‌गल-मिश्रित हैं। पुद्‌गल पुद्‌गल को टानता है। यह तथ्य हमारी समझ में आ जाए तो हमारी आत्म-साधना की भूमिका बहुम सशक्त हो जाती है। हम अधिक से अधिक शुद्ध चैतन्य के क्षणों में रहने का अभ्यास करें, जहां कोरा ज्ञान हो, संवेदन न हो। यह साधना की सर्वोच्च भूमिका है। इसीलिए जैन आचार्यों ने ध्यान के लिए 'शुद्ध उपयोग' शब्द का प्रयोग किया है। 'शुद्ध उपयोग' अर्थात् केवल चैतन्य की अनुभूति। साधना के अभाव में कर्म का प्रगाढ़ बंध होता है और साधना के द्वारा उसकी ग्रंथि का भेदन होता है। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि साधना के रहस्य को समझे बिना कर्म के रहस्य को नहीं समझा जा सकता है और कर्म के रहस्य को समझे बिना साधना के रहस्य को नहीं समझा जा सकता। हम कर्म-पुद्‌गल की जिन धाराओं को ग्रहण करते हैं, उन्हें अपनी क्रियात्मक शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं। उस समय हमारी चेतना की परिणति भी उसके अनुकूल होती है। आन्तरिक और बाह्य परिणतियों में सामंजस्य हुए बिना दोनों में संबंध स्थापित नहीं हो सकता। जैन दर्शन ने कर्मवाद की मीमांसा की है, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन अभी नहीं हुआ है। यदि वह हो तो मनोविज्ञान और योग के नये उन्मेष हमारे सामने आ सकते हैं तथा जैन साधना-पद्धति का नया रूप भी प्रस्तुत हो सकता है। हम जैसी भावना करते हैं, वैसी ही हमारी परिणति होती है। जैसी परिणति होती है, वैसे ही पुद्‌गलों को हम ग्रहण करते हैं। उन पुद्‌गलों का अपने आप में परिपाक होता है। परिपाक के बाद उनकी जो परिणति होती है, वही हमारी आन्तरिक परिणति हो जाती है। यह एक श्रृंखला है। एक व्यक्ति ने ज्ञान के प्रति अवहेलना का भाव प्रदर्शित किया, ज्ञान की निन्दा की ज्ञानी की निन्दा की, उस समय उसकी परिणति ज्ञान-विमुख हो गई। उस परिणति-काल में वह कर्म-पुद्‌गलों को ग्रहण करता है। किन्तु ज्ञान-विरोधी परिणति में गृहीत पुद्‌गल मुख्यतया ज्ञान को आवृत करेंगे। उनका परिपाक ज्ञानावरण के रूप में होगा। इस प्रकार हम सारे कर्मों की मीमांसा करते चलें। जिसकी चेतना की परिणति यदि ठगने की होती है तो उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्‌गल अनुभव दशा में उसके चरित्र को विकृत बनाते हैं। उसकी परिणति यदि दूसरे को कष्ट देने की होती है उस समय ग्रहण किए जाने वाले कर्म-पुद्‌गल अनुभव दशा में उसके सुख में बाधा डालते हैं। यह परिणति का सिद्धान्त है। हम किस रूप में परिणत होते हैं, किस प्रकार की क्रियात्मक शक्ति के द्वारा पुद्‌गल धारा को स्वीकार करते हैं, इसका ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके आधार पर ही वह जीवन की सफलता का निर्धारण कर सकता है, जीवन-संघर्ष में आने वाली बाधाओं को पार कर सकता है।

जिस व्यक्ति को यह लगे कि मुझे ज्ञानावरण अधिक सता रहा है, उसे ज्ञानावरण को क्षीण करने की साधना का मार्ग चुनना चाहिए। किसी को मोह अधिक सताता है, किसी के क्षमताओं का अवरोध होता है—ये भिन्न-भिन्न समस्याएं हैं। साधना के द्वारा इनका समाधान पाया जा सकता है। क्रोध पर चोट करनी हो तो एक प्रकार की साधना करनी होगी और यदि मान पर चोट करनी हो तो दूसरे प्रकार की साधना करनी होगी।

20.9.3 संवर और निर्जरा (संयम और तप) की साधना द्वारा मुक्ति की ओर प्रस्थान

आस्रव का निरोध है—संवर। दो सूचियां बनती हैं—

आश्रव	संवर
1. मिथ्यात्व	1. सम्यक्त्व
2. अविरति	2. विरति
3. प्रमाद	3. अप्रमाद
4. कषाय	4. अकषाय
5. योग	5. अयोग

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

साधना की भाषा में संवर का अर्थ ही है—अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं है जब तक पूर्व संचय को रिक्त नहीं किया जाता और नए संचय के द्वार को बंद नहीं किया जाता। हमने राग-द्वेष के परिणमन तथा मन, वाणी और शरीर की चंचलता के द्वारा ही विजातीय पदार्थों (कर्मों) को अपनी ओर खींचा है और उनका संग्रह किया है। जब तक यह सारी चंचलता समाप्त नहीं हो जाती, तब तक जो उपचिनत है, उसे रिक्त नहीं किया जा सकता।

इस स्थिति में पहला काम होगा—हम अपने आचरण को समतामय बनाए—समता का मूल तात्पर्य है अराग का क्षण, अद्वेष का क्षण यानी वीतरागता का क्षण। जब समता जीवन में अवतरित होगी, विजातीय तत्त्व उखड़ने लगते हैं। हमारे चारित्र का निर्माण जब समता के तत्त्वों से होने लगेगा, भरा हुआ रिक्त होगा, नया नहीं भरेगा। साधना में हमने मन को रोका, इन्द्रियों को रोका, शरीर और वाणी की चंचलता को रोका। यह संवर की प्रक्रिया है।

20.9.4 मूर्च्छा-समाप्ति या जागृति से संवर की साधना प्रारंभ

कर्म का केन्द्र-बिन्दु है—मूर्च्छा। साधना का केन्द्र-बिन्दु है— जागृति। आदमी मूर्च्छित है। कितने काल से मूर्च्छित है इसका पता भी नहीं लगाया जा सकता। उसकी मूढ़ता अनादिकाल से है। इस घोर तमिस्रा का आदि-बिन्दु अज्ञात है। प्रकाश की कोई रेखा फूटे, यह साधना के द्वारा ही संभव है। कोई काललब्धि ऐसी हो सकती है कि व्यक्ति को जागरण मिल जाये या ऐसा कोई निमित्त मिल सकता है जिससे जागृति का कोई बिन्दु स्फुटित हो जाये, कोई प्रकाश की किरण फूट जाये। मूर्च्छा और जागृति—दोनों एक-दूसरे के विरोधी हैं। मूर्च्छा जागृति नहीं है और जागृति मूर्च्छा नहीं है।

अध्यात्म-शास्त्र का सूत्र है—जागृति और कर्म-शास्त्र का सूत्र है—मूर्च्छा। मूर्च्छा को तोड़ना और जागृत होना—ये दो बातें हमारे सामने हैं। जैसे-जैसे मूर्च्छा टूटती है, वैसे-वैसे जागृति बढ़ती है। मूर्च्छा आस्रव है और जागृति संवर है। आस्रव द्वार है। इससे सब-कुछ आता है। वह आता है जिसकी कोई अपेक्षा नहीं है। किन्तु द्वार खुला है, इसलिए आ रहा है। उसे रोका नहीं जा सकता। संवर का अर्थ है—द्वार का बंद हो जाना। आस्रव है—राग-द्वेषात्मक परिणति। जीव का जो राग-द्वेषात्मक परिणाम होता है, वह आस्रव बन जाता है। जब चैतन्य का अनुभव जागृत होता है वह स्वयं संवर बन जाता है। संवर है चैतन्य का अनुभव।

मूर्च्छा एक बिन्दु है तमोमय, अंधकारमय। जब मूर्च्छा सघन होती है तब जागृति अंधकारमय हो जाती है। जब जागृति का बिन्दु उभरता है, थोड़ा-सा प्रकाश आता है, तब मूर्च्छा का सघन बिन्दु धुंधलाने लगता है। राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि का भेद होता है। यह पहली बार होता है अपूर्वकरण के द्वारा। अपूर्वकरण अर्थात् चित्त की ऐसी निर्मलता जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुई थी। यहां राग-द्वेष की गांठ पहली बार टूटने लगती है। जागृति का एक बिन्दु उभरता है। जो सघनतम अंधकार था वह टूटता है। जैसे-जैसे हमारे चैतन्य का अनुभव आगे बढ़ता है, प्रकाश फैलाता है, वैसे-वैसे मूर्च्छा का बिन्दु कमजोर होता जाता है। जब चैतन्य का अनुभव स्पष्ट होता है तब आकांक्षाएं समाप्त होने लगती है। अमिट प्यास भी बुझने लगती है, तब व्रत संवर होता है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है तब प्रमाद समाप्त होने लगता है, अप्रमाद संवर की स्थिति निर्मित होने लगती है। चैतन्य का अनुभव और अधिक स्पष्ट होता है, कषाय भी समाप्त हो जाता है तब अकषाय संवर की स्थिति बनती है। पूर्ण प्रकाश की स्थिति, वीतरागता की स्थिति आ जाती है। राग-द्वेषात्मक परिणाम के द्वारा जो आस्रव हो रहा था, वह समाप्त हो जाता है और चैतन्य का पूर्ण अनुभव जागृत हो जाता है।

20.9.5 संयम संवर की प्रक्रिया

सैद्धान्तिक भाषा में कहा जा सकता है कि मोह के उपशांत या क्षीण होने पर संवर होता है। पर संवर कैसे होता है? उसकी प्रक्रिया क्या है? इस पर हमें गहराई से विचार करना चाहिए। संवर साधना के द्वारा ही हो सकता है। साधना के अनुभवों के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकता है कि संवर कैसे हो सकता है? मैं कहूं कि संवर करें, आस्रव रूक जायेगा, मूर्च्छा का सघन वलय टूट जायेगा। बात तो बहुत सीधी-सी लगती है। पर संवर कैसे हो, यह प्रश्न इतना सीधा नहीं है। साधना के क्षेत्र में चार शब्द प्रचलित हैं—संयम, चारित्र, प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान। संयम करें। इन्द्रियों का संयम करें, मन का संयम करें, वासनाओं का संयम करें। चारित्र अर्थात् आचरण। हम शुद्ध आचरण करें। संयम संवर की प्रक्रिया है। चारित्र

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संवर की प्रक्रिया है। तीन क्षण हैं—एक है अतीत का क्षण, एक है वर्तमान का क्षण और एक है भविष्य का क्षण। संवर वर्तमान के क्षण में होता है। जिसने अतीत का प्रतिक्रमण और भविष्य का प्रत्याख्यान किया तो प्रत्युपन्न क्षण, जो क्षण उत्पन्न हो रहा है, उस क्षण में अपने आप संवर हो जाएगा।

जो आस्रव चल रहा है, उसका प्रतिक्रमण करें। उस आस्रव से आप अपने स्वभाव में लौट आएं। अपने चैतन्य के अनुभव को छोड़कर आप राग-द्वेष के अनुभव में चले गये थे, अब राग-द्वेष के अनुभव को छोड़कर पुनः चैतन्य के अनुभव में आ जाएं, संवर हो जायेगा। राग-द्वेष के अनुभव से वापस लौट आना एक प्रतिक्रमण है। आप संकल्प करें कि आप राग-द्वेष के क्षण में नहीं जाएंगे। जब यह संकल्प दृढ़ हो जाता है तब राग-द्वेष के अनुभव से आप लौट आते हैं।

साधना के दो प्रारंभिक सूत्र हैं—प्रतिक्रमण और प्रायश्चित। प्रतिक्रमण का अर्थ है—लौटना। केवल आगे ही नहीं बढ़ना है, लौटना भी है। प्रतिक्रमण का अर्थ ही है—पीछे लौट आना, वापस आ जाना।

साधक के लिए यह आवश्यक है वह प्रतिक्रमण और प्रायश्चित का महत्त्व समझे। दोनों महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। मनोविज्ञान ने इनको और अधिक उजागर किया है। मानसिक रोगी जब मनश्चिकित्सक के पास जाता है तब सबसे पहले उसे प्रतिक्रमण कराया जाता है। मनोरोगी से चिकित्सक कहता है, वर्तमान को भूलकर अतीत में चले जाओ। मुझे अतीत के जीवन के बारे में बताओ। वह घटनाएं सुनता है और मनोग्रंथि के तथ्य को पकड़ लेता है। जब तक प्रतिक्रमण नहीं होता, तब तक मनश्चिकित्सक चिकित्सा नहीं कर सकता। यह अध्यात्म साधना की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। जब तक साधन की मनोग्रंथि नहीं खुलती, तब तक ध्यान नहीं होता। इसलिए अतीत का लेखा-जोखा करना बहुत जरूरी है।

प्रायश्चित मनोग्रंथियों को खोलने का उपाय है। जो मनोग्रंथियां अज्ञान के कारण बन गई हैं, उनके खुलने पर सारा मार्ग साफ हो जाता है। प्रायश्चित करने वाला व्यक्ति न केवल आध्यात्मिक दोषों से बच सकता है, पर वह मानसिक और शारीरिक बीमारियों से मुक्त हो जाता है। जो लोग प्रायश्चित करते हैं, वे भयंकर से भयंकर बीमारी से मुक्त हो जाते हैं। कैंसर, अल्सर, हार्टट्रबल—ये केवल शरीर के रोग नहीं हैं, ये मनोकायिक रोग हैं। ये मन से, भावना से, इमोशन और आवेगों से होने वाले रोग हैं। प्रायश्चित के द्वारा इनकी चिकित्सा हो सकती है।

सबसे पहले अतिक्रमण का प्रतिक्रमण होना चाहिए। प्रतिक्रमण रूढ़ि नहीं है। यह है अतीत का सिंहावलोकन, अतीत को देखना, समझना, प्रेक्षा करना कि कहां-कहां, कब-कब अतिक्रमण हुआ है और अब कैसे बचा जा सकता है।

जिस व्यक्ति में प्रतिक्रमण और प्रायश्चित की चेतना जाग जाती है वह व्यक्ति बहुत शक्तिशाली और पुरूषार्थ-प्रधान बन जाता है।

संवर का अर्थ ही है—अपने चैतन्य का अनुभव, अपने अस्तित्व का बोध। यह तब तक संभव नहीं, जब तक चय को रिक्त नहीं किया जाता और द्वार को बंद नहीं किया जाता। चय को रिक्त करने का कार्य चारित्र का है। इस स्थिति में पहला काम यह रहेगा कि हम अपने आचरण को समतामय बनाएं। भगवान् महावीर ने समता पर सर्वाधिक बल दिया। हम समझते हैं कि जीव मात्र पर समभाव रखना ही समता है, यही धर्म है। यह एक बात है। यह धर्म है ही। किन्तु इसका और गूढ़ अर्थ है। समता का मूल तात्पर्य है अराग का क्षण, अद्वेष का क्षण। हमारे जीवन में ऐसे क्षण बीतें जिनमें न राग हो और न द्वेष हो, वीतरागता का क्षण हो। यह वीतरागता का क्षण ही वास्तव में समता है। जब वीतराग भाव होगा तब सब प्राणियों के प्रति, सब जीवों के प्रति अपने आप समता का भाव होगा। उसमें विषमता रहेगी ही नहीं। किसी भी पदार्थ के प्रति, चाहे फिर वह चेतन हो या अचेतन, उच्चावचभाव समाप्त हो जाता है।

तत्त्व की व्याख्यामात्र से संवर नहीं होता। वह होता है साधना के द्वारा। वह होता है अभ्यास के द्वारा। आप जानते जाएं, रटते जाएं कि कर्म की अमुक प्रकृतियों के क्षयोपशम के द्वारा संवर हो जायेगा, कभी संवर नहीं होगा। संवर तब होगा जब प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान तथा संयम और चारित्र—ये चारों तत्त्व हमारी साधना के अंग बनेंगे। कर्मशास्त्र को व्याख्यायित करने का और उसे समझने का यही निष्कर्ष है कि यदि हम साधना करना चाहें तो हमें चैतन्य के अनुभव में आना होगा। हम ऐसे क्षण बिताएं जिनमें चैतन्य का अनुभव हो, केवल अपने अस्तित्व का अनुभव हो, राग-द्वेष का अनुभव न हो।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हम सतत जागृत रहें। मन में या व्यवहार में राग-द्वेष की परिणति होते ही तत्काल उससे लौट आएं और संकल्प-शक्ति को जागृत करें। हमारा ऐसा दृढ़ संकल्प बने कि जिससे भविष्य में राग-द्वेषमय क्षण न बीते। संवर की साधना स्वयं निष्पन्न होगी। यही साधना की पूरी सार्थकता है। साधना वह होनी चाहिए जो देश और काल से आबद्ध न हो, उनसे बंधी हुई न हो। आप किसी भी देश में चले जायें, किसी भी काल में चले जायें, किसी भी काल में रहें किन्तु चैतन्य के अनुभव की एक ज्योति, एक प्रकाश रेखा जो फूटी है वह विकसित हो, आगे से आगे बढ़ती जाए।

कर्म-मुक्ति का सबसे बड़ा सूत्र है—संवर और तप। तपस्या के विषय में कुछ सोचें। जिनको खपाना है, जिनको दूर करना है, उनमें पहला तत्त्व है मूर्च्छा। मूर्च्छा का सबसे पहला माध्यम है—देहासक्ति। यहां से मूर्च्छा प्रांरभ होती है। भगवान् महावीर ने तप के बारह सूत्र बतलाए। उनमें पहला है—अनशन। मत खाओ। दूसरा है—ऊनोदरी। कम खाओ। तीसरा है—रस-परित्याग। रसों को छोड़ो। जिह्वेन्द्रिय पर संयम रखो। चौथा है—वृत्तिसंक्षेप। खाने के विविध प्रयोग करो। पांचवां है—कायक्लेश। शरीर को साध लो। इतने कष्ट-सहिष्णु बन जाओ, आसनों के द्वारा इतनी शक्ति पैदा कर लो कि जिससे कोई भी स्थिति आये तो शरीर उसे झेल सके। ये पांच सूत्र देहासक्ति से मुक्त होने के सूत्र हैं। आहार की आसक्ति भी देहासक्ति है। यह देहासक्ति का ही एक परिणाम है। जब ये पांच सूत्र सध जाते हैं तब देहासक्ति टूट जाती है।

जब यह हो जाता है तब प्रतिसंलीनता की बात आती है। यह कर्म-मुक्ति का छठा सूत्र है। प्रतिसंलीनता का अर्थ है—इन्द्रियों को अंतर्मुखी बनाना। जिस रास्ते से इन्द्रियां बाहर जा सकती हैं, उसे बन्द कर दो। नया मार्ग खोल दो। मार्गान्तिरीकरण कर दो। जो इन्द्रियां केवल बाहर की ओर दौड़ रही हैं, जो मन बाहर की ओर भटक रहा है, उन इन्द्रियों को भीतर ले जाओ, मन को भीतर ले जाओ। यह अंर्तप्रवेश की प्रक्रिया है। हम कहते हैं—शरीर को देखो। इसका तात्पर्य है कि शरीर के भीतर जो प्रकम्पन हो रहे हैं उन्हें देखो। इन्द्रियों की यह आदत बन गयी है कि वे बाहर-ही-बाहर देख रही हैं, देखना चाहती हैं। इस आदत को बदलो। एक नयी आदत का निर्माण करो। वह आदत भीतर-ही-भीतर देखे। बाहर देखने में जो आनंद आता है उससे कई गुना आनंद आता है भीतर देखने में। यह प्रेक्षा की प्रक्रिया है। जो आस्रव हैं, कर्म-आगमन के द्वार हैं, वे ही संवर के द्वार हैं। दर्शन की प्रक्रिया के द्वारा हम उन द्वारों को बंद कर देते हैं।

देहासक्ति को तोड़ना, शरीर को साधना और इन्द्रियों के रास्ते को बदलना—साधक के लिए प्रवेश-द्वार हैं।

सातवां सूत्र है—प्रायश्चित का। मन में विचार आते रहते हैं। मन में विचार आया, तत्काल उसको साफ कर दो। यदि तत्काल साफ नहीं किया, जागरूक नहीं रहे, उस विचार को पाल लिया तो गांठ बन जाएगी, ग्रंथिपात हो जायेगा। विचार आज का हो, किन्तु उसका परिणाम हजार वर्ष बाद भी भोगना पड़ सकता है। न जाने कब उसे भुगतना पड़े। यदि उसी समय प्रक्षालन कर दिया, उसे धो डाला तब तो जो कर्म-परमाणु आए थे, वे टूट जायेंगे। वे गांठ नहीं बन पायेंगे। अगर सावधानी नहीं रही, जागरूकता नहीं रही, गांठ पड़ गई तो निश्चित ही उसका परिणाम भुगतना पड़ेगा। इसीलिए प्रायश्चित का सूत्र दिया गया। प्रायश्चित करते रहो ताकि गांठ न पड़ने पाए।

आठवां सूत्र है—विनय। मन में अहं नहीं होना चाहिए। अहंकार और ममकार, ये दो बाधाएं हैं। साधना में कोई अहंकार नहीं होना चाहिए। साधक अत्यन्त विनम्र और मृदु रहे।

नौवां सूत्र है—वैयावृत्य। इसका अर्थ है— साधना करने वालों का सहयोग करना। केवल स्वार्थी मत बनो। जो साधना करना चाहते हैं, उनके लिए, अपने से जो कुछ बन पड़े, करो। यह वैयावृत्य है, सेवा है।

दसवां सूत्र है—स्वाध्याय। स्वाध्याय का अर्थ है—पढ़ना, ज्ञान प्राप्त करना। वह ज्ञान प्राप्त करो जो तुम्हारी आत्मा को जागृत करे। कर्म-बंधन से मुक्ति दिलाने वाला ज्ञान प्राप्त करो।

ग्यारहवां सूत्र—ध्यान। नहीं पढ़ना है तो अपने आप में लीन हो जाओ। ध्यान के माध्यम से तुम सत्य तक पहुंच जाओगे, सत्य को पा लोगे, सत्य का साक्षात् कर लोगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बारहवां सूत्र है—व्युत्सर्ग। इसका अर्थ है—छोड़ना। मैंने कहा भी था कि महावीर की साधना का सूत्र है—अयोग की साधना। सब सम्बन्धों को तोड़ दो। सब विसर्जित कर दो। जो कुछ हो उसका विसर्जन कर दो। शरीर का व्युत्सर्ग और कर्म का व्युत्सर्ग।

यह सारी तपस्या की प्रक्रिया है। इसके बारह सूत्र हैं।

कर्म-मुक्ति की प्रक्रिया के दो तत्त्व हैं—एक संवर और दूसरा है तपस्या या निर्जरा।

महर्षि पतंजलि ने बतलाया कि क्रियायोग के द्वारा क्लेशों को कम किया जा सकता है। तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान—यह क्रियायोग है।

भगवान् महावीर की भाषा में संवर और निर्जरा के द्वारा आस्रवों को क्षीण किया जा सकता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कर्म-मुक्ति घटित होती है और व्यक्ति सदा-सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

20.10 कषायों का वर्गीकरण

मानसशास्त्र के अनुसार आवेग छह हैं—भय, क्रोध, हर्ष, शोक, प्रेम और घृणा। आवेगों का जीवन में बहुत बड़ा प्रभाव है। सारे मानवीय आचरणों की व्याख्या आवेगों के आधार पर की जाती है। किस प्रकार के आवेग में किस प्रकार की स्थिति बनती है, यह स्पष्ट है। एक व्यक्ति का मुक्का उठा और हमने समझ लिया कि वह गुस्से में है। आवेग के आते ही एक प्रकार की स्थिति बनती है, अनुभूति होती है। उसका प्रभाव स्नायु-तंत्र पर पड़ता है, पेशियों पर होता है। एक प्रकार की उत्तेजना पैदा हो जाती है। उत्तेजना के अनुरूप सक्रियता आ जाती है। पेशियां उसी के अनुसार काम करने लग जाती हैं। आवेग का प्रभाव हमारे स्नायु-तंत्र पर, पेशियों पर, रक्त पर और रक्त के प्रवाह पर, फेफड़ों पर, हृदय की गति पर, श्वास पर और ग्रंथियों पर होता है।

भय का आवेग आते ही स्नायविक तरंग उठती है। वह मस्तिष्क तक उस संदेश को ले जाती है। उत्तेजना पैदा कर जाती है। वह पाचन-संस्थान को भी प्रभावित करती है। पाचन अस्त-व्यस्त हो जाता है। उत्तेजना मांसपेशियों तक पहुंचती है। वे सक्रिय हो जाती हैं। एड्रिनल ग्रंथि का स्राव अधिक होता है, उसके कारण व्यक्ति में कुछ साहसिक कार्य करने की क्षमता जागृत हो जाती है। वह साहसिक बनकर प्रहार करने की स्थिति में आ जाता है। यह सारा शारीरिक परिवर्तन आवेग के कारण होता है और फिर बाहर से उसके लक्षण भी दिखाई देने लग जाते हैं, जिनके आधार पर हम समझ सकते हैं कि व्यक्ति भयभीत है, क्रोधी है। आवेगों के कारण शारीरिक क्रियाओं में रासायनिक परिवर्तन, शारीरिक लक्षणों में परिवर्तन और अनुभूति में परिवर्तन होता है। इन सारी बातों के साथ एक बात और जोड़ दें कर्मशास्त्र की। आवेगों के कारण बहुत सारी बातें होती हैं। इसके साथ एक बात पहले जोड़ दें और एक बात पीछे जोड दें। पहले यह जोड़ें कि भय परिस्थिति से उत्पन्न नहीं है, परिस्थिति से उद्भूत है। उत्पन्न होना अलग बात है और उद्भूत होना अलग बात है। परिस्थिति से भय उद्भूत हुआ, जागृत हुआ जो सोया हुआ था, वह जाग उठा। किन्तु वह उत्पन्न हुआ है मोह के कारण। भय-वेदनीय-मोह के कारण भय उत्पन्न होता है। उस व्यक्ति में ऐसे परमाणु संचित हैं जो किसी निमित्त का सहारा पाकर उत्पन्न हो जाते हैं। यह पहले जोड़ने वाली बात है। एक बात बाद में जोड़तें। जो ड़रता है, जो भयभीत है, वह भय के कारण केवल शारीरिक या मानसिक परिवर्तन ही नहीं करता, किन्तु दूसरे परमाणुओं का संग्रह भी करने लग जाता है और इतने परमाणु संग्रहीत कर लेता है जो मोह को और अधिक पोषण देते हैं।

कर्मशास्त्र में मोहनीय कर्म के चार आवेग माने हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। इन्हें 'कषाय-चतुष्टयी' कहा जाता है। ये चार मुख्य आवेग हैं। कुछ उप-आवेग हैं। उनकी संख्या सात या नौ है। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद—ये सात या वेद को स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद में हम विभक्त करें तो उप-आवेग नव हो जाते हैं। इन्हें 'नो कषाय' कहा जाता है। ये पूरे कषाय नहीं हैं। कषायों के कारण होने वाले 'नो कषाय' हैं, मूल आवेगों के कारण होने वाले उप-आवेग हैं।

ईर्ष्या करना, आदर देना आदि-आदि आवेग हैं या नहीं—ये प्रश्न होता है। कर्मशास्त्र में भी आवेग के रूप में स्वीकृत नहीं हैं। मानसशास्त्रीय परिभाषा के अनुसार ईर्ष्या आदि मूल आवेग नहीं हैं। ये सम्मिश्रण हैं, मिश्रित आवेग हैं। ये मूल नहीं हैं। कर्म-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार भी ये मिश्रित हैं, मूल नहीं हैं। उसके अनुसार मूल आवेग चार और उप-आवेग सात या नौ हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

उप-आवेग क्रोध, मान, माया और लोभ जैसे तीव्र नहीं हैं। इनमें भी बहुत तारतम्य है। यह मोह-परिवार ही हमारी दृष्टि को प्रभावित करता है, हमारे चरित्र को प्रभावित करता है। जैसी दृष्टि, वैसी सृष्टि। जैसा दृष्टिकोण, वैसा आचार। दृष्टिकोण विकृत होता है तो आचार विकृत होता है। दृष्टिकोण सम्यक् होता है तो आचार सम्यक् होता है। ऐसा तो नहीं है कि दृष्टिकोण के सम्यक् होने के साथ-ही-साथ सारा-का-सारा आचार सम्यक् हो जाये। आचार का क्रमिक विकास होता है। पहले दृष्टिकोण सम्यक् होना होगा, फिर आचार सम्यक् होगा।

जो भौतिक जीवन जीना पसंद करते हैं, वे केवल बौद्धिक विकास की चिंता करते हैं और वे बौद्धिक विकास को ही सर्वोपरि मानते हैं। जो आध्यात्मिक जीवन पसंद करते हैं, वे आध्यात्मिक चेतना के विकास की चिंता करते हैं। वे बौद्धिक विकास को आवश्यक मानते हुए भी सर्वोपरि नहीं मानते। जब तक आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो जाता,तब तक जीवन का परम साध्य उपलब्ध नहीं होता, उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता।

20.11 कषायों का तारतम्य

कषाय-चतुष्टयी—क्रोध, मान, माया और लोभ—के तारतम्य का पहला प्रकार है—अनन्तानुबंधी। अनन्तानुबंधी अनन्त अनुबंध करता है। इतनी संतति पैदा करता है कि जिसका अंत नहीं होता। संतति के बाद संतति। यह क्रम टूटता ही नहीं या मुश्किल से टूटता है। जिस आवेग में संतति की निरंतरता होती है या जिसमें संतति को पैदा करने की अटूट क्षमता होती है, वह अनन्तानुबंधी होता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि एक घटना घटती है। उसका असर होता है और बात समाप्त हो जाती है। कभी ऐसा भी होता है कि घटना घटित हुई, मन में विचार आया और उस विचार का सिलसिला इतना लम्बा हो गया कि उस मूल विचार से अनेक-अनेक छोटे-बड़े विचार उत्पन्न होते गये। एक के बाद एक विचार आते रहे। उनकी श्रृंखला नहीं टूटी। वह पहला विचार इतनी बड़ी संतति पैदा करता जाता है कि वह कभी समाप्त नहीं ही होता। यह अनन्तानुबंधी है।

बहुत सारे कीटाणु ऐसे होते हैं, जिनकी संतति इतनी बढ़ जाती है कि जाल फैल जाता है। वह जाल बहुत बड़ा होता है। वे कीटाणु संतति पैदा करते ही चले जाते हैं। कहीं रुकते ही नहीं।

इसी प्रकार जिस आवेग की संतति आगे से आगे बढ़ती चली जाती हे, वह तीव्रतम आवेग हमारे दृष्टिकोण को प्रभावित करता है। जब तक यह आवेग होता है, तब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होता। क्यों कि मूर्च्छा इतनी सघन होती है कि एक मूर्च्छा दूसरी मूर्च्छा को, दूसरी मूर्च्छा तीसरी मूर्च्छा को और तीसरी मूर्च्छा चौथी मूर्च्छा को उत्पन्न करती चली जाती है। सम्यक् देखने का हमें अवसर ही नहीं मिलता। एक के बाद दूसरी गलती, गलतियों को दोहराते चले जाते हैं और दृष्टि में भ्रम छाया का छाया रहता है। यह प्रखरतम आवेग हमारी दृष्टि को विकृत करता है।

यह ग्रंथिपात का क्रम है। मनोविज्ञान की भाषा में कहा जाता है कि जब आवेग प्रबल होता है, तब ग्रंथिपात होता है। यह आवेग आने के बाद जाता नहीं। जब क्रोध अनन्तानुबंधी की कोटि का होता है, तब वह सहजता से नहीं जाता वह चट्टान की दरार जैसा होता है। चट्टान में दरार पड़ गयी, वह फिर मिटती नहीं। अमिट बन जाती है। एक रेखा बालू पर खींची जाती है और एक रेखा पानी पर खींची जाती है। पानी की रेखा तत्काल मिट जाती है, मिट्टी की रेखा कठिनाई से मिटती है, फिर भी वह चट्टान की दरार की भांति कठिन नहीं होती। आवेग की भी ये चार स्थितियां, अवस्थाएं होती है— तीव्रतम, तीव्रतर, मंद और मंदतर। कर्मशास्त्र की भाषा में चार नाम हैं—1. तीव्रतम—अनन्तानुबंधी 2. तीव्रतर—अप्रत्याख्यानी 3. मंद—प्रत्याख्यानी 4. मंदतर—संज्वलन।

प्रथम कोटि का आवेग दृढ़तम होता है। उस स्थिति में राग-द्वेष की गांठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता या जागृति के बिन्दु पर पहुंचने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता। जीवन में केवल मूर्च्छा ही मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नहीं लगता। निंदियाई आंखों से आदमी ठीक देख नहीं पाता, नशे में आदमी देख नहीं पाता, उसे यथार्थ का बोध नहीं होता, क्योंकि वह मत्त है, सुप्त है। जब तक आवेग की यह अवस्था बनी रहती है, राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि होती है, तब तक सत्य का

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दर्शन नहीं होता। तत्त्व का विपर्यय होता है। इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि व्यक्ति के चिंतन-मनन को विकृत कर देती है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, वह क्षीण होता है, तब दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यान) प्राप्त होती है।

अनन्तानुबंधी अवस्था का विलय होते ही दृष्टिकोण सम्यक् हो जाता है। यह साधना या आध्यात्मिक चेतना के विकास की पहली भूमिका है। कर्मशास्त्र की भाषा में इस भूमिका का नाम है—सम्यक्दृष्टि गुणस्थान। यहां अतत्त्व की बुद्धि नहीं रहती। व्यक्ति जो जैसा है, उसे वैसा जानने लग जाता है।

आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान रहती है, तब आध्यात्मिक चेतना के विकास के लिए जिस प्यास को बुझाना चाहिए, जो अनन्त प्यास है, वह बुझती नहीं। बोध यथार्थ हो जाता है कि वह प्यास है और ऐसी प्यास है जो बुझती नहीं। क्योंकि आवेग की दूसरी अवस्था विद्यमान है। वह पथ प्राप्त नहीं करने देती। आवेग की उस ग्रंथि का ऐसा स्राव होता है, जो उस प्यास को बुझाने के रास्ते पर मनुष्य को चलने ही नहीं देता। चेतना ऐसी बन जाती है कि व्यक्ति जानते हुए भी कर नहीं पाता।

कई बार हम लोगों को यह कहते हुए सुनते हैं कि ध्यान बहुत अच्छा है, पर हम उसे कर नहीं पाते। निकम्मा कौन बैठे? काम बहुत है। इच्छा ही नहीं होती कि या साधना की जाये। यद्यपि ध्यान भी एक प्रवृत्ति है या साधना भी एक प्रवृत्ति है, फिर भी उसमें मन नहीं लगता। मन उसी प्रवृत्ति में लगता है, जिसको हम रात-दिन करते आ रहे हैं। वह भी सकारण होता है। इसका मूल कारण है—दूसरे आवेग की विद्यमानता। जैसे-जैसे आध्यात्मिक चेतना का क्रम बढ़ता है, वह दूसरा आवेग धुलता जाता है, उसका शोधन होता जाता है, तब व्यक्ति में विरति की ओर बढ़ने की भावना होती है। इस आवेग का नाम है—अप्रत्याख्यान।

पहला आवेग टूटता है, तब भेदज्ञान की उपलब्धि होती है। मैं शरीर से भिन्न हूं, मैं शरीर नहीं हूं—यह बोध स्पष्ट हो जाता है। मैं शरीर हूं—यह अस्मिता है। अस्मिता एक क्लेश है। भेदज्ञान होते ही अस्मिता मिट जाती है, क्लेश मिट जाता है। इसके मिटते ही दूसरा संस्कार निर्मित हो जाता है। 'मैं शरीर नहीं हूं', 'मैं शरीर से भिन्न हूं'—यह भी एक संस्कार है। यह प्रतिप्रसव है, अर्थात् उस संस्कार को मिटाने वाला संस्कार है। शरीर के साथ अभेदानुभूति, 'अहमेव देहोऽस्मि' का जो भाव है, मैं शरीर हूं, मैं देह हूं—यह जो भाव है, यह मिथ्या दृष्टिकोण है। वह समाप्त हो जाता है। उसे समाप्त करने के लिए दूसरे संस्कार का निर्माण करना होता है। 'मैं शरीर नहीं हूं'—यह प्रतिप्रसव है, प्रतिपक्ष का संस्कार है।

जैसे ही आवेग की दूसरी अवस्था (अप्रत्याख्यानावरण) उपशांत या क्षीण होती है, तब मन में भावना होती है कि विरति का, त्याग का रास्ता अच्छा है, प्यास बुझाने वाला है, इस पर अवश्य चलना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में देशविरति गुणस्थान उपलब्ध हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की पांचवीं भूमिका है।

आध्यात्मिक विकास के क्रम में जब हम आगे बढ़ते हैं, अभ्यास करते-करते जैसे मोह का वलय टूटता जाता है, उसका प्रभाव मंद होता जाता है, तब तीसरी ग्रंथि खुलती है। इस ग्रंथि का नाम है—प्रत्याख्यानावरण। यह आवेग की तीसरी अवस्था है। इसके टूटने से विरति के प्रति व्यक्ति पूर्ण समर्पित हो जाता है। यह आध्यात्मिक विकास की छठी भूमिका है। इस भूमिका में व्यक्ति साधु बन जाता है। पांचवीं भूमिका गृहस्थ साधकों की है और छठी भूमिका मुनि-साधकों की है। दोनों साधना-पथ के पथिक हैं। गृहस्थ जीवन से मुनि जीवन में आ जाना कोई आकस्मिक घटना नहीं है, एक छलांग नहीं है। कहीं-कहीं, कभी-कभी आकस्मिक घटना भी घटित होती है, ऐसी छलांग आती है कि व्यक्ति को नयी उपलब्धि प्राप्त हो जाती है, किन्तु गृहस्थ जीवन से मुनि में आ जाना कोई छलांग नहीं है। इसमें निश्चित क्रम की व्यवस्था है। कोई गृहस्थ होकर साधना का प्रारंभ करता है और कोई मुनि बनकर साधना की यात्रा पर चलता है। इसके पीछे भी मोह के आवेगों का सिद्धान्त काम करता है। जिस व्यक्ति के मोह का कुछ विलय हुआ है एक निश्चित मात्रा में, तो उस व्यक्ति के मन में साधना का भाव जागृत होता है। जिस व्यक्ति के मोह का अधिक विलय हुआ है, उस व्यक्ति के मन में साधना के प्रति समर्पित हो जाने की बात प्राप्त होती है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20.12 अन्तरंग साधना द्वारा कषाय-विजय

हम अंतरंग और बहिरंग—दोनों पर ध्यान दें। जब तक अंतरंग का स्पर्श नहीं होगा, तब तक आध्यात्मिक चेतना उपलब्ध नहीं हागी। बहिरंग साधना से व्यवहार की पूर्ति तो हो सकेगी, किन्तु आध्यात्मिक चेतना का विकास नहीं हो पायेगा। कर्मशास्त्र के रहस्यों को समझे बिना हम आध्यात्मिक विकास के सूक्ष्म रहस्यों को नहीं समझ सकते। उन सूक्ष्म रहस्यों को समझे बिना आध्यात्मिक चेतना के अंतरंग पथ को नहीं पकड़ सकते। इसलिए हमें कर्मशास्त्र की गहराइयों में उतरकर उसके रहस्यों को पकड़ना होगा।

20.12.1 यथाख्यात चारित्र

वीतराग की ओर बढ़ने के लिए जो एक बाधा बनी रहती है, वह है आकांक्षा। व्यक्ति कभी पूजा का अर्थी हो जाता है, कभी उसकी इच्छा प्रिय वस्तुओं को भोगने की ओर असर होती है, कभी वह अनुकूलता चाहता है, मनोज्ञता चाहता है, अमनोज्ञता से बचना चाहता है। यह सब आशंसा से उत्पन्न होता है। जो व्यक्ति जैसा कहता है, वैसा करने वाला नहीं होता, तब तक अध्यात्म की उच्च भूमिका प्राप्त नहीं होती। जब ये चारों आवेग नष्ट हो जाते हैं, तब वीतरागता की स्थिति आती है, तब चारित्र यथाख्यात बन जाता है। उस अवस्था में किसी भी परिस्थिति में लक्ष्य के प्रति शैथिल्य नहीं आता। तब कहने और करने में, करने और कहने में तनिक भी अंतर नहीं रह जाता। चाहे मनुष्यकृत कष्ट प्राप्त हों, तिर्यंचकृत कष्ट प्राप्त हों या दैवी उपसर्ग प्राप्त हों, चाहे मरने का प्रसंग आये या जीने का, चाहे आकर्षक पदार्थों का अंबार लगा हो या नीरस पदार्थ पड़े हों, व्यक्ति की चेतना में कोई अन्तर नहीं आता। वह आत्मा के साथ एकात्मक हो जाता है, एकरूप हो जाता है। वह यथाख्यात चारित्र इतना अप्रकम्प होता है कि कोई छिपाव आवरण नहीं रहता।

20.12.2 आवेग-नियंत्रण

हमें कर्मशास्त्र को केवल जानना ही नहीं है, उसके रहस्यों को जानकर उनसे लाभ उठाना है। वह है आवेग का नियंत्रण। आवेगों पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए। कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग-नियंत्रण की तीन पद्धतियां हैं—उपशमन, क्षयोपशमन और क्षयीकरण।

उपशमन

मनोविज्ञान की भाषा में इसे दमन की पद्धति कहा गया है। एक व्यक्ति आवेगों का दमन करता चला जाता है। मन में जो भी इच्छा उत्पन्न हुई, जो भी आवेग आया, उसे दबा दिया। वह दबाता चला जाता है और दमन करते-करते अध्यात्म-विकास की ग्यारहवीं भूमिका तक चला जा सकता है। यह भी ऊंची भूमिका है। इसका नाम है—उपशांत मोह। इसे ग्यारहवां गुणस्थान कहा जाता है। इस भूमिका में मोह इतना उपशांत हो जाता है। कि व्यक्ति वीतराग हो जाता है। यह दमन का रास्ता है, विलय का नहीं। इसलिए कुछ ही समय पश्चात् ऐसी स्थिति बनती है कि दबा हुआ कषाय उभरता है और उससे ऐसा लगता है कि ग्यारहवीं भूमिका में गया हुआ साधक नीचे लुढ़क जाता है और फिर वह उन्हीं आवेगों से आक्रांत हो जाता है। दमन की पद्धति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु यह व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुंचा पाती।

क्षयोपशमन

यह दूसरी पद्धति है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे उदात्तीकरण की पद्धति कहा गया है। इसे माार्गान्तरीकरण भी कहा जाता है। इसका अर्थ है—रास्ता बदल देना, उदात्त कर देना, परिष्कृत कर देना, परिमार्जन कर देना क्षयोपशमन का अर्थ है—कुछ दोषों का उपशमन हुआ और कुछ क्षीण हुए; इसमें उपशमन और क्षय साथ-साथ चलते हैं।

क्षयीकरण

यह तीसरी पद्धति है। इसका अर्थ है—पूर्ण क्षीण कर देना, समाप्त कर देना, विलय कर देना। इसमें उपशमन नहीं होता। जो भी आया, नष्ट कर दिया। यह नष्ट करते हुए चलने की पद्धति है। यह है सर्वथा आगे बढ़ जाने की पद्धति। ऐसा करने वाला व्यक्ति पूर्णतः आगे ही बढ़ता चला जाता है। उसकी आध्यात्मिक चेतना की भूमिका प्रशस्त होती चली जाती है।

आवेगों का उपशमन होता है, आवेगों का क्षयोपशमन होता है और आवेगों का क्षयीकरण होता है।

मस्तिष्क-विज्ञान की खोजों से प्राप्त महत्त्वपूर्ण सूचनाओं के अनुसार मस्तिष्क का जो रेटीकुलर फॉरमेशन—तान्त्रिक जालक है, वह उन न्यूरोन्स से बना है, जहां भय, क्रोध, लालसा आदि भाव जन्म लेते

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हैं और वह रेटीकुलर फॉरमेशन उन भावों का नियन्त्रण भी करता है। वे पैदा भी होते हैं और नियन्त्रित भी होते हैं। यदि उत्पन्न हों और नियन्त्रण की क्षमता न हो तो मनुष्य इतने आवेग में आ जाए कि शरीर की व्यवस्था ही लड़खड़ा जाए। शरीर के साथ यह एक वैज्ञानिक बात भी जुड़ी हुई है कि एक भाव पैदा होता है तो साथ में नियन्त्रण की बात भी रहती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है।

इस रेटीकुलर फॉरमेशन की क्रिया को कर्मवाद की भाषा में औदयिक व्यक्तित्व और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व कहा जाता है। ये दोनों व्यक्तित्व साथ-साथ चलते हैं। औदयिक व्यक्तित्व है इसलिए क्रोध, भय आदि भाव उत्पन्न होते हैं और क्षायोपशमिक व्यक्तित्व (चेतना की निर्मलता) है, इसलिए उन पर नियन्त्रण होता है। उत्पन्न होना ओर नियन्त्रित होना— दोनों अवस्थाएं साथ में चलती हैं।

20.13 वैज्ञानिक दृष्टिकोण और साधना

कर्मशास्त्रीय व्याख्याओं की संवादी व्याख्याएं आधुनिक विज्ञान की शब्दावली में भी उपलब्ध होती हैं। साधना द्वारा जो प्रभाव हमारी चेतना पर घटित होता है, उसे भी हम वैज्ञानिक दृष्टि से समझ सकते हैं। प्रेक्षाध्यान-साहित्य में इसका विशद विवेचन उपलब्ध है। यहां केवल संक्षेप में इस पर प्रकाश डाला गया है।

20.13.1 अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्राव एवं भाव

प्राचीन शरीर-विशेषज्ञ हृदय, स्नायु-संस्थान, गुर्दा—इनको शरीर के संचालक मानते थे। किन्तु वर्तमान शरीरशास्त्र की खोजों ने यह प्रमाणित कर दिया कि मूल कारण इनसे भी बहुत आगे हैं। वे हैं हमारे हार्मोन—ग्रंथियों के स्राव। हमारे वे शरीर और मन को जितना प्रभावित करते हैं, उतना प्रभावित हृदय, यकृत, स्नायु-संस्थान आदि नहीं करते।

ग्रंथियां हमारे शारीरिक और मानसिक विकास को प्रभावित करती हैं। कंठमणि (थायरायड) शरीर के समूचे विकास को प्रभावित करती है। यदि इसका स्राव ठीक नहीं है तो आदमी बौना-का-बौना रह जाता है। थायरायड से उत्पादित रस का नाम थायरेक्सिन (Thyrexin) है। यह शरीर की पुष्टि, वृद्धि और मन के विकास का घटक रस है। यदि यह रस समुचित रूप से उत्पन्न नहीं होता है तो शरीर कमजोर रह जाता है और बुद्धि तथा मन का विकास नहीं होता। भय और क्रोध की अवस्था में कंठमणि का स्राव समुचित नहीं होता। इसके फलस्वरूप अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियां उत्पन्न होती हैं।

पीनियल (Pineal) ठीक काम नहीं करती है तो प्रतिभा का विकास नहीं होता। यदि समुचित परिणाम में यह रस प्राप्त नहीं होता है तो शरीर का संतुलन, मन और शरीर तथा प्राणों का नियन्त्रण ठीक नहीं रह सकता।

एड्रेनल (Adrenal) ग्रंथि का स्राव समुचित नहीं होता तो भय, चिन्ता, क्रोध उत्पन्न होता है, सारी क्रियाएं अस्त-व्यस्त होती हैं। इसका रस बिना निमित्त के भी बन जाता है। उसके प्रभाव से आदमी अकारण ही चिंतित रहने लग जाता है। इस ग्रंथि से निकलने वाला रस एड्रेनलिन (Adrenalin) कहलाता है। शरीरिक स्फूर्ति का यह निमित्त बनता है। जब कभी प्राणी खतरे के छोर पर होता है तब यह ग्रंथि अधिक स्राव करती है और वह रस अधिक मात्रा में रक्त में मिलकर प्राणी को खतरे से मुकाबला करने की शक्ति प्रदान करता है। कभी-कभी होने वाले असाधारण कार्य भी इसी के फलस्वरूप होते हैं।

गोनैड्स (Gonads) ग्रंथि से यौन-उत्तेजना तथा शरीरिक यौन-चिह्न उत्पन्न होते हैं। कर्म-शास्त्र की भाषा में जिसे हम 'वेद' कहते हैं, उससे इस ग्रंथि का सम्बन्ध है। लिंग-परिवर्तन— स्त्री से पुरुष हो जाना या पुरुष से स्त्री हो जाना—यह सारा इसी ग्रंथि के स्राव पर निर्भर होता है।

ग्रंथियों के स्राव से सम्बन्धित ये खोजें बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। शारीरिक ग्रंथियों के स्रावों के परिवर्तन के आधार पर अनेक प्रकार की विभिन्नताएं उत्पन्न होती हैं। किन्तु ये ग्रंथियां या इनके स्राव भी मूल कारण नहीं हैं, इनके पीछे भी कुछ सूक्ष्म कारण हैं। उस मूल स्रोत की खोज करने के लिए ही हमारी यह यात्रा है। इस यात्रा में चलते-चलते हम एक बिन्दु पर पहुंचे हैं। उस बिन्दु का, उस मूल का स्रोत है, 'कर्म'। यह हमारे आचरणों का, वृत्तियों का मूलस्रोत है, महास्रोत है।

20.13.2 आवेगों की चतुरंगी चिकित्सा

कुशल चिकित्सक वह होता है जो रोग, रोग के हेतु, आरोग्य और आरोग्य के हेतु—इन चारों को जानकर रोग की चिकित्सा करता है। कुशल साधक वह होता है जो कर्म, कर्म के बीज, कर्म-मुक्ति और

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्म-मुक्ति के हेतु को जानता है। जो इन सबको भली-भांति जानकर कर्म की चिकित्सा करता है, वह कुशल साधक होता है।

उसकी आध्यात्मिक चेतना के विकास में जो बाधक है, वह है कर्म। अब यदि वह अपने बाधक तत्त्व को नहीं जानता तो अपनी बाधा मिटा नहीं सकता। इसलिए कर्म को जानना जरूरी है। दूसरे शब्दों में, बंध कों जानना जरूरी है। बंध या कर्म को जानना ही पर्याप्त नहीं है। उसके हेतु को जाने बिना कुछ नहीं होता। यदि कर्म या बंध के हेतु को नहीं जाना जाता तो कर्म या बंध को समाप्त नहीं किया जा सकता। कर्म का बीज है—राग-द्वेष। जब तक राग और द्वेष को नहीं जाना जाता, तब तक राग और द्वेष से होने वाले जीव के परिणामों को, जीव की विविध परिणतियों को नहीं जाना जा सकता। हसलिए कर्म को जानना जरूरी है, कर्म-बीज को जानना भी जरूरी है। दोनों को जान लिया किन्तु यदि कर्म-मुक्ति और कर्म-मुक्ति के हेतु को नहीं जाना तो कर्म की चिकित्सा नहीं हो सकती।

कर्म-मुक्ति का हेतु है—संवर और निर्जरा। जब ध्यान के द्वारा संवर (निरोध) की स्थिति उपलब्ध होती है और तपस्या के द्वारा निर्जरा हो जाती है, तब कर्म की ठीक चिकित्सा होती है।

हमारे आवेग कर्मों के आने के द्वारों को खोलते रहते हैं। उन द्वारों को कैसे बंद किया जाये? यदि मोह के आवेग शांत होते हैं, तो कर्मों का दबाव अपने आप कम होने लग जाता है। आवेगों को शांत करने का प्रश्न केवल साधकों के सामने ही नहीं है किन्तु चिकित्सकों के सामने भी है। क्योंकि आवेगों को शांत किये बिना जीवन भी स्वस्थ नहीं चल सकता। आवेग बुरी आदतों के उत्पादक हैं। स्वस्थ जीवन के लिए उन्हें शांत करना आवश्यक होता है। चिकित्सकों ने भी अपनी सीमा में आवेग-शांति के उपाय खोजे हैं। जितने आवेग हैं, उन सबके केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं तथा जिनके माध्यम से ये आवेग अभिव्यक्त होते हैं, वे सब केन्द्र हमारे मस्तिष्क में हैं। उन केन्द्रों को समाप्त करने से आवेग शांत हो जाते हैं। क्रोध का एक केन्द्र है, एक बिन्दु है। उस बिन्दु को समाप्त कर देने पर क्रोध आना बन्द हो जाता है। मद्रास में 'ब्रेन इन्स्टीट्यूट' है। यह भारत का बहुत बड़ा केन्द्र है। यहां के डॉक्टरों ने कुछ ऑपरेशन किये। उन्होंने कुछ खोजें की। उन्होंने बताया कि मदिरा पीने की आदत ऑपरेशन के द्वारा छुड़ाई जा सकती है। मस्तिष्क में एक केन्द्र है, जो मादक वस्तुओं के प्रति आकर्षण पैदा करता है। उसकी उत्तेजना को समाप्त कर दिया जाये तो फिर मादक वस्तुओं के सेवन की आदत समाप्त हो जाती है। उन्होंने ऐसे ऑपरेशन किये हैं और उनमें सफल हुए हैं। उनका यह निष्कर्ष है कि अनेक आवेग, अनेक उत्तेजनाएं, चिड़चिड़ा स्वभाव, कलह करने की वृत्ति, इन सबको मस्तिष्क के अमुक-अमुक केन्द्रों के ऑपरेशन के द्वारा ठीक किया जा सकता है।

हमारे मस्तिष्क में कई प्रकार की तरंगें पैदा होती हैं—अल्फा, वीटा, गामा आदि-आदि। ये तरंगें हमारे में विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों को उत्पन्न करती हैं। कई प्रकार की अन्य तरंगें भी हैं, जिनका विकास यौगिक पद्धति के द्वारा किया जा सकता है। उनका अध्ययन और परीक्षण भी किया जा सकता है।

आज की चिकित्सा पद्धति ने इतना विकास कर लिया कि वह ऑपरेशन के द्वारा या बिजली के झटके देकर, विभिन्न आवेगों को, विभिन्न आदतों को मिटाने में सक्षम है। आवेग के केन्द्र को समाप्त कर देने पर वह जीवन-भर फिर कभी सक्रिय नहीं हो सकता। काम-वासना का आवेग, कषाय का आवेग, भय का आवेग, आदि-आदि सभी आवेगों को समाप्त करने में आज का चिकित्सा विज्ञान सक्षम है।

चिकित्सा की सीमा है—हमारा दृश्य शरीर, औदारिक शरीर। शरीर का मुख्य भाग है मस्तिष्क। इसके माध्यम से चिकित्सक इस परीक्षण में लगे हुए हैं कि किस प्रकार आवेगों के केन्द्रों को सुधार कर मनुष्य को आवेगों के प्रहारों से बचाया जा सकता है। यह शरीरशास्त्रीय और चिकित्साशास्त्रीय खोजों का निष्कर्ष है।

20.13.3 आत्मिक प्रक्रिया

अब हम अध्यात्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर भी विचार करें। क्या बिना ऑपरेशन के भी इन आवेगों को शांत किया जा सकता है? इस प्रश्न पर प्राचीन काल से अध्यात्म के साधकों ने जो अनुसंधान किये हैं, जो परीक्षण और प्रयोग किये हैं, उन पर हमें एक दृष्टि डाल देनी चाहिए।

अध्यात्म-तत्त्ववेत्ताओं ने कहा कि यह सब आत्मिक प्रक्रिया के द्वारा भी हो सकता है। आत्मिक-प्रक्रिया में सबसे पहली बात है—स्वरूपानुसंधान—अपने स्वरूप का संधान। हमारे सामने एक ही प्रकाश-किरण है और वह है हमारा स्वतंत्र अस्तित्व। उसको कभी मिटाया नहीं जा सकता। चाहे हजार

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बार कर्मों का आक्रमण हो, हजार बार कर्म के पुद्गलों की रासायनिक प्रक्रियाएं आवृत्तियां करती रहें, फिर भी उसे पूर्णत: विकृत नहीं किया जा सकता, न पूर्णत: शक्तिहीन किया जा सकता है।

20.13.4 स्वरूप-संधान

सबसे पहली बात है कि अपने स्वरूप का संधान। जिस व्यक्ति में यह सम्यग्-दृष्टि जाग जाती है, वह व्यक्ति आवेगों में परिवर्तन करने में सक्षम हो जाता है। स्वरूप के संधान का अर्थ है—भेदज्ञान की प्राप्ति। आध्यात्मिक भूमिका में परिवर्तन का यह पहला बिन्दु है। हम बदलना शुरू कर देते हैं। इससे इतना आंतरिक रूपांतरण आ जाता है, कि पहले का व्यक्ति और भेदज्ञान या सम्यक्-दृष्टि प्राप्त होने के बाद का व्यक्ति, एक ही व्यक्ति नहीं रह जाता। जीवन और विश्व के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता हैं। अपने को देखने का दृष्टिकोण और पदार्थ को देखने का दृष्टिकोण—दोनों बदल जाते हैं। दृष्टिकोण के परिवर्तन से आवेगों पर तीव्र प्रहार होता है। जिस दृष्टिकोण के आधार पर आवेगों को पोषण मिल रहा था, उस दृष्टिकोण के बदल जाने पर आवेगों को वह पोषण मिलना बंद हो गया। आवेगों को सिंचन मिलता है अहंकार के द्वारा, ममकार के द्वारा। जैसे ही दृष्टिकोण बदलता है, अहंकार और ममकार की गांठ टूट जाती है तब आवेगों के आधार ही समाप्त हो जाता है। इसलिए आवेगों की चिकित्सा का पहला सूत्र है—दृष्टिकोण का परिवर्तन, सम्यक्-दृष्टि की प्राप्ति।

20.13.5 विपाक-प्रेक्षा

इसका दूसरा सूत्र है—विपाक की प्रेक्षा। यदि हम प्रवृत्ति के विपाक पर ध्यान दें और यह देखने का प्रयत्न करें कि इसका विपाक क्या होगा, क्या हो रहा है तो उच्छृंखल प्रवृत्तियां या आवेग नहीं चल सकते। विपाक की प्रेक्षा करने वाला वह बहुत ही विवेक और संतुलन के साथ काम करेगा। यदि वह परिणाम और विपाक से आंख मूंदकर कार्य करता चला जाता है तो उससे वे काम भी हो जाते हैं जो अनिष्टकर/हानिकर होते हैं। प्रेक्षा की चेतना जागृत हो तो अवांछनीय कार्य, अनिष्ट प्रवृत्ति नहीं हो सकती। विपाक की प्रेक्षा ध्यान का एक अंग है। जैन दर्शन में धर्म्यध्यान के चार प्रकार बतलाए गए हैं—आज्ञा विचय, अपाय विचय, विपाक विचय और संस्थान विचय। इनमें तीसरा है—विपाक विचय।

कर्म आठ हैं और आठ कर्मों के अनेक विपाक हैं। इन्द्रिय-ज्ञान की शक्ति तथा मन के ज्ञान की शक्ति को आवृत्त करना ज्ञानावरण कर्म का विपाक है। ज्ञानावरण कर्म जब विपाक में आता है, तब वह हमारी ज्ञान की शक्तियों को ढांक देता है।

दर्शनावरण कर्म का विपाक होता है, तब हमारी देखने की शक्ति आवृत्त हो जाती है। नींद आती है, गहरी नींद आती है, इतनी गहरी नींद कि जिस नींद में आदमी दिन में की हुई कल्पनाओं को क्रियान्वित कर डालता है। इतनी प्रगाढ़ निद्रा कि आदमी नींद में ही मीलों चला जाता है, काम कर डालता है, किसी को पीट डालता है, कुछ तोड़ डालता है, फिर घर में आकर बिस्तर पर लेट जाता है। इतना होने पर भी उसकी नींद नहीं टूटती। ऐसी नींद में एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है और उस शक्ति से प्रेरित होकर व्यक्ति असंभव कार्य भी कर डालता है। ऐसा दर्शनावरण कर्म के विपाक से होता है।

मोह कर्म का विपाक होता है तब राग-द्वेष का चक्र चलने लगता है, विभिन्न प्रकार के आवेग उत्पन्न होते हैं, विभिन्न प्रकार की वासनाएं उभरती हैं, भय जागता है तथा अन्यान्य आवेग भी कार्यरत हो जाते हैं।

कर्मों के विपाक का यह चक्र अविश्रांत गति से घूमता रहता है। क्या हम इन विपाकों को निरस्त कर सकते हैं? नहीं, इन्हें निरस्त नहीं किया जा सकता। किन्तु इनको हम रोक सकते हैं।

एक प्रक्रिया है—कर्म को न बांधने की किन्तु कर्म का बंधन न हो, इसमें हम जागरूक रहें, अप्रमत्त रहें। यह भी साधना की एक प्रक्रिया है।

साधना की एक प्रक्रिया यह भी है कि जो विपाक आने वाले हैं, उनके प्रति हम पहले से ही जागरूक हो जाएं। उन विपाकों को हम बदल दें। अन्यथा हम उन विपाकों को आने ही न दें। कर्मों को हमने बांध दिया। कर्म बंध गए। वे परिणाम देने वाले हैं। उनका विपाक-काल है। हम जागरूक हो जाएं। हमारी चेतना की कुछ रश्मियां आलोकित हो जाएं। हम उन कर्मों को बीच में ही बदल दें, उनकी शक्ति में ऐसा परिवर्तन ला दें कि उनका विपाक न हो सके। इस पर हमारा ध्यान केन्द्रित होना चाहिए।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

निमित्तों के बिना विपाक नहीं हो सकता। प्रज्ञापना सूत्र में इसका सुन्दर विवेचन प्राप्त है। विपाक के लिए पांच शर्तें हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव। जब ये पांचों बातें पूरी होती हैं, तब कर्म का विपाक हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता। इसी आधार पर कर्म की चार प्रकृतियां मानी गयी हैं—क्षेत्रविपाकी, जीवविपाकी, भावविपाकी और भवविपाकी। यदि इन चारों को हम ठीक से समझ लें और कर्मशास्त्र के रहस्यों को गहराई में जाकर पकड़ लें तो बहुत कुछ परिवर्तन ला सकते हैं। यदि कर्म के हेतुओं में और बंधे हुए कर्मों में कोई भी परिवर्तन नहीं किया जा सकता तो साधना का कोई अर्थ नहीं हो सकता। यह हमारी बहुत बड़ी क्षमता है कि हम साधना के माध्यम से उन विपाकों में परिवर्तन ला सकते हैं। किन्तु यह तभी सम्भव हो सकता है, जब हम कर्मशास्त्र की गहराई में जाकर कर्मों की प्रकृतियों और स्वभावों को ठीक-ठीक समझ लें और यह उपाय भी जान लें कि उनमें कैसे परिवर्तन लाया जा सकता है।

पुद्गल का एक परिणाम है—वेदनीय कर्म। वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियां हैं—सातवेदनीय और असातवेदनीय। सुख का भी वेदन होता है और दुःख का भी वेदन होता है। असात वेदनीय का उदय क्यों होता है? एक कारण है—पुद्गल। पुद्गल का ऐसा कोई स्पर्श हुआ, कोई ऐसी चोट लगी कि पैर में दर्द हो गया। असातवेदनीय का उदय हो गया। मन उसमें ही जाता है, साधना में नहीं जाता। मन की सारी ऊर्जा पैर की ओर ही बहने लग जाती है। साधना का वह स्पर्श भी नहीं कर पाती। असातवेदनीय के उदय का एक कारण है—पुद्गल का परिणाम। जैसे—बहुत खा लिया। अजीर्ण हो गया। पेट में दर्द प्रारंभ हो गया। अब सारा मन उसी ओर भागता है, विपाक की ओर जाता है, साधना की ओर नहीं जाता। पुद्गल के परिणाम के कारण जो असात का विपाक होता है, उसे हम बदल सकते हैं। इसलिए यह कहा जाता है—अधिक मत खाओ। भोजन की मात्रा का ज्ञान करो। साधना करने वाले व्यक्ति को यह जानना चाहिए कि कब खाए? क्यों खाए? कितना खाए और कैसे खाए? इसलिए ऐसा भोजन न किया जाये जो असातवेदनीय या दर्शनावरणीय कर्म के विपाक का निमित्त बने। बहुत तेज मिर्च-मसाले खा लिये, तामसिक भोजन किया और साधना में बैठ गये। मन में विकृतियां पैदा होने लगीं, ध्यान से मन हट गया। तो हमने भोजन की परिणति के द्वारा विपाक को निमंत्रित कर दिया। उपादान का महत्त्व है तो निमित्त का भी कम महत्त्व नहीं है। इसलिए हम कैसे बैठे, क्या खाएं, कैसे खाएं, कितना खाएं, किस वातावरण में रहें—ये सारी बातें बहुत ही महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं।

कुछ बातें हमारे वश की होती हैं और कुछ हमारे नियंत्रण से बाहर की होती हैं। जैसे—वर्षा का मौसम है। आकाश बादल से आच्छन्न है। ऐसे वातावरण में दर्शनावरणीय कर्म के उदय को मौका मिल जाता है। नींद आने लगती है। यह हमारी भूल का परिएाम नहीं है। हमने अधिक खाया, अवांछनीय भोजन किया और नींद ने आ घेरा। यह हमारी भूल का परिणाम है। दोनों प्रकार से विपाक का उदय होता है। निमित्त मिलते ही विपाक उदय में आ जायेगा। उस स्थिति में हम क्या करें? उस स्थिति में हम कष्ट-सहिष्णु बनने का अभ्यास करें। जो कष्ट-सहिष्णु नहीं होता, कठिनाइयों को नहीं झेल सकता, वह न साधना ही कर सकता है और न कर्म के चक्र-व्यूह को ही तोड़ सकता है।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को संतुलन स्थापित करना होता है। ध्यान-काल में शारीरिक कष्ट होता है, पर यह कष्ट अच्छे परिणाम लाता है। आदमी इन शारीरिक कष्टों से घबराकर ध्यान-साधना को छोड़ देता है। यह उसकी कमजोरी है। हमें अच्छे विचार और अच्छे भाव लाना चाहते हैं, पर जब तक यह शरीर अच्छा नहीं बनेगा, तब तक वह अच्छे विचारों और अच्छे भावों का संवाहक या उत्पादक नहीं हो सकेगा।

यदि हम उपादान को ठीक कर देते हैं तो परिस्थिति स्वयं ठीक हो जाती है। उपादान को ठीक करना हमारे वश की बात है। आदमी परिस्थिति को सबसे पहले ठीक करना चाहता है, व्यक्ति को नहीं। व्यक्ति उपादान है। उसके ठीक किए बिना परिस्थिति ठीक नहीं हो सकती। पहले हम उपादान को ठीक करें, साथ-साथ परिस्थिति का भी परिवर्तन हो।

20.14 सारांश

इन सारे सन्दर्भों में कर्मवाद और ध्यान के सिद्धान्त को समझने में हमें सुविधा होगी, ध्यान के परिकर, ध्यान के विघ्न, शरीर और मन की बाधाएं, विचार के विघ्न आदि को सही-सही समझने में सहयोग मिलेगा। कर्मवाद और ध्यान को भी—इन दोनों सन्दर्भों में समझते हैं तो हमारे विकास में सहयोग मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

20.15 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. ध्यान-साधना के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्ध करें कि कर्मवाद के रहस्यों का ज्ञान हुए बिना ध्यान-साधना की निष्पत्तियों को नहीं समझा जा सकता।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. राग-द्वेष या चार कषायों के पास्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कर्म-बंध में उनकी मुख्य भूमिका को उजागर करें।
2. प्रेक्षाध्यान एवं अनुप्रेक्षा-ध्यान हमारी चेतना को किस प्रकार प्रभावित कर कर्म के चक्रव्यूह के भेदन में सहयोगी बन सकते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पश्चिमी दार्शनिकों ने जिस प्रकार मानसशास्त्र का अध्ययन किया, वैसे भारतीय सत्त्ववेत्ताओं ने किन शास्त्रों पर प्रकाश डाला?
2. राग-द्वेष और कर्म का वृत्त कैसे बनता है?
3. मन्द चित्त और तीव्र चित्त से कर्म-बंध के स्वरूप में क्या अन्तर माना है?
4. कर्म पर चेतना का अंकुश क्यों संभव है?
5. कर्म-विपाक की सापेक्षता के माध्यम कौन-कौन-से हैं?
6. साधना का मूल प्रयोजन क्या है?
7. ध्यान की सार्थकता कब स्पष्ट प्रतीत होने लगती है?
8. "अच्छा कर्म किया था इसलिए ध्यान-साधना में आ गए" इस कथन की सत्यासत्यता को सकारण स्प"ट करें।
9. "एकाग्रता का अभ्यास करना ही ध्यान का एक मात्र उद्देश्य है।"— इस कथन की सत्यासत्यता को सकारण स्पष्ट करें।
10. किस सूत्र में चार आवेगों की प्रतिपक्ष भावना का सुन्दर निरूपण है?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–21 : मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में कर्मवाद

संरचना

21.0 प्रस्तावना
21.1 उद्देश्य
21.2 कर्मवाद और मनोविज्ञान
21.3 चेतना की मनोवैज्ञानिक अवधारणाएं एवं कर्म
21.4 मूल प्रवृत्तियां और संवेग
21.5 लेश्या : स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क-सूत्र
21.6 परिवर्तन की प्रक्रिया
21.7 चतुर्विध प्रक्रियाएं
21.8 सारांश
21.9 अभ्यास प्रश्नावली

21.0 प्रस्तावना

मनोविज्ञान (Psychology) आधुनिक विज्ञान की एक शाखा है, जिसमें 'मानस' (Psyche) का अध्ययन किया जाता है। यद्यपि सामान्य भाषा में मन (mind) और मानस (Psyche) में विशेष अंतर नहीं किया जाता, फिर भी आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की अवधारणा में यह अंतर क्रमशः स्पष्ट हो रहा है। चैतन्य (Consciousness) के विभिन्न स्तरों की अवधारणा अब मनोविज्ञान में बहुत स्पष्ट हो चुकी है। 'चित्त' जो चेतना का गहरा स्तर है और 'मन' जो चेतना का स्थूल स्तर है—इनके अंतर को समझने का प्रयत्न हो रहा है। चेतन मन (conscious mind), अवचेतन मन (sub-conscious mind) और अचेतन मन (unconscious mind) के रूप में चेतना के तीन स्तरों पर गहराई से अध्ययन किया जा रहा है। अस्तु, कर्मवाद का सारा सिद्धान्त 'मन' के स्तर से बहुत नीचे 'अध्यवसाय' के स्तर से मूलतः सम्बन्ध रखता है।

21.1 उद्देश्य–इस स्थिति में मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मवाद के सिद्धान्तों का विश्लेषण अपने आप में बहुत ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा।

21.2 कर्मवाद और मनोविज्ञान

21.2.1 परस्पर सम्बन्ध का आधार

कर्मवाद और आध्यात्मिक साधना के विश्लेषण में हम देखेंगे कि किस प्रकार अध्यात्म की गहराई में जाने के लिए हमें कर्मशास्त्रीय मीमांसा को हृदयंगम करना होगा। इसी संदर्भ में यह भी स्पष्ट समझना होगा कि कर्मशास्त्र चेतना की गहनतम अवस्थाओं के अध्ययन का शास्त्र है जिसमें मन का अध्ययन स्वतः समाहित है। कर्मशास्त्र को छोड़कर हम मनोविज्ञान या मानसशास्त्र को सम्यक्तया व्याख्यायित नहीं कर सकते। आज मनोविज्ञान में जो अबूझ-गूढ़ पहेलियां हैं उन्हें समाहित नहीं कर सकते। प्राचीन युग में अध्यात्म से सम्बद्ध विद्या शाखाओं में ही मन, मानस, चित्त, चेतना आदि का अध्ययन किया जाता था। भारतीय मनोविज्ञान की विभिन्न शाखाओं में अधिकांशतया अध्यात्म एवं योग-साधना के संदर्भ में इन विषयों की मीमांसा की गई है। जैन अध्यात्म का कर्मवाद से अनिवार्य सम्बन्ध है। इस दृष्टि से कर्मवाद के अंतर्गत ही मन, चित्त, भाव, लेश्या, परिणाम में मन के मौलिक आधारों को खोज रहा है। मौलिक मनोवृत्तियां, संवेग (emotion) संवेद (Sensation) आदि के पीछे कहीं-न-कहीं चेतना के गहरे स्तर पर चल रही रहस्यमयी प्रक्रियाएं काम कर रही हैं, ऐसा समझा जा रहा है। इसलिए सहज ही मनोविज्ञान की व्याख्याओं एवं हमारे कर्मशास्त्रीय विवेचन को हम तुलनात्मक रूप में समझ कर दोनों ओर के आदान-प्रदान की संभावनाओं को देख सकते हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान की एक शाखा शरीर विज्ञान की रासायनिक प्रक्रियाओं के संदर्भ में मानसिक स्तर की प्रक्रियाओं की व्याख्या करने पर जोर दे रही है। यह है—'भौतिक मनोविज्ञान' (Physical Psychology)। इससे अंतःस्रावी ग्रंथि-तंत्र (endocrine system) तंत्रिका तंत्र (nervous system) आदि के संदर्भ में मन की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रक्रियाओं का विश्लेषण किया जा रहा है। कर्मवाद के सिद्धान्तों में नामकर्म और मोहनीयकर्म के परस्पर सम्बन्धों की व्याख्या द्वारा भौतिक और मानसिक तथा भावनात्मक धरातल पर चलने वाली सूक्ष्म क्रियाओं की व्याख्या की जा सकती है। इस प्रकार, मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मवाद के विवेचन के लिए पर्याप्त आधार बन जाता है।

कर्मशास्त्र में शरीर-रचना से लेकर आत्मा के अस्तित्व तक, बंधन से लेकर मुक्ति तक—सभी विषयों पर गहन चिंतन और दर्शन मिलता है। यद्यपि कर्मशास्त्र के बड़े-बड़े ग्रंथ उपलब्ध हैं, फिर भी हजारों वर्ष पुरानी पारिभाषिक शब्दावली को समझना स्वयं एक समस्या है और जब तक सूत्रात्मक परिभाषा में गूंथे हुए विशाल चिंतन को पकड़ा नहीं जाता, परिभाषा से मुक्त कर वर्तमान के चिंतन के साथ पढ़ा नहीं जाता और वर्तमान की शब्दावली में प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक एक महान् सिद्धान्त भी अर्थशून्य जैसा हो जाता है।

आज के मनोवैज्ञानिक मन की हर समस्या पर अध्ययन और विचार कर रहे हैं। मनोविज्ञान को पढ़ने पर लगता है कि जिन समस्याओं पर कर्मशास्त्रियों ने अध्ययन और विचार किया था, उन्हीं समस्याओं पर मनोवैज्ञानिक अध्ययन और विचार कर रहे हैं। यदि मनोविज्ञान के संदर्भ में कर्मशास्त्र को पढ़ा जाए तो उसकी अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं, अनेक अस्पष्टताएं स्पष्ट हो सकती हैं। कर्मशास्त्र के संदर्भ में यदि मनोविज्ञान को पढ़ा जाए तो उसकी अपूर्णता को समझा जा सकता है और अब तक अनुत्तरित प्रश्नों के उत्तर खोजे जा सकते हैं।

21.2.2 वैयक्तिक भिन्नताएं—मनोवैज्ञानिक व्याख्या

हमारे जगत् में करोड़ों-करोड़ों मनुष्य हैं। वे सब एक ही मनुष्य जाति से सम्बद्ध हैं। उनमें जातिगत एकता होने पर भी वैयक्तिक भिन्नता होती है। कोई भी मनुष्य शारीरिक या मानसिक दृष्टि से सर्वथा किसी दूसरे मनुष्य जैसा नहीं होता। कुछ मनुष्य लम्बे होते हैं, कुछ बौने होते हैं। कुछ मनुष्य गोरे होते हैं, कुछ काले होते हैं। कुछ मनुष्य सुडौल होते हैं, कुछ भद्दी आकृति वाले होते हैं। कुछ मनुष्यों में बौद्धिक मंदता होती है, कुछ में विशिष्ट क्षमता होती है। स्मृति और अधिगम क्षमता (Learning Capacity) सबमें समान नहीं होती। स्वभाव भी सबका एक-जैसा नहीं होता। कुछ शांत होते हैं, कुछ बहुत क्रोधी होते हैं। कुछ प्रसन्न प्रकृति के होते हैं, कुछ उदास रहने वाले होते हैं। कुछ निःस्वार्थ वृत्ति के लोग होते हैं, कुछ स्वार्थपरायण होते हैं। वैयक्तिक भिन्नता प्रत्यक्ष है। इस विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। कर्मशास्त्र में वैयक्तिक भिन्नता का चित्रण मिलता ही है। मनोविज्ञान ने भी इसका विशद रूप में चित्रण किया है। उसके अनुसार वैयक्तिक भिन्नता का प्रश्न मूल प्रेरणाओं के सम्बन्ध में उठता है। मूल प्रेरणाएं (प्राइमरी मोटिव्स) सबमें होती हैं, किन्तु उनकी मात्रा सबमें एक समान नहीं होती। किसी में कोई एक प्रधान होती है तो किसी में कोई दूसरी प्रधान होती है। अधिगम क्षमता भी सबमें होती है, किसी में अधिक होती है और किसी में कम। वैयक्तिक भिन्नता का सिद्धान्त मनोविज्ञान के प्रत्येक नियम के साथ जुड़ा हुआ है।

मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन आनुवांशिकता (heradity) और परिवेश (environment) के आधार पर किया जाता है। जीवन का प्रारंभ माता के डिम्ब और पिता के शुक्राणु के संयोग से होता है। व्यक्ति के आनुवांशिक गुणों का निश्चय क्रोमोसोम के द्वारा होता है। क्रोमोसोम अनेक जीनों (jenes) का एक समुच्चय होता है। एक क्रोमोसोम में लगभग हजार जीन माने जाते हैं। ये जीन ही माता-पिता के आनुवांशिक गुणों के वाहक होते हैं। इन्हीं में व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक विकास की क्षमताएं (Potentialities) निहित होती है। व्यक्ति में ऐसी कोई विलक्षणता प्रकट नहीं होती, जिसकी क्षमता उसके जीन में निहित न हो। मनोविज्ञान ने शारीरिक और मानसिक विलक्षणताओं की व्याख्या आनुवांशिकता और परिवेश के आधार पर की है, पर इससे विलक्षणता के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्न समाहित नहीं होते। शारीरिक विलक्षणता पर आनुवांशिकता का प्रभाव प्रत्यक्ष ज्ञात होता है। मानसिक विलक्षणताओं के सम्बन्ध में आज भी अनेक प्रश्न अनुत्तरित हैं। क्या बुद्धि आनुवांशिक गुण है? अथवा परिवेश का परिणाम है? क्या बौद्धिक स्तर को विकसित किया जा सकता है? इन प्रश्नों का उत्तर प्रायोगिकता के आधार पर नहीं दिया जा सकता। आनुवांशिकता और परिवेश से सम्बद्ध प्रयोगात्मक अध्ययन केवल निम्न कोटि के जीवों पर ही किया गया है या संभव हुआ है। बौद्धिक विलक्षणता का सम्बन्ध मनुष्य से है। इस विषय में मनुष्य अभी भी पहेली बना हुआ है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.2.3 व्यक्तिगत भिन्नताएं कर्मशास्त्रीय व्याख्या

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से जीवन का प्रारंभ माता-पिता के डिम्ब और शुक्राणु के संयोग से होता है, किन्तु जीव का प्रारंभ उनसे नहीं होता। मनोविज्ञान के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है। इसलिए सारे प्रश्नों के उत्तर जीवन के संदर्भ में खोजे जा सकते हैं। कर्मशास्त्रीय अध्ययन में जीव और जीवन का भेद बहुत स्पष्ट है, इसलिए मानवीय विलक्षणता के कुछ प्रश्नों का उत्तर जीवन में खोजा जाता है और कुछ प्रश्नों का उत्तर जीव में खोजा जाता है। आनुवांशिकता का सम्बन्ध जीवन से है, वैसे ही कर्म का सम्बन्ध जीव से है। उसमें अनेक जन्मों के कर्म या प्रतिक्रियाएं संचित होती हैं इसलिए वैयक्तिक योग्यता या विलक्षणता का आधार केवल जीवन के आदि-बिन्दु में ही नहीं खोजा जाता, उससे परे भी खोजा जाता है, जीव के साथ प्रवहमान कर्म-संचय (कर्मशरीर) में भी खोजा जाता है।

मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि संवेग के उद्दीपन (Stimulation) से व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन आ जाता है। कर्मशास्त्र के अनुसार मोहनीय कर्म के विपाक से व्यक्ति का चरित्र और व्यवहार बदलता रहता है। प्राणी जगत् की व्याख्या करना सबसे जटिल है। अविकसित प्राणियों की व्याख्या करने में कुछ सरलता हो सकती है। मनुष्य की व्याख्या करना सबसे जटिल है। वह सबसे विकसित प्राणी है। उसका नाड़ी-संस्थान सबसे अधिक विकसित है। उसमें क्षमताओं के अवतरण की सबसे अधिक संभावनाएं हैं। इसलिए उसकी व्याख्या करना सर्वाधिक दुरूह कार्य है। कर्मशास्त्र, योगशास्त्र, मानसशास्त्र (साइकोलॉजी), शरीरशास्त्र (एनोटोमी) और शरीर क्रियाशास्त्र (फिजियोलॉजी) के तुलनात्मक अध्ययन से ही उसको कुछ सरल बनाया जा सकता है।

21.3 चेतना की मनोवैज्ञानिक अवधारणाएं एवं कर्म

कर्मवाद कषाय और योग चेतना के बाह्य और भीतरी दोनों स्तरों से जुड़ा है। मनोविज्ञान की तरह इसका सम्बन्ध भी व्यवहार-जगत् और मानसिक-जगत् दोनों से है।

आधुनिक मनोविज्ञान स्वतंत्र विज्ञान के रूप में पिछले दो सौ वर्षों से अस्तित्व में आया है जबकि कर्मवाद सदियों पुरानी आगम वाणी से प्रस्फुटित है।

कर्म और मनोविज्ञान का अध्ययन दोनों एक-दूसरे के पूरक कहे जा सकते हैं। कर्मवाद भाव-जगत् की सूक्ष्म व्याख्या करता है। यह प्राणी के आचरणों के मूल स्रोतों की व्याख्या में एक सशक्त भूमिका निभाता है। इसलिए मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के साथ यदि कर्मवाद की अवधारणा जुड़ जाती है तो प्राणियों के मनोविश्लेषण में चिंतन और प्रयोगों को नयी दिशाएं मिल सकती हैं।

कर्मवाद का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करते समय मनोविज्ञान की अवधारणाओं पर संक्षिप्त चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि आधुनिक मनोविज्ञान मन (mind) और व्यवहार (behaviour) तक सीमित है पर इसका प्रतिपाद्य चेतना (consciousness) रहा है।

21.3.1 मनोविज्ञान का क्रमिक विकास

ईसा की सोलहवीं शताब्दी तक मनोविज्ञान Psyche या आत्मा का विज्ञान (Science of Soul) माना जाता रहा। पर आत्मा का कोई निश्चित स्वरूप, आकार और रंग नहीं होने से उसका वैज्ञानिक अध्ययन संभव नहीं था, अतः मनोविज्ञान को मन/मस्तिष्क का विज्ञान (Science of Mind) मान लिया गया। इस मान्यता में भी कई कठिनाइयां आईं, क्योंकि मस्तिष्क का अर्थ व्यक्तिगत विवेक और विचारणा-शक्ति से माना गया, जिसका अभाव पागलों अथवा सुप्त मनुष्यों में पाया जाता है। प्रयोगों के बीच जब यह ज्ञात हुआ कि मानसिक शक्तियां अलग-अलग कार्य नहीं करती अपितु एक साथ कार्य करती है तो मनोविज्ञान को चेतना का विज्ञान (Science of Consciousness) कहना अधिक उचित समझा गया। इस संदर्भ में विलियम जेम्स ने कहा कि मनोविज्ञान की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा यह है कि यह चेतना की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन और व्याख्या करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान ने अपने अध्ययन का क्षेत्र व्यवहार को बनाया। इस विचारणा को वॉटसन ने दृढ़ता से प्रतिपादित किया। व्यवहार को देखा/समझा जा सकता है, इसका स्वरूप वस्तुनिष्ठ है। आगे चलकर इसमें और नया उद्देश्य जोड़ दिया तथा मनोविज्ञान की सर्वांगीण एवं मान्य परिभाषा जेम्स ड्रेवर ने प्रस्तुत की कि मनोविज्ञान वह शुद्ध विज्ञान है जो मानव तथा पशु के उस व्यवहार का अध्ययन करता है जो व्यवहार उसके आंतरिक मनोभावों और विचारों की अभिव्यक्ति करता है जिसे हम मानसिक जगत् कहते हैं। (James Drever: Psychology: The Study of Man's Mind)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पंद्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक परिवर्तन के दौर से गुजरता हुआ मनोविज्ञान शब्द का अर्थ इतना बदल गया कि वह केवल व्यावहारिक घटनाओं का व्याख्याता शास्त्र मात्र बनकर रह गया जबकि चेतना की बात सर्वथा लुप्तप्राय हो गई।

आधुनिक परिप्रेक्ष्य में मनोविज्ञान ने अपने अध्ययन का क्षेत्र अनुभव और व्यवहार को बनाकर व्यक्ति के साथ पर्यावरण के सम्बन्धों की व्याख्या की है पर कर्मवाद का मनोविज्ञान न केवल पशु-पक्षी और मनुष्य जगत् के मन को विषय बनाता है बल्कि उन सभी चीजों के आंतरिक भावों की व्याख्या करता है जिनके न मन है और न मस्तिष्क। इस दृष्टि से कर्मवाद के तात्त्विक सिद्धान्तों को मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में दी जाने वाली प्रस्तुति केवल मनोभावों का विश्लेषण ही नहीं करेगी अपितु अशुभ भावों को शुभ भावों में रूपान्तरित करने की प्रायोगिक विधियां भी प्रस्थापित करेगी।

21.3.2 चेतना के विविध स्तर

मनोविज्ञान चेतना के तीन पक्ष मानता है—ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और संकल्पात्मक (Conative)। इसी आधार पर चेतना के तीन कार्य माने गए—जानना, अनुभव करना और इच्छा करना। इस विषय पर प्राचीन समय से ही विचार होता रहा है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी चेतना के तीन पक्षों का निर्देश किया—1. ज्ञानचेतना 2. कर्मफल चेतना 3. कर्म चेतना। (पंचास्तिकाय)। तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो ज्ञान चेतना को ज्ञानात्मक, कर्मफल चेतना को भावात्मक और कर्म चेतना को संकल्पात्मक यानी संसार का मूल कारण माना जा सकता है।

ज्ञान चेतना कर्मबंध का कारण नहीं बनती, क्योंकि वह बंधन-मुक्त जीवात्माओं में होती है। कर्मफल चेतना कभी कर्म-बंधन में निमित्त बनती है, कभी नहीं। जब कर्मफल चेतना मोह-चेतना से मुक्त होती है, तो वह केवल संवेदनात्मक होती है। उत्तराध्ययन (32/100) में भी उल्लेख मिलता है कि इन्द्रियों के माध्यम से होने वाले सुख-दुःखात्मक अनुभूति वीतराग के मन में राग-द्वेष के भाव उत्पन्न नहीं कर सकती।

इस प्रकार न ज्ञानात्मक पक्ष-बंधन का कारण है और न मोह-रहित अनुभूत्यात्मक पक्ष। केवल मोह-चेतना से लिप्त अनुभूति ही कर्म-बंधन में कारणभूत बनती है। चेतना का तीसरा पक्ष संकल्पात्मक को कर्म चेतना माना गया है, वह भी बंधन का कारण है, क्योंकि यह स्वतः सक्रिय चेतना है।

श्रमणोपासिका जयन्ती ने भगवान महावीर के समक्ष एक जिज्ञासा रखी—भंते! प्रशस्त क्या है और अप्रशस्त क्या है?

महावीर ने कहा—लघुता प्रशस्त है और गुरुता अप्रशस्त है।

जयन्ती पूरी तरह समाहित नहीं हुई। उसका अगला प्रश्न था—'भंते! क्या जीव हल्का और भारी होता है?

महावीर ने कहा—जीव प्राणातिपात, मृषावाद आदि क्रियाओं से भारी होता है और इनका विरोध करने से हल्का बन जाता है।

जयन्ती और भगवान् महावीर का यह संवाद जहां विधेयात्मक और निषेधात्मक व्यक्तित्व के घटकों की चर्चा करता है वहां इस सूक्ष्म सत्य की ओर भी इंगित करता है कि क्रिया केवल क्रिया के रूप में ही समाप्त नहीं होती, वह अपने पीछे संस्कार के पदचिह्न भी छोड़ जाती है। वे संस्कार जब उदय में आते हैं तो व्यक्ति फिर तदनुरूप क्रिया करने को तत्पर हो जाता है। हमारे संस्कारों का अक्षय भण्डार इस प्रक्रिया से सदा भरता रहता है। मनोविज्ञान संस्कारों के इसी भण्डार को अचेतन (unconscious) की संज्ञा से अभिहित करता है।

21.3.3 गहन मनोविज्ञान

कर्म हमारी चेतना के सूक्ष्म स्तरों से सम्बन्धित है, इसलिए कर्म के मनोवैज्ञानिक अध्ययन में फ्रायड के अवचेतन व अचेतन की चर्चा आवश्यक है। फ्रायड के गहन मनोविज्ञान (Depth Psychology) की अवधारणा बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। उनके अनुसार व्यक्ति के चेतन अनुभवों के नीचे भी कई स्तर हैं। ये स्तर मनोवैज्ञानिक की अपेक्षा जैविक अधिक हैं और हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

फ्रायड के अनुसार मन के तीन स्तर हैं—चेतन (Conscious), अवचेतन (Pre-conscious) और अचेतन (Unconscious)। व्यक्ति को जिन इच्छाओं, विचारों या घटनाओं की वर्तमान में चेतना रहती है, वे सभी उसके चेतन मन के विषय रहते हैं। अवचेतन मन उन सतही स्मृतियों व इच्छाओं का भण्डार है जिनका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ज्ञान व्यक्ति को वर्तमान में नहीं रहता, पर कोशिश करने पर उसकी चेतना हो जाती है। अचेतन मन उन दमित हुए विचारों, भावनाओं और आवेगों का संग्रहालय है जिसकी चेतना व्यक्ति में न तो वर्तमान में रहती है और न कोशिश करने पर ही साधारणत: जिसकी चेतना हो पाती है।

चेतन तथा अवचेतन की सामग्री आंतरिक रूप से स्थिर, अस्थायी रूप से व्यवस्थित तथा बाह्य घटनाओं के अनुकूल बनने में सक्षम है। अचेतन मन समय की सीमा से परे, अव्यवस्थित, शिशुवत् अविकसित तथा आदिमकालीन होता है। इसका वास्तविकता से कोई वास्ता नहीं होता यानी कि समाज के नियमों आदि से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

अचेतन की विषय-सामग्री दो स्रोतों से आती है। एक भाग तो उन आदिमकालीन, आनन्द प्रधान तथा कुछ-कुछ पाशविक विचारों अथवा चेष्टाओं का है जो कभी चेतन नहीं होती है। वे व्यक्ति को उत्तराधिकार में प्राप्त होती हैं। दूसरा स्रोत उन विचारों, स्मृतियों व इच्छाओं का है जो कभी चेतन थी, परन्तु दहलाने वाली व कष्टप्रद होने के कारण जो मन के गहनतम भाग में धकेल दी गईं। ये बहिष्कृत विचार चेतन स्तर पर वापस न आने पाए, इसका पूरा प्रयास किया जाता है।

दोनों प्रकार की अचेतन की सामग्री हमारे चेतन स्तर पर सीधे आने से रोक दी जाती है, क्योंकि इससे कोमल भावनाओं को दु:ख अथवा आत्म-सम्मान को चोट पहुंचती है। अचेतन कभी भी प्रसुप्त नहीं रहता। यह गहरी नदी में भयंकर वेगवान तथा कीचड़मय भंवर-जाल की तरह सदा ऊपर के साफ जल के तत्त्वों तथा प्रवाह पर गहरा प्रभाव डालता है। स्वप्न, सम्मोहन, दैनिक जीवन की मनोविकृतियां, निद्रा, भ्रमण आदि अचेतन के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं। अचेतन की जो इच्छाएं अधिक जटिल नहीं होती, उनकी अभिव्यक्ति तो स्वप्न, अत्यन्त प्रच्छन्न कल्पनाएं, आंतरिक संघर्ष आदि के माध्यम से हो जाती है। लेकिन ज्यादा जटिल और पूर्णत: दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति इतनी सरलता से नहीं हो पाती। ऐसी इच्छाएं चेतना के अवरोधक (Censor) को कमजोर बना देती है और कभी-कभी अवरोधक ढ़ीला पड़ जाता है। अचेतन की दीवारें टूट जाती हैं और उनमें से अनैतिक विचार व व्यवहार अभिव्यक्त होने लगते हैं।

इस संदर्भ में फ्रायड द्वारा किए गए व्यक्तित्व के तीन भाग इदम् (Id), अहम् (Ego) तथा पराऽहम् (Super-ego) भी अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। इदम् अचेतन का प्रतिनिधि है। यह अनैतिक, तर्कशून्य, दिक्काल की सीमा से मुक्त, सुखैषणावृत्ति से शासित, दमित विचारों का संग्रह, मूल प्रवृत्तियों (instincts) का वास-स्थान लिबिडो का भण्डार गृह है। यहां पर एक दूसरे को प्रभावित किए बिना परस्पर विरोधी आवेग साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। अचेतन की तरह ही यह भी अव्यवस्थित और जीवन की वास्तविकता से परे रहता है।

अहम् 'मैं' है, जो सोचता है, अनुभव करता है, निर्णय करता है तथा इच्छा करता है। इसे हम इदम् का वह भाग भी मान सकते हैं जो बाह्य संसार से सामीप्य के फलस्वरूप वास्तविकता के सिद्धान्त के रूप में परिणत हो गया है। अहम् के मुख्य कार्य हैं—1. शरीर के पोषण की आवश्यकता पूर्ण करना तथा इसे हानि से बचाए रखना, 2. इदम् की इच्छाओं का वास्तविकता की मांग के अनुसार तालमेल बिठाना, 3. दमन करना, इदम् और पराअहम् की परस्पर विरोधी चेष्टाओं में सामंजस्य स्थापित करना। इदम् अहम् का ऊर्जा स्रोत है तथा पराऽहम् इसका नैतिक अवरोधक है।

पराऽहम् में उत्तराधिकार में प्राप्त वे नैतिक प्रवृत्तियां हैं जो सांस्कृतिक वातावरण से ग्रहण किए हुए प्रतिबंध, नीति, सदाचार, कई निषेध अथवा विचारों द्वारा परिपुष्ट व परिष्कृत की गई हो। व्यक्तित्व के इस भाग में नैतिकता, निषेधाज्ञा और सामाजिक आदर्श विद्यमान रहते हैं जो व्यक्ति को माता-पिता, अध्यापकों और सामाजिक समूहों से प्राप्त होते हैं।

व्यक्तित्व के गतिशील अंग इदम्, अहम् तथा पराऽहम् अचेतन, अवचेतन, चेतन स्तरों को अपना कार्यक्षेत्र बनाते हैं। 'इदम्' आवेग-प्रधान अचेतन है। 'अहम्' अधिकांश: 'चेतन' स्तर पर कार्य करता है पर वह पराअहम् की अपेक्षा चेतन कम, अवचेतन तथा अचेतन अधिक होता है। हमारा समस्त व्यवहार इन चेतन, अवचेतन तथा अचेतन अंतर्द्वन्द्वों के निराकरण के तरीकों का परिणाम है।

21.3.4 कर्मशास्त्रीय व्याख्या

इस प्रकार मन दो प्रकार का है—चेतन मन और अवचेतन मन। चेतन मन जो कुछ करता है वह सब वर्तमान का ही नहीं होता किन्तु उसमें अवचेतन मन का हिस्सा होता है। उसका प्रभाव होता है। यह

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्वीकृति है। यदि सूक्ष्म में जाएं तो कर्मशास्त्र की वह स्वीकृति भी प्राप्त हो सकती है कि मनुष्य जो काम करता है वह केवल वर्तमान परिवेश, वर्तमान परिस्थिति से प्रभावित होकर ही नहीं करता, प्रभाव का जो हेतु है वह बहुत सूक्ष्म में और बहुत दूर तक चला जाता है। वह हेतु है कर्म-शरीर या पूर्व-अर्जित कर्म-समूह। उससे प्रभावित होकर ही मनुष्य काम करता है। दबी हुई इच्छाएं, दबी हुई आकांक्षाएं अवचेतन मन में चली जाती हैं और जब वे जागृत होती हैं तो चेतन मन प्रभावित होकर काम करने लग जाता है। इस मनोविज्ञान की भाषा को हम कर्मशास्त्रीय भाषा में इस प्रकार बदल दें कि पूर्व-अर्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब स्थूल मन उनसे प्रभावित होता है और वह उनके अनुसार ही व्यवहार और आचरण करने लग जाता है।

21.3.5 फ्रायड के इरोस-थैनटॉस बनाम राग-द्वेष

फ्रायड के अनुसार इरोस रागात्मक या जीवनमूलक तथा थैनटॉस द्वेषात्मक या मृत्युमूलक मूल प्रवृत्तियां हैं। फ्रायड ने इरोस और थैनटॉस नामक दो तत्त्व मानव-व्यवहार की प्रेरक शक्ति के रूप में स्वीकार किए हैं। इन दोनों मूल प्रवृत्तियां के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण बात है कि फ्रायड ने इनकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार नहीं की। उन्होंने माना कि उनमें सतत् उभयभाव बना रहता है।

जैन मान्यता के अनुसार राग की अभिव्यक्ति के समय में व्यक्ति द्वेष चेतना से मुक्त नहीं हो जाता और द्वेष के क्षणों में राग का संस्कार समाप्त नहीं होता, भले अपने चर्म चक्षुओं से हम इस सच्चाई को पकड़ सकें अथवा न पकड़ सकें।

भाव या लेश्या भी जब तक कषाय चेतना से जुड़ी रहती है तब तक राग-द्वेषात्मक संस्कारों का संचालन करती रहती है। व्यक्ति कभी प्रियता में जीता है और कभी अप्रियता में जीता है किन्तु महत्त्वपूर्ण बात है भावों/लेश्या के प्रति जागरूकता की जिसमें चेतन, अचेतन के संस्कारों का शोधन संभव हो सके।

मनोविज्ञान द्वारा प्रतिपादित चेतना के विभिन्न स्तरों को जब हम जैनदर्शन के कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो दोनों का तुलनात्मक स्वरूप उभरकर हमारे सामने आता है।

जीवन मूलक शक्ति के रूप में फ्रायड लिबिडो की चर्चा करता है। प्रश्न उभरता है कि कर्मवाद के साथ उसकी संगति कैसे होगी? हम गहरे में उतरकर देखें तो पाएंगे कि इस दृष्टि से मनोविज्ञान और जैनदर्शन दोनों एक ही धूरी पर खड़े हैं। जैन दर्शन के संदर्भ में जीव को वेदन की संज्ञा देता है और फ्रायड 'काम' की मूलप्रवृत्ति मानता है। यद्यपि दोनों का कार्यक्षेत्र भिन्न होने के कारण दोनों की अभिव्यक्ति में अंतर आ जाता है। मनोविज्ञान व्यवहार का शास्त्र होने के कारण लिबिडो को सारी प्रवृत्तियों का मूल मानता है, जबकि जैनदर्शन अध्यात्म का व्याख्याता होने के कारण कामनाओं से मुक्त होने की बात पर बल देता है। वह भी बराबर यह कहता है कि—कामे कमाही कमियं खु दुक्खं—कामना संसार का मूल है। (दसवैकालिक 2/5) इन दो भि-भिन्न दृष्टियों से कहे गए पहलुओं को मिलाकर देखते हैं तो दोनों का निष्कर्ष एक ही आता है।

21.3.6 मूलप्रवृत्तियां (Instincts) और संज्ञाएं

चेतना के भिन्न-भिन्न स्तरों की मनोविज्ञान अलग-अलग नामों से पहचान करवाता है एवं उनकी कार्य पद्धति पर प्रकाश डालता है। जैनदर्शन में उसके मूलभूत स्रोत का वर्णन सांगोपांग उपलब्ध होता है।

मूल-प्रवृत्ति (Instinct)

सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक मैकडूगल के अनुसार—मूल प्रवृत्ति एक "पितृगत या जन्मजात मनोशारीरिक वृत्ति है जो इसके धारणकर्त्ता को एक विशिष्ट विषय का प्रत्यक्षीकरण करने, उसकी ओर अवधान केन्द्रित करने तथा एक संवेगात्मक उत्तेजना की अनुभूति करने से उस विषय के विशेष गुण युक्त की संबोधना से उत्पन्न हुई हो और उसी के अनुरूप विशिष्ट दिशा में कार्य करने अथवा उस कार्य सम्बन्धी प्रेरणा का अनुभव करती हो" (Mc dougall defines an instinct as—"inherited or innate psycho-physical disposition which determines its possessor to perceive and to pay attention to object of a certain class to experience an emotional excitment of particular quality upon perceiving such an object and to action in regard to it in a particular manner or at least to experience an impulse to such action performed perfectly at the first attempt.")

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

मानव व्यवहार के मूलभूत स्रोत मूल प्रवृत्ति को जैनदर्शन 'संज्ञा' के नाम से विश्लेषित करता है। स्थानांगसूत्र में संज्ञा शब्द को व्याख्यायित करते हुए टीकाकार अभयदेवसूरि लिखते हैं—हमारी चेतना की एक विशेष अवस्था संज्ञा है। इस स्थल पर उन्होंने एक विशेष जानकारी यह दी है कि संज्ञा का अर्थ मनोविज्ञान भी किया गया है। (संज्ञान संज्ञा आभोग इत्यर्थः मनोविज्ञानमित्यन्ये। स्थानांग वृत्तिपत्र 478) जैन ग्रंथों में मनोविज्ञान शब्द का यह प्रयोग हमें उस समय उपलब्ध होता है जबकि विश्व के दूसरे-दूसरे दार्शनिक इसकी प्रकल्पना भी नहीं कर पाए थे। जैनदर्शन में संज्ञा के दस प्रकारों का प्रतिपादन किया गया है। वे इस प्रकार हैं (स्थानांग 10/105)—1. आहार 2. भय 3. मैथुन 4. परिग्रह 5. क्रोध 6. मान 7. माया 8. लोभ 9. ओघ 10. लोक।

इन (दस संज्ञाओं) में प्रथम आठ संज्ञाएं संवेगात्मक और अंतिम दो संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं। इनकी उत्पत्ति बाह्य और आंतरिक उत्तेजना से होती है। इनके अतिरिक्त तीन प्रकार की संज्ञाओं का प्रतिपादन और किया गया है—1. हेतुवादोपदेशिकी, 2. दीर्घकालिक, 3. सम्यग्दृष्टि—ये तीनों संज्ञाएं ज्ञानात्मक हैं—

आचारांग निर्युक्ति (गाथा 39) में चौदह प्रकार की संज्ञाओं का उल्लेख उपलब्ध होता है—

आहार भय परिग्गह मेहुण सुख दुक्ख मोह वितिगिच्छा।
कोह माण माया लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे॥

पूर्ववर्णित दस संज्ञाओं के अतिरिक्त चार नई संज्ञाएं इस प्रकार हैं—सुख-दुःख, मोह, विचिकित्सा, शोक। ओघ संज्ञा के स्थान पर धर्मसंज्ञा शब्द का प्रयोग मिलता है। संज्ञा के उपर्युक्त वर्गीकरण में लोक और ओघ दो संज्ञाओं को छोड़कर सभी संवेगात्मक हैं। जब हम कार्यकारण भाव की दृष्टि से विचार करते हैं तो इन संज्ञाओं के तीन वर्ग बन जाते हैं—1. आहार, भय, मैथुन, परिग्रह 2. क्रोध, मान, माया, लोभ 3. लोक, ओघ।

प्रथम वर्ग की संज्ञाओं के कारण दूसरे वर्ग की संज्ञाएं उभरती हैं, विकसित होती हैं। एक कुत्ते को रोटी डाली गई, दूसरा कुत्ता उसे छीनने के लिए झपटता है। रोटी के कारण क्रोध पैदा होता है। एक व्यक्ति को अच्छी आजीविका मिल रही है, दूसरा उस स्थान पर आने का प्रयत्न करता है। यदि ऐसा नहीं होता है तो आपस में मनमुटाव हो जाता है। इसी प्रकार आहार संज्ञा के कारण मान, माया और लोभ जागते हैं। भय, मैथुन और परिग्रह से भी क्रोध आदि संज्ञाएं जागती हैं। ओघ संज्ञा सामुदायिकता की द्योतक हैं। अधिकांशतः व्यक्ति सामुदायिक चेतना के स्तर पर सोचता है—जो सबको होगा, वह मुझे भी हो जाएगा। मैं अकेला इससे वंचित क्यों रहूं, इत्यादि। सामुदायिकता के साथ-साथ हमारी वैयक्तिक चेतना भी सक्रिय होती रहती है। जैनदर्शन इस चेतना को लोकसंज्ञा के नाम से पुकारता है।

आचार्य महाप्रज्ञ संज्ञा का विवेचन करते हुए बताते हैं—'वनस्पति के जीवों में अव्यक्त रूप से दस संज्ञाएं होती हैं। संज्ञा का अर्थ है—अनुभव। इनको सिद्ध करने के लिए टीकाकारों ने उपयुक्त उदाहरण भी खोज निकाले हैं। वृक्ष जल का आहार तो करते ही हैं। इसके सिवाय 'अमर बेल' अपने आसपास होने वाले वृक्षों का सार खींच लेती है। कई वृक्ष रक्त-शोषक भी होते हैं। इसलिए वनस्पति में आहार-संज्ञा होती है। 'छुई-मुई आदि स्पर्श के भय से सिकुड़ जाती है, इसलिए वनस्पति में भय-संज्ञा होती है। 'कुरूबक' नामक वृक्ष स्त्री के आलिंगन से पल्लवित हो जाता है और 'अशोक' नामक वृक्ष स्त्री के पादघात से प्रमुदित हो जाता है, इसलिए वनस्पति में मैथुन-संज्ञा है। लताएं अपने तंतुओं से वृक्ष को बीट लेती हैं, इसलिए वनस्पति में परिग्रह-संज्ञा है। 'कोकनद' (रक्तोत्पल) का कंद क्रोध से हुंकार करता है। 'सिरती' नाम की बेल मान से झरने लग जाती है। लताएं अपने फलों को माया से ढांक लेती हैं। बिल्ब और पलाश आदि वृक्ष लोभ से अपने मूल निधान पर फैलते हैं। इससे जाना जाता है कि वनस्पति में क्रोध, मान, माया और लोभ भी हैं। लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग पहले से तय कर लेती हैं, इसलिए वनस्पति में ओघ-संज्ञा है। रात्रि में कमल सिकुड़ते हैं, इसलिए वनस्पति में लोक-संज्ञा है।' (जैनदर्शनः मनन और मीमांसा, पृ. 213)

मूल प्रवृत्तियों के संदर्भ में जैनदर्शन ने जो एक महत्त्वपूर्ण प्रस्थान किया है, वह है इनकी कारणता पर विचार। मनोविज्ञान के क्षेत्र में यह विषय अब तक अनछुआ ही रहा है। वेदनीय और मोहनीय कर्म की सक्रियता के अतिरिक्त अन्य कारण इस प्रकार हैं—

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आहार संज्ञा

1. रिक्त कोष्ठता
2. आहार के दर्शन से उत्पन्न मति
3. आहार सम्बन्धी चिन्तन

भय संज्ञा

1. हीनसत्त्वता
2. भयानक दृश्य को देखने से उत्पन्न मति
3. भय सम्बन्धी चिन्तन

मैथुन संज्ञा

1. मांस और रक्त का उपचय
2. मैथुन सम्बन्धी चर्चा के श्रवण एवं तद्विषयक दृश्यों से उत्पन्न मति
3. मैथुन सम्बन्धी चिन्तन

परिग्रह संज्ञा

1. अविमुक्तता
2. परिग्रह सम्बन्धी चर्चा के श्रवण से उत्पन्न मति
3. परिग्रह सम्बन्धी चिन्तन।

21.4 मूल प्रवृत्तियां (Instincts) और संवेग (भाव या Emotion)

21.4.1 भारतीय चिन्तन में भाव

भारतीय दर्शनशास्त्र और रस-सिद्धान्त का मूलभूत आधार तत्त्व है 'भाव'। आप्टे के संस्कृत-हिन्दी कोश में भाव के अर्थ पंचतंत्र (3.43) और मनुस्मृति (8.25) के अनुसार हैं—

झुकाव या मनोवृत्ति, भावना, विचार, मत कल्पना। पंचतंत्र (3.66) में भाव का अर्थ है—भाव, संवेग, रस या मनोभाव।

नाट्य-विज्ञान या काव्य-रचना में भाव बहुधा दो प्रकार के होते हैं—प्रधान या स्थायी भाव तथा गौण या व्यभिचारीभाव। स्थायी भाव गिनती में आठ या नौ हैं। तदनुसार अपने-अपने स्थायित्वभाव से युक्त रस भी आठ या नौ हैं। व्यभिचारीभाव गिनती में तैतीस या चौतीस हैं तथा स्थायी भावों का विकास करने एवं संवर्धन करने में सहायक होते हैं। भरतमुनि नाट्यशास्त्र, 7.9 में भाव के अंतर्गत आठ स्थायी भाव, तैतीस व्यभिचारी भाव तथा आठ सात्त्विक भावों का समावेश किया है और इन उनचास भावों को काव्य रस की अभिव्यक्ति का हेतु माना है।

21.4.2 मनोविज्ञान में भाव

अंग्रेजी में भाव इमोशन 'Emotion' का पर्यायवाची है। पाल थामस यंग ने लैटिन के आधार पर इमोशन की व्युत्पत्ति दिखाते हुए इसका लक्ष्यार्थ उत्तेजित, तीव्र मानसिक स्थिति निश्चित किया है। (The Emotion in Man and Animal, page 25) उन्होंने भाव का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार निर्धारित किया है—'इमोशन मानव की उत्तेजित दशा है जो मनोवैज्ञानिक स्थिति में नयनोन्मीलित करती है और जो अनुभूति, प्रयत्न एवं पैशिक गतियों से सम्बन्धित है। (p. 51)

इस प्रकार उन्होंने भाव के अंतर्गत क्रमशः ज्ञान, भाव व क्रिया से सम्बद्ध तीन प्रकार के अनुभवों संवेदन (Sensation), बोधमूलक अनुभूति (Feeling), भावात्मक (Conation) और प्रेरणात्मक का समावेश स्वीकार किया है।

आर.एस. वुडवर्थ (R.S. Woodworth) ने 'इमोशन' (Emotion) को जीवधारी की गतिशील एवं उत्तेजित अवस्था कहा है। (Psychology, p. 286)

ड्रमण्ड मैलोन (Drummond Mellone) भी भाव को मनोदशा बताते हैं, किन्तु अनुभूति और प्रयत्न के साथ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'भाव मुख्यत: अनुभूति और प्रयत्न से युक्त मनोदशा है, यह मनोदशा विशिष्ट बाह्य स्थितियों के संवेदन अथवा स्मृति या कल्पना के स्वतंत्र प्रत्ययों द्वारा जागृत की जाती है। Elements of Psychology Y. Drummond Mellone, Chap VIII, p. 219

ए.एफ. शैंड (A.F. Shand) ने भी मनोवेगों को संस्थान मानते हुए ज्ञान, प्रयत्न और अनुभूति के संश्लेष को भाव की संज्ञा दी है। (Foundation of Character, A.F. Shand, Page 64, 1926) इस प्रकार यंग ड्रमण्ड मेलोन तथा शैंड ये तीनों ही भाव के अंतर्गत ज्ञान, भावना और संकल्प—तीनों मानसिक क्रियाओं की स्थिति के समर्थक हैं।

सब मतों का समन्वित रूप इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। भाव मन की वह अवस्था विशेष है जिसमें संवेदनात्मक अनुभूति, ज्ञान और संकल्पात्मक अनुभव—इन तीनों का योग है।

भाव के अंतर्गत व्यापक रूप में विविध अनुभूतियों और मानसिक स्थितियों को अंतर्भाव माना गया है। अत: भाव की विस्तृत परिधि में अनुभूति Feeling, भावना Sentiment, सहज प्रवृत्ति Instinct तथा मनोदशा Mood आदि सभी का समावेश हो जाता है।

भावों का वर्गीकरण

एफ. राबर्ट नामक मनोवैज्ञानिक ने भाव के बारे में अपने विचार प्रकट करते हुए भाव वर्गीकरण विषयक डैकार्ट (Descartres) व जॉन बी. वाटसन (John B. Watson) के मतों का उल्लेख किया है। डैकार्टे ने भाव के दो रूप-मूल भाव और परतंत्र भाव—कल्पित किये हैं एवं मौलिक भावों की संख्या छह निर्धारित की हैं—1. आश्चर्य 2. प्रेम 3. घृणा 4. इच्छा 5. हर्ष 6. शोक। जॉन बी. वाटसन ने भय, क्रोध और प्रेम को मूल-भाव माना है।

आधुनिक मनोविज्ञान मानव-व्यवहार को व्याख्यायित करने के लिए सर्वप्रथम जिस सूत्र का अवलम्बन लेता है, वह अनुप्रेरणा (Motivation) है। कोई भी प्राणी केवल अपनी जैविक आवश्यकताओं के लिए कार्य नहीं करता। उसके अतिरिक्त उद्दीपक (Stimule) परिवेश (Environment) जैसे न जाने कितने तत्त्व उसके व्यवहार को संचालित करते हैं। अनुप्रेरणा के अर्थ में ही हमें आवश्यकता (Need), अंतर्नोद (Drive), प्रेरक (Incentive) आदि शब्दों का प्रयोग भी मनोविज्ञान में उपलब्ध होता है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में संवेग को एक शक्तिशाली अनुप्रेरक के रूप में माना गया है। इसका स्वरूप ही स्वयं इसकी अनुप्रेरकता को सिद्ध कर रहा है। संवेग को परिभाषित करते हुए कहा गया है—किसी प्रकार के आवेग में आने, भड़क उठने और उत्तेजित दशा को सूचित करने वाला तत्त्व है संवेग। कहीं-कहीं भावना और मनोदशा को भी अनुप्रेरक के क्रम में परिगणित किया जाता है।

अनुप्रेरणा (motivation) के मुख्य दो प्रकार हैं—वैयक्तिक और सामाजिक। वैयक्तिक अनुप्रेरणा में आदत, जीवन-ध्येय, अभिरुचि, मनोवृत्ति, अचेतन इच्छाएं आदि सभी सम्मिलित हैं। सामाजिक प्रेरणा में मुख्य हैं—आत्मगौरव एवं आत्महीनता के प्रेरक तथा सामाजिक सुरक्षा। संवेग का प्रदर्शन तीन स्तरों पर होता है—1. चेतना में परिवर्तन 2. बाह्य व्यवहार में परिवर्तन 3. आंतरिक क्रियाओं में परिवर्तन।

21.4.3 संवेग और मनोदशा में अंतर

संवेग की स्थिति में हमारा स्वत: संचालित नाड़ीतंत्र, बृहद् मस्तिष्क और हाइपोथेलेमस विशेष रूप से प्रभावित होता है। संवेग की समाप्ति के बाद भी उसका प्रभाव कुछ समय तक हमारी चेतना पर बना रहता है और उस स्थिति में व्यक्ति मानसिक दृष्टि से जो अनुभव करता है, उसे मनोविज्ञान की भाषा में मनोदशा कहा गया है।

संवेग और मनोदशा के अंतर को हम एक और प्रकार से भी समझ सकते हैं। मनोदशा का कालमान अधिक और भावों की तीव्रता कम होती है, जबकि संवेग का कालमान कम एवं भावों की तीव्रता अधिक होती है। इन दोनों में अंत:क्रिया चलती रहती है। मूल प्रवृत्ति अथवा संवेग जब किसी वस्तु के चारों ओर स्थायी रूप से सुसंगठित हो जाते हैं, तब उसे स्थायी भाव कहते हैं। यह स्थूल वस्तुओं के प्रति बहुत सहजता से निर्मित होता है। स्थायीभाव की तरह ही हमारे अंतरंग व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आयाम है—भावना ग्रंथि (Complex)। इसमें हमारी वे इच्छाएं समाविष्ट हैं जो समाज विरुद्ध होने के कारण अचेतन

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

के जगत् में भेज दी गई हैं, पर वहां जाकर वे निष्क्रिय नहीं हो जाती। उनकी क्रियाशीलता बराबर बनी रहती है। ऐसी इच्छाओं को इदम् आवेश भी कहा जाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में स्थायीभाव और भावनाग्रंथि के अंतर को समझ लेना भी परम आवश्यक है, क्योंकि ऐसा किए बिना हम अंतरंग व्यक्तित्व को भलीभांति समझ नहीं सकते। नैतिक एवं चेतन रूप से क्रियाशील भावना को स्थायी भाव एवं अनैतिक तथा अचेतन रूप से क्रियाशील भावना को भावनाग्रंथि कहा जाता है। इन दोनों से संचालित हो व्यक्ति ऐच्छिक और अनैच्छिक क्रियाएं करता है। ऐच्छिक क्रियाएं चेतन तथा अर्जित होती हैं, जबकि अनैच्छिक क्रियाओं का स्वरूप इससे सर्वथा भिन्न होता है। अनैच्छिक क्रियाओं में छह प्रकार की क्रियाएं समाविष्ट हैं—1. स्वयं संचालित 2. आकस्मिक 3. सहज 4. सम्बद्ध 5. भावनात्मक 6. मूलप्रवृत्यात्मक।

हमारे अंतरंग व्यक्तित्व की दृष्टि से मूलप्रवृत्यात्मक क्रियाएं सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि हमारी मानसिक रचनाओं का रूप यही है। व्यवहार और अनुभव के आधार पर हमें इनके अस्तित्व का अवबोध होता है। इसकी अभिव्यक्ति के समय व्यक्ति विशेषतः ऊर्जस्वल होता है। इसलिए वह अतिरिक्त सक्रियता प्रदर्शित करता है। उसकी यह सक्रियता तब तक बनी रहती है, जब तक कि इच्छाओं की संतुष्टि में कोई व्यवधान नहीं आ जाता। मैकडूगल ने आनुवांशिकता के प्रभाव को भी मूलप्रवृत्ति में समाविष्ट किया है।

मूल प्रवृत्ति के दो बड़े विभाग हैं—आत्मसुरक्षात्मक मूल प्रवृत्ति और जाति सुरक्षात्मक मूल प्रवृत्ति। संवेग मूल प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति में सहयोग करता है। तालिका के माध्यम से इस तथ्य को विस्तृत रूप से समझा जा सकता है—

मूलप्रवृत्ति	संवेग	मूलप्रवृत्ति	संवेग
1. पलायन	भय	8. दीनता	आत्महीनता
2. युयुप्सा	क्रोध	9. आत्मगौरव	आत्माभिमान
3. निवृत्ति	घृणा	10. सामूहिकता	अकेलापन
4. पुत्रकामना	वात्सल्य	11. भोजनान्वेषण	भूख
5. शरणागत	करुणा	12. संग्रह	अधिकार
6. कामप्रवृत्ति	कामुकता	13. रचना	कृति
7. जिज्ञासा	आश्चर्य	14. हास	मनोविनोद

मनोविज्ञान की इस चर्चा को जैनदर्शन की दृष्टि से कर्मतंत्र के अंतर्गत समझा जा सकता है। हमारी समस्त मूल प्रवृत्तियों का आदि स्रोत यही है। इस कर्मतंत्र का प्रधान सचिव है—मोहनीय कर्म। इसी के निर्देश से कषाय, नोकषाय आदि कर्मचारी कार्य में प्रवृत्त होते हैं।

21.5 लेश्या: स्थूल और सूक्ष्म चेतना का सम्पर्क-सूत्र

अचेतन के स्तर पर मनोविज्ञान ने जिस रूप में अज्ञात जगत् को विश्लेषित किया है, उससे भी बहुत कुछ अधिक हम उसे लेश्या सम्प्रत्यय के माध्यम से समझ सकते हैं। लेश्या जैन कर्मवाद का एक मौलिक सम्प्रत्यय है, जो सूक्ष्म पुद्गल-रश्मियों के चेतना पर होने वाले प्रभाव के आधार पर समग्र भाव-संस्थान की व्याख्या प्रस्तुत करता है। मूलतः लेश्या मोह-कर्म के उदय-अनुदय या कषाय से रंजित या मुक्त चेतना की सूक्ष्म परिणति है। इस संदर्भ में व्यक्तित्व की व्यूह-रचना को जानना बहुत जरूरी है। स्थूल एवं सूक्ष्म चेतना के स्तर पर लेश्या कैसे सम्पर्क-सूत्र बनती है? भीतरी अध्यवसायों के साथ जुड़कर लेश्या व्यवहार का संचालन कैसे करती है? चेतना की इन सभी भूमिकाओं पर लेश्या की व्याख्या प्रस्तुत की गयी है।

जैन मनोविज्ञान की भाषा में अचेतन को कर्म शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना, अवचेतन को तैजस् शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना और चेतन को औदारिक यानी स्थूल शरीर के साथ प्रवृत्त चेतना माना जा सकता है।

चेतन मन जो कुछ भी करता है उसमें अवचेतन-अचेतन मन की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इनका अपना प्रभाव होता है। अवांछित इच्छायें, वासनायें व कामनायें अचेतन में दब जाती है। जब ये जागृत होती हैं तब चेतन मन को प्रभावित करती हैं। कर्मशास्त्रीय भाषा में इसे ऐसे भी कहा जा सकता है कि पूर्वार्जित कर्म जब उदय में आते हैं, अपना फल देना शुरू करते हैं तब मन उनसे प्रभावित होता है और व्यक्ति उनके अनुसार व्यवहार करने लगता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.6 परिवर्तन की प्रक्रिया

जैन कर्मवाद ने परिवर्तन की प्रक्रियाओं को स्वीकृति दी है; अन्यथा अध्यात्म-साधना निरुद्देश्य हो जाएगी। मनोविज्ञान में भी प्रक्रिया-विशेष के माध्यम से परिवर्तन की संभावना को स्वीकार किया है।

21.7 चतुर्विध प्रक्रियाएं

मानसिक परिवर्तन केवल उद्दीपन (Stimule) और परिवेश के कारण ही नहीं होते। उनमें नाड़ी-संस्थान, जैविक विद्युत, जैविक रसायन और अंत:स्रावी ग्रंथियों के स्राव का भी योग होता है। ये सब हमारे स्थूल शरीर के अवयव हैं। इनके पीछे सूक्ष्म शरीर क्रियाशील होता है और उनमें निरन्तर होने वाले कर्म के स्पन्दन, परिणमन या परिवर्तन प्रक्रिया को चालू रखते हैं। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में कर्म के स्पन्दन, मन की चंचलता, शरीर के संस्थान (तंत्र)—ये सभी सहभागी होते हैं। इसलिए किसी एक शास्त्र के द्वारा हम परिवर्तन की प्रक्रिया का सर्वांगीण अध्ययन नहीं कर सकते। ध्यान की प्रक्रिया द्वारा मानसिक परितर्वनों पर नियंत्रण किया जा सकता है, इसलिए योगशास्त्र को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। प्रवृत्ति के दोषों का संशोधन और परिमार्जन करने के लिए हमें जिस बात का अभ्यास करना है वह है समभाव का अभ्यास, समता का अभ्यास, सामायिक का अभ्यास। मनोविज्ञान की भाषा में इसे मार्गान्तरीकरण और उदात्तीकरण कहा गया है।

1. प्रवृत्ति का शमन (Sublimation) होता है 2. विलयन (Suppression) होता है 3. मार्गान्तरीकरण होता है 4. उदात्तीकरण होता है। ये चार बाते हैं—

21.7.1 शमन (Sublimation)

पहली बात है—शमन की। जो प्रवृत्ति समाज-सम्मत नहीं है, व्यक्ति उसे करना चाहता है, किन्तु सामाजिक प्राणी उस प्रवृत्ति को नहीं करता, उसका शमन करता है। वह अपनी इच्छा को रोक देता है। हर इच्छा की पूर्ति नहीं होती। कोई भी व्यक्ति अपनी प्रत्येक इच्छा पूरी नहीं कर सकता। कुछ पूरी होती है, कुछ अधूरी रह जाती है, कुछ को छोड़ देना होता है। रास्ते चलते सुन्दर मकान दिखायी दिया। इच्छा हुई कि उस पर कब्जा कर लूं। कब्जा कैसे कर सकता है? नहीं कर सकता। क्योंकि सामाजिक व्यवस्था उसे वैसा करने नहीं देती। मन ललचाया कि इस आलीशान मकान में रहूं, इस पर अधिकार कर लूं, पर वैसा हो नहीं सका।

21.7.2 विलयन (Suppression)

दूसरा है प्रकृति का विलयन। विलयन भी दबाने की प्रवृत्ति है। कुछ प्रवृत्तियां ऐसी होती हैं, जो मन में उभरती हैं, किन्तु एक दूसरी प्रवृत्ति की बात सामने आ जाती है, तब वह छूट जाती है। एक प्रवृत्ति दूसरे में विलीन हो जाती है, उसका विलयन हो जाता है।

21.7.3 मार्गान्तरीकरण

तीसरा है—प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण। इसका अर्थ है—प्रवृत्ति का रास्ता बदल देना, दिशा बदल देना। फ्रायड की भाषा में मूल प्रवृत्ति है—कामशक्ति। फ्रायड के समूचे मनोविज्ञान में केन्द्रीय शक्ति है—कामशक्ति। उनका प्रतिपादन है कि इसका मार्गान्तरीकरण किया जा सकता है। एक व्यक्ति किसी सुन्दर स्त्री को देखता है, उसके प्रति आकृष्ट होता है, किन्तु वह प्राप्त नहीं होती। इच्छा और अधिक तीव्र होती है, फिर भी वह प्राप्त नहीं होती। तब वह अपने मन की दिशा बदल देता है। कोई कलाकार बन जाता है, कोई चित्रकार बन जाता है, कोई लेखक बन जाता है, कोई कवि बन जाता है। कोई कुछ और कोई कुछ बन जाता है। मानसिक विश्लेषण के अनुसार एक निष्कर्ष निकाला गया कि बहुत बड़े कलाकार, बड़े-बड़े कवि जो हुए हैं, वे सब मार्गान्तरीकरण के कारण हुए हैं।

21.7.4 उदात्तीकरण

चौथा है—उदात्तीकरण। कर्मशास्त्र की भाषा में उसे क्षयोपशम कह सकते हैं। यह क्षयोपशम की क्रिया है। जो मोह है, जो आसक्ति है, जो राग-द्वेष है, उनके दोषों का परिशोधन करने की यह प्रक्रिया है, परिमार्जन करने की प्रक्रिया है। इसलिए जैन आचार्यों ने दो शब्दों का प्रयोग किया—प्रशस्त राग और अप्रशस्त राग। राग अच्छा नहीं है, बुरा है। किन्तु धर्म के प्रति राग, गुरु के प्रति राग, इष्टदेव के प्रति राग—यह सब प्रशस्त राग हैं। जैन आगमों में एक बहुत-व्यवहृत शब्द है—'धम्माणुरारगत्ते'—धर्मानुरागरक्त—धर्म के

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अनुराग से रक्त। यह सब प्रशस्त राग है। इसका तात्पर्य है कि राग के जो दोष थे, जो तीव्रता थी, उसका परिशोधन कर दिया। आसक्ति की मात्रा को कम कर दिया। मात्रा इतनी कम कर दी कि वह राग दोषयुक्त नहीं रहा। राग का उदात्तीकरण हो गया। यह उदात्तीकरण की प्रक्रिया क्षयोपशम की प्रक्रिया है, जिसमें कर्मों के कुछ दोषों को सर्वथा क्षीण कर दिया गया और कुछ दोषों का उपशमन कर दिया गया। इसमें एक प्रकार की शुद्धता जैसी स्थिति निर्मित हो गयी। यह उदात्तीकरण है, राग का संशोधन है, आसक्ति का संशोधन है।

21.7.5 साधना का प्रयोजन

दमन की बात साधना की बात नहीं। इच्छाओं का दमन ही करना हो तो फिर साधना की बात व्यर्थ है। उसके लिए साधना करने की आवश्यकता नहीं है। दमन हर किसी व्यक्ति को करना ही पड़ता है। कोई भी व्यक्ति अपनी सारी आकांक्षाओं, सारी इच्छाओं को पूरा नहीं कर सकता। वह नियंत्रित है सामाजिक बंधनों से। दण्ड का क्षेत्र, व्यवस्था का क्षेत्र और राजनीति का क्षेत्र—यह सब दमन का क्षेत्र है। सर्वत्र बंधन-ही-बंधन है। समाज का बंधन, परिवार का बंधन, राज्य का बंधन। सर्वत्र घेरे-ही-घेरे हैं। दमन करने के अतिरिक्त कोई रास्ता ही नहीं है।

साधना का प्रयोजन है—मार्गान्तरीकरण, उदात्तीकरण। साधना का मार्ग दमन का मार्ग नहीं है। वह है उदात्तीकरण का मार्ग। या तो हम उदात्तीकरण करें या मार्ग बदल दें।

आंख का काम है—देखना। आंख रूप को देखती है। रूप के प्रति या तो राग उत्पन्न होता या द्वेष। दो ही बातें होंगी—या तो प्रीत्यात्मक अनुभूति होगी या अप्रीत्यात्मक अनुभूति होगी। तो फिर हम क्या करें—यह प्रश्न होता है। समाधान की भाषा में कहा जा सकता है कि हम मार्गान्तरीकरण करें, दिशा बदल दें। बाहर को न देखें, भीतर की ओर देखने का प्रयत्न करें। प्रेक्षा करें, प्रकम्पनों की प्रेक्षा करें। प्रेक्षा मार्गान्तरीकरण का उपाय है। मार्ग इस प्रकार बदलें कि जो आकर्षण बाहर की ओर होता था वह आकर्षण भीतर की ओर हो जाये। उत्सुकता बदल जाये। उत्सुकता रहती है बाहर को देखने की। बाहर में घटित होती है, व्यक्ति उत्सुक हो जाता है। साधना की सबसे बड़ी बात है—आकर्षण की धारा को बदल देना। बाहर में अनुत्सुकता होती है तब भीतर का आकर्षण बढ़ता है, उत्सुकता बढ़ती है। पतंजलि ने इसे 'प्रत्याहार' कहा है। प्रत्याहार मार्गान्तरीकरण का उपाय है। इन्द्रियों की दिशाओं को बदलो। मन की दिशाओं को बदलो। वे बहिर्गामी न रहें, अंतर्मुखी बन जाएं।

साधना का मुख्य सूत्र है—मार्गान्तरीकरण।

गौतम ने पूछा—भगवन! धर्म-श्रद्धा से क्या प्राप्त होता है?

भगवन् ने कहा—गौतम! धर्म-श्रद्धा से अनुत्सुकता पैदा होती है। जब धर्म के प्रति श्रद्धा घनीभूत होती है, आकर्षण होता है, उत्सुकता होती है, तब अनुत्सुकता पैदा होती है। जो उत्सुकता बाहर की ओर दौड़ती थी, बाहर को सुनने, बाहर को देखने, बाहर को चखने, सारी-की-सारी प्रवृत्ति बहिर्गामी हो रही थी, जैसे ही साधना का विकास हुआ, साधना के मार्ग में आये, दिशा बदल जाती है, उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह अनुत्सुकता भीतर ही उत्सुकता बन जाती है। जब भीतर उत्सुकता जागती है तब बाहर की उत्सुकता समाप्त हो जाती है। यह मार्गान्तरीकरण की प्रक्रिया साधना के विकास की प्रक्रिया है।

उदात्तीकरण क्षयोपशम की प्रक्रिया है। हम कर्मों का शोधन करें। शोधन कर प्रवृत्ति के साथ होने वाले दोष को मिटा दें। प्रवृत्ति के साथ राग और द्वेष की जो धारा जुड़ रही है और वह राग-द्वेष जो निरन्तर हमारे कर्मों में फल देने की क्षमता पैदा कर रहा है, जो हमारे विचारों को प्रभावित कर रहा है, उसे हम क्षीण कर दें, उस धारा को मोड़ दें। उसे उपशांत कर दें। इस उदात्तीकरण की प्रक्रिया के द्वारा हम उस बिन्दु पर पहुंच जाएं, जहां प्रवृत्ति तो है किन्तु उसके सारे दोष समाप्त हैं। जो दोष उसके साथ जुड़ते थे, वह धारा समाप्त है, यह है साधना की सार्थकता। कर्मों में जो फलदान की शक्ति है उसे कम करने के लिए साधना की जाती है। उसके अभ्यास से एक मार्ग मिल जाता है। वह साधना की समाप्ति नहीं है, प्रारंभ है। इस यात्रा का प्रारंभ करने वाला जो भी प्रवृत्ति करता है वह पहले जैसी प्रवृत्ति नहीं रहती। अब उस प्रवृत्ति के साथ आसक्ति का, राग-द्वेष का वह प्रवाह नहीं जुड़ता जो पहले जुड़ता था। या तो उसका मार्ग बदल जायेगा या वह सर्वथा निरुद्ध हो जायेगा। यदि हम इस तथ्य को ठीक समझ लें तो कर्म के फलदान की शक्ति को भी समझ लेंगे, साधना की सार्थकता को समझ लेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

21.8 सारांश

अध्यात्म-साधना या ध्यान की विशेष पद्धतियों द्वारा चेतना को आवृत्त करने वाले कर्म-पुद्गलों के विलय की समग्र प्रक्रिया मनोविज्ञान के संदर्भ में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। मूलतः मोह-कर्म की विभिन्न प्रकृतियों का क्रमिक क्षयोपशम, उपशम या क्षय ही चेतना के ऊर्ध्वारोहण का उपाय है। मनश्चिकित्साशास्त्र की प्रविधियों द्वारा भी आंतरिक शोधन (Catharsis) के माध्यम से दमित वासनाओं का निराकरण कर व्यक्ति की मानसिक या शारीरिक गड़बड़ियों को दूर करने की कोशिश की जाती है। इस विषय की विस्तृत चर्चा हम अगले पाठों में यथास्थान करेंगे।

21.9 प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कर्मवाद और मनोविज्ञान के परस्पर सम्बन्धों के मूल आधार को स्पष्ट करते हुए दोनों में उपलब्ध परिवर्तन की प्रक्रियाओं पर तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करे।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. मूल प्रवृत्तियों एवं संज्ञाओं में तुलना करते हुए संज्ञाओं की सूक्ष्मता को उजागर करें।
2. संवेग की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर उसके स्वरूप को स्पष्ट करें तथा मूल प्रवृत्ति के संदर्भ में उसे समझाएं।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. मनोविज्ञान में वैयक्तिक भिन्नता का अध्ययन—
   अ. कर्मविपाक ब. आनुवांशिकता और परिवेश स. संवेगों द. मूल प्रवृत्तियों
   के आधार पर किया जाता है।
2. अ. मनोविज्ञान ब. कर्मशास्त्रीय स. जीव विज्ञान द. अध्यात्म
   के क्षेत्र में जीवन और जीव का भेद अभी स्पष्ट नहीं है।
3. ईसा की 16वीं शताब्दी तक मनोविज्ञान
   अ. मन का विज्ञान ब. मस्तिष्क का विज्ञान स. आत्मा का विज्ञान द. कर्म का विज्ञान माना जाता रहा।
4. मनोविज्ञान को
   अ. चेतना का ब. मन का स. मस्तिष्क का द. व्यवहार का
   विज्ञान कहना अधिक उचित समझा गया।
5. आचार्य कुन्दकुन्द ने जिसे कर्म चेतना कहा है उसकी तुलना मनोविज्ञान में मान्य चेतना के
   अ. भावात्मक ब. ज्ञानात्मक स. संकल्पात्मक द. अवेचतन मन
   पक्ष के साथ करना उचित है।
6. 'भाव मुख्यतः अनुभूति और प्रयत्न से युक्त मनोदशा है'—यह परिभाषा
   अ. वुडवर्थ ब. भरत मुनि स. ड्रमण्ड मैलोन द. ए.एफ. शैंड
   द्वारा दी गयी है।
7. अ. मार्गान्तरीकरण ब. शमन. स.उदात्तीकरण द. विलयन
   क्षयोपशम की प्रक्रिया है।
8. लताएं वृक्षों पर चढ़ने के लिए अपना मार्ग तय कर लेती हैं—
   अ. आहार संज्ञा के कारण ब. ओघ-संज्ञा के कारण
   स. भय संज्ञा के कारण द. असंज्ञा के कारण।
9. अ. अहम् ब. पराड.अहम् स. इदम् द. गहन मनोविज्ञान
   में नैतिकता, निषेधाज्ञा, सामाजिक आदर्श विद्यमान रहते हैं।
10. जैन मान्यता के अनुसार राग की अभिव्यक्ति के समय में व्यक्ति
    अ. द्वेष-चेतना से मुक्त होता है ब. द्वेष चेतना से मुक्त नहीं होता है
    स. राग-चेतना से मुक्त होता है। द. राग-द्वेष दोनों से मुक्त होता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–22 : कर्मवाद और पुनर्जन्म

संरचना

22.0 प्रस्तावना
22.1 उद्देश्य
22.2 जैन दर्शन का दृष्टिकोण
22.3 अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद
22.4 जाति-स्मृति ज्ञान
22.5 मेघकुमार और जाति-स्मृति
22.6 जाति स्मृति के हेतु
22.7 लोकवादी
22.8 जाति स्मृति और ध्यान
22.9 जाति-स्मरण और आलय-विज्ञान
22.10 विभिन्न धर्म दर्शनों में पुनर्जन्मवाद
22.11 परामनोविज्ञान
22.12 सारांश
22.13 अभ्यास प्रश्नावली

22.0 प्रस्तावना

जैनदर्शन आत्मवादी, कर्मवादी एवं पुनर्जन्मवादी दर्शन है। जैन दर्शन के अनुसार संसार का प्रत्येक प्राणी अपने आप में एक आत्मा है और कर्मों से बद्ध है, आवृत है। कर्म पुनर्जन्म का मूल कारण है। तत्त्व-मीमांसा की दृष्टि से आत्मा का अस्तित्व अनादिकालीन है, स्वतंत्र है, वास्तविक है और एक द्रव्य या वस्तु के रूप में है।

22.1 उद्देश्य–इसके अध्ययन से कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद पर प्रकाश पड़ सकेगा।

22.2 जैनदर्शन का दृष्टिकोण

आत्मा या जीव अस्तिकाय है। प्रत्येक आत्मा असंख्य "प्रदेश" का पिण्ड है। प्रदेश यानि अविभाज्य अंश—जिसके दो विभाग न हो सके। जैसे पुद्गल द्रव्य परमाणुओं के संघात से बनता है, वैसे जीव असंख्य प्रदेशों के संघात से नहीं बनता; किन्तु आत्मा के असंख्य प्रदेश सदा संघात रूप में रहते हैं, कभी पृथक् नहीं होते। जितने स्थान का अवगाहन एक परमाणु करता है, उतने ही स्थान का अवगाहन एक प्रदेश करता है। आत्मा सावयवी या सप्रदेशी होते हुए भी ये आत्मा से कभी अलग नहीं होते, कभी टूटते नहीं।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश के साथ कर्म पुद्गलों का संयोग होता है और कर्म के द्वारा उत्पन्न प्रभाव से आत्मा एक जन्म से दूसरे जन्म में गमन करती रहती है। कर्म अपने आप में जड़ है, फिर भी आत्मा के साथ बद्ध होने से उनमें आत्मा को प्रभावित करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। कर्म को हम "चैतसिक-भौतिक बल" (Psycho-physical force) के रूप में मान सकते हैं। यही बल आत्मा को पुनर्जन्म लेने के लिए बाध्य करता है। अनादिकाल से प्रत्येक जीव (आत्मा) जन्म-मृत्यु की शृंखला से गुजरता हुआ अपना अस्तित्व बनाए रखता है। यही जैन दर्शन का आत्मवाद और पुनर्जन्मवाद का सिद्धान्त है।

22.3 अध्यात्मवाद बनाम भौतिकवाद

आस्तिक या अध्यात्मवादी एवं नास्तिक या भौतिकवादी दर्शन पुनर्जन्म के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत करते हैं। सभी अस्तित्ववादी या आस्तिक दर्शन आत्मा को चैतन्यशील, जड़ पदार्थ से सर्वथा स्वतंत्र एवं अनश्वर अर्थात् मृत्यु के पश्चात् भी अपने अस्तित्व को बनाए रखने वाला, स्वीकार करते हैं, जबकि भौतिकवादी या नास्तिक दर्शन आत्मा की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते तथा मृत्यु के पश्चात् उसके अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। न्यायशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र के ग्रन्थों में इन दोनों मतों के प्रतिपादकों के पारस्परिक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वाद-विवाद की विस्तृत चर्चाएं उपलब्ध होती हैं। ये चर्चाएं तर्क, अनुमान आदि प्रमाण के आधार पर की गयी हैं। दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने मत को स्थापित कर विपक्ष को खण्डित करने की चेष्टा की गई है।

पुनर्जन्म की अवहेलना करने वाले व्यक्तियों की प्रायः दो प्रधान शंकाएं सामने आती हैं—

1. यदि हमारा पूर्वभव होता, तो हमें उसकी कुछ-न-कुछ स्मृतियां होतीं।
2. यदि दूसरा जन्म होता, तो आत्मा की गति एवं आगति हम क्यों नहीं देख पाते?

पहली शंका का हम बाल्य-जीवन की तुलना से ही समाधान कर सकते हैं। बचपन की घटनावलियां हमें स्मरण नहीं आतीं, तो क्या इसका अर्थ होगा कि हमारी शैशव-अवस्था हुई नहीं थी? एक-दो वर्ष के नव-शैशव की घटनाएं स्मरण नहीं होती, तो भी अपने बचपन में किसी को संदेह नहीं होता। वर्तमान जीवन की यह बात है, तब फिर पूर्वजन्म को हम इस युक्ति से कैसे हवा में उड़ा सकते हैं? पूर्वजन्म की भी स्मृति हो सकती है, यदि उतनी शक्ति जाग्रत हो जाए। जिसे 'जाति-स्मृति ज्ञान' (पूर्वजन्म-स्मरण) हो जाता है, वह अनेक जन्मों की घटनाओं का साक्षात्कार कर सकता है।

दूसरी शंका एक प्रकार से नहीं के समान है। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। उसके दो कारण हैः—

1. वह अमूर्त है; इसलिए दृष्टिगोचर नहीं होता।
2. वह सूक्ष्म है; इसलिए शरीर में प्रवेश करता हुआ या निकलता हुआ दिखाई नहीं दे।

नहीं दिखने मात्र से किसी वस्तु का अभाव नहीं होता। सूर्य के प्रकाश में नक्षत्र-गण नहीं देखा जाता। इससे इसका अभाव थोड़े ही माना जा सकता है? अंधकार में कुछ नहीं दीखता, क्या यह मान लिया जाए कि यहां कुछ भी नहीं है? ज्ञान-शक्ति की एकदेशीयता से किसी भी सत्-पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार न करना उचित नहीं होता।

अब हमें पुनर्जन्म की सामान्य स्थिति पर भी कुछ दृष्टिपात कर लेना चाहिए। दुनिया में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं है, जो अत्यन्त असत् से सत् बन जाए—जिसका कोई भी अस्तित्व नहीं, वह अपना अस्तित्व बना ले। अभाव से भाव एवं भाव से अभाव नहीं होता, तब फिर जन्म और मृत्यु नाश और उत्पाद, यह क्या है? परिवर्तन। प्रत्येक पदार्थ में परिवर्तन होता है। परिवर्तन से पदार्थ एक अवस्था को छोड़कर दूसरी अवस्था में चला जाता है, किन्तु न तो वह सर्वथा नष्ट होता है और न सर्वथा उत्पन्न भी। दूसरे-दूसरे पदार्थों में भी परिवर्तन होता है, वह हमारे सामने है। प्राणियों में भी परिवर्तन होता है। वे जन्मते हैं, मरते हैं। जन्म का अर्थ अत्यन्त नयी वस्तु की उत्पत्ति नहीं और मृत्यु से जीव का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता। केवल वैसा ही परिवर्तन है, जैसे यात्री एक स्थान को छोड़कर दूसरे स्थान में चले जाते हैं। यह एक ध्रुव सत्य है कि सत्ता से असत्ता एवं असत्ता से सत्ता कभी नहीं होती। परिवर्तन को जोड़ने वाली कड़ी आत्मा है। वह अन्वयी है। पूर्वजन्म और उत्तर-जन्म दोनों उसकी अवस्थाएं हैं। वह दोनों में एकरूप रहती है। अतएव अतीत और भविष्य की घटनावलियों की शृंखला जुड़ती है। शरीरशास्त्र के अनुसार सात वर्ष के बाद शरीर के पूर्व परमाणु च्युत हो जाते हैं, सब अवयव नये बन जाते हैं। इस सर्वांगीण परिवर्तन में आत्मा का लोप नहीं होता। तब फिर मृत्यु के बाद उसका अस्तित्व कैसे मिट जाएगा?

22.4 जाति-स्मृति ज्ञान

जैनदर्शन की ज्ञान-मीमांसा में मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—ये दोनों इन्द्रिय-ज्ञान के भेद हैं जाति-स्मृति का अर्थ है—पूर्वजन्म की स्मृति।

पूर्वजन्म की स्मृति (जाति-स्मृति) 'मतिज्ञान' का ही एक विशेष प्रकार है। इससे पिछले अनेक समनस्क जीव ों की घटनावलियां जानी जा सकती हैं। पूर्वजन्म में घटित घटना के समान घटना घटने पर वह पूर्व-परिचित-सी लगती है। ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा करने से चित्त की एकाग्रता और शुद्धि होने पर पूर्वजन्म की स्मृति उत्पन्न होती है। सब समनस्क जीवों को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती, इसकी कारण-मीमांसा करते हुए आचार्य ने लिखा है—

"जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स वा पुणो।
तेण दुक्खेण संमूढो, जाइं सरइ न अप्पणो।।"

—व्यक्ति 'मृत्यु' और 'जन्म' की वेदना से सम्मूढ़ हो जाता है; इसलिए साधारणतया उसे जाति की स्मृति नहीं होती।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक ही जीवन में दुःख-व्यग्रदशा (सम्मोह-दशा) में स्मृति-भ्रंश हो जाता है तब वैसी स्थिति में पूर्वजन्म की स्मृति लुप्त हो जाए, उसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूर्वजन्म के स्मृति-साधन मस्तिष्क आदि नहीं होते, फिर भी आत्मा के दृढ़-संस्कार और ज्ञान-बल से उसकी स्मृति हो आती है। इसलिए ज्ञान दो प्रकार का बतलाया है—इस जन्म का ज्ञान और अगले जन्म का ज्ञान।

जाति-स्मरण ज्ञान की अगणित घटनाएं जैन साहित्य में उपलब्ध है। इसमें विशेषतः मेघकुमार (जो मगध-नरेश श्रेणिक बिम्बिसार का पुत्र था) को भगवान महावीर द्वारा जाति-स्मरण ज्ञान कराने की घटना उल्लेखनीय है। मेघकुमार को अपने पिछले जन्म में हाथी के जन्म की स्मृति हुई। उससे प्रेरित हो मेघकुमार प्रतिबुद्ध हुए।[1]

22.5 मेघकुमार और जाति-स्मृति

भगवान् महावीर के पास सम्राट् श्रेणिक का पुत्र मेघकुमार दीक्षित हुआ। वह मुनि बना। जीवन के प्रति कुछ अधीरता हो गई। वह भगवान् के पास आया और बोला—'भंते! आपका साधुत्व आप संभालें। मैं घर जा रहा हूं।' महावीर ने कहा—'मेघकुमार! बहुत आश्चर्य की बात है। आज तुम मनुष्य हो, एक सम्राट् के पुत्र हो, मेरे शिष्य हो। मुनि बन गये, फिर भी थोड़े से कष्ट से घबरा गये! इतने अधीर हो गये! तुम्हें याद नहीं है, हाथी के जन्म में तुमने कितने भयंकर कष्ट सहे थे? भूल गये?' भूला कौन था! कोई भूला नहीं था। बस, जो छिपा पड़ा था उसकी स्मृति दिलाने की जरूरत थी। मेघकुमार को पुनर्जन्म की स्मृति हो गई। हाथी के जन्म में सहे सारे कष्ट चित्रवत् प्रत्यक्ष हो गये। अब सब कुछ ठीक हो गया।

हम अतीत से विच्छिन्न होकर केवल वर्तमान की व्याख्या नहीं कर सकते। प्रवृत्ति और परिणाम—इन दोनों को तोड़ा नहीं जा सकता। जो परिणाम आज दृश्य है, उसके पीछे प्रवृत्ति है। परिणाम और प्रवृत्ति, प्रवृत्ति और परिणाम। आज की प्रवृत्ति अतीत का परिणाम, आज का परिणाम अतीत की प्रवृत्ति। जो वर्तमान क्षण की प्रवृत्ति है, उसके पीछे अतीत का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है इसलिए वह परिणाम भी है और भावी परिणाम का वह हेतु भी है, इसलिए वह प्रवृत्ति भी है, वह परिणाम भी है। वह कार्य भी है और कारण भी। अतीत का कारण उसके पीछे है इसलिए वह कार्य और भविष्य के कार्य का वह हेतु है, इसलिए वह कारण भी है।

हम वर्तमान, अतीत और भविष्य—इन तीनों की संघटना में जी सकते हैं और सत्य को पकड़ सकते हैं। केवल वर्तमान के द्वारा नहीं पकड़ सकते।

जहां कार्य-कारण की मीमांसा है, जहां सचाई को उद्घाटित करने का प्रश्न है वहां केवल वर्तमान से काम नहीं चल सकता। वहां अतीत का भी उतना ही महत्त्व है जितना कि वर्तमान का है। वहां भविष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है जितना वर्तमान महत्त्वपूर्ण है। काल की अखण्डता को लेकर ही हम कार्य, कारण, प्रवृत्ति और परिणाम को जान सकते हैं, काल की अखंडता के द्वारा ही हम उन्हें ठीक से समझ सकते हैं, पकड़ सकते हैं।

कर्म का सम्बन्ध अतीत से इसलिए है कि वह दीर्घकाल तक आत्मा के साथ जुड़ा रहता है। वह सम्बन्ध स्थापित करता है और सम्बन्ध स्थापित करने के बाद लम्बे समय तक जुड़ा रहता है। कर्म का सम्बन्ध वर्तमान से इसलिए है कि वह लम्बे समय तक साथ रहने के बाद एक दिन विसर्जित हो जाता है, सदा साथ नहीं रहता जो आगन्तुक होता है, वह सदा साथ नहीं रहता। सदा साथ वही रह सकता है जो स्थायी है। स्थायी वही रह सकता है जो सहज होता है। जो आया हुआ है, वह सहज नहीं होता। कर्म सहज नहीं होता, वह स्वभाव नहीं है। सहज है चेतना। सहज है आनन्द। सहज है शक्ति। आत्मा का जो स्वाभाविक गुण है, वह है चैतन्य। कर्म आया हुआ है, सहज नहीं है। वह एक दिन आता है, सम्बन्ध स्थापित करता है और जब तक अपना प्रभाव पूरा नहीं डाल देता, तब तक बना रहता है। जिस दिन अपना प्रभाव डाल दिया, उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है और वह चला जाता है, विसर्जित हो जाता है। विसर्जित होने का क्षण वर्तमान का क्षण है और आने का क्षण अतीत का क्षण है। विनाश का क्षण वर्तमान का क्षण है और सम्बन्ध-स्थापना का क्षण अतीत का क्षण है।

---

[1] ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 1; युवाचार्य महाप्रज्ञ कृत सम्बोधि।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जन्म होता है और मृत्यु होती है इसमें किसी को कोई संदेह नहीं है। यह सबके सामने घटित होने वाली घटना है। जो जन्मा है वह पहले मरा भी है। जो मरा है वह मरण के बाद जन्म लेगा, यह प्रत्यक्ष नहीं है। इसलिए इस परोक्ष विषय में संदेह का अवकाश है। इस संदेह के आधार पर कुछ प्रत्यक्षवादी जन्म और मृत्यु को अभूतपूर्व ही मानते हैं। वे कहते हैं— इस जन्म से पूर्व कोई जन्म नहीं हुआ और जन्म के अभाव में मृत्यु का प्रश्न ही नहीं उठता।

कुछ तत्त्वदर्शी पुरुषों ने जन्म और मृत्यु से साक्षात्कार करने का अभ्यास किया। निरन्तर अभ्यास से वे साक्षात्कार की भूमिका तक पहुंचे। उन्होंने यह पाया कि जन्म और मृत्यु का प्रवाह चिरन्तन है। उसकी अनुभूति के बाद उन्होंने यह उद्घोषणा की कि कुछ मनुष्यों को पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान होता है। कुछ को इनका संज्ञान नहीं होता।

आचार्य शीलांक ने वृत्ति में कहा है—अमनस्क प्राणियों को यह अवबोध नहीं होता। समनस्क प्राणियों में भी सबको यह अवबोध नहीं होता—कुछ को होता है, कुछ को नहीं होता कि मैं यहां अमुक दिशा से आया हूं।[1] सूत्रकार इसी बिन्दु से अपना प्रवचन प्रारम्भ करते हैं[2]—

'मैं पूर्व दिशा से आया हूं,
अथवा मैं दक्षिण दिशा से आया हूं,
अथवा मैं पश्चिम दिशा से आया हूं,
अथवा मैं उत्तर दिशा से आया हूं,
अथवा मैं ऊर्ध्व दिशा से आया हूं,
अथवा मैं अधो दिशा से आया हूं,
अथवा मैं किसी अन्य दिशा से आया हूं,
अथवा मैं अनुदिशा (विदिशा) से आया हूं।'

पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का यह प्रश्न न केवल आत्मवादी के लिए अपितु प्रत्येक बुद्धिवादी के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसकी उपेक्षा कर हम जीवन-मृत्यु सम्बन्धी सत्य से आंख मूंद लेते हैं। इस प्रश्न के बिना दर्शन का जन्म भी कहां से हो? क्या आत्मा को शरीर से पृथक् किया जा सकता है? यदि यह शक्य नहीं है तो पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का कथन वास्तविक नहीं है। यदि उसको शरीर से पृथक् किया जा सकता है तभी उसका शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध नहीं है, यह प्रतीति की जा सकती है।

मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली है। मेरी आत्मा पुनर्जन्म लेने वाली नहीं है। मैं पूर्वजन्म में कौन था? यहां से च्युत होकर परलोक में मैं क्या होऊंगा—यह संज्ञान भी सब मनुष्यों को नहीं होता। 'मैं कौन था'— यह पूर्वजन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है—चिन्तन, मनन और विश्लेषण करने वाला सूत्र है। 'परलोक में मैं क्या होऊंगा?' यह भावी-जन्म के संज्ञान का विचयसूत्र है।

22.6 जाति स्मृति के हेतु

क्या यह संज्ञान किया जा सकता है? इस जिज्ञासा के उत्तर में भगवान् महावीर ने प्रतिपादन किया कि पूर्वजन्म और पुनर्जन्म का संज्ञान किया जा सकता है। इस शक्यता के प्रतिपादन में तीन हेतुओं का निर्देश किया गया है—1. स्वस्मृति, 2. परव्याकरण , 3. दूसरों के पास सुनना।

22.6.1 स्वस्मृति

यह प्रथम हेतु है। कुछ बच्चों को बाल्यावस्था में ही पूर्वजन्म की सहज स्मृति प्राप्त होती है। आधुनिक परामनोवैज्ञानिकों ने पूर्वजन्म की सहज स्मृति से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का संग्रह किया है। जैन साहित्य में भी इससे सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं।

सुश्रुत संहिता में यह निर्दिष्ट है कि पूर्वजन्म में जो व्यक्ति शास्त्रों के अभ्यास से अपना अन्तःकरण भावित कर लेते हैं, उन्हें पूर्वजन्म की स्मृति होती है।

---

1 आचारांग वृत्ति, पत्र 14.

2 आचारांग भाष्यम् 1.4

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.6.2 परव्याकरण

यह दूसरा हेतु है। किसी आप्त के साथ व्याकरण—प्रश्नोत्तर पूर्वक मनन कर कोई उस ज्ञान को प्राप्त करता है। धर्म के 'परव्याकरण' का हार्द है—तीर्थंकर द्वारा व्याख्यात। निर्युक्ति में इस अर्थ का समर्थन मिलता है—'परवचन-व्याकरण ही जिन-व्याकरण है, क्योंकि जिन से उत्कृष्ट कोई नहीं है।'

इस विषय में मेघकुमार के जाति-स्मृति ज्ञान का उल्लेख करना संगत है। चूर्णि और वृत्ति में गौतम स्वामी के उदाहरण का भी उल्लेख किया गया है। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भगवन्! मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा है? भगवान् ने कहा—गौतम! इसका कारण है मेरे प्रति तुम्हारा अत्यधिक अनुराग। गौतम ने कहा—भगवन्! ऐसा ही है। भगवान् के प्रति मेरा यह स्नेह किस कारण से है?

भगवान् ने तब उसके साथ अनेक जन्मों का पूर्व-सम्बन्ध बतलाते हुए कहा—'गौतम! तुम्हारा मेरे साथ लम्बे समय तक संसर्ग रहा है। तुम मेरे चिर-परिचित हो?' तीर्थंकर की उस वाणी को सुनकर गौतम स्वामी को विशिष्ट दिशागमन—मैं किस दिशा से, कहां से आया हूं—आदि का ज्ञान प्राप्त हुआ।

22.6.3 दूसरों के पास सुनना

यह तीसरा हेतु है। बिना पूछे किसी अतिशयज्ञानी के द्वारा स्वतः ही निरूपित तथ्य को सुनकर कोई पूर्वजन्म का संज्ञान प्राप्त कर लेता है। प्राचीन व्याख्या के अनुसार 'अन्य' पद से तीर्थंकर के अतिरिक्त सभी विशिष्ट ज्ञानियों का ग्रहण किया गया है। इस विषय में निर्युक्ति की व्याख्या इस प्रकार है—'अन्य के पास सुनकर—तीर्थंकरों से अतिरिक्त सभी अन्य हैं।' चूर्णिकार निर्युक्ति के अर्थ का विस्तार करते हुए नामोल्लेख पूर्वक बताते हैं कि तीर्थंकर से अतिरिक्त जो अन्य केवली, अवधिज्ञानी, मनःपर्यवज्ञानी, चतुर्दशपूर्वी, दसपूर्वी, नवपूर्वी, आठपूर्वी आदि से लेकर आचारधर, सामायिकधर, श्रावक या कोई सम्यग्दृष्टि—ये सभी व्यक्ति 'अन्य' के अन्तर्गत आते हैं।

22.6.4 जाति-स्मृति के कारण

कुछ मनुष्यों में पूर्वजन्म की स्मृति जन्मजात नहीं होती, लेकिन किसी निमित्त के मिलने पर उनको पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है। उसके ये कारण निर्दिष्ट हैं—1. मोहनीय कर्म का उपशम, 2. अध्यवसानशुद्धि (लेश्या-विशुद्धि), 3. ईहापोहमार्गणागवेषणाकरण।

1. उपशान्तमोहनीय—'नमिपव्वज्जा' में मोहनीय के उपशम का उल्लेख किया गया है—

'उसका मोह उपशान्त था जिससे उसे पूर्वजन्म की स्मृति हुई।'

2. अध्यवसानशुद्धि—मृगापुत्र ने साधु को देखकर जाति-स्मृति प्राप्त की। वहां मोहनीय के उपशम और अध्यवसान-शुद्धि का एक साथ उल्लेख है।

'उसने वहां जाते हुए एक संयत श्रमण को देखा, जो तप, नियम और संयम को धारण करने वाला, शील से समृद्ध और गुणों का आकर था।'

मृगापुत्र ने उसे अनिमेषदृष्टि से देखा और मन ही मन सोचा—मैं मानता हूं कि ऐसा रूप मैंने पहले कहीं देखा है।

साधु के दर्शन और अध्यवसाय पवित्र होने पर 'मैंने ऐसा कहीं देखा है'—'इस विषय में वह सम्मोहित हो गया, चित्तवृत्ति सघनरूप में एकाग्र हो गई और विकल्प शान्त हो गए। इस अवस्था में उसे पूर्वजन्म की स्मृति हो आई।'

इस प्रकार हरिकेशबल ने भी विमर्श करते हुए जातिस्मृति प्राप्त की।

'चित्रसंभूति' अध्ययन की पृष्ठभूमि में भी जातिस्मृति का उल्लेख है। भृगुपुरोहित के दोनों पुत्र मुनि को देखकर जाति-स्मृति को उपलब्ध हुए और उन्होंने पूर्व आचरित तप, संयम को देखा।

जातिस्मृति से धर्म के प्रति श्रद्धा और संवेग में सहज वृद्धि होती है। इस अनुभव के आधार पर भगवान् महावीर ने अनेक व्यक्तियों को पूर्वजन्म का स्मरण कराया। मेघकुमार मुनि-प्रव्रज्या को छोड़ने के लिए तैयार हो गया तब भगवान् ने उसे तीसरे पूर्वजन्म की स्मृति कराई। मेघकुमार को भी ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा करते हुए शुभ परिणामों, प्रशस्त अध्यवसायों, विशुद्ध होती हुई लेश्याओं तथा तदावरणीय (जातिस्मृति के आवारक) कर्मों का क्षयोपशम होने से संज्ञिपूर्व (समनस्क जन्मों को जाननेवाला) ज्ञान उत्पन्न हुआ। सुदर्शन सेठ को भी इसी क्रम से जातिस्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

3. ईहा-अपोह-मार्गणा-गवेषणा—इस प्रसंग में ईहा, अपोह, मार्गणा और गवेषणा—ये चार पद 'जातिस्मृति' की प्रक्रिया को प्रकट करते हैं।

जैसे ही मेघकुमार ने मेरुप्रभ हाथी का नाम सुना, वहां उसकी ईहा (पूर्व स्मृति के लिए प्रारंभिक मानसिक चेष्टा) प्रवृत्त हुई। उस हाथी को जानने के लिए चित्त में कुछ आन्दोलन शुरू हुआ। उसके बाद अपोह हुआ—'क्या मैं हाथी था? यह तर्कणा (मीमांसा) करते हुए वह मार्गणा में प्रविष्ट हुआ। अपने अतीत का अन्वेषण करने के लिए वह अपने द्वारा अनुभूत अतीत की सीमा में प्रवेश कर गया। अतीत का चिन्तन करते-करते उसने गवेषणा प्रारम्भ की। जैसे आहार की अन्वेषणा में प्रवृत्त गाय पूर्वप्राप्त आहार के स्थान को प्राप्त कर लेती है वैसे ही गवेषणा करते हुए मेघकुमार को एकाग्र अध्यवसाय से हाथी के रूप में अपने जन्म की स्मृति उपलब्ध हो गई।

तदावरणीय कर्म के क्षयोपशम के द्वारा—जाति-स्मरण ज्ञान दो प्रकार का होता है—सनिमित्तक और अनिमित्तक। कुछ मनुष्यों को तदावरणीय (जातिस्मृति को आवृत्त करने वाले) कर्मों का क्षयोपशम होने से जाति-स्मरण ज्ञान होता है, वह अनिमित्तक है। कुछ मनुष्यों को बाह्य निमित्त उपलब्ध होने पर वह प्राप्त होता है, वह सनिमित्तक है।

यह जाति-स्मरण मतिज्ञान का ही एक प्रकार है। इससे उत्कृष्टत: पूर्ववर्ती नौ समनस्क जन्म जाने जा सकते हैं। आचारांग वृत्ति के अनुसार जातिस्मृति ज्ञान से संख्येय जन्म जाने जा सकते हैं।

संज्ञीपूर्व—जिन पूर्वजन्मों का ज्ञान किया जाता है वे समनस्क जन्म ही होते हैं। पूर्वजन्मों में जो अमनस्क जन्म होते हैं, उनको नहीं जाना जा सकता। इसकी सूचना 'संज्ञीपूर्व' इस विशेषण से मिलती है।

सबको पूर्वजन्म की स्मृति नहीं होती। इस विषय में तंदुलवेयालिय प्रकीर्णक में यह कारण निर्दिष्ट है—'जन्म और मृत्यु के समय जो दु:ख होता है उस दु:ख में सम्मूढ़ होने के कारण व्यक्ति को पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती।'

मूर्च्छा में स्मृति लुप्त हो जाती है, इसलिए पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती तथा विशिष्ट निमित्त के बिना पूर्वजन्म के विद्यमान संस्कारों का भी साक्षात्कार नहीं होता। यह भी स्मृति के न होने का कारण है।

संज्ञा—संज्ञा का अर्थ है—जानना। वह दो प्रकार की होती है—अनुभवसंज्ञा और ज्ञानसंज्ञा। मति, श्रुत, अवधि, मन:पर्यव और केवल—ये पांचों ज्ञानसंज्ञा कहलाते हैं, इसलिए चूर्णिकार ने कहा है—'मति, संज्ञाए एकार्थक है।' 'संज्ञा, बुद्धि, ज्ञान और विज्ञान एकार्थक हैं।' यहां ज्ञानवाचक शब्दों की एकार्थकता दिखलाई गई है। अनुभवसंज्ञा संवेदनात्मक होती है। निर्युक्तिकार ने स्पष्ट निर्देश दिया है—'अनुभव कर्मसंयुक्त होता है।' अनुभवसंज्ञा स्वकृतकर्मों के उदय आदि से उत्पन्न होती है। यहां यह प्रासंगिक नहीं है। यहां ज्ञानसंज्ञा का ही प्रकरण है।

22.5 परिणाम

वह मैं—जिसे वह 'मैं' इस रूप में जन्म की स्मृति होती है उसके मन में अपने त्रैकालिक अस्तित्व के प्रति प्रगाढ़ आस्था पैदा हो जाती है।

'सोहं'—इस पद से उसकी अभिव्यक्ति की गई है। जिसका अस्तित्व वर्तमान की सीमा का अतिक्रमण कर अतीत तक व्याप्त हो जाता है, उसका अस्तित्व त्रैकालिक होता है, यह स्वाभाविक स्वीकृति है। जातिस्मृति ज्ञान से सम्पन्न मनुष्य अपने अतीतकालीन अस्तित्व का स्मरण कर लेता है, उसका सूत्र में साक्षात् उल्लेख किया गया है—'जो इन दिशाओं और अनुदिशाओं (विदिशाओं) में अनुसंचरण करता है, जो सब दिशाओं और अनुदिशाओं से आकर अनुसंचरण करता है, वह मैं हूं।'

आगम युग में भी अनेक वाद प्रचलित थे। कुछ आत्मवादी थे और कुछ अनात्मवादी। दोनों ने अपने-अपने अभिप्रेत पक्ष को तर्क के बल पर स्थापित किया था। भगवान् महावीर ने अनुभव अथवा साक्षात्कार को प्रधानता दी। वे जानते थे कि तर्क के द्वारा स्थापित पक्ष प्रतितर्क से उत्थापित भी होता है, किन्तु साक्षात्कार किया हुआ तत्त्व सैकड़ों तर्कों से भी खंडित नहीं होता। इसलिए भगवान् ने साक्षात्कार के मार्ग को मुख्यता दी। जिसको पूर्वजन्म की स्मृति हो जाती है, वह वस्तुवृत्त्या आत्मवादी होता है। उसको आत्मा के अस्तित्व में शंका नहीं रहती। आत्मा के त्रैकालिक अस्तित्व की स्वीकृति होने पर लोकवाद,

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

कर्मवाद और क्रियावाद का स्वीकार होना स्वाभाविक है। जाति-स्मृति का मुख्यफल असत् से निवृत्ति और सत् में प्रवृत्ति तथा श्रद्धा की प्रगाढ़ता है।

22.7 लोकवादी

'लोकवादी'—जैसे मैं हूं, इसी तरह अन्य प्राणी भी हैं। लोक के भीतर ही जीवों का अस्तित्व है, जीव-अजीव लोक समुदाय हैं, इस प्रकार मानने वाला लोकवादी कहा गया है।

22.7.1 कर्मवादी

जातिस्मृति से आत्मा और पुद्‌गल का सम्बन्ध-बोध भी होता है। आत्मा का पुनः जन्म-ग्रहण तथा दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण पुद्‌गल के योग से ही होता है। जीवों का शरीर सूक्ष्मतर है। उसमें स्वयं आत्मा के द्वारा अपने अध्यवसाय से आकृष्ट शुभ-अशुभ पुद्‌गल संचित रहते हैं। वे पुद्‌गल आत्मा की अपनी प्रवृत्ति (कर्म) के द्वारा आकृष्ट होते हैं, इसलिए वे 'कर्म' नाम से अभिहित होते हैं। उनका आधारभूत शरीर भी 'कार्मण शरीर'—इस नाम से जाना जाता है।

मुख्यतः कर्म का अर्थ 'प्रवृत्ति' है। कर्म से आकृष्ट पुद्‌गल भी कर्म शब्द से उपचरित होते हैं। 'कर्मवाद' पद से यहां उन्हीं की विवक्षा की गई है। कर्मवाद में कृत की प्रतिक्रिया का सिद्धान्त सम्मत है। 'अपना किया हुआ कर्म अपने को ही भुगतना होता है'—इस सूत्र से यह जाना जा सकता है।

22.7.2 क्रियावादी

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध क्रिया के द्वारा ही होता है। जब तक आत्मा में रागद्वेषजनित प्रकम्पन विद्यमान हैं, तब तक उसका कर्म परमाणुओं के साथ सम्बन्ध होता रहता है, इसलिए कर्मवाद क्रियावाद का उपजीवी है। प्रस्तुत आगम में क्रियावाद का विस्तृत विवरण दृष्टिगोचर होता है। जाति-स्मृति ज्ञान से सम्पन्न जीव पूर्वजन्म के घटनाक्रम से यह स्पष्ट जान लेता है—आत्मा है, पुद्‌गल है, उन दोनों का अनुबन्ध है ओर उनके अनुबन्ध का हेतु भी है।

'क्रिया है इसलिए कर्मबन्ध है। कर्मबन्ध है इसलिए दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण होता है'—इस अनुभूति की प्रगाढ़ता में जातिस्मृति ज्ञान से सम्पन्न जीव जो चिन्तन करता है उसका निर्देश प्रस्तुत सूत्र में किया गया है।

कृत, कारित और अनुमोदित के भेद से क्रिया तीन प्रकार की होती है। कालत्रय के भेद से उसके नौ विकल्प बन जाते हैं। प्रस्तुत सूत्र में संक्षिप्त शैली से नौ क्रियाओं का समाहार किया गया है। प्रथम, द्वितीय तथा नौवें विकल्प का स्पष्ट निर्देश हुआ है। शेष विकल्प इस प्रकार जान लेने चाहिए—

3. मैंने करने वाले का अनुमोदन किया था।
4. मैं क्रिया करता हूं।
5. मैं क्रिया करवााता हूं।
6. मैं करने वाले का अनुमोदन करता हूं।
7. मैं क्रिया करूंगा।
8. मैं क्रिया कराऊंगा।

क्रिया कर्मपुद्‌गलों का आश्रवण करती है, इसलिए इसका दूसरा नाम आश्रव है। वही वास्तव में दिशाओं एवं अनुदिशाओं में अनुसंचरण का हेतु है। जातिस्मृति ज्ञान से अनुसंचरण का हेतु भी ज्ञात हो जाता है।

सांख्य दर्शन में 'पुरुष' शब्द का वाच्य है—आत्मा। प्रस्तुत आगम में भी अनेक स्थानों में 'पुरुष' शब्द का आत्मा के अर्थ में प्रयोग किया गया है। जातिस्मृति ज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति का चिन्तन-क्रम भी बदल जाता है। वह श्रद्धासिक्त संवेग को प्राप्तकर संकल्प करता है—मुझे इन क्रियाओं अथवा कर्मसमारम्भों की परिज्ञा करनी है। परिज्ञा के दो अर्थ हैं—ज्ञान अथवा ज्ञानपूर्वक विरति। परिज्ञा दो प्रकार की होती है—ज्ञपरिज्ञा और प्रत्याख्यानपरिज्ञा। इसका फलित यह होता है—पहले कर्मसमारम्भों को जानना चाहिए फिर उनका प्रत्याख्यान करना चाहिए।

जातिस्मृति-सम्पन्न पुरुष पूर्ववर्ती जन्म की घटनाओं के आधार पर इस निश्चय पर पहुंच जाता है—दिशाओं या अनुदिशाओं में अनुसंचरण करना, उनमें कर्म के साथ अनुगमन करना, अनेक प्रकार की योनियों

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में जन्म का अनुसंधान (पुनः पुनः ग्रहण) तथा विविध प्रकार के स्पर्शों (कष्टों) का प्रतिसंवेदन (अनुभव) कर्म का परिज्ञान न करने के कारण ही होता है। यह सब जानकर वह परिज्ञातकर्मा बनने के लिए प्रयत्नशील होता है।

इस सन्दर्भ में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है—क्या कर्म (प्रवृत्ति) का परित्याग किया जा सकता है? शरीर-धारण और जीवन-यात्रा का निर्वहन कर्म के अधीन है। कर्ममुक्त व्यक्ति जीवन कैसे जी सकता है? यहां कर्म के प्रत्याख्यान से तात्पर्य है—असंयममय कर्म (प्रवृत्ति) का प्रत्याख्यान। 'वीर्य (आत्मशक्ति) का गोपन मत करो'—यह स्वयं भगवान् महावीर ने अपने अनुभव के आधार पर प्रतिपादित किया है। यहां वीर्य कर्म से अनुबद्ध है। 'साधक इन्द्रियों का संयम करता है, उनका उच्छृंखल व्यवहार नहीं करता।' इस सूत्र में संयममय कर्म का निर्देश है। 'मुनि यश का इच्छुक होकर किसी भी क्षेत्र में कुछ भी न करे।' यहां भी यश के लिए कर्म-समारम्भ का निषेध है, सर्वथा कर्म का निषेध नहीं है। 'पाप कर्म (हिंसा का आचरण, विषय का सेवन) अकरणीय है'—इस सूत्र में स्पष्ट निर्देश है कि पाप कर्म अकरणीय है। कर्म सर्वथा अकरणीय है, ऐसा निर्देश नहीं है।

कर्म-समारम्भ की परिज्ञा के निर्देश कर्म की विशुद्धि के निर्देश हैं। तत्त्वदर्शी भी पदार्थों का परिभोग करता है। वह कर्म से परे नहीं होता। इसलिए निर्देश दिया गया है—'तत्त्वदर्शी पुरुष पदार्थ का परिभोग भिन्न प्रकार से करे'—जैसे साधारण मनुष्य असंयत प्रवृत्ति से पदार्थों का परिभोग करता है, संयमी व्यक्ति वैसे नहीं करता, किन्तु वह संयत प्रवृत्ति से उनका परिभोग करता है। संयमपूर्वक किया जाने वाला कर्म अकर्म कहलाता है। उस दृष्टिकोण से ही कर्म-समारम्भ की परिज्ञा का निर्देश किया गया है। इसका फलित यह है—मुनि को असंयममय कर्म (प्रवृत्ति) का परित्याग करना चाहिए।

जातिस्मृति-सम्पन्न पुरुष अपनी अनुभूत घटनाओं के आधार पर जो जानता है, उसकी यथार्थता का समर्थन करते हुए भगवान् ने परिज्ञा का निरूपण किया है। परिज्ञा का अर्थ है—विवेक। अपरिज्ञातकर्मा—कर्म-समारम्भ का ज्ञान और प्रत्याख्यान न करने वाला पुरुष दिशाओं और अनुदिशाओं में अनुसंचरण करता है।

22.8 जातिस्मृति और ध्यान

22.8.1 जाति-स्मरण का प्रयोग-अर्थात् ध्यान की शक्ति को पिछले जन्मों की ओर प्रवाहित करना

जाति-स्मरण का अर्थ है, पिछले जन्मों के स्मरण की विधि। पहले जो हमारा होना हुआ है, उनके स्मरण की विधि। ध्यान का ही एक रूप है, जाति-स्मरण, ध्यान का ही एक प्रयोग है। एक खास (Specific) प्रयोग है ध्यान का। ध्यान की शक्ति को हम अपने पिछले जन्मों की तरफ भी प्रवाहित कर सकते हैं। ध्यान का तो मतलब है सिर्फ अटैन्शन। ध्यान का मतलब है 'ध्यान'। किस चीज पर ध्यान देना है, उसके बहुत प्रयोग हो सकते हैं। उसका एक प्रयोग जाति-स्मरण है कि मेरे पिछले जन्मों की स्मृति कहीं पड़ी है।

22.8.2 ध्यान की ऊर्जा को फोकस करके पीछे लौटाना

स्मृतियां मिटती नहीं, ध्यान रहे। कोई स्मृति कभी नहीं मिटती है, सिर्फ स्मृति दबती है या उभरती है। दबी हुई स्मृति, मिटी हुई मालूम पड़ती है। अगर मैं आपसे पूछूं कि 1950 की 1 जनवरी को आपने क्या-क्या किया था, तो ऐसा तो नहीं है कि आपने कुछ भी न किया होगा। लेकिन आप कुछ भी नहीं बता पाएंगे कि 1 जनवरी 1950 को क्या किया। एकदम खाली हो गया है, 1 जनवरी 1950 का दिन। पर खाली न रहा होगा। जिस दिन बीता होगा, उस दिन भरा हुआ था। लेकिन आज खाली हो गया है। आज का दिन भी कल इसी तरह खाली हो जाएगा। दस साल बाद आज के दिन का कोई पता नहीं चलेगा। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि 1 जनवरी 1950 नहीं था। न इसका यह मतलब है कि 1 जनवरी 1950 को आप नहीं थे, न इसका यह मतलब है कि चूंकि आप स्मरण नहीं कर पाते हैं, इसलिए उस दिन को हम कैसे मानें। वह था और उसे जानने का भी उपाय है। ध्यान को उसकी तरफ भी ले जाया जा सकता है। जैसे ही ध्यान का प्रकाश उस पर पड़ेगा, आप हैरान हो जाएंगे, वह उतना ही जीवंत वापस दिखाई पड़ने लगेगा, जितना जीवंत उस दिन भी न रहा होगा। जैसे कि कोई टॉर्च को लेकर अंधेरे कमरे में आए और घुमाए। वह बाईं तरफ देखे, तो दाईं तरफ अंधेरा हो जाता है, लेकिन दाईं तरफ मिट नहीं जाता। वह टॉर्च को घुमाए और दाईं तरफ ले आए, तो दाईं तरफ फिर जीवित हो जाता है, लेकिन बाईं तरफ छिप जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

ध्यान का एक फोकस है और अगर विशेष दिशा में प्रवाहित करना हो तो ध्यान का टॉर्च की तरह प्रयोग करना पड़ता है।

22.8.3 जाति-स्मरण का पहला सूत्र : भविष्य से चित्त को हटाकर भूतकाल की ओर मोड़ना

पहली बात यह है कि अगर जाति-स्मरण में उतरना ही अतीत जन्म को जानना हो, तो भविष्य की तरफ से चित्त को मोड़ना पड़ता है। हमारा चित्त भविष्यगामी है। हमारा चित्त आमतौर से भविष्य की तरफ गति करता है। चित्त की जो धारा है, वह भविष्य की तरफ उन्मुख है। जीवन के हित में यही है कि भविष्य की तरफ चित्त उन्मुख हो, अतीत की तरफ उन्मुख न हो, क्योंकि अतीत से अब क्या लेना-देना है, वह गया, वह जा चुका है। अभी जो आने को है उसकी तरफ हम उत्सुक हैं। भविष्य के प्रति हम उत्सुक है कि क्या होने वाला है। जिस व्यक्ति को अतीत स्मरण करना हो, उसे भविष्य की उत्सुकता बिल्कुल छोड़ देनी पड़ती है, क्योंकि चित्त का जो फोकस है, उसकी जो धारा है, अगर भविष्य की तरफ बह रही है, तो उसके टॉर्च की धारा तो अतीत की तरफ नहीं बह सकती हैं

पहला काम यह करना पड़ता है कि भविष्योन्मुखता बिल्कुल तोड़ देनी पड़ती है कुछ महीने के लिए, एक निश्चित समय के लिए। छह महीने के लिए भविष्य को नहीं सोचूंगा, भविष्य का ख्याल आ जाएगा, तो उसको नमस्कार कर लूंगा। भविष्य का भाव आ जाएगा, तो मैं उस पर नहीं बहूँगा, और भविष्य है ही नहीं, ऐसा छह महीने मानकर चलूंगा और पीछे की तरफ बहूँगा, पहली बात। और जैसे ही भविष्य टूटता है, चित्त की धारा पीछे की तरफ मुड़नी शुरू हो जाती है।

22.8.4 पहले इसी जन्म की स्मृतियों में पीछे लौटना : कुछ प्रयोग

पहले तो इसी जन्म में पीछे लौटना पड़ेगा। एकदम पिछले जन्म में नहीं लौटा जा सकता है। उसके प्रयोग हैं कि इस जन्म में हम पीछे की तरफ कैसे लौटें। जैसे कि मैंने कहा, 1 जनवरी 1950 को आपने क्या किया, इसका आपको कोई पता नहीं है। इसका प्रयोग है, इसे जाना जा सकता है। जैसे मैं ध्यान के लिए कहता हूं, ऐसा ध्यान करें और दस मिनट के बाद जब ध्यान में चित्त चला जाए, शरीर शिथिल हो जाए, श्वास शिथिल हो जाए, मन शांत हो जाए, तब एक ही बात चित्त में रह जाए कि 1 जनवरी 1950 को क्या हुआ। सारा चित्त इस पर घूमने लगे। चित्त में चारों ओर गूंजता हुआ यह एक ही स्वर रह जाए, तो आप दो-चार दिन में पाएंगे कि अचानक एक दिन जैसे पर्दा उठ गया और एक जनवरी आ गई और सुबह से सांझ तक एक-एक चीज दौड़ रही है और आपने इस तरह एक जनवरी देखी, जैसे आपने उस दिन भी न देखी होगी, क्योंकि इतना होश आपने उस दिन भी न रखा होगा। पहले इसी जन्म में पीछे लौट कर प्रयोग करना पड़ेगा, फिर पांच वर्ष तक प्रयोगों को ले जाना बहुत सरल है।

पांच वर्ष की उम्र तक पीछे लौटना बहुत सरल है, बहुत कठिन नहीं है, लेकिन पांच वर्ष के बाद बड़ी बाधा पड़ती है। इसलिए आमतौर से हमारी स्मृति पांच वर्ष की उम्र के पहले की नहीं होती। पीछे से पीछे की स्मृति पांच वर्ष के करीब की होती है। हां, कुछ लोगों में तीन वर्ष तक हो सकती है, लेकिन तीन वर्ष के पहले तो बहुत ही मुश्किल बात हो जाती है। वहां एकदम द्वार अटक जाता है, जैसे सब बन्द हो गया है। लेकिन जो व्यक्ति इसमें समर्थ हो जाएगा, वह पांच वर्ष की उम्र तक की किसी भी दिन की स्मृति को पूरा जगाने लगेगा। वह पूरी तरह जगने लगती है और फिर उसकी इस तरह जांच कर लेनी चाहिए। जैसे आज का दिन गुजर रहा है, तो आज के दिन की कुछ बातें नोट करके ताले में बन्द कर दें। दो साल बाद आज के दिन को याद करें, वह सब खो जाएगा आज का दिन और तब स्मरण करें और स्मरण करके फिर ताला तोड़ें और फिर मिलावें कि वह बात मेल खा गई कि नहीं। आप हैरान होंगे कि जितनी बातें आपने लिखी थीं, उनसे बहुत ज्यादा बातें और भी याद आई हैं जो आप उस दिन भी नोट नहीं कर पाए थे। वे बातें याद आ ही जाएंगी।

22.9 जाति-स्मरण और आलय-विज्ञान

इनको बुद्ध ने नाम दिया है आलय-विज्ञान। मनुष्य के मन का एक कोना है, जिसको आलय-विज्ञान कहा है। आलय-विज्ञान का मतलब होता है, 'स्टोर हाउस ऑफ कांशसनेस'। जैसे घर में एक कबाड़खाना होता है, जहां हम सब बेकार हो गई चीजों को डालते चले जाते हैं। ऐसा चित्त की स्मृतियों को संग्रह करने वाला एक स्टोर हाउस है जहां सब चीजें संग्रहीत होती चली जाती हैं, जन्मों-जन्मों की। वे कभी वहां से

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

हटती नहीं हैं, क्योंकि कब जरूरत पड़ जाए उनकी, इसलिए वे वहां संग्रहीत होती हैं। शरीर बदल जाता है, लेकिन वह स्टोर हाउस हमारे साथ चलता है। कब जरूरत पड़ जाएगी उसकी, कुछ कहा नहीं जा सकता है और जिन्दगी में जो-जो हमने किया है, जो-जो हमने भोगा है, जो-जो जाना है, जो-जो जिया है, वे सब वहां संग्रहीत हैं।

22.9.1 गर्भ-काल तथा गर्भाधान की स्मृतियों में प्रवेश

जिस व्यक्ति को यह पाँच वर्ष तक का स्मरण आने लगे, वह पाँच वर्ष के पीछे उतर सकता है। बहुत कठिनाई नहीं है। प्रयोग यही रहेगा पाँच वर्ष के पीछे उतरने का। पांच वर्ष के पीछे फिर एक दरवाजा है, जो वहाँ तक ले जाएगा जहाँ तक जन्म हुआ, पृथ्वी पर आना हुआ। फिर एक कठिनाई मालूम होती है, क्योंकि माँ के पेट की स्मृतियाँ हैं, वे मिटती नहीं हैं। उसमें भी प्रवेश किया जा सकता है, और तब उस क्षण तक पहुंचा जा सकता है, जिस क्षण कंसेप्शन होता है, जिस क्षण माँ और पिता के अणु मिलते हैं और आत्मा प्रवेश करती है। वहाँ तक पहुँच जाने के बाद ही फिर पिछले जन्मों में उतरा जा सकता है। सीधे नहीं उतरा जा सकता है। इतनी यात्रा पीछे करनी पड़े, तब पिछले जन्म में भी सरका जा सकता है।

पिछले जन्म में सरकने पर पहला स्मरण जो आएगा, वह अंतिम घटना का आएगा। ध्यान रहे, जैसे कि हम किसी फिल्म को उलटा चलाएँ, तो समझ में नहीं आएगी, या कोई आदमी किसी उपन्यास को उलटा पढ़े, तो समझ में बिलकुल नहीं आएगा, बहुत मुश्किल में पड़ जाएगा। इसलिए पहली दफा पीछे की तरफ लौटने में कुछ भी समझ में नहीं आएगा, क्योंकि यह बिलकुल उलटा है। घटना के घटने का जो क्रम था, उससे यह बिलकुल उलटा क्रम है।

22.9.2 आकस्मिक रूप से पिछली स्मृतियों के टूटने पर साक्षी रहना, रस न लेना

कोई प्रयोग बिना किए भी अगर ध्यान करते-करते पिछले जन्मों की स्मृतियाँ आकस्मिक रूप से प्रकट भी हो जाएँ, तो उनमें बहुत रस नहीं लेना चाहिए, देख लेना चाहिए और साक्षी-भाव ही रखना चाहिए। क्योंकि साधारणतः चित्त का इतना सामर्थ्य नहीं होता कि इतने अनन्त उपद्रवों को एक साथ झेल सके। उस झेल लेने में विक्षिप्त हो जाने की पूरी संभावना है।

पर यह आकस्मिक है। आप प्रयोग से भी यह धारा तोड़ सकते हैं। लेकिन उस धारा को तोड़ने की दिशा में जाना कोई बहुत आवश्यक नहीं है। किन्हीं को उसकी उत्सुकता हो, तो प्रयोग कर सकते हैं, लेकिन उन जाति स्मृति के प्रयोगों से पहले ध्यान में काफी गहरे प्रयोग जरूरी है, ताकि मन इतना शांत और शक्तिशाली हो जाए कि कोई भी चीज जब टूट पड़े, तो आप उसको साक्षी-भाव से देख सकें। और अगर कोई व्यक्ति साक्षी-भाव में विकसित हो जाता है, तो पुराने जन्म देखे गये सपने-से ज्यादा नहीं मालूम पड़ते हैं। तब उसे कोई पीड़ा नहीं होती, तब ऐसा लगता है, यह सपना हमने देखा था। सपने से ज्यादा उनका अर्थ नहीं रह जाता। जब हमें पुराने दो-चार जन्म याद आ जाते हैं और सपने की तरह मालूम पड़ने लगते हैं, तो यह जन्म भी तत्काल सपने की तरह मालूम पड़ने लगता है।

22.9.3 माया का बोध—पिछले जन्मों की स्मृतियों में प्रवेश से

जिन लोगों ने इस जगत् को माया कहा है, उनके माया कहने के अनेक कारण हैं, उसका एक कारण जाति-स्मरण है। जिन्होंने भी पिछले जन्म-स्मरण किए हैं, यह सब मामला माया हो गया है, एकदम सपना (Illusion) हो गया है। क्योंकि कहाँ हैं वे मित्र, जो पिछले जन्म में थे, कहाँ है वे मकान, कहाँ हैं वह पत्नी, कहाँ हैं वे बेटे, कहाँ गई वह दुनिया, कहाँ गया वह सब, जिसको हमने इतना सत्य मान रखा था, कि वह है? कहाँ गई वे चिन्ताएँ जिनके लिए हम रातभर नहीं सोए थे, कहाँ गए वे दुःख, वे पीड़ाएँ जिनको हमने पहाड़ समझ रखा था और ढ़ोया था। कहाँ गए वे जिनके लिए हमने आकांक्षा की थी, कहां गया वह सब जिसके लिए हम दुखी, पीड़ित, परेशान हुए थे। अगर पिछला जन्म याद आ जाए और सत्तर वर्ष आप जीए थे, तो उन सत्तर वर्षों में जो देखा गया था वह एक सपना मालूम पड़ेगा या सत्य? एक सपना ही मालूम पड़ेगा, जो आया और गया। यदि पिछले जन्मों की स्मृतियां आ जाएँ, तो जो जन्म अभी चल रहा है, वह सब सपने-जैसा मालूम पड़ेगा। ये हवाएँ कितनी दफे नहीं चलीं, आकाश में बादल कितने दफे नहीं बहे। वे सब खो गए, ये सब भी खो जाएँगे। ये सब खोने के क्रम में ही लगे हुए हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.9.4 बोध-दृश्य असत्य, द्रष्टा सत्य का

यह अगर बोध हो जाए, तो माया का अनुभव होगा। लेकिन इसके साथ दूसरा भी अनुभव होगा कि चीजें बड़ी असत्य हैं, घटनाएँ बड़ी असत्य हैं, आती हैं और खो जाती हैं, लेकिन एक-सी बिलकुल नहीं होती हैं। एक सपना आता है, दूसरा सपना आता है, तीसरा सपना आता है। वह यात्री एक क्षण घर से निकलता है, तथा दूसरे में चला जाता है। एक मिट जाती है, दो मिट जाती हैं, तीसरी खो जाती है लेकिन वह यात्री चलता चला जाता है।

तो एक ही साथ दो अनुभव होते हैं—एक अनुभव कि जगत् माया है, द्रष्टा सत्य है और दूसरा दृश्य असत्य है और द्रष्टा सत्य है। दृश्य तो रोज बदल जाते हैं, हर बार बदल गए हैं, लेकिन द्रष्टा, देखने वाला वही है और ध्यान रहे जब तक दृश्य सत्य मालूम होते हैं, तब तक द्रष्टा पर ध्यान नहीं जाता है। जब दृश्य एकदम असत्य हो जाते हैं, तो द्रष्टा पर ध्यान जाता है।

22.9.5 ध्यान अर्थात् जीवन को सपने की तरह देखने की क्षमता

इसलिए जाति-स्मरण का प्रयोग उपयोगी तो है, लेकिन थोड़े ध्यान में गहरे जाएँ और प्रयोग करें ध्यान में गहरे उतरें, तो फिर जीवन को सपने की तरह देखने की क्षमता आ जाए।

22.10 विभिन्न धर्म दर्शनों में पुनर्जन्मवाद

प्रागैतिहासिक मानव सम्बन्धी खोजों से ज्ञात हुआ है कि आज से लगभग पचास हजार वर्ष पूर्व भी निअडंरथाल-मानव के मस्तिष्क में आत्मा की अमरता के बारे में कुछ अस्पष्ट से विचार अवश्य थे। मृतक को आदरपूर्वक खाने-पीने की अनेकानेक वस्तुओं सहित दफनाया जाता था।

कुछ पाश्चात्य विद्वानों जैसे—वेबर, मैकडोनल व विंटरनिट्स आदि का मत है कि जन्म-जन्मांतर का ऋग्वेद में कहीं उल्लेख नहीं किया गया है व इस विचार का प्रवेश हिन्दू-धर्म दर्शन में परवर्ती युग में हुआ है। किन्तु ऋग्वेद के अधिक गहन अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि आत्मा की अमरता व जन्मांतर आदि के बारे में मंत्रभाग में बीज रूप में जो विचार हैं वे ही ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषदों में जाकर विकसित रूप में प्रस्फुटित हुए हैं। पुराणों, स्मृतियों, रामायण व महाभारत आदि ग्रंथों में तो पुनर्जन्म-सम्बन्धी अनेकानेक विस्तृत उल्लेख मिलते ही हैं। बौद्ध धर्म में भी पुनर्जन्म के विषय में 'जातक' साहित्य उपलब्ध है।

विश्व के अन्य दो प्रमुख धर्मों—ईसाई व इस्लाम के अनुयायी प्रायः पुनर्जन्म में आस्था नहीं रखते, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि बाइबिल व कुरान आदि ग्रन्थों में पुनर्जन्म-समर्थक विचारों की ओर अनेक आधुनिक विद्वानों ने ध्यान आकर्षित करते हुए यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि वास्तव में ये धर्म भी पुनर्जन्म के विचार के विरोधी नहीं हैं।

अपनी एक पुस्तिका 'वैदरहेड, लेस्ली डी., द केस फॉर रीइंकारनेशन', बेलमॉन्ट, 1963 में लेखक ने ईसाई मत के सन्दर्भ में इसी बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ईसा ने यद्यपि पुनर्जन्म का प्रत्यक्ष रूप से प्रतिपादन नहीं किया है, किन्तु साथ ही उन्होंने कभी इसका विरोध भी नहीं किया। वस्तुतः उनके समय में यहूदी धर्म में यह विचारधारा पहले से ही प्रचलित थी। प्राचीन चर्च पुनर्जन्म का समर्थक था—ईसा से 553 वर्ष बाद 'कांस्टनटिपोल' की सभा के बाद ही 2 के विरोध में 3 मतों से इसको अस्वीकार किया गया। ओरिजेन, संत आगस्तीन व असीसी के संत फ्रान्सिस ने फिर भी अपने ग्रंथों में इस विचार का समर्थन ही किया है।

इसी तरह कुरान की निम्न आयतों में भी पुनर्जन्म के विचार का समर्थन देखा गया है: "क्यों कुफ्र करते हो साथ अल्लाह के और थे तुम। मुर्दे पस जिलाया तुमको, फिर मुर्दा करेगा तुमको, फिर जिलाएगा तुमको, फिर उसके फिर जाओगे।" **(सू.रू. 3, आयत 7)**

"अल्लाह वह है जिसने पैदा किया तुमको, रिज्क दिया तुमको, फिर जिलायेगा तुमको।" **(सू.र. 30 रू.4 आयत 13)** श्री ई. डी. वाकर ने अपनी पुस्तक 'रिइंकारनेशन' में लिखा है, "अरब दार्शनिकों का यह एक प्रिय सिद्धान्त था और अनेक मुसलमान लेखकों की पुस्तकों में इसका उल्लेख अभी भी देखा जा सकता है।"[1]

[1] वाकर ई.डी., 'रीइंकारनेशन— ए स्टडी ऑव फॉरगैटन ट्रूथ', यूनिवर्सिटी बुक्स, न्यूयार्क, 1965.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्राचीन यूनानी विचारक-विद्वान पाइथागोरस, सुकरात, प्लेटो, प्लूटार्क, प्लाटीनस आदि के विचारों में भी हमें 'पुनर्जन्म' की आस्था की स्पष्ट झलक मिलती है। पाश्चात्य विद्वानों ने पुनर्जन्म के लिए रिबर्थ, मैटमसाइकोसिस, ट्रांसमाइग्रेशन, पोलिजेनिसिस व रिएम्बाडीमेंट आदि विभिन्न शब्दों का कभी-कभी एक ही—कभी कुछ भिन्न-से अर्थों में प्रयोग किया है। पुनर्जन्म में विश्वास प्रकट करने वाले अन्य अनेक दार्शनिकों, लेखकों व कवियों में स्पिनोजा, रूसो, शैनिंग, इमर्सन, ड्राइडन, वर्ड्सवर्थ, शैली व बाऊनिंग आदि की गणना की जा सकती है। जोसेफहीड व क्रेंसटन ने सवा तीन सौ पृष्ठ की एक पुस्तक 'रिइंकारनेशन' में विश्व के विभिन्न धर्मों में व्याप्त दार्शनिकों, कवियों व वैज्ञानिकों आदि के पुनर्जन्म सम्बन्धी विचारों का संकलन प्रस्तुत किया है।[2]

वस्तुतः इतिहास के प्रत्येक युग में विश्व-भर के सभी दर्शनों-धर्मों में व जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में शीर्षस्थ स्थान रखने वाले व्यक्तियों के विचारों में पुनर्जन्म को महत्त्व दिया गया है।

तार्किक आधारों पर खण्डन-मण्डन का क्रम प्राचीन काल में ही नहीं, आधुनिक दार्शनिकों में भी चला है। आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डॉ. मेकटेगार्ट जहां पुनर्जन्म के पक्षधर हैं, वहां पिंगल-पेटिसन आदि उनके विपक्षी हैं। डॉ. टी.जी. कलघटगी ने तो इसके तार्किक प्रामाण्य को असंभव और अनपेक्षित माना है। उनके अनुसार यह विशिष्ट द्रष्टाओं के परम ज्ञान और अनुभूति के द्वारा व्यक्त सिद्धान्त है। पर डॉ. मेकटेगार्ट ने पुनर्जन्म की वास्तविकता को तार्किक आधारों पर प्रमाणित करने की चेष्टा की है। उनके अनुसार यदि यह सिद्ध हो जाता है कि वर्तमान जीवन के पूर्व और पश्चात् भी जीवन है, तो पुनर्जन्म के साथ अनश्वरता का सिद्धान्त भी अपने आप सिद्ध हो जाता है। पुनर्जन्म के विपक्षियों द्वारा सबसे प्रबल तर्क यही दिया गया है कि पूर्वजन्म की कोई स्मृति हमें नहीं है। पिंगल-पेटिसन ने डॉ. मेकटेगार्ट की इस मान्यता को कि—"आत्मा एक शाश्वत द्रव्य है जिसमें त्रैकालिक अस्तित्व सदा अमर बना रहता है," समर्थ तर्काधारित मानने से इसलिए इन्कार किया है कि पूर्वजन्म की स्मृति के अभाव में आत्मा की सततता की अनुभूति नहीं होती। यदि पूर्व जन्म की स्मृति वास्तविक तथ्य के रूप में प्रमाणित हो जाती है तो पूनर्जन्म का सिद्धान्त स्वतः सिद्ध हो जाता है। डॉ. कलघटगी ने पूर्वजन्म की स्मृति के प्रमाण को पुनर्जन्म की मान्यता को सिद्ध करने के लिए यथार्थ माना है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म स्मृति वास्तविक अस्तित्ववादी (आस्तिक) दर्शन के लिए एक ऐसा सबल एवं प्रत्यक्ष प्रमाण बन जाता है जिसके लिए फिर तर्क या अनुमान की आवश्यकता नहीं रह जाती।

वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर "पुनर्जन्मवाद" का प्रामाण्य दो बातों पर आधारित हो जाता है। 1. पूर्वजन्म-स्मृति की घटनाएं वास्तविक हैं या नहीं, इसे प्रमाणित करना। 2. यदि ये घटनाएं वस्तुतः ही घटित हैं, तो इन घटनाओं की व्याख्या करने में पुनर्जन्मवाद की परिकल्पना ही केवल सक्षम है, इसे प्रमाणित करना। यदि इन दोनों बातों को सिद्ध कर दिया है, तो आत्मा का स्वतंत्र एवं शाश्वत अस्तित्व एक वैज्ञानिक तथ्य के रूप में स्थित हो जाता है।

22.11 परामनोविज्ञान

परामनोविज्ञान अब विज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हो रहा है, जो मानव मस्तिष्क की उलझी हुई गुत्थियों को विश्लेषित करने का प्रयास कर रहा है। यह विश्लेषण तभी सच हो सकता है, जब पदार्थ की अपेक्षा चेतना को अधिक सामर्थ्य एवं क्षमतावान माना जाए।

परामानसिक शक्ति इन्द्रिय संवेदनों से अनन्त गुणाधिक सामर्थ्यशाली है, लेकिन चेतन मन इसे आवृत्त किए रहता है। जो व्यक्ति अपने मन को नियंत्रण में कर लेते हैं, वे इस विशिष्ट क्षमता को उपलब्ध हो जाते हैं। भारतीय आध्यात्मिक जगत के विशिष्ट महापुरुष एवं योगी जनों में ये विशिष्ट लब्धियां पाई गई हैं जिनके उदाहरण पुराणों-आगमों में पर्याप्त संख्या में उपलब्ध हैं रूसी वैज्ञानिक प्रोफेसर 'लियोनिद वासिलयेव' ने 'हिप्नोटिज्म' तथा 'टेलिपैथी' के समन्वित उपयोग से यह सिद्ध किया कि हिप्नोटिज्म की अवस्था में अतीन्द्रिय शक्तियां अधिक स्पष्टता से उभरती हैं। उन्होंने अपने शोध निष्कर्षों में यह निरूपण किया है कि कुछ मानव मस्तिष्क प्रसारण केन्द्र की तरह काम करते हैं। कुछ मस्तिष्क प्रापक केन्द्र के रूप में भी काम करते हैं।

[2] हैड जॉसेफ व क्रेन्सटन, एस.एल., 'रीइंकारनेशन—एन ईस्ट-वेस्ट इन्थोलॉजी द् जूलियन प्रेस, न्यूयार्क, 1961.

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

एक प्रयोग के दौरान वासिलयेव ने टेलिपैथी के द्वारा कुछ निश्चित लोगों को हिप्नोटाइज कर दिया वह भी कई किलोमीटर की दूरी से। इससे भी अधिक आश्चर्यजनक यह था कि जब ये व्यक्ति अपना सारा काम छोड़कर प्रोफेसर के निर्देशों की अनुपालना करने लगे तो उन्हें यह अवबोधन नहीं था कि वे किसके निर्देशों पर क्या कर रहे हैं! सम्मोहन की इस प्रक्रिया का भारतीय योग वाङ्.मय में ध्यान की विशिष्ट प्रविधियों के रूप में उल्लेख हुआ है जिसके प्रयोग से भारतीय मनीषी अपनी मनःशक्ति से दूसरों की विचारधारा को मनचाहे रूप में मोड़ देते थे।

पुनर्जन्म, प्रेतवाद, अतीन्द्रिय बोध, पर चित्त बोध, दूर प्रभावी गतिशीलता, तन्त्र विद्या, प्लेंचेट तथा इसी प्रकार के अन्य कई विषय आज परामनोविज्ञान के अभिन्न आयाम बन गए हैं। सनातन—अन्धविश्वास कही जाने वाली इन विद्याओं को जब से परामनोविज्ञान ने स्वीकार किया, तब से अब तक हुए प्रायोगिक परीक्षणों की सामान्य रूपरेखा प्रस्तुत है—

पाश्चात्य देशों में परामनोविज्ञान के क्षेत्र में पिछली शताब्दी में व्यापक अन्वेषण हुआ है। लन्दन में एक परामनोविज्ञान संस्थान 'सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च' की स्थापना हुई। उसके तीन साल बाद इन संस्थाओं ने काफी उतार-चढ़ाव देखे। अन्ततः 1959 में इस प्रयास को 'अमेरिकन एसोसिएशन फॉर एडवांसमेंट एण्ड साइंसेज' ने मान्यता प्रदान कर दी। इसके अनन्तर दिव्य देह प्रक्षेपण व देहातीत अनुभवों का जो प्रयोगात्मक कार्य हुआ, उनमें पुनर्जन्म पर सर्वाधिक अन्वेषण हुआ है।

22.11.1 पुनर्जन्म प्रयोग : प्रक्रिया

पुनर्जन्म के प्राप्त अनेक उदाहरणों में जिन बच्चों को पूर्व जन्मों की स्मृति हुई है, उनके पिछले जीवन एवं वर्तमान जीवन में कई समान प्रवृत्तियां देखने को मिलती हैं। जैसे—आदतें, आचरण, पसन्द, नापसन्द की वृत्तियां समान थीं तो कुछ में ये प्रवृत्तियां विषम भी देखी जा सकती हैं, जैसे—अलग-अलग भाषा-भाषी होना और पूर्व जन्म के संस्कारों से अप्रभावित होना। कुछ व्यक्तियों द्वारा पुनर्जन्म के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्न खड़े किए गए हैं, जिनका उत्तर परामनोवैज्ञानिकों को अभी देना है। वे प्रश्न हैं—

1. कुछ बच्चों को ही पुनर्जन्म-स्मृति क्यों होती है?
2. कुछ घटनाओं में मृत्यु के तुरन्त बाद पुनर्जन्म हो गया, तो कुछ में बहुत वर्षों बाद, ऐसा क्यों?
3. कुछ घटनाओं में पुनर्जन्म उसी परिवार, उसी क्षेत्र, या उसी नगर में हुआ तो कुछ में भिन्न क्षेत्र, भिन्न परिवार और भिन्न धर्म में?
4. कुछ घटनाओं में पुनर्जन्म प्राप्त शिशु सम-यौन में तो कुछ में विषम यौन का सदस्य बना। अर्थात् पुरुष मरकर पुरुष ही बना तो कहीं पुरुष मरकर स्त्री बना तथा स्त्री मरकर पुरुष बनी।
5. क्या व्यक्ति मरकर पुनः मानव ही बनता है? अब तक प्राप्त किसी पुष्ट साक्ष्य से यह स्थापित नहीं होता कि किसी को पशु-पक्षी जन्म का स्मरण हुआ हो, तो क्या पशुओं का पुनर्जन्म नहीं होता?

इन प्रश्नों का समाधान ढूंढने का प्रयास 'सोसाइटी फॉर साइकिकल रिसर्च' के तत्त्वाधान में डॉ. इयान स्टीवेंसन, जो वर्जिनिया विश्वविद्यालय में मनोचिकित्सा शास्त्र के प्राध्यापक हैं, उन्होंने अपने अन्वेषण कार्य में किया है। डॉ. स्टीवेंसन ने कुछ ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख किया जिनमें नये जन्म में पूर्व जन्म के शारीरिक चिह्न भी मिले हैं। कुछ रोचक उदाहरणों की चर्चा हम यहां करेंगे, जिनका अनुसंधान डॉ. स्टीवेंसन ने किया है।

डॉ. स्टीवेंसन ने पुनर्जन्म बोधक लगभग बीस घटनाओं का अन्वेषण किया। उनमें परकाया प्रवेश के सन्दर्भ में मुजफ्फर नगर जिले की एक घटना है कि—रसूलपुर गांव में गिरधारी लाल जाट के साढ़े तीन वर्षीय पुत्र जसबीर की सन् 1954 में चेचक से मृत्यु हो गई। उसे श्मशान ले जाने की तैयारी हो रही थी कि वह पुनः जीवित हो उठा। कुछ दिन बाद वह अपने पूर्व जन्म की अनेक बातें बताने लगा। वह बोला—मैं बहेड़ी गांव के निवासी शंकर त्यागी का पुत्र था, मुझे तब शोभा राम के नाम से जानते थे। मैं एक बार किसी की शादी में बाहर गया था, जहां पर मेरे एक कर्जदार ने मुझे जहरयुक्त मिठाई खिला दी। मैं चक्कर खाकर बहेली से नीचे गिर पड़ा, मेरे सिर में गहरी चोट आने से मेरी मृत्यु हो गई।

उस बालक के कथन की पुष्टि में विरोधाभास नजर नहीं आया। बालक ने अपने पूर्व जन्म के सभी परिजनों को पहचान लिया। सन् 1961 को डॉक्टर स्टीवेंसन ने जांच की तो जसबीर ने बताया कि—पूर्व जन्म

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

में जब वह मृत्यु के पश्चात् देह त्याग कर जा रहा था, तब उसे एक साधु मिला। उसने मुझे राय दी कि—मैं गिरधारी लाल जाट के पुत्र जसबीर के शरीर में प्रवेश कर जाऊं, और मैंने उसी समय जसबीर की मृत देह में प्रवेश कर लिया। बालक जसबीर सन् 1964 तक बहुत सी बातें भूल चुका था। डॉ. स्टीवेंसन सन् 1971 में जसबीर से पुनः मिले, तो उसने बताया कि पूर्व जन्म (शोभाराम) के कर्जदार ने मेरे रुपये लौटा दिए हैं।[1]

22.11.2 पुनर्जन्म : कर्मवाद एवं पूर्वाभास

हिन्दू धर्म के कर्मफल सिद्धान्त को सम्बल देने वाली एक श्रीलंका की घटना के अनुसार—उरगलकलतोता गांव में 17 जनवरी सन् 1947 को तिलेरत्ने हामी के यहां विजयरत्ने नामक एक बालक ने जन्म लिया जिसके दाहिने सीने एवं हाथ में अंग-विकार के चिह्न थे। तिलेरत्ने ने अपनी पत्नी से कहा कि—इस पुत्र में मेरे मृत भाई का प्रतिरूप नजर आता है। जब विजयरत्ने दो-ढ़ाई वर्ष का हुआ तो अपनी मां से कहने लगा कि—पूर्व जन्म में मैंने अपनी पत्नी की हत्या कर दी और मुझे फांसी लगी। उस वजह से मेरी बांह विकृत हो गई।[2]

डॉ. स्टीवेंसन ने इस सम्बन्ध में मुकदमें के कागजों की प्रमाणित कॉपी प्राप्त की जिससे यह तथ्य पूर्ण रूप से प्रमाणित हुआ कि—विजयरत्ने ही पूर्व जन्म में अपने पिता तिलेरत्ने का भाई रतन हामी था जिसको अपनी पत्नी की हत्या के अपराध में फांसी लगी थी।

इस प्रकार की घटनाओं में पूर्वाभास के भी कई किस्से हैं जिसमें मां की गर्भावस्था में ही यह स्वप्न आता है कि—उसका होने वाला बच्चा वह व्यक्ति है। जन्म के पश्चात् बच्चा बड़ा होकर वैसी ही बातें करने लगता है, जैसी कि वह पूर्व जन्म में उस व्यक्ति के रूप में करता था। इस सन्दर्भ में डॉ. स्टीवेंसन ने शोध किया, जिसे जानकर हमारी विचारधारा को भी एक नया मोड़ मिलता है।[1]

यूसुफ किलिक की पत्नी लतीफे किलिक ने 3 मार्च 1962 को इस्कान नामक एक बच्चे को जन्म दिया। बच्चे के जन्म के लगभग दो सप्ताह पूर्व लतीफे को एक स्वप्न आया था कि—अहमद डेलीबेल्टा नामक एक व्यक्ति ने आकर लतीफे को उपहार दिया, फिर वह उसके एवं उसके पति किलिक के बीच ही बिस्तर पर लेट गया। लतीफे उस व्यक्ति को पहचानती तो थी किन्तु उससे लतीफे का कोई लगाव नहीं था। उसने अपने पति किलिक को यह स्वप्न सुनाते हुए आश्चर्य व्यक्ति किया कि—ऐसा दृश्य क्यों दिखाई दिया? पति ने कहा कि—शायद तुम अपने होने वाले बच्चे के बारे में कुछ सोच रही हो, इसीलिए ऐसा स्वप्न दिखाई दिया।

यहां तक की घटना में कुछ विशेष बात दिखाई नहीं देती, किन्तु इसके पश्चात् जो कुछ घटित हुआ, वह अप्रत्याशित है। इस स्वप्न के लगभग एक सप्ताह पश्चात् 8 मार्च 1962 को वह व्यक्ति (अहमद डेलीबेल्टा) टर्किश एयर लाइन की एक दुर्घटना में मारा गया और इसके ठीक पांच दिन पश्चात् इस्कान बालक का जन्म हुआ। वह बालक अभी नासमझ था फिर भी हवाई जहाज से बहुत डरता था। इस्कान ने दो-तीन वर्ष की उम्र में बताया कि—मैं अहमद डेलीबेल्टा हूं, एक नाइट क्लब का मालिक हूं, मेरी मां लतीफे नहीं है। मैं अपनी मां और बीवी के पास जाना चाहता हूं। इस प्रकार बालक इस्कान की अनेक बातें पूर्व जन्म के सन्दर्भ में प्रामाणिक निकलीं।

इस प्रकार की घटनाओं से प्रश्न उठता है कि—लतीफे को वह डेलीबेल्टा व्यक्ति स्वप्न में क्यों दिखाई दिया? यदि इसे उसके यहां जन्म लेने वाले पुत्र का पूर्वाभास मान लें, तो इसका अर्थ यह होगा कि—यह जन्म पहले से ही निश्चित था। अहमद डेलीबेल्टा की वायुयान दुर्घटना भी पूर्व निश्चित थी। यदि यह सत्य है तो फिर संसार में जो कुछ भी घटित हो रहा है, क्या वह सब नियति के अनुसार है? तो फिर हमारा इसमें क्या योगदान है? क्या हम सब नियति के आश्रित हैं या इस नियति को बनाने में हम कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं? मानव-मन में यही प्रश्न निरन्तर उठता रहता है।[2]

---

1 वर्जीनिया विश्वविद्यालय से प्रकाशित पुस्तक—केसेज ऑफ रिइनकार्नेशन टाइप वाल्यूम-1, टेन केसेज इन इण्डिया (पुनर्जन्म की घटनाओं के मामले भाग-1, भारत की दस घटनाएं)

2 केसेज ऑफ रिइनकार्नेशन टाइप वाल्यूम-1, टेन केसेज इन इण्डिया

1 केसेज ऑफ रिइनकार्नेशन टाइप वाल्यूम-3, —ट्वेल्व केसेज इनलेबनान एण्ड टर्कीः डॉ. स्टीवेंसन

2 पुनर्जन्म, कुछ प्रकरणः कुछ प्रश्न—आर्यभूषण — (आलेख—धर्मयुग, 9 मार्च 1986, पृ. 34)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

22.11.3 वेदना इस जन्म की, कारण पूर्व जन्म का

एक विस्मयकारक साक्ष्य प्राप्त हुआ जिसमें व्यक्ति के रोग का कारण पिछला जन्म था। भारतीय चिन्तन ने इसे पूर्व जन्म में उपार्जित वेदनीय कर्म को आधार बनाया है, जिसके अनुसार व्यक्ति के रोगों का कारण एक जन्म ही नहीं, जन्म-जन्मों के संस्कार हो सकते हैं। डॉ. बनर्जी ने ऐसी घटनाओं का उल्लेख किया है—

न्यूयार्क के कर्ड ब्लीम को कभी-कभी असहनीय घुटन होने लगती थी। उस समय वह सांस भी नहीं ले पाता था, बार-बार मुंह खोलता था, आंखें बाहर निकल पड़ने जैसी लगती थीं, उसके फेफड़ों में दर्द प्रारम्भ हो जाता। डॉक्टरों के कथनानुसार ब्लीम की सांस नली एकदम ठीक थी, फेफड़े भी स्वस्थ थे। ब्लीम की घुटन का अन्य कोई शारीरिक कारण भी नहीं था। ब्लीम को अपने रोग-निदान की हर कोशिश में निराशा ही मिली। मनोचिकित्सक भी उसको इस घुटन से मुक्ति न दिला पाये। कुछ समय के लिए आज के चिकित्सा-विज्ञान पर भी ब्लीम के इस केस की असफलता ने प्रश्न-चिह्न लगा दिया। मनोविश्लेषण-पद्धति को भी इस बात ने झटका दे दिया, परन्तु एक परामनोविश्लेषक ने ब्लेम की अस्वस्थता को सदा के लिए समाप्त कर दिया।

अमेरिका की श्रीमती रोजेनबर्ग जब भी आग देखती, तब किसी अनजाने भय से पागल-सी हो जाती थी। मनोचिकित्सकों के अनुसार रोजेनबर्ग ने बचपन से लेकर अभी तक किसी को आग से जलते हुए नहीं देखा और न स्वयं जली। फिर भी आग को देखकर क्यों पागल हो जाती थी? मनोविश्लेषक भी इस रहस्य को नहीं समझ पाये। तब परामनोविश्लेषक ने रोजेनबर्ग को इस अतिभय से मुक्ति दिलाई।

'सेन्टर ऑफ पैराएनेलिटिक स्टडीज, केलिफोर्निया' के शोध निर्देशक डॉक्टर एच.एन. बनर्जी से उपरोक्त दोनों रोगियों की घटना के बारे में चर्चा की, तो उन्होंने बताया कि यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। भारतीय लोग तो हिन्दू दर्शन के अनुसार आत्मा की नश्वरता को मानते हैं और पुनर्जन्म के प्रत्यय को भी स्वीकार करते हैं। इसलिए इन रोगियों का कारण पूर्व जन्म मान लिया जाए तो, कहीं परेशानी नहीं होगी।

विदेश में जब पहली बार मनोविश्लेषक और डॉक्टरों के समक्ष पूर्व जन्म की चर्चा की गई तो इसकी बहुत अजीब-सी प्रतिक्रिया हुई। डॉक्टर बनर्जी के शब्दों में—हम जानते थे कि क्या प्रतिक्रिया होगी? वह स्थिति बिलकुल वैसी ही थी जैसी कि उस समय फ्रायड की रही होगी, जब उसने 'अचेतन' की बात की थी। व्यवहारवादियों ने पहले तो उसके उस 'अचेतन' के प्रत्यय का डटकर विरोध किया, लेकिन जब उसकी व्यावहारिकता सिद्ध हुई तो सभी को मानना पड़ा।

जहां तक इनके तार्किक आधार का प्रश्न है, इनका कहना है कि स्मृति का आधार तो मस्तिष्क है, जो भौतिक है। तब फिर मृत्यु के समय उसके नष्ट हो जाने के पश्चात् स्मृति रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे शब्दों में मन केवल इसी जन्म का है। लेकिन, ये लोग यह भूल जाते हैं कि 'टेलीपैथी' जैसी अनेक मानसिक क्रियाएं ऐसी भी हैं, जिनका मस्तिष्क के साथ न के बराबर सम्बन्ध है, जो दिक्-काल और कारण-कार्य से बिलकुल मुक्त हैं। कई पूर्वाभास की घटनाएं इसका उदाहरण हैं, जिनमें आदतों की निरंतरता ही नहीं बल्कि शारीरिक गुण भी हू-ब-हू मिलते हैं, वे पुनर्जन्म की घटनाओं की व्याख्या कैसे करेंगे? अतः उन्हें आकस्मिक भी नहीं कहा जा सकता।

22.12 सारांश

उपरोक्त चर्चा से स्पष्ट होता है कि—मन इस जन्म का ही नहीं है, उस पर पूर्व जन्मों का भी गहरा प्रभाव है। इसी तरह "मनोरचनाओं के फलस्वरूप बनी ग्रन्थियों की प्रक्रिया भी एक लम्बी प्रक्रिया है, इसलिए उसे हिस्सों में बांट कर नहीं देखा जाना चाहिए।"

ब्लीम पूर्व जन्म में एक सैनिक था। सन् 1942 में जापानियों ने जब होनोलूलू पर हवाई हमला किया था, तब ब्लीम की एक दीवार के मलबे में दब कर मृत्यु हो गई थी। रोजेनबर्ग पूर्व जन्म में भारत के एटा शहर में एक जैन परिवार की सदस्या थी, वहां वह आग से जल कर मर गई थी। परामनोविश्लेषक ने उन घटित घटनाओं से साक्षात्कार कराकर उन्हें रोग से मुक्त कर दिया। रोग-मुक्ति का यह तरीका 'सम्मोहन' से बहुत हद तक मिलता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

'सम्मोहन' में मनोविश्लेषक निर्देश देता है और सम्मोहित व्यक्ति उसी अनुसार सफर तय करता है। जबकि परामनोविश्लेषक निर्देश ही नहीं करता, सम्मोहित व्यक्ति के साथ-साथ सफर भी करता है। दूसरे शब्दों में इस स्थिति को समाधि के आसपास की स्थिति और मनोविश्लेषक और सम्मोहित व्यक्ति के सम्बन्ध को गुरु-शिष्य के सम्बन्ध के समान कहा जा सकता है। यह विशेष सम्मोहन की अवस्था है।

अमेरिका में 150 डॉक्टर इस पर और भी अधिक शोध कार्य कर रहे हैं। रूस में इस तरह के तीन केन्द्र बने हैं। भारत को छोड़कर शेष हर देश में इस तरह का कार्य चल रहा है।

डॉक्टर बनर्जी के अनुसार—"शिक्षा के क्षेत्र में इसके प्रयोग पर कार्य चल रहा है। कई ऐसे भी उदाहरण मिले हैं, जो एकाएक इतना अधिक बदले कि अपने क्षेत्र में बुद्धि के उच्च स्तर पर पहुंच गये, और इस पुनर्जन्म के प्रत्यय और कर्मों की निरंतरता से वाकिफ होने के बाद यह भी आशा है कि भौतिक दृष्टि के कारण हो रही नैतिक उथल-पुथल में भी कुछ बदलाव आएगा। हमारी सोच पर भी इसका असर पड़ेगा ही।"[1]

22.13 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. कर्मवाद एवं पुनर्जन्मवाद पर एक सारगर्भित निबन्ध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. विभिन्न धर्म-दर्शनों में पुनर्जन्मवाद की अवधारणा का विश्लेषण करें।
2. मेघकुमार के जातिस्मृति ज्ञान की व्याख्या करें।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. जातिस्मृति के कितने हेतु हैं?
2. परव्याकरण का हार्द क्या है?
3. भृगुपुरोहित के दोनों पुत्रों को किसे देखकर जातिस्मृति ज्ञान उपलब्ध हुआ?
4. भगवान् महावीर ने अनेक व्यक्तियों को ..... का स्मरण कराया।
5. यह जाति-स्मरण ..... का ही एक प्रकार है।
6. आचारांग वृत्ति के अनुसार जातिस्मृति ज्ञान से ..... जाने जा सकते हैं?
7. ...... का मतलब होता है, 'स्टोर हाउस ऑफ कांशसनेस।'
8. जब तक दृश्य सत्य मालूम होते हैं, तब तक ..... पर ध्यान नहीं जाता है।
9. विदेश में जब पहली बार मनोविश्लेषक और डॉक्टरों के समक्ष पूर्वजन्म की चर्चा की गई तो इसकी बहुत ..... प्रतिक्रिया हुई।
10. जातिस्मृति का अर्थ है—पूर्वजन्म की ....।

☆☆☆

[1] डॉ. हेमेन्द्र नाथ बनर्जी—'बीमारी इस जन्म की : कारण पिछले जन्म का' (आलेख)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–23 : नियति आदि पांच घटक

संरचना

23.0 प्रस्तावना
23.1 उद्देश्य
23.2 पांच समवायों के सिद्धान्त
23.3 नियति आदि पांच समवायों की समीक्षा
23.4 चेतना की स्वतंत्रता का मूल्य
23.5 सारांश
23.6 अभ्यास प्रश्नावली

23.0 प्रस्तावना

जैन कर्म-मीमांसा के अन्तर्गत पिछले पाठों में हमने 'कर्म' नामक विश्व के उस महत्त्वपूर्ण तत्त्व की विस्तृत चर्चा की तथा जाना कि अनादिकाल से कार्मण-वर्गणा के पुद्गल जीव द्वारा गृहीत होकर किस प्रकार 'कर्म' बंधते हैं तथा जीव अपने ही कृत कर्मों के विपाक के फलस्वरूप संसार में—जन्म-मृत्यु के चक्र में अपने आप को घुमाता रहता है। अब प्रश्न होता है कि क्या कर्म ही एक ऐसा तत्त्व है जो जीव के सुख-दु:ख, जन्म-मरण आदि का कारण बनता है या इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे तत्त्व हैं जिन्हें जैनदर्शन स्वीकृति देता है?

23.1 उद्देश्य

प्रस्तुत पाठ में हम काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ जिन्हें पांच समवाय के रूप में जाना जाता है कि विस्तृत चर्चा करने जा रहे हैं।

23.2 पांच समवायों के सिद्धान्त

कार्य की उत्पत्ति कारण से होती है। विश्व की संरचना और परिणमनशीलता के विषय में प्राचीनकाल से ही अनेक मत प्रचलित हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद, सूत्रकृताङ्ग., अंगुत्तरनिकाय, महाभारत एवं गीता आदि में विभिन्न विचारधाराओं के सन्दर्भ उपलब्ध हैं। इस सृष्टि का कोई-न-कोई कारण अवश्य होना चाहिए—इसका उल्लेख सर्वप्रथम श्वेताश्वतर उपनिषद में प्राप्त होता है। वहां ब्रह्म की कारणता के सन्दर्भ में काल, स्वभाव, यदृच्छा, नियति, भूत और पुरुष—इन छहों में से एक-एक को अथवा इन सबके समुदाय को मानने वालों का प्रतिपादन उपलब्ध है। प्रस्तुत पाठ में मुख्यतया कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, कर्मवाद और पुरुषवाद—इन पांच वादों का विमर्श करके जैन परम्परा में स्वीकृत इनके समन्वय पर प्रकाश डाला जा रहा है।

23.2.1 कालवाद

कालवादी विचारक इस जगत् का कारण एकमात्र काल को मानते हैं। अथर्ववेद में कालसूक्त है। वहां बताया गया है—"काल ने पृथ्वी को उत्पन्न किया। काल के आधार पर सूर्य तपता है। काल के आधार पर समस्त भूत रहते हैं। काल के कारण ही आंखें देखती हैं। काल ही ईश्वर है और वह प्रजापति का भी पिता है।" महाभारत के आदि पर्व में समस्त जीवजगत् के सुख दु:ख और भावाभाव का कारण काल को बताया गया है। काल भूतों की सृष्टि करता है और वही पुन: संहार करता है। प्रलयावस्था को प्राप्त प्रजा के शमन का हेतु काल ही है। इस प्रकार काल दुरतिक्रम व जगत् का आदि कारण है।

प्राचीनकाल में ही 'काल' को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया, प्रत्युत दार्शनिक युग में भी काल की महत्ता को विशेष रूप से अंकित किया गया है। दार्शनिक युग में नैयायिकों और वैशेषिकों ने काल को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। न्याय वैशेषिक मतानुसार काल एक, विभु यानी (सर्वव्यापी), परम, महान् और नित्य है। काल एक है, क्योंकि उसे अनेक मानने में कोई युक्ति नहीं है और निष्प्रयोजन अनेक मानने से कल्पना गौरव होता है। काल विभु है क्योंकि दूरवर्ती विभिन्न द्रव्यों में एक साथ कालमूलक परत्व-अपरत्व रूप कार्यों की उपपत्ति होती है। काल विभु है अत: वही परम महान् है और परम महान् होने से नित्य है।

यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि काल यदि एक ही है तब वर्तमान, भूत और भविष्य के रूप में प्रतीत होने वाले कालखण्डों का कारण क्या है? इसका समाधान करते हुए नैयायिकों का कहना है कि काल

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अपने मूल स्वरूप में एक ही है। उसमें उत्पन्न होने वाली क्रियाएं वर्तमान, अतीत व भविष्यत् रूप होती हैं। उन क्रियाओं के आधार पर उनके आश्रयभूत काल को भी अतीत आदि तीन रूपों में व्यवहृत किया जाता है। जिस प्रकार एक ही पुरुष पकाने की क्रिया करने के कारण पाचक, अध्यापन क्रिया के कारण अध्यापक आदि कहलाता है, उसी प्रकार वर्तमान आदि क्रिया के सम्बन्ध में एक ही काल का वर्तमान आदि भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहार देखा जाता है। कालवादी विचारक समग्र जागतिक तथ्यों, वैयक्तिक विभिन्नताओं तथा व्यक्ति के सुख-दु:ख एवं क्रियाकलापों का कारण एकमात्र काल को ही मानते हैं। आचार्य हरिभद्र और मलयगिरि ने कालवादी विचारधारा का निरूपण करते हुए यही लिखा है कि इस संसार में गर्भाधान संस्कार से लेकर बाल्य, यौवन और वार्धक्य रूप जितनी भी अवस्थाएं हैं उनका मूल कारण काल है।

जैन परम्परा के प्रसिद्ध विचारक सिद्धसेन दिवाकर ने अपने विशिष्ट ग्रन्थ 'सन्मति प्रकरण' में जिन पांच मिथ्या वादों का उल्लेख किया है उनमें सर्वप्रथम कालवाद परिगणित है। प्रस्तुत ग्रन्थ की वृहद् वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि ने कालवादियों मन्तव्य को प्रस्तुत किया है। वे लिखते हैं—"कालवादी सर्दी, गर्मी, वर्षा, वनस्पति और पुरुष आदि से युक्त इस समस्त जगत् के उत्पाद, स्थिति और नाश में हेतुभूत ग्रहकृत विभिन्न दशाओं का कारण एकमात्र काल को मानते हैं। काल के बिना अन्य सभी कारणों का सद्भाव होने पर भी कार्य निष्पन्न नहीं होता।"

23.2.1.1 कालवाद का निरास

आचार्य अभयदेवसूरि ने कालवादी अवधारणा का निरास करते हुए लिखा है कि काल को सृष्टि का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं। काल का सद्भाव होने पर भी वृष्टि आदि कार्यों की अनुपपत्ति देखी जाती है। यदि वर्षा आदि कार्यों की उपपत्ति और अनुपपत्ति दोनों को ही कालकृत माना जाए तो काल की नित्यता के आगे प्रश्नचिह्न लग जाएगा। यदि ग्रह, नक्षत्र आदि के प्रभाव से वर्षा आदि का भेद माना जाए, तो प्रश्न होगा कि ग्रहमण्डल आदि के भेद का हेतु क्या है? उसका हेतु यदि काल को माना जाए तो इतरेतराश्रय दोष की आपत्ति खड़ी हो जाएगी। वर्षा आदि अन्यान्य कार्यों की निष्पत्ति में यदि दूसरा कोई काल कारण माना जाए तो प्रश्न होगा कि उसका कारण क्या है? इस प्रकार प्रश्नशृंखला का कहीं विराम न होने से 'अनवस्था दोष' का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अत: काल ही जगत् का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है।

23.2.1.2 स्वभाववाद

स्वभाववाद के अनुसार जो भी घटित होता है या होगा, उसका आधार वस्तु का अपना स्वभाव है। स्वभाव का उल्लंघन नहीं किया जा सकता। अग्नि उष्ण होती है, जल शीतल होता है और वायु समस्पर्श होती है क्योंकि यह इनका अपना स्वभाव है। स्वभाववादी स्वभाव को व्यापक मानते हैं। वह क्षेत्र और काल के प्रभाव से परे होता है। पक्षी का स्वभाव है—उड़ना और मछली का स्वभाव है—तैरना। पक्षी चाहे भारत के हों या अमेरिका के, मछली चाहे लंदन की हो या जापान की, स्वभाव में समानता ही मिलेगी।

इस जगत् की विचित्रता का कोई दृष्ट हेतु हमें उपलब्ध नहीं होता; अत: जो भी वैचित्र्य हमें दिखायी देता है, वह सब स्वाभाविक है, निर्हेतुक है। अश्वघोष ने बुद्धचरित में स्वभाववादियों के अभिमत को स्पष्ट करते हुए लिखा है—कुछ लोग कहते हैं—'परलोक है', पर वे इसके लिए कोई युक्ति नहीं देते। जिस प्रकार अग्नि में उष्णता और जल में द्रवत्व है, उसी प्रकार प्रत्येक प्रवृत्ति का आधार 'स्वभाव' है। शुभ-अशुभ, जन्म-मृत्यु—ये सब स्वभाव से ही होते हैं। अत: प्रयत्न व्यर्थ है। इतना ही नहीं, बच्चा जब गर्भ में आता है तो उसके हाथ, पैर, उदर, पीठ, मस्तक आदि बनते हैं—इन सबका कारण भी स्वभाव ही है। स्वभाववाद के सन्दर्भ में बुद्धचरित का प्रसिद्ध श्लोक है—

क: कण्टकस्य प्रकरोति तैक्ष्ण्यं।
विचित्रभावं मृगपक्षिणां च॥
स्वभावत: सर्वमिदं प्रवृत्तं।
न कामचारोऽस्ति कुत: प्रयत्न:॥

"काटों को तीक्ष्ण कौन बनाता है? मृगों और पक्षियों के विचित्र स्वभाव का कारण क्या है? इन सबका एक ही कारण है और वह है—स्वभाव। मिट्टी से घड़ा बनता है, कपड़ा नहीं तथा तन्तु से कपड़ा बनता है घड़ा नहीं—इस प्रतिनियत कार्यकारण व्यवस्था का आधार वस्तु का अपना स्वभाव है। सांख्यकारिका

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

की माठरवृत्ति में वृत्तिकार ने स्वभाववादियों के मन्तव्य का उल्लेख करते हुए लिखा है—जिसने हंसों को सफेद बनाया, जिसने तोते को हरा बनाया, जिसने मयूर को चित्र-विचित्र रंगों वाला बनाया वही हमारे जीवन का संचालक तत्त्व है और वह है—स्वभाव।" तत्त्वसंग्रह, महाभारत, गीता आदि अनेक ग्रंथों में स्वभाववादी अभिमत का निरूपण देखा जा सकता है।

23.2.2.1 स्वभाववाद और यदृच्छावाद

स्वभाववाद की तरह यदृच्छावाद भी उपनिषद-काल से ही प्रचलित है। यदृच्छावाद के अनुसार किसी भी नियत कारण के बिना अकस्मात् ही कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यहां स्वभाववाद के साथ यदृच्छावाद का उल्लेख सप्रयोजन किया गया है। कुछ लोगों का मानना है कि स्वभाववाद और यदृच्छावाद दोनों एक व अभिन्न है जबकि ये दोनों वस्तुतः एक नहीं है। स्वभाववादी स्वभाव को कारण के रूप में स्वीकार करते हैं जबकि यदृच्छावादी कारण की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। अतः दोनों मूलतः भिन्न हैं।

23.2.2.2 स्वभाववाद का निरास

स्वभाववादी स्वभाव को ही सृष्टि का नियामक मानते हैं। स्वभाववादियों का इस एकांगी अवधारणा का प्रायः सभी दार्शनिकों ने खण्डन किया है। तत्त्वसंग्रह, माठरवृत्ति, न्यायकुसुमांजलि, विशेषावश्यकभाष्य, शास्त्रवार्तासमुच्चय आदि अनेक ग्रंथों में स्वभाववाद का निराकरण देखा जा सकता है। माठर-वृत्ति के मतानुसार—"स्वभाववाद नाम का कोई पदार्थ ही नहीं जिससे जगत् की उत्पत्ति मानी जाए। अतः स्वभाव को कारण मानना उचित नहीं।" आचार्य शान्तरक्षित के अनुसार कांटों की तीक्ष्णता निर्हेतुक नहीं है। उसका कारण विद्यमान है। उत्सून आदि विशिष्ट अवस्था को प्राप्त बीज के कारण कांटे तीक्ष्ण होते हैं। इसी तरह पदार्थ प्रतिनियत देश और काल में ही होते हैं। यदि नियत देश और नियत काल रूप हेतु को स्वीकार नहीं करे, तो वे सर्वत्र और सर्वदा उपलब्ध होने चाहिए, पर ऐसा होता नहीं, अतः हेतु को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्वभाववादी हेतु को स्वीकार नहीं करते। यहां ज्ञातव्य है कि स्वभाववादी यदि स्वभाववाद की सिद्धि सहेतु नहीं करेंगे तो उनकी सिद्धि अप्रामाणिक मानी जाएगी। इसी तरह यदि हेतु के द्वारा स्वभाववाद की सिद्धि की जाएगी तो पक्ष ही खण्डित हो जाएगा। अतः स्वभाव को सृष्टि का कारण मानना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। स्वभाववाद के सन्दर्भ में जब हम यह चिन्तन करते हैं कि स्वभाव क्या है? इस चिन्तन में से तीन विकल्प उभरकर सामने आते हैं—1. क्या वस्तु विशेष स्वभाव है? 2. क्या निष्कारणता ही स्वभाव है? 3. क्या वस्तु का धर्म स्वभाव है?

वस्तु विशेष रूप स्वभाव खपुष्प (आकाश-कुसुम) की भांति अत्यन्त अनुपलब्ध है। इसके अलावा वस्तु विशेष रूप स्वभाव का साधक कोई प्रमाण ही उपलब्ध नहीं होता। यदि ग्राहक प्रमाण के द्वारा स्वभाव का अस्तित्व माना जाए, तो उसी न्याय से कर्म आदि के अस्तित्व को स्वीकृत किया जा सकता है। इसी तरह स्वभाववाद के सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि स्वभाव मूर्त्त है या अमूर्त्त? यदि स्वभाव को अमूर्त्त माना जाए तो उससे मूर्त्त शरीर आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। यदि स्वभाव को मूर्त्त माना जाए, तो नामान्तर से कर्म की ही स्वीकृति होगी।

'निष्कारणता ही स्वभाव है'—यह माना जाए तो इसका अर्थ होगा—शरीर आदि सभी बाह्य पदार्थ अकारण ही उत्पन्न होते हैं। इस तरह कारणाभाव सदृश्य होने से समस्त शरीरों की एक साथ उत्पत्ति का अतिप्रसंग आ जाएगा। यदि शरीर आदि को अहेतुक माना जाए, तो उन्हें आकस्मिक मानना होगा। जो आकस्मिक होता है वह अभ्र (बादल) आदि के विकार के समान सादि व प्रतिनियत संस्थान वाला नहीं होता। शरीर सादि व नियताकार होता है। अतः अकारणता को स्वभाव नहीं माना जा सकता है।

'स्वभाव वस्तु का धर्म है'—यह मानना भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तु का धर्म उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक होने से सदा एकरूप नहीं रहता। वस्तु की नीलादि पर्यायों की परिणमनधर्मिता प्रत्यक्षसिद्ध है। यदि स्वभाव को वस्तु का धर्म माना जाए तो प्रश्न होगा कि वह आत्मा का धर्म है या वस्तु का धर्म है? आत्मा आकाशवत् अमूर्त्त है अतः उससे शरीर आदि मूर्त्त पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि उसे (स्वभाव को) पुद्गल का धर्म मानें तो प्रकारान्तर से कर्म को ही स्वीकार करना होगा।

इस प्रकार अनेक युक्तियों के माध्यम से स्वभाववाद का निरसन किया गया है। (विशेष अध्ययन के लिए सन्मति-प्रकरण द्रष्टव्य है।)

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.2.3 नियतिवाद

नियतिवादी वस्तुजगत् में होने वाली प्रत्येक घटना को पूर्वनियत मानते हैं। जो जैसा होना है, वैसा ही होता है, व्यक्ति चाहकर भी उसे अन्यथा नहीं कर सकता। उपनिषदों, बौद्ध त्रिपिटकों और जैनागमों में नियतिवाद से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं। नियतिवाद के सन्दर्भ में प्राचीन प्रसिद्ध श्लोक हैं—

"प्राप्तव्यो नियतिबलाश्रयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभोवा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः।"

"सभी जीव नियति रूपी चक्र के अधीन हैं। मनुष्य में इतनी सामर्थ्य नहीं कि वह इसमें परिवर्तन कर सके।" सूत्रकृताङ्ग.सूत्र के दोनों ही श्रुतस्कन्धों में नियतिवाद का उल्लेख है। वहां विभिन्न दार्शनिक मतवादों के साथ नियतिवाद का भी पूर्वपक्ष के रूप में निर्देश है। सूत्रकार ने लिखा है—"सभी जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं, पृथक्-पृथक् सुख-दुःख का वेदन करते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से च्युत होते हैं। वह दुःख स्वंयकृत नहीं होता और अन्यकृत भी नहीं होता। निर्वाण का सुख हो अथवा सांसारिक सुख दुःख—सब कुछ नियतिकृत होता है।" ऐसा कुछ नियतिवादी मानते हैं।

नियतिवादी क्रियावाद और अक्रियावाद—दोनों में ही विश्वास नहीं करते। सूत्रकृताङ्ग. के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सूत्रकार ने चार पुरुषों के माध्यम से चार दार्शनिक मतवादों का निरूपण किया है। चौथा पुरुष नियतिवादी है। नियतिवाद के अनुसार—" 'मैं करता हूँ'—यह मानने वाला और 'मैं नहीं करता हूँ'—यह मानने वाला—दोनों ही वस्तुतः कुछ नहीं करते। सब कुछ नियति करती है। पुरुषार्थ को कारण मानकर स्वयं के दुःख को स्वकृत और पर के दुःख को परकृत मानने वाला पुरुष अज्ञानी है। नियति को कारण मानकर स्वयं के और पर के सभी दुःखों को नियतिकृत मानने वाला ही वस्तुतः मेधावी है।"

नियतिवादी अभिमत के अनुसार—"अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फलभोग करता है, उसके पीछे कर्त्तृत्व अवश्य है, किन्तु वह कर्त्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्त्तृत्व हो तो वह क्रिया करने में स्वतंत्र हो जाएगा। फलतः वह जो इष्ट नहीं है, उसे क्यों करेगा? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अनीप्सित कार्य भी करता है। इससे सिद्ध होता है कि नियति ही सब कुछ करती है।"

23.2.3.1 नियतिवाद का निरास

जैनदर्शन अनेकान्त का प्ररूपक है। वह नियति को ही सर्वेसर्वा न मानकर उसकी सापेक्ष सत्ता स्वीकार करता है। सूत्रकृताङ्ग. में नियतिवाद को पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत करने के बाद सूत्रकार ने जैन मन्तव्य पर भी प्रकाश डाला है। वे लिखते हैं—"एकान्त नियतिवाद का प्रतिपादन करने वाले अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पण्डित मानते हैं। कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत"—इस सत्य को वे अल्पबुद्धि वाले मनुष्य नहीं समझते हैं। सूत्रकार ने नियतिवादियों को अज्ञानी मृग की उपमा देते हुए कहा है—"जिस प्रकार अज्ञानी मृग बिछे हुए अशंकनीय मृगजाल से भयभीत (शंकित) होकर संकीर्ण मार्ग वाले पाशयंत्र से जाते हैं और उस बंधन में बंधकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार नियतिवादी अपने अज्ञान के कारण अशंकनीय धर्म के प्रति शंका करते हैं और आरम्भ के प्रति निःशंक रहते हैं। परिणामतः उनका संसारभ्रमण चालू रहता है।

सूत्रकृताङ्ग. में नियतिवाद के प्रवर्त्तक का कोई नामोल्लेख नहीं मिलता। उपासकदशा नामक आगम में गोशालक और उसके मत नियतिवाद का स्पष्ट उल्लेख है। वहां कुण्डकौलिक श्रमणोपासक और आजीवक मत के उपासक सद्दालपुत्र के घटनाप्रसंग मिलते हैं। दोनों ही प्रसंग नियतिवाद की एकांगी अवधारणा पर प्रहार करते हैं। यहां प्रसंगवश संक्षेप में दोनों ही घटनाप्रसंग प्रस्तुत किए जा रहे हैं—श्रमणोपासक कुण्डकौलिक को सम्बोधित कर भगवान महावीर ने कहा—कुण्डकौलिक! कल अपराह्न के समय अशोकवनिका में तुम्हारे समक्ष एक देव प्रकट हुआ और बोला—मंखलिपुत्र की यह धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम कुछ नहीं है। सब भाव नियत है। श्रमण भगवान महावीर की यह धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर नहीं है। वे मानते हैं—उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम—ये सब हैं। सब भाव अनियत हैं। कुण्डकौलिक! तुमने उस देव से कहा—हे देवानुप्रिय! तुमने यह दिव्य ऋद्धि, द्युति, यश और प्रभाव कैसे प्राप्त किया?

देव ने कहा—देवानुप्रिय! मुझे जो ऋद्धि आदि प्राप्त हुए हैं, वे बिना उत्थान यावत् बिना पराक्रम के ही प्राप्त हुए हैं। तुमने युक्ति देते हुए कहा—देवानुप्रिय! यदि तुमने दिव्य ऋद्धि, द्युति आदि बिना उत्थान यावत् बिना पराक्रम के प्राप्त की है तो जिन जीवों के उत्थान यावत् पराक्रम नहीं है, वे देव क्यों नहीं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

बनें? यदि तुमने ऋद्धि आदि की संप्राप्ति उत्थान यावत् पराक्रम से की है, तो तुम्हारा यह कथन—'गोशालक की धर्मप्रज्ञप्ति सुन्दर है और महावीर की असुन्दर'—मिथ्या हो जाएगा।

महावीर ने कहा—कुण्डकौलिक! तुम्हारे ऐसा कहने पर वह देव संदिग्ध हो गया। वह जिस दिशा से आया था उसी दिशा में चला गया। कुण्डकौलिक! क्या यह मेरा कथन सही है? कुण्डकौलिक ने नत हो महावीर के कथन को स्वीकार कर लिया।

उपर्युक्त दृष्टान्त से मिलता-जुलता एक दूसरा दृष्टान्त है—सद्दालपुत्र! एक बार श्रमण महावीर सद्दालपुत्र की पांच सौ दुकानों वाली कुम्भकारशाला में ठहरे। सद्दालपुत्र अपने पात्रों को हवा में सुखा रहा था। सद्दालपुत्र नियतिवादी था। अतः महावीर ने उसे संबोध देने के लिए कहा—सद्दालपुत्र! ये मिट्टी के पात्र उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम से निष्पन्न होते हैं अथवा बिना उत्थान यावत् पराक्रम के ही निष्पन्न हो जाते हैं? सद्दालपुत्र बोला—भंते! ये अनुत्थान यावत् अपराक्रम के ही निष्पन्न हो जाते हैं। उत्थान आदि का कोई अस्तित्व नहीं है। सब भाव नियत हैं।

महावीर ने युक्तिपूर्वक समझाते हुए कहा—सद्दालपुत्र! कोई तुम्हारे हवा में सुखाए मिट्टी के पात्रों का अपहरण, छेदन, भेदन आदि करे अथवा कोई पुरुष तुम्हारी पत्नी के साथ विपुल भोगों का भोग करे तो तुम उसे क्या दण्ड दोगे?

सद्दालपुत्र बोला—मैं उसे मारूंगा, पीटूंगा यावत् उसकी जीवनलीला ही समाप्त कर दूंगा।

महावीर ने कहा—सद्दालपुत्र! यदि उत्थान आदि कुछ नहीं है, सब कुछ नियत है—तब न तो कोई तुम्हारे पात्रों का छेदन आदि कर सकता है और न ही तुम उसे दण्डित कर सकते हो। तुम्हारे मतानुसार नियति ही सब कुछ करती है। यदि तुम ऐसा करते हो तो इसका अर्थ होगा कि तुम जो कह रहे हो कि "उत्थान यावत् पराक्रम आदि कुछ नहीं है, सब भाव नियत है।"—यह तुम्हारा कथन ही मिथ्या हो जाएगा।

महावीर का वचन सुनकर सद्दालपुत्र का विचार बदल गया और वह संबुद्ध हो गया।

उपर्युक्त दोनों ही दृष्टान्त इस तथ्य को सिद्ध करते हैं कि गोशालक पक्का नियतिवादी था। उसकी यह बद्धमूल धारणा थी कि सब कुछ नियति के ही अधीन है। जगत् की सारी क्रियाएं नियत हैं। भगवान महावीर नियति को सब कुछ नहीं मानते थे।

भगवती शतक 15/7 के अनुसार—महावीर की साधना का दसवां वर्ष चल रहा था। महावीर ने सिद्धार्थपुर से कूर्मग्राम की ओर विहार किया। गोशालक महावीर के साथ था। रास्ते में एक तिल का पौधा आया। उसने पूछा—भंते! यह पौधा निष्पन्न होगा या नहीं? महावीर ने कहा—यह पौधा निष्पन्न होगा। इस पौधे पर लगे सात फूलों के जीव मरकर इसी पौधे की एक फली में उत्पन्न होंगे। गोशालक ने महावीर के वचनों पर प्रतीति न करते हुए उसे जड़ से उखाड़ एकान्त में फेंक दिया।

कुछ समय बीता। महावीर ने कूर्मग्राम से पुनः सिद्धार्थग्राम की ओर प्रस्थान किया। ज्योंहि तिल का पौधा समीप आया, गोशालक बोला—भंते! यह वही स्थान है, जहां आपने तिल के पौधे के निष्पन्न होने की बात कही थी पर आपकी वह भविष्यवाणी असफल हो गयी है। महावीर ने कहा—गोशालक! तिल का वह पौधा निष्पन्न हो चुका है गोशालक ने उस पौधे की फली को हाथ में लेकर मसल दिया। उसके अन्दर तिलों को गिना तो वह स्तब्ध रह गया, वे संख्या में पूरे सात थे। अब गोशालक पक्का नियतिवादी बन गया।

इस घटना ने गोशालक के जीवन की दिशा बदल दी, अब वह नियतिवाद का प्रवर्त्तक व प्रचारक बन गया। इस प्रकार जैनागमों में एवं व्याख्या साहित्य में गोशालक के नियतिवाद के उल्लेख मिलते हैं।

आवश्यकचूर्णि में भी भगवान महावीर के जीवन का विस्तार से निरूपण है। वहां गोशालक और नियतिवाद से सम्बन्धित कई घटनाएं प्राप्त होती हैं, जैसे—महावीर की साधना का दूसरा वर्ष चल रहा था। महावीर ने राजगृह में चातुर्मास किया। चौथे मासखमण का पारणा था। गोशालक ने पूछा—आज मुझे भिक्षा में क्या मिलेगा? सिद्धार्थ ने कहा—कोदो धान, अम्लसीथ और दक्षिणा में खोटा रुपया। घूमते-घूमते दोपहर हो गयी। एक लुहार ने भिक्षा दी और दक्षिणा में रुपया दिया। परीक्षण करवाने पर वह रुपया खोटा निकला। गोशालक का यह विश्वास पक्का हो गया कि जो होना है, वही होता है; अन्यथा नहीं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

जैनागम साहित्य की तरह बौद्ध साहित्य में भी नियतिवाद के उल्लेख उपलब्ध हैं। त्रिपिटक में पूरण काश्यप और मंखलि गोशालक के मतों का वर्णन आया है। पण्डित दलसुख मालवणिया के अनुसार एक के वाद का नाम 'अक्रियावाद' और दूसरे के वाद का नाम 'नियतिवाद' है। सिद्धान्ततः दोनों में विशेष भेद नहीं है। यही कारण है कि कुछ समय पश्चात् पूरण काश्यप के अनुयायी आजीविकों में अर्थात् गोशालक के अनुयायियों में मिल गए। पकुध का मत भी अक्रियावादी है; अतः वह भी नियतिवाद में समाविष्ट हो जाता है।

सामञ्ञफलसुत्त में गोशालक के नियतिवाद का जो वर्णन है, वह इस प्रकार है—"प्राणियों की अपवित्रता का कोई कारण नहीं है प्राणियों की शुद्धता का भी कोई कारण नहीं है। बिना किसी हेतु या प्रत्यय के ही प्राणी अशुद्ध अथवा शुद्ध होते हैं। न बल है, न वीर्य है, न ही पुरुष की शक्ति अथवा पराक्रम है। सभी प्राणी अवश, दुर्बल व वीर्य विहीन है सब कुछ नियति के ही अधीन है।"

चौरासी लाख महाकल्प के चक्र में घूमने के बाद मूर्ख और बुद्धिमान दोनों के ही दुःख का नाश हो जाता है। यदि कोई कहे कि 'मैं शीलव्रत, तप और ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्मों को परिपक्व करूंगा और परिपक्व हुए कर्मों का भोग कर—उन्हें निःशेष कर दूंगा।'—"तो यह कभी संभव नहीं हो सकता। इस संसार में सुख दुःख अवस्थित है। उनमें उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं हो सकता। जिस प्रकार सूत की गोली (गेंद) फेंकने पर वह उतनी ही दूर जाती है जितना लम्बा उसमें धागा होता है उसी प्रकार बुद्धिमान और मूर्ख दोनों संसार के आवागमन में पड़कर ही दुःख का अन्त कर सकते हैं।"

नियतिवादी अभिमत के अनुसार संसार के सभी पदार्थ अपने-अपने नियत स्वरूप से उत्पन्न होते हैं। जिसे जब जिस रूप में होना होता है वह उस समय वैसे ही होता है। अबाधित नियति के स्वरूप को बाधित करने में कौन समर्थ है? नियति न हो तो सब अनियत हो जाएगा, फलतः सब पदार्थों के अभाव का प्रसंग आ जाएगा।

सन्मतिप्रकरण की टीका में नियतिवाद का निरूपण करते हुए टीकाकार अभयदेवसूरि ने लिखा है—तीक्ष्ण शस्त्र आदि के द्वारा उपहत होने पर भी कुछ लोग जीवित रह जाते हैं। कुछ शस्त्र आदि के घात बिना ही अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इसका कारण है—नियति। काल, स्वभाव आदि की कार्यकारिता भी नियति के द्वारा ही नियत होती है। वृत्तिकार ने अन्त में नियतिवाद की एकांगी अवधारणा का निरास भी किया है। यदि सब कुछ नियति के ही अधीन माना जाए तो शास्त्रोपदेश व्यर्थ हो जाएगा। नियति सदा एक स्वभाव रहती है वैसी स्थिति में यथार्थ और अयथार्थ का भेद ही नहीं रहेगा। नियति स्वयं को उत्पन्न करने में समर्थ है—ऐसा भी नहीं माना जा सकता क्योंकि नियति का स्वयं की क्रिया से विरोध है। इसी प्रकार काल, स्वभाव आदि को भी नियतिवाद का कारण नहीं माना जा सकता। उनका पहले ही निषेध किया जा चुका है। नियति को अहेतुक मानें तो उसके नियतरूपत्व की अनुपपत्ति हो जाएगी। जो स्वयं अनियत हो वह अन्य पदार्थों के नियतत्त्व का कारण वैसे ही नहीं बन सकती जैसे शशश्रृंग के तदरूपता की उपलब्धि नहीं हो सकती। अतः नियति को प्रतिनियत भावोत्पत्ति का कारण नहीं माना जा सकता।

23.2.3.2 नियतिवाद और नियमवाद

सामान्यतया नियति को निश्चितता के अर्थ में पहचाना जाता है। जो कुछ होता है वह निश्चित है अथवा प्रकारान्तर से कहें तो वैसा होना नियति है। प्रज्ञा के धनी आचार्य महाप्रज्ञ नियति की बिलकुल भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार नियति का अर्थ भवितव्यता या 'होनहार' नहीं, अपितु सार्वभौम नियम (Universal Law) है। वे नियतिवाद को नियमवाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार—"नियतिवाद का अर्थ भवितव्यता मात्र नहीं है। उसका वास्तविक अर्थ है जागतिक नियम सार्वभौम नियम अथवा यूनिवर्सल लॉ। जिस नियम में कोई अपवाद नहीं होता वह नियति है। जिसमें अपवाद होता है, वह नियति नहीं, सामान्य नियम होता है। उदाहरण के लिए—जो जन्म लेता है, वह मरता ही है, यह नियति है; क्योंकि इसका कोई अपवाद नहीं। एक परमाणु नियतकाल के बाद बदलता ही है—यह सार्वभौम नियम है, क्योंकि इसका कोई अपवाद नहीं। प्रत्येक जड़ व चेतन पदार्थ परिणमनशील है, उसमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—तीनों पाये जाते हैं, यह सार्वभौम नियम है। इस प्रकार जैन दर्शन में ऐसे अनेकों सार्वभौम नियम हैं। यही नियतिवाद की वास्तविक व वैज्ञानिक व्याख्या है। इसकी विस्तृत चर्चा हम आगे करेंगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.2.4 कर्मवाद

कर्मवादी जगत् के वैचित्र्य का कारण कर्म को बतलाते हैं। जन्मान्तर में प्राप्त होने वाली इष्ट अथवा अनिष्टफल परम्परा का कारण कर्म है। हमारी हर प्रवृत्ति का आधार पूर्वार्जित कर्म-संस्कार हैं। ईश्वर भी कर्म के अनुसार ही फल देता है। कर्मवादी मतानुसार कर्म के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। ईश्वरवादियों द्वारा स्वीकृत ईश्वरकृत व्यवस्था में विषमता का जो दोष दिया जाता है, वह भी प्रायः कर्मवाद के आधार पर सुलझाया जाता है। इस प्रकार कर्म ईश्वरवादियों का भी ईश्वर है। जैसा कर्म बंधता है, उसके अनुरूप मति और परिणति स्वयं होती जाती है। पुराना कर्म फल देता है और नया बंधता रहता है। इस प्रकार अनादिकाल से कर्म का चक्र चल रहा है। कर्मवाद के अनुसार "जैसा पूर्वकृत कर्म होता है उसी के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि बन जाती है—**"यथा यथा पूर्वकृतस्य कर्मणः फलं निधानस्यामिवाऽवतिष्ठते।**
तथा तथा तत्प्रति पादनोद्यता प्रदीपहस्तेव मतिः प्रवर्तते।।"

'कर्म' को ही वैशेषिक 'अदृष्ट' कहते हैं। उनके अनुसार अदृष्ट जगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु की क्रिया का कारण है। अदृष्ट के बिना एक परमाणु भी नहीं हिलता। अग्नि का जलना, वायु का चलना, अणु तथा मन की क्रिया आदि सभी कुछ प्राणियों के अदृष्ट से होते हैं। दो व्यक्ति समान योग्यता वाले हैं और दोनों समान परिस्थिति में समान प्रयत्न करते हैं पर एक का कार्य सफल हो जाता है और दूसरा असफल रह जाता है इसका कारण दृष्ट कारण से व्यतिरिक्त 'अदृष्ट कर्म' ही है। कर्म से युक्त होकर ही प्राणी उत्पन्न होता है और कर्मों के द्वारा ही उसकी समस्त जीवनक्रिया संचालित होती है।

कर्म का प्रत्येक क्रिया के साथ निश्चित सम्बन्ध है व्यक्ति चाहे या न चाहे पर सामग्री के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति निश्चित होती है। उदाहरण के लिए कृषक यदि अज्ञानवश कोदो के बीज बो देता है तो उसका फल उसे मिलता ही है। वैसे ही व्यक्ति जो भी शुभ या अशुभ क्रिया करता है उसका अदृष्ट फल उसे प्राप्त होता ही है वही फल व्यक्ति की आगे की क्रियाओं का कारण बनता है।

कुछ विचारक कर्मवाद को दैववाद के रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार 'दैव' ही समस्त कार्यों की सिद्धि का कारण है दैवेकान्तवादी पुरुषार्थ और पुरुषार्थवाद की निष्पत्ति में भी दैव को ही हेतुभूत मानते हैं।

23.2.4 कर्मवाद का निरास

जगत् के वैचित्र्य का कारण एकमात्र अदृष्ट ही है यह मानना एकांगी और अयौक्तिक है। किसी भी कार्य की निष्पत्ति कारण सामग्री पर निर्भर करती है। वह सामग्री जैसी होती है उसके अनुरूप कार्य की निष्पत्ति हो जाती है। दर्शनशास्त्र का न्याय है—"दृष्टकारणवैफल्ये अदृष्टपरिकल्पनोपपत्तेः—जहां दृष्ट कारण विफल हो जाते हैं अथवा उनकी संगति नहीं बैठती तब व्यक्ति को अदृष्ट का सहारा लेना पड़ता है। वृत्तिकार अभयदेवसूरि ने अदृष्ट की एकमात्र कारणता को अयौक्तिक बतलाते हुए अनेक युक्तियां प्रस्तुत की हैं।

1. घट का निवर्तक कारण है कुम्भकार। वह घट निर्माण में हेतुभूत बनता है—यह प्रत्यक्ष प्रतीत होने पर भी अदृष्टवादी उसे छोड़कर 'अदृष्ट' कारण की कल्पना करते हैं। इस अदृष्ट कर्म की उपपत्ति के लिए किसी अन्य अदृष्ट की कल्पना की जाती है—इस प्रकार यह शृंखला अनवरत चलती रहती है और इसका परिणाम होता है अनवस्था दोष।
2. कर्म या अदृष्ट स्वतंत्र रूप से जगत् के वैचित्र्य का कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि कर्म सदैव कर्त्ता के अधीन होता है।
3. अदृष्टवादी अदृष्ट या कर्म को एक स्वभाव मानते हैं। एक स्वभाव वाले कारण से कार्यरूप जगत् का वैचित्र्य उत्पन्न नहीं हो सकता, कारण वैचित्र्य के होने पर ही कार्य में वैचित्र्य होता है। यदि 'कर्म' को अनेक स्वभाव (विचित्र) माना जाए तो यह कर्मवादी अवधारणा के विपरीत होगा। अनेक स्वभावत्व का तात्पर्यार्थ होगा काल, स्वभाव, कर्म, नियति और पुरुष—इन सबका समवाय ही जगत् के वैचित्र्य का कारण है यही वस्तुतः अनेकान्त है।
4. कर्म अचेतन है। वह किसी चेतन अधिष्ठाता के बिना स्वतंत्र रूप से प्रवर्तित नहीं हो सकता। यदि कर्म का अधिष्ठायक पुरुष को माना जाए तो 'कर्म' के एक कारण तत्त्व का सिद्धान्त निराधार बन जाएगा।
5. कर्म एक स्वभाव वाला होने से वह नित्य होगा या अनित्य। एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य पदार्थ अर्थ क्रियाकारी नहीं होता। अर्थक्रियाकारित्व के अभाव से वस्तु का अस्तित्व ही संशयापन्न हो जाता है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

अतः एकान्ततः 'कर्म' को कारण मानना किसी भी दृष्टि से युक्ति संगत नहीं है।

भारतीय दर्शन का प्रचलित वाद है—कर्मवाद। प्रायः सभी परम्पराओं ने 'कर्म' को किसी-न-किसी रूप में स्वीकृत किया है। संस्कार, वासना, अविज्ञप्ति, माया, अपूर्व आदि कर्म के ही वाचक शब्द हैं। यहां ज्ञातव्य है कि कर्म भी जगत्वैचित्र्य का एक बड़ा कारण है पर एकान्ततः कर्म को उसका कारण मानना उचित नहीं है। पं. महेन्द्र कुमार 'न्यायाचार्य' ने 'कर्मैकान्तवाद' की समीक्षा करते हुए लिखा है—"संसार की विषमतापूर्ण और निर्दयतापूर्ण परिस्थितियों के समाधान के लिए अदृष्ट की आड़ लेना जब आवश्यक हो गया, तो अदृष्ट को कारण-कोटि में स्थान मिल गया। कोई भी कार्य किसी-न-किसी पदार्थ के साक्षात् या परम्परा से उपयोग में आता ही है और वह विषमतापूर्ण स्थिति का घटक भी होता है। जगत् में परमाणुओं के संयोग या विभाग से बड़े-बड़े पहाड़, नदी, नाले, जंगल और विभिन्न प्राकृतिक दृश्य बने हैं। उन सबमें अदृष्ट को कारण मानना वस्तुतः अदृष्ट कल्पना ही है।"

"द्रव्यों में प्रतिक्षण अपनी पर्याय बदलने की योग्यता स्वयं है। उपादान और निमित्त सामग्री जिस प्रकार की पर्याय के अनुकूल होती है, वैसी ही पर्याय उत्पन्न हो जाती है। अतः कर्म या अदृष्ट ही जगत् में उत्पन्न होने वाले यावत् कार्यों के कारण होते हैं—यह मानना समीचीन नहीं है।"

23.2.5 पुरुषवाद

'पुरुषवाद' के अनुसार इस जगत् का मूल कारण पुरुष है। वही जगत् का निर्माता, संचालक और संहारक है। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में "पुरुष एवेदं सर्वं यदभूतं यच्चभाव्यम्" कहकर पुरुष को ही जगत् का कारण बतलाया गया है। इस सृष्टि पर वर्तमान में जितने भी देहधारी प्राणी हैं वे सब उस विराट् पुरुष के ही अवयव हैं। इसी तरह अतीत में जितने भी प्राणी हो चुके और भविष्य में जितने भी प्राणी होंगे उन्हें भी उस विराट् पुरुष के ही अवयवभूत मानना चाहिए। श्वेताश्वतर उपनिषद, बुद्धचरितं, सांख्यकारिका की माठरवृत्ति आदि अनेक ग्रंथों में पुरुषवाद सम्बन्धी उल्लेख मिलते हैं। जिस प्रकार मकड़ी जाल के लिए, चन्द्रकान्तमणि जल के लिए तथा वटवृक्ष प्ररोह (जटाओं) के लिए कारणभूत होता है, उसी प्रकार पुरुष समस्त जगत् के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति और प्रलय में निमित्तभूत होता है। पुरुषवाद के सन्दर्भ में दो मत मुख्य रूप से प्रचलित हैं—1. ब्रह्मवाद, 2. ईश्वरवाद।

23.2.5.1 ब्रह्मवाद

बह्मवादी अवधारणा के अनुसार ब्रह्म ही जगत् के समस्त चेतन अचेतन पदार्थों का उपादान कारण है। वह सत्, कूटस्थ नित्य और परिवर्तन रहित है। शंकरभाष्य के अनुसार ब्रह्मतत्त्व के सर्वाधिक महान् होने के कारण 'ब्रह्म' शब्द की अपनी अर्थवत्ता है। ब्रह्म सत् चित् व आनन्द-स्वरूप है। ब्रह्म के लिए प्रयुक्त ये तीनों ही विशेषण अपनी उपयोगिता रखते हैं। 'सत्' शब्द भावात्मकता का प्रतीक है। 'चित्' चैतन्यशीलता का और आनंद निष्प्रयोजनता के अभाव का सूचक है। ब्रह्म ही समस्त जगत् का अधिष्ठान है। वही अपनी माया शक्ति के कारण प्रपञ्च रूप जगत् का कारण है।

टीकाकार अभयदेवसूरि ने 'पुरुषवाद' के सन्दर्भ में जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें पुरुषवाद के रूप में ब्रह्मवाद ही विवक्षित है। उन्होंने ईश्वर और पुरुष (ब्रह्म) को भिन्न बतलाया है। ईश्वर समवाय आदि अपर कारणों के सहयोग से जगत् का निर्माण करता है जबकि पुरुष अकेला ही जगत् के निर्माण का कार्य सम्पन्न कर लेता है। पुरुष ही इस समस्त सृष्टि रूप कार्य का हेतु है। प्रलयकाल में भी पुरुष की ज्ञान-शक्ति अविनष्ट रहती है। अतः पुरुष ही जगत् का कारण है। जिस प्रकार प्रकाशमान सूर्य जल में प्रतिबिम्बित होने पर नाना रूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी अविद्या अथवा अध्यास के कारण नानारूपों में प्रतिभासित होता है।

23.2.5.2 ईश्वरवाद

पुरुषवाद का एक अन्य रूप है—ईश्वरवाद। ईश्वरवादी अवधारणा के अनुसार ईश्वर को ही जगत् का मूल कारण माना जाता है। उनका मानना है कि इस अचेतन सृष्टि का कोई सचेतन सर्वशक्तिमान नियन्ता होना चाहिए और वह ईश्वर ही हो सकता है। ईश्वर के कर्त्तृत्व की दृष्टि से भारतीय दर्शनों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य और योग दर्शन ईश्वर के सृष्टिकर्त्तृत्व में विश्वास नहीं करते हैं। यहां ज्ञातव्य है कि 'योग' को सेश्वर सांख्य भी कहा जाता है, पर योग-मत में

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

पुरुष-विशेष को ही ईश्वर माना गया है। उनके अनुसार ईश्वर सृष्टि का कर्त्ता नहीं है। वह क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से अपरामृष्ट व शुद्ध, बुद्ध स्वरूप वाला है। वेदान्त, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनों में ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता माना गया है। वेदांत-मत के अनुसार माया विशिष्ट ब्रह्म ही ईश्वर है। माया-शक्ति के कारण ही ईश्वर में जगत् का कर्त्तृत्व है। यहां यह उल्लेखनीय है कि मायावी होने पर भी ईश्वर की शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभावता में कोई अन्तर नहीं आता। जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक दूसरों को अपने जादू से आकर्षित करता है पर स्वयं उससे किञ्चित् भी प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ईश्वर अपनी माया-शक्ति से सृष्टि-निर्माण करता हुआ भी उससे स्पृष्ट नहीं होता। सृष्टि को ईश्वर का स्वभाव मान लेने पर ईश्वर की पूर्णता के सन्दर्भ में भी कोई सन्देह नहीं रहता।

न्याय-दर्शन ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानता है। न्यायकुसुमाञ्जलि में ईश्वर की सिद्धि के सन्दर्भ में ग्रंथकार उदयनाचार्य ने अनेक युक्तियां दी हैं। उनका मुख्य तर्क है—जितने भी कार्य हैं; कर्त्ता पूर्वक ही होते हैं। उदाहरण के लिए पृथ्वी, पर्वत आदि कर्त्ता द्वारा कृत हैं क्योंकि ये कार्य हैं। अत: जो भी इस सृष्टि का कर्त्ता है वही सर्वशक्तिमान ईश्वर है वही वेद निर्माता और प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों का अधिष्ठाता है। ईश्वर के सन्दर्भ में वैशेषिक दर्शन की मान्यताएं प्राय: न्याय दर्शन के समान ही है।

ईश्वरवाद के द्वारा जड़-चेतन-जगत् के निर्माण की परम्परा प्राचीन है। अनेक प्राचीन ग्रंथों में ईश्वरवाद सम्बन्धी उल्लेख प्राप्त होते हैं। अश्वघोष ने बुद्धचरित में संपूर्ण जगत् को ईश्वरप्रसूत मानने वाले अभिमत का उल्लेख किया है। गीता में ईश्वर को तीनों लोकों को धारण करने वाला (धारक) बतलाया है। महाभारत का ईश्वरवाद के परिप्रेक्ष्य में प्रसिद्ध श्लोक है—अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन: सुख दु:खयो:।

ईश्वर प्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥

माठरवृत्ति में भी ईश्वरवादी अवधारणा का उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार 'पुरुषवाद' के सन्दर्भ में उपर्युक्त दोनों ही वाद (ब्रह्मवाद और ईश्वरवाद) प्रचलित हैं। कुछ ग्रंथों में जगत् की कारणता के भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलते हैं। उदाहरण के लिए बुद्धचरितं, माठरवृत्ति में ईश्वर और पुरुष दोनों के कारण मानने वाली परम्पराओं का उल्लेख है। षड्दर्शन-समुच्चय की बृहद् वृत्ति में क्रियावाद के 180 भेदों की चर्चा के अन्तर्गत पांच मतवादों की चर्चा है कालवाद, ईश्वरवाद, आत्मवाद, नियतिवाद और स्वभाववाद। यहां ईश्वर के साथ आत्मवाद का भी उल्लेख हुआ है। वृत्तिकार गुणरत्नसूरि ने आत्मवाद के सन्दर्भ में 'पुरुष एवेदं सर्वम्' कहकर ऋग्वेद का पुरुषसूक्त उद्धृत किया है। इससे प्रतीत होता है कि उन्हें भी पुरुषवाद व ईश्वरवाद अलग-अलग रूप में मान्य थे।

23.2.5.3 पुरुषवाद का निरास

सन्मतिप्रकरण में आचार्य सिद्धसेन ने एकान्तत: पुरुषवाद की अवधारणा को मिथ्या बतलाया है। सन्मतिप्रकरण की वृत्ति में अभयदेवसूरि ने पुरुषवाद का जो प्रतिपादन किया है और उसका जिस यौक्तिक ढंग से निरास किया है, उस पर मुख्यतया आचार्य शांतरक्षित का प्रभाव परिलक्षित होता है। अभयदेव ने जिन युक्तियों का प्रयोग किया है वे ही युक्तियां शांतरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह में शब्दश: विद्यमान हैं। पंडित सुखलाल जी ने वृत्ति संपादन करते समय पाद टिप्पण में तत्त्वसंग्रह की गाथाओं को देकर इसी तथ्य को पुष्ट किया है। यहां प्रसंगवश संक्षेप में उन्हीं युक्तियों को प्रस्तुत किया जा रहा है—

प्रेक्षावान पुरुष की प्रत्येक प्रवृत्ति सप्रयोजन होती है। यहां प्रश्न होता है कि पुरुष जगत्-निर्माण के कार्य में प्रवृत्त क्यों होता है? ईश्वर की प्रेरणा को उसकी प्रवृत्ति का कारण मानने पर पुरुष के स्वातंत्र्य की हानि होती है। प्राणियों पर अनुग्रह करने के लिये अनुकम्पावश वह सृष्टि का निर्माण करता है—यह मानना भी ठीक नहीं क्योंकि सृष्टि से पूर्व अनुकम्पनीय प्राणी का अभाव था। यदि अनुकम्पा के आधार पर पुरुष की प्रवृत्ति मानी जाए, तो जो हरदम सुखी हैं वे देव अथवा अभ्युदय प्राप्त योगी पुरुष कभी प्रलय को प्राप्त ही नहीं हो सकते। यदि उनके प्रलय में भी उनके अदृष्ट को हेतु माना जाए, तो पुन: वही स्वातंत्र्य हानि का प्रसंग आएगा। क्रीड़ा के लिए जगत्-निर्माण हेतु पुरुष की प्रवृत्ति मानना भी उचित नहीं, क्योंकि क्रीड़ा के उपाय-रूप जगत् के निर्माण की शक्ति यदि पुरुष में पहले से ही विद्यमान होती, तो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय सभी कार्य युगपत् हो जाते। अशक्तावस्था में क्रम से भी वह इन सारे कार्यों को नहीं कर सकता। शक्ति और अशक्ति दोनों धर्म विरूद्ध लक्षण वाले होने से एकत्र भी नहीं रह सकते। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

प्रकार वृत्तिकार अभयदेव ने अनेक दोषों की उद्भावना करते हुए यही सिद्ध किया कि 'पुरुष' को ही जगत् का एकमात्र कारण मानना उचित नहीं है। इतना ही नहीं उन्होंने 'ईश्वरवाद' में भी इन्हीं दोषों की संभावना बतलायी है। उन्होंने स्पष्ट लिखा है : "अयं च दोष ईश्वरवादिनामपि समान एव।" वृत्तिकार ने ईश्वरवाद का उल्लेख करते हुए उपर्युक्त सारे ही दोषों की संभावना व्यक्त की है। अन्त में उन्होंने एक युक्ति और प्रस्तुत करते हुए लिखा है—उर्णनाभ (मर्कटक) की भांति 'जगत्-निर्माण-रूप कार्य में पुरुष की स्वभावतः प्रवृत्ति होती है'—यह मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि उर्णनाभ प्राणी-भक्षण की लालसा से प्रवृत्ति करता है, न कि स्वभावतः। यदि अविचारपूर्वक जगत्-निर्माण हेतु पुरुष की प्रवृत्ति मानी जाए, तो वह प्रवृत्ति प्रेक्षावान (विद्वान्) पुरुषों के लिए विश्वास योग्य नहीं हो सकती। फलतः 'अनवधेयवचनता' का प्रसंग आ जाएगा।

जगत्-निर्माण व संचालन के लिए ईश्वर या पुरुष (ब्रह्म) की कल्पना का अर्थ है द्रव्यों के स्वरूपगत वैशिष्ट्य को अनुपयोगी व परतंत्र बना देना। प्रत्येक आत्मा अपने ह्रास व विकास की स्वयं जिम्मेदार है। अतः जगत् के सम्बन्ध में पुरुषवाद भी अन्य वादों की तरह एकांगी व अर्थशून्य है। सांख्यकारिका की माठरवृत्ति, शास्त्रवार्ता समुच्चय आदि ग्रंथों में पुरुषवाद (ईश्वरवाद) का निरास विस्तार से देखा जा सकता है।

23.2.5.4 पुरुष—पुरुषार्थ का प्रतीक

पुरुषवाद को लेकर दो वादों की चर्चा ऊपर की गयी। यहां 'पुरिस' पद का एक अर्थ और किया जा सकता है और वह है—पुरुषार्थ। जैन आगमों में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम का अनेकशः उल्लेख हुआ है। ये सभी शब्द पुरुषार्थवाद के प्रतीक हैं। इनमें पुरुषकार का अर्थ है—पौरुषाभिमान अर्थात् "मैं ऐसा कर सकता हूँ" इस प्रकार की अवधारणा/पराक्रम का अर्थ है—कार्य की निष्पत्ति में सक्षम प्रयत्न। पुरुषकार का प्राकृत रूप बनता है 'पुरिसक्कार'। सिद्धसेन ने सन्मतिप्रकरण में जिन पांच वादों की चर्चा की है उनमें एक वाद है—पुरुषवाद। सिद्धसेन ने पुरुषवाद के लिए 'पुरिस' शब्द का प्रयोग किया है। अतः शब्दसाम्य की दृष्टि से भी 'पुरिस' शब्द का पुरुषार्थ अर्थ करना संगत प्रतीत होता है। पंडित दलसुख मालवणिया ने गणधरवाद की प्रस्तावना में सिद्धसेन के मन्तव्य को प्रस्तुत करते हुए जहां काल आदि पाचों वादों का उल्लेख किया है, वहां उन्होंने पुरिस का अर्थ पुरुषार्थ किया है। आचार्य महाप्रज्ञ ने भी यही अर्थ किया है।

इस प्रकार पुरुषवाद को ब्रह्मवाद, ईश्वरवाद और पुरुषार्थवाद इन तीनों रूपों में व्याख्यायित किया जा सकता है।

23.3 नियति आदि पांच समवायों की समीक्षा

जैन कर्मवाद में काल, स्वभाव, नियति, पुराकृत कर्म और पुरुषार्थ—इन पांचों को स्वीकार किया गया है। ये सभी सापेक्ष हैं। सिद्धसेन दिवाकर ने इनका एक साथ उल्लेख करके इनकी सापेक्ष महत्ता को प्रतिष्ठित किया है। आगम-साहित्य में इनका एक स्थान पर एक साथ उल्लेख नहीं मिलता, पर भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में इन सबका उल्लेख अवश्य मिलता है।

23.3.1 काल

प्रवृत्ति का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है—काल। पदार्थ जगत् में व भाव जगत् में होने वाले परिणमनों में काल की विशेष भूमिका रहती है। जैन परम्परा के अनुसार काललब्धि के परिपाक से अनेक कार्य सम्पन्न होते हैं। अव्यवहार राशि का जीव व्यवहार राशि में आता है, इसका कारण है—काललब्धि। अनादिकाल से मिथ्यात्वी प्राणी के जब मोक्ष प्राप्ति में अर्ध पुद्गल परावर्तन जितना समय शेष रहता है तब वह अनंतानुबंधी चतुष्क व दर्शनमोह त्रिक इन सात प्रवृत्तियों के उपशम से औपशमिक आदि सम्यक्त्व प्राप्त करता है। पूज्यपाद ने प्रश्न उठाया है कि अनादि मिथ्यात्वी भव्य प्राणी के कर्मोदय इतना सघन होता है फिर उस स्थिति में उसके उन कर्म प्रवृत्तियों का उपशम कैसे होता है? इसका समाधान करते हुए स्वयं उन्होंने ही लिखा है—'काललब्ध्यादिनिमित्तत्वात्'।

23.3.2 स्वभाव

काल की भांति 'स्वभाववाद' भी जैनदर्शन में स्वीकृत है। अनुयोगद्वारसूत्र में अनादि पारिणामिक भावों की चर्चा है जीव कभी अजीव नहीं बनता और अजीव (जड़) कभी जीव में परिणत नहीं होता। इसी तरह भव्यत्व और अभव्यत्व का परस्पर संक्रमण नहीं होता। इसका कारण बतलाया गया कि ये अनादि पारिणामिक भाव हैं, ये स्वाभाविक हैं क्योंकि इनका कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से कोई सम्बन्ध नहीं है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

23.3.3 नियति

नियतिवाद की व्याख्या को हम जैन कर्मवाद की भाषा में इस प्रकार प्रस्तुत कर सकते हैं। जैन कर्मवाद के अनुसार कर्म के दो प्रकार हैं 1. दलिक 2. निकाचित। दलिक कर्म परमाणुओं की स्थिति आदि में सदा परिवर्तन की संभावना रहती है। दलिक कर्मों के फलभोग में जीव स्वतंत्र है। निकाचित कर्मों के फल में परिवर्तन की संभावना प्रायः समाप्त हो जाती है। यद्यपि आचार्य विनयविजयसूरि ने तपस्यारूपी वज्र के द्वारा निकाचित कर्मों के भेदन की भी संभावना व्यक्त की है, पर उनके इस कथन को आपवादिक ही मानना होगा। सामान्यतया निकाचित कर्म जिस रूप में बांधे जाते हैं उसी रूप में उनका भोग अनिवार्य है। व्यक्ति चाहकर भी उनमें परिवर्तन नहीं कर सकता। इस प्रकार "निकाचित कर्म को हम 'नियति' के रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।"

23.3..4 कर्म

कर्म और पुरुषार्थ के सन्दर्भ में जैन परम्परा काफी समृद्ध है। कर्मवाद का जितना विस्तृत व यौक्तिक विवेचन जैन दर्शन में है उतना अन्यत्र दुर्लभ है। प्राणी प्रत्येक प्रवृत्ति के साथ चाहे वह मानसिक हो, वाचिक हो या कायिक कर्म परमाणुओं को आकृष्ट करता है। प्रत्येक क्रिया अंकित होती है और उसकी प्रतिक्रिया होती है। कर्म का कर्त्ता व्यक्ति स्वयं है और उसका जो परिणाम हमारे सामने आता है वह कृत की प्रतिक्रिया है, इसीलिए कहा गया—पुराकृत कर्म। सामान्यतया व्यक्ति को सुख-दुःख, हानि-लाभ, यश-अपयश आदि जो कुछ मिलता है उसका कारण है—पुराकृत कर्म।

23.3.5 पुरुषार्थ

पांचवां तत्त्व है—पुरुषार्थ। जैन आगमों में पुरुषार्थ के अनेक सिद्धान्त हैं। उनमें से चार इस प्रकार हैं— उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा और संक्रमण। उद्वर्तना का अर्थ है—कर्मों की स्थिति में वृद्धि और अनुभाग में तीव्रता करना। अपवर्तना में कर्मों की स्थिति कम हो जाती है और विपाक मंद। उदीरणा के द्वारा व्यक्ति बाद में उदय में आने वाले कर्मों को खींचकर समय से पहले ही उदय में लाकर खपा देता है। ये तीनों ही अवस्थाएं पुरुषार्थवाद की समर्थक हैं। कर्म परिवर्तन अथवा पुरुषार्थवाद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है—संक्रमण। संक्रमण का अर्थ है—कर्मों की प्रकृति आदि का परस्पर परिवर्तन। **ठाणं** में संक्रमण के विषय में चार भंगों का निर्देश मिलता है। वे इस प्रकार हैं—1. सुभे नाम ऐगे सुभविवागे, 2. सुभे नाम ऐगे असुभविवागे, 3. असुभे नाम मेगे सुभविवागे, 4. असुभे नाम मेगे असुभविवागे।

एक कर्म बंधन के समय शुभ होता है, पर विपाक काल तक अशुभ बन जाता है। एक कर्म बंधते समय अशुभ होता है, पर परिपाक काल में वह पुण्योदय में परिणत हो जाता है। कुछ कर्म बंध के समय शुभ अथवा अशुभ जैसे भी होते हैं, परिणाम में भी यथावत् रहते हैं। यद्यपि कुछ आपवादिक अवस्थाएं भी हैं जहां संक्रमण का सिद्धान्त लागू ही नहीं होता। जिनभद्रगणि ने एक गाथा (गा. 1939) में इनका समावेश करते हुए लिखा है—संक्रमण, सजातीय व उत्तर प्रकृतियों में ही होता है, विजातीय व मूल प्रकृतियों में नहीं। आयुष्य कर्म की चारों प्रकृतियों का तथा दर्शन मोह व चरित्रमोह का परस्पर संक्रमण नहीं होता। इन सबके बावजूद इतना निःसंदेह कहा जा सकता है कि उपर्युक्त चतुर्भंगी पुरुषार्थ का महत्त्वपूर्ण सूत्र प्रस्तुत करती है।

आगम साहित्य में बार-बार पराक्रम का निर्देश मिलता है। महावीर ने कहा—पुरुष! तू पराक्रम कर। अपने वीर्य का गोपन मत कर। बंधन और मोक्ष दोनों तुम्हारे ही अधीन हैं। जो व्यक्ति पराक्रम से पीछे हटता है, उसके विकास की संभावना समाप्त हो जाती है। कर्म के साथ पुरुषार्थ का योग होते ही विकास के बंद द्वार भी खुल जाते हैं। भाग्य का निर्माता है—पुरुषार्थ।

इस प्रकार जैन साहित्य में काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ—इन सबके महत्त्व का सापेक्ष प्रतिपादन है। अन्य दार्शनिक काल आदि को ही एकान्ततः प्रभुसत्ता सम्पन्न मान कर जीवन और जगत् की व्याख्या करते हैं। जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अतः वहां एकान्ततः काल आदि को मूल कारण न मानकर काल, स्वभाव आदि के समन्वय को ही सृष्टि का नियामक माना गया है। यह समन्वयपरक दृष्टिकोण ही अनेकान्तदर्शन की रीढ़ है।

समन्वयवादी दार्शनिकों में आचार्य सिद्धसेन अग्रस्थानीय हैं। उनके अनुसार किसी भी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण पर आश्रित नहीं है। अनेक कारण अथवा कारण सामग्री मिलकर एक कार्य को निष्पन्न

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

करती है। सिद्धसेन ने सन्मति प्रकरण में कारण विषयक चर्चा के अन्तर्गत काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुष इन सबकी समन्वित अवस्था को सम्यग्दर्शन (यथार्थदर्शन) की अभिधा दी है।

कालो सहाव णियई पुव्वकयं पुरिस कारणेगंता।
मिच्छत्तं ते चेव समासओ होंति सम्मत्तं॥

आचार्य हरिभद्र ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में इसी समन्वयवादी दृष्टिकोण का समर्थन किया है। समन्तभद्र ने दैववाद और पुरुषार्थवाद के परिप्रेक्ष्य में एकान्तवाद का निरास करते हुए समन्वय पर बल दिया है। कुछ लोग दैव से और कुछ पुरुषार्थ से सर्वकार्यसिद्धि मानते थे। आचार्य समन्तभद्र ने दोनों की सापेक्ष उपयोगिता का अंकन करते हुए कहा—जहां मनुष्य ने चिन्तन (बुद्धि) पूर्वक प्रयत्न नहीं किया हो और उसे इष्टानिष्ट वस्तु की उपलब्धि हो, वहां दैव को प्रधान मानना चाहिए और प्रयत्न गौण। जहां प्रयत्न पूर्वक और बुद्धिपूर्वक इष्टानिष्ट पदार्थों की प्राप्ति हो, वहां पुरुषार्थ को प्रधान और दैव को गौण मानना चाहिए। इस प्रकार समन्तभद्र ने प्रधानता व गौणता के आधार पर दोनों का समन्वय किया। पंडित सुखलाल जी ने काल के समन्वयात्मक रूप पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"ये पांचों वाद परस्पर का विरोध भाव छोड़कर समन्वय की भूमिका पर आते हैं, तभी उनमें पूर्णता आती है। उनका पास्परिक विरोध दूर होता है और वे यथार्थ बनते हैं।" पंडित दलसुख मालवणिया के अनुसार—"ऐसा ज्ञात होता है कि जैन भी एकमात्र कर्म को कारण नहीं मानते परन्तु गौण-मुख्य भाव की अपेक्षा से कालादि सभी कारणों को मानते हैं।"

आचार्य महाप्रज्ञ ने आत्मकर्तृत्व के सन्दर्भ में इन सबकी सापेक्षता के आधार पर व्याख्या करते हुए लिखा है—"आत्मकर्तृत्ववाद एक नय है, प्रत्येक नय सापेक्ष होता है। काल, स्वभाव, नियति, पूर्वकृत कर्म और पुरुषार्थ—ये सब नय हैं। इनकी सापेक्षता के द्वारा ही आत्मकर्तृत्ववाद की व्याख्या की जा सकती है।

निष्कर्ष यही है कि जैनदर्शन समन्वय प्रधान है। अत: काल आदि पांचों कारण समन्वित होकर ही किसी तथ्य की सही व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं।

23.4 चेतना की स्वतंत्रता का मूल्य

आन्तरिक जगत् में मनुष्य की चेतना सीमातीत स्वतंत्र हो सकती है, किन्तु शरीर, कर्म और समाज के प्रतिबंध-क्षेत्र में कोई भी मनुष्य सीमातीत स्वतंत्र नहीं हो सकता। वहां आंतरिक और बाहरी प्रभाव उसकी स्वतंत्रता को सीमित कर देते हैं। आत्मा अपने अस्तित्व में ही पूर्ण स्वतंत्र हो सकती है। बाहरी सम्पर्कों में उसकी स्वतंत्रता सापेक्ष हो सकती है। यह संसार अपने स्वरूप में स्वयं बदलता है। इसके बाहरी आकार को जीव बदलते हैं और मुख्यतया मनुष्य बदलता है। क्या मनुष्य इस संसार को बदलने में समर्थ है? क्या वह इसे अच्छा बनाने में समर्थ है? इन प्रश्नों का उत्तर दो विरोधी धाराओं में मिलता है। एक धारा परतंत्रतावादी दार्शनिकों की है। उनके अनुसार मनुष्य कार्य करने में स्वतंत्र है। वह संसार को बदल सकता है, उसे अच्छा बना सकता है। कालवादी दार्शनिक मनुष्य के कार्य को काल से प्रतिबंधित, स्वभाववादी दार्शनिक उसे स्वभाव से प्रतिबंधित, नियतिवादी दार्शनिक उसे नियति से निर्धारित, भाग्यवादी दार्शनिक उसे भाग्य के अधीन और पुरुषार्थवादी दार्शनिक उसे पुरुषार्थ से निष्पन्न मानते हैं।

23.4.1 सापेक्ष स्वतंत्रता

महावीर ने मनुष्य के कार्य की अनेकान्त दृष्टि से समीक्षा की। उन्होंने कहा—द्रव्य वह होता है, जिसमें अर्थक्रिया होती है। यह स्वाभाविक क्रिया है। यह न किसी निमित्त से होती है और न किसी निमित्त से अवरुद्ध होती है। यह किसी निमित्त से प्रतिबंधित नहीं होती इसलिए पूर्ण स्वतंत्र होती है। द्रव्य में बाह्य निमित्तों से अस्वाभाविक क्रिया भी होती है। वह अनेक योगों से निष्पन्न होने के कारण यौगिक होती है। यौगिक क्रिया में काल, स्वभाव, नियति, भाग्य और पुरुषार्थ—इन सबका योग होता है—किसी का कम किसी का अधिक। जिसमें काल, स्वभाव, नियति या भाग्य का योग अधिक होता है उसमें मनुष्य विचार में स्वतंत्र होते हुए भी कार्य करने में परतंत्र होता है। जिसमें पुरुषार्थ का योग अधिक होता है उसमें मनुष्य काल आदि योगों से परतंत्र होते हुए भी कार्य करने में स्वतंत्र होता है। इस प्रकार मनुष्य की कार्य करने की स्वतंत्रता सापेक्ष ही होती है; निरपेक्ष, निरन्तर और निर्बाध नहीं होती। यदि वह निरपेक्ष होती तो मनुष्य इस संसार को सुदूर अतीत में ही अपने इच्छानुसार बदल देता और यदि वह कार्य करने में स्वतंत्र होता ही नहीं तो वह संसार को कुछ भी नहीं बदल पाता। यह सच है कि उसने संसार को बदला है और यह भी सच है कि वह संसार को अपनी

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इच्छानुसार एक चुटकी में नहीं बदल पाया है, धरती पर निर्बाध सुख-सृष्टि नहीं कर पाया है। इन दोनों वास्तविकताओं में मनुष्य के पुरुषार्थ की सफलता और विफलता, क्षमता और अक्षमता के स्पष्ट प्रतिबिम्ब हैं।

मनुष्य की कार्यजा शक्ति यदि काल, स्वभाव आदि में से किसी एक ही तत्त्व द्वारा संचालित होती तो काल, स्वभाव आदि में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती और वे एक-दूसरे को समाप्त करने में लग जाते, किन्तु जागतिक द्रव्यों और नियमों में विरोध और अविरोध का सामंजस्यपूर्ण संतुलन है। इसलिए वे कार्य की निष्पत्ति में अपना-अपना अपेक्षित योग देते हैं। सापेक्षवाद की दृष्टि से किसी भी तत्त्व को प्राथमिकता या मुख्यता नहीं दी जा सकती। अपने-अपने स्थान पर सब प्राथमिक और मुख्य हैं। काल का कार्य स्वभाव नहीं कर सकता और स्वभाव का कार्य काल नहीं कर सकता। भाग्य का कार्य पुरुषार्थ नहीं कर सकता और पुरुषार्थ का कार्य भाग्य नहीं कर सकता। फिर भी कर्त्तृत्व के क्षेत्र में पुरुषार्थ अग्रणी है। पुरुषार्थ से काल के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु काल की अवधि में परिवर्तन किया जा सकता है। पुरुषार्थ से भाग्य के योग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु भाग्य में परिवर्तन किया जा सकता है। इन सत्यों को इतिहास और दर्शन की कसौटी पर कसा जा सकता है। जैसे-जैसे मनुष्य के ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे पुरुषार्थ की क्षमता बढ़ती है। सभ्यता के आदिम युग में मनुष्य का ज्ञान अल्प-विकसित था। उसके उपकरण भी अविकसित थे, फलतः पुरुषार्थ की क्षमता भी कम थी। प्रस्तरयुग की तुलना में अणुयुग के मनुष्य का ज्ञान बहुत विकसित है। उसके उपकरण शक्तिशाली हैं और पुरुषार्थ की क्षमता बहुत बढ़ी है। आदिम युग का मनुष्य केवल प्रकृति पर निर्भर था। वर्षा होती तो खेती हो जाती। एक एकड़ भूमि में जितना अनाज उत्पन्न होता उतना हो जाता। अनाज को पकाने में जितना समय लगता, उतना लग जाता। आज का मनुष्य इन सब पर निर्भर नहीं है। उसने सिंचाई के स्रोतों का विकास कर वर्षा पर निर्भरता को कम कर दिया। उसने रासायनिक खाद का निर्माण कर अनाज की पैदावार में अत्यधिक वृद्धि कर दी और कृत्रिम उपायों द्वारा फसल के पकने की अवधि को भी कम करने का प्रयत्न किया है। पुरुषार्थ के द्वारा काल की अवधि और स्वभाव के परिवर्तन के सैकड़ों उदाहरण सभ्यता के इतिहास में खोजे जा सकते हैं। काल, स्वभाव आदि को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त नहीं है, इसलिए वे पुरुषार्थ को कम प्रभावित करते हैं। पुरुषार्थ को ज्ञान का वरदहस्त प्राप्त है, इसलिए वह काल, स्वभाव आदि को अधिक प्रभावित करता है। उनको प्रभावित कर वर्तमान को अतीत से भिन्न रूप में प्रस्तुत कर देता है।

इमान्युएल कांट (Immanuel Kant) ने विचार का प्रतिपादन किया है कि मनुष्य अपनी संकल्प-शक्ति में स्वतंत्र है, इसीलिए कर्म करने और शुभ-अशुभ फल भोगने में भी स्वतंत्र है। यदि वह कर्म करने में स्वतंत्र न हो तो वह कर्म करने और उसका फल भोगने के लिए उत्तरदायी नहीं होता। भारतीय कर्मवाद का यह प्रसिद्ध सूत्र है कि अच्छे कर्म का अच्छा और बुरे कर्म का बुरा फल होता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल भोगता है। इस सूत्र की मीमांसा से यह निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य नया कर्म करने में पुराने कर्म से बंधा हुआ है। वह कर्म करने और उसका फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। यदि ऐसा है तो उसे किसी भी अच्छे या बुरे कर्म के लिए उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। उसका वर्तमान अतीत से नियंत्रित है। वर्तमान का अपना कोई कर्त्तृत्व नहीं है। वह अतीत की कठपुतली मात्र है। कर्मवाद के इस सामान्य सूत्र ने भारतीय मानस को बहुत प्रभावित किया उसे भाग्यवाद के सांचे में ढ़ाल दिया। उसके प्रभाव ने पुरुषार्थ की क्षमता क्षीण कर दी।

23.4.2 पुरुषार्थ का मूल्य

महावीर ने पुरुषार्थ के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उनका पुरुषार्थवाद भाग्यवाद के विरोध में नहीं था। भाग्य पुरुषार्थ की निष्पत्ति है। जो जिसके द्वारा निष्पन्न होता है, वह उसके द्वारा परिवर्तित भी हो सकता है। महावीर ने कर्म के उदीरणा और संक्रमण के सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भाग्यवाद का भाग्य पुरुषार्थ के अधीन कर दिया। कर्म के उदीरणा का सिद्धान्त है कि कर्म की अवधि को घटाया-बढ़ाया जा सकता है और उसकी फल देने की शक्ति को मंद और तीव्र किया जा सकता है। कर्म के संक्रमण का सिद्धान्त है कि असत् प्रयत्न की उत्कटता के द्वारा पुण्य को पाप में बदला जा सकता है और सत् प्रयत्न की तीव्रता के द्वारा पाप को पुण्य में बदला जा सकता है। मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है—कर्मवाद के इस एकाधिकार को यदि उदीरण और संक्रमण का सिद्धान्त सीमित नहीं करता तो मनुष्य

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

भाग्य के हाथ का खिलौना होता। उसकी स्वतंत्रता समाप्त हो जाती। फिर ईश्वर की अधीनता और कर्म की अधीनता में कोई अन्तर नहीं होता। किन्तु उदीरणा और संक्रमण के सिद्धान्त ने मनुष्य को भाग्य के एकाधिकार से मुक्त कर स्वतंत्रता के दीवट पर पुरुषार्थ के प्रदीप को प्रज्वलित कर दिया।

23.4.3 नियति की नई व्याख्या

नियति को हम सीमित अर्थ में स्वीकार कर पुरुषार्थ पर प्रतिबंध का अनुभव करते हैं। पुरुषार्थ पर नियति का प्रतिबंध है, किन्तु इतना नहीं है, जिससे कि पुरुषार्थ की उपयोगिता समाप्त हो जाए। यदि हम नियति को जागतिक नियम (Universal Law) के रूप में स्वीकार करें तो पुरुषार्थ भी एक जागतिक नियम है। इसलिए नियति उसका सीमा-बोध करा सकती है किन्तु उसके स्वरूप को विलुप्त नहीं कर सकती। विलियम जेम्स ने लिखा है—'संसार में सब कुछ पहले से ही निर्धारित हो तो मनुष्य का पुरुषार्थ व्यर्थ है, क्योंकि पूर्व-निर्धारित अन्यथा नहीं हो सकता।' यदि संसार में अच्छा और बुरा करने की स्वतंत्रता न हो तो पश्चाताप करने का क्या औचित्य है? किन्तु जहां सब कुछ पहले से निर्धारित हो तो वहां पश्चाताप करने से रोका भी नहीं जा सकता। जब तक हम मनुष्य की स्वतंत्रता स्वीकार नहीं करेंगे, तब तक हम उसे किसी कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते। अनेकान्त दृष्टि हमें इस वास्तविकता पर पहुंचा देती है कि इस विश्व में नियत वही है जो शाश्वत है। जो अशाश्वत है, वह नियत नहीं हो सकता। अस्तित्व शाश्वत है। कोई भी पुरुषार्थ उसे अनास्तित्व में नहीं बदल सकता। जो यौगिक है, वह अशाश्वत है, वह पूर्व-निर्धारित नहीं हो सकता। उसे बदलने में ही स्वतंत्रता और पुरुषार्थ की अर्थवत्ता है। पुरुषार्थ के द्वारा भाग्य को बदला जा सकता है, संसार को अच्छा या बुरा किया जा सकता है। यह पुरुषार्थ की सीमा का कार्य है। ऐसा करने में नियति उसका साथ देती है। अस्तित्व को बनाया-बिगाड़ा नहीं जा सकता। वह पुरुषार्थ की सीमा से परे है। नियति और पुरुषार्थ की इस सीमा का बोध होने पर उन दोनों में विरोध का अनुभव नहीं होता, सापेक्षतापूर्ण सामंजस्य का ही अनुभव होता है।

क्रिया चेतन और अचेतन—दोनों का मौलिक गुण है। अचेतन की क्रिया स्वाभाविक या पर-प्रेरित होती है। चेतन में स्वाभाविक क्रिया के साथ-साथ स्वतंत्र क्रिया भी होती है। यंत्र की गति निर्धारित मार्ग पर होती है। उसमें इच्छा और संकल्प की शक्ति नहीं होती, इसलिए उसकी गति स्वतंत्र नहीं होती।

मनुष्य चेतन है। उसमें इच्छा, संकल्प और विचार की शक्ति है, इसलिए वह स्वतंत्र क्रिया करता है। डंस स्काट्स ने भी इसी आधार पर मनुष्य की स्वतंत्रता का प्रतिपादन किया है। उन्होंने लिखा है—'हमारी स्वतंत्रता हमारे संकल्पों के कारण है। व्यक्ति धर्म के मार्ग को जानते हुए भी अधर्म के पथ पर चल सकता है, यही उसकी स्वतंत्रता है।'

23.4.4 जागतिक नियमों के सन्दर्भ में नियतिवाद

आगम-साहित्य में एक ही स्थान पर इन पांचों के विषय में एक साथ निरूपण शायद उपलब्ध नहीं है, फिर भी भिन्न-भिन्न स्थलों में इनके विषय में निरूपण किया गया है। अनादि पारिणामिक भाव 'स्वभाव' की सत्ता का बोध कराता है। काल के प्रभाव से होने वाले परिणमनों के विषय में अनेक स्थलों पर चर्चा उपलब्ध है। उदाहरणार्थ—अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी काल-चक्र एवं उनके विभिन्न अंशों में पौद्गलिक एवं जैविक परिणमनों को लिया जा सकता है। अनादिकालीन अव्यवहार-राशि से किसी जीव का बाहर निःसरण काललब्धि का परिणमन माना जाता है। कालवादी तो ऐकान्तिक रूप में काल को ही सब कुछ स्वीकार करता है। पर कम से कम काल के सापेक्ष प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया गया।

कर्म और पुरुषार्थ के प्रभावों का अति-विस्तृत विवेचन अनेक स्थानों पर है। सामान्य स्थिति में कर्म के (विपाक) उदय के परिणामस्वरूप होने वाले समस्त परिणमन कर्म की शक्ति को स्पष्ट रूप से प्रगट करते हैं। कर्म की उदीरणा, अपवर्तना, उदवर्तना, उपशम, संक्रमण आदि कारणों द्वारा कर्म की अवस्था में आनीत परिणमन पुरुषार्थ की सत्ता के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

"नियति" के विषय में सामान्य रूप से यही धारणा है कि जो भवितव्य है, होनहार है, वही नियति है। यदि सब कुछ नियति से नियत है, फिर तो पुरुषार्थ का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। पुरुषार्थ भी यदि नियति के द्वारा ही नियंत्रित है, तो वह पुरुषार्थ पुरुषार्थ कैसे कहा जा सकता है? आचार्यश्री महाप्रज्ञ नियति को नियमवाद बताते हैं। उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—"सत्य की खोज का अर्थ है नियमों की

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

खोज। नियमों की खोज ही सत्य की खोज है। वैज्ञानिक पहले नियम को खोजता है, फिर नियम की खोज के आधार पर कार्य करता है। धर्म के क्षेत्र में कहा गया—नियमों की खोज करो। जैनदर्शन ने नियमों को खोजा है और नियमों का काफी विस्तार किया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार दृष्टियां जैनदर्शन में ही उपलब्ध हैं, अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं है। उत्तरकाल में जैनाचार्यों ने इनका विकास किया। चार आदेशों के स्थान पर पांच समवायों का विकास हुआ है—स्वभाव, काल, नियति, पुरुषार्थ, भाग्य या कर्म। ये पांच समवाय चार दृष्टियों का विकास है। इन पंच समवायों को समाहित किया जाये तो ये सारे चार दृष्टियों में समाहित हो जाते हैं। अगर विभक्त किया जाए तो ये पांच उत्तरवर्त्ती दृष्टियां और चार पूर्ववर्त्ती दृष्टियां—नौ नियम प्रस्तुत होते हैं। इन दृष्टियों के द्वारा समीक्षा करके ही किसी सचाई का पता लगाया जा सकता है, किसी घटना की समीक्षा या व्याख्या की जा सकती है। इनके बिना एकांगी दृष्टिकोण से वास्तविकता का पता नहीं चलता, मिथ्या धारणाएं पनप जाती हैं।" इससे स्पष्ट रूप से फलित होता है कि नियति—नियमवाद—सार्वभौम जागतिक नियमों की शक्ति है। इन नियमों की खोज ही विज्ञान का मूल उद्देश्य है। दर्शन भी प्रसंगानुसार इन नियमों का विश्लेषण प्रस्तुत करता रहता है।

23.4.5 कर्मवाद के सन्दर्भ में नियतिवाद

कर्मवाद के सन्दर्भ में नियतिवाद की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—जो नियत-निकाचित है, वह नियति है, जो निकाचित नहीं है, उन दलिक रूप कर्मों में परिवर्तन किया जा सकता है क्योंकि वे अनियत हैं। "अनियत" का अस्तित्व जैसे कर्म के सन्दर्भ में है, वैसे ही उनके पौद्‌गलिक परिणमन तथा जैविक परिणमन में भी परिलक्षित होता है। उदाहरणार्थ—परमाणु की गति को अनियत कहा गया है। **भगवती** में "परमाणु" की गति के नियमों का विधान करते समय बताया गया है कि कहां तक उसकी गति नियत है और किन परिस्थितियों में अनियत। इसी प्रकार जो परिणमन नियत नहीं है, अनियत है, उनको नियमवाद के द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

23.4.6 नियति की वैज्ञानिक व्याख्या

आधुनिक विज्ञान में क्वांटम सिद्धान्त, अनियतता का नियम (Uncertainty Principle) आदि के द्वारा सूक्ष्म कणों—इलेक्ट्रान आदि की अनियत गति को स्वीकार किया गया है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार किसी एक कण-विशेष की सम्पूर्ण व्याख्या नहीं की जा सकती, केवल एक समूह के संभाव्य परिणमनों को नियमों द्वारा बताया जा सकता है। यह अनिर्णय ज्ञाता की अशक्ति/सामर्थ्याभाव के कारण नहीं, अपितु वस्तुनिष्ठ रूप में सूक्ष्म कण-विशेष के अनियत परिणमन के कारण होता है। डेविड बोम (David Bohm) ने इन्हीं आधारों पर इलेक्ट्रोन आदि कणों की चैतन्य समकक्षता को प्रतिपादित किया है। जैसे स्वतंत्र निर्णय करने की क्षमता चैतन्यशील प्राणी में है, वैसे ही यह अधिकार जड़ भौतिक कणों को भी अंशतः प्राप्त है, क्योंकि उनके सारे परिणमन नियत नहीं हैं। "कार्यकारणवाद" की भी सीमा है, इसे विज्ञान ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। "अनियत परिणमन" के अस्तित्व को स्वीकार कर जैनदर्शन ने नियति की इयत्ता को स्वीकार किया है। विज्ञान ने भी इसको स्वीकार कर determinism को तिलांजलि दी है।

23.4.7 सर्वज्ञता और नियति का सामञ्जस्य

इस सन्दर्भ में प्रो. मुनि महेन्द्र कुमार ने सर्वज्ञता की एक नई व्याख्या प्रस्तुत की है—"जब हम सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात तीन काल के सर्व द्रव्य, सर्व पर्याय की मीमांसा करते हैं तो स्पष्ट होता है कि भविष्य की जो पर्याय अनियत है—अर्थात् उनका नियमन किसी भी नियम के द्वारा प्रतिबद्ध नहीं है—उन्हें सर्वज्ञ "अनियत पर्याय" के रूप में ही देखें तो, ऐसा स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। "अनियत" को "नियत" रूप में सर्वज्ञ कैसे देखेंगे? यह बात जब स्पष्ट हो जाती है, तो उसके द्वारा ही इस बात का भी स्पष्टीकरण हो जाता है कि जो पर्याय अभी नियत नहीं है, उनमें "पुरुषार्थ" की शक्ति को कार्य करने का पर्याप्त अवकाश है। अनन्त अनागत काल में अनन्त जीवों एवं अनन्त परमाणुओं द्वारा जो-जो नियमबद्ध परिणमन होने वाले हैं, वे उसी रूप में सर्वज्ञ द्वारा ज्ञात हो जाते हैं, पर जो अनियत हैं, उन्हें तो केवल "अनियत" हैं इस रूप में ही ज्ञात किया जाएगा। "अनियत" परिणमनों में जीव एवं परमाणु या स्कन्ध अपने कर्त्तृत्व या पुरुषार्थ का प्रयोग करने में स्वतंत्र है। इस स्वतंत्रता को स्वीकार कर जैनदर्शन ने कर्म-सिद्धान्त के साथ आत्मा के पुरुषार्थ तथा पुद्‌गल के स्वतंत्र अनियत परिणमन को मान्य किया है।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

"वैज्ञानिकों में जहां श्रोंडिजर आदि इसी अनियत परिणमन को स्वीकार करते हैं, वहां आइन्स्टीन आदि को आशा है कि भविष्य में हम सब नियमों को ज्ञात कर लेंगे जिससे "अनियतता" समाप्त हो सकती है। पर जैसे डेविड बोम (David Bohm) ने स्पष्ट किया है—इलेक्ट्रोन आदि कणों की इस अनियतता को सूक्ष्म जगत् के स्वरूप को समझने पर आसानी से समझा जा सकता है। उनके अनुसार डी ब्रोगली ने सर्वप्रथम कण की इस अनियतता को प्रस्तावित किया था, पर उस समय अन्य वैज्ञानिक इसके पक्ष में नहीं थे। "कोपनहेगन इंटरप्रिटेशन" के अन्तर्गत जिन वैज्ञानिकों ने क्वात्म निकेनिक्स की नियतिवादी व्याख्या करने का प्रयास किया था, वे उनके सूक्ष्म जगत् के स्वरूप को दृष्टि में न रखने के कारण हुआ था।"

बोम ने अपने नए सिद्धान्त में implicate order, super-implicate order आदि की नई अवधारणाएं दी हैं, जिनकी तुलना हम अर्थ-पर्याय के सूक्ष्म जगत् के स्वतंत्र क्रिया-परिणाम के साथ कर सकते हैं। बोम "चेतना" के मूलभूत अस्तित्व को जड़-जगत् की सूक्ष्मतम अवस्था से सूक्ष्म स्तर पर स्वीकार करने के लिए भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन लाने का प्रयत्न कर रहे हैं। उनके मतानुसार गणित के द्वारा हम इन्द्रिय-जगत् का लंघन कर (transcend) अतीन्द्रिय परिप्रेक्ष्य में सूक्ष्म परिणमनों की व्याख्या कर सकते हैं। जब तक त्रि-आयामी भौतिक जगत् एवं व्यवहार काल के शिकंजे में हमारी बुद्धि फंसी हुई रहेगी, हम सूक्ष्म जगत् के परिणमनों को conceive भी नहीं कर सकते। उसके लिए गणित की सहायता अन्यत्र अपेक्षित है। उससे भी आगे यदि बौद्धिक धारणाओं से परे जाने की हमारी चेतना की क्षमता को हम जगाएं जो ध्यानावस्था में ही संभव है—तो Silence और emptiness की स्थिति में पहुंचने पर सूक्ष्म जगत् का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसे फिर गणित के माध्यम से अभिव्यक्ति दी जा सकती है। गणित के समीकरणों की व्याख्या करने में हमें पुनः भाषा और बुद्धि का सहारा लेना पड़ेगा, पर उसमें भी हमें सदैव "अपेक्षा" को सामने रख कर भाषा का प्रयोग करना होगा।

23.5 सारांश–अस्तु "नियतिवाद" की भ्रांत धारणाओं के साथ जैन कर्म-सिद्धान्त को जोड़ने का जो प्रयत्न हुआ है, उसे भी हम इन्हीं सन्दर्भों में देखें, यही अपेक्षा है।

23.6 प्रश्नावली

1. निबन्धात्मक प्रश्न

1. जैनदर्शन ने कितने समवायों को माना है? इन सबका समन्वय ही सम्यग्दर्शन है—इसे अनेकान्तवाद के परिप्रेक्ष्य में स्पष्ट करें।

2. लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. कालवाद का स्वरूप विवेचन करें।
2. स्वभाववाद और यदृच्छावाद में क्या अन्तर है?

3. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इस दृष्टि का कोई न कोई कारण है, इसका उल्लेख .... नामक ग्रंथ में सर्वप्रथम मिलता है।
2. दार्शनिक युग में नैयायिकों और वैशेषिकों ने ..... को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया।
3. स्वभाव .... और काल के प्रभाव से परे होता है।
4. शास्त्रवार्ता समुच्चय में ..... का निराकरण देखा जा सकता है।
5. ...... के अनुसार नियति ही सब कुछ करती है।
6. सद्दालपुत्र ...... में विश्वास करने वाला था।
7. नियति को अहेतुक माने तो उसके ..... की अनुपपत्ति हो जाएगी।
8. ...... के अनुसार—जैसा पूर्वकृत कर्म होता है, उसी के अनुसार व्यक्ति की बुद्धि बन जाती है।
9. ..... का एक अन्य रूप है—ईश्वरवाद।
10. ...... में ईश्वर की सिद्धि के सन्दर्भ में ग्रंथकार उदयनाचार्य ने अनेक युक्तियां दी हैं।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

इकाई–24 : गुणस्थान

संरचना

24.0 प्रस्तावना
24.1 उद्देश्य
24.2 चौदह क्रमिक अवस्थाओं में वर्गीकरण का आधार
24.3 गुणस्थान के प्रकार
24.4 शैलेशी और कर्मबंध
24.5 सारांश
24.6 अभ्यास प्रश्नावली

24.0 प्रस्तावना

जब आत्मा स्वयं अपने स्वाभाविक आत्मगुणों के विकास के बल पर अपनी घोर अज्ञानपूर्ण अवस्था से निकलकर अपने विकास की उच्चतम अवस्था को प्राप्त करता है तो उसे निकृष्टावस्था से पूर्णावस्था तक पहुंचने के लिए अनेक क्रमिक अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है। विकास की इस क्रमिक अवस्था को गुणस्थान कहते हैं। इनकी संक्षेप में 14 संख्या मानी गई है। ये अवस्थाएं जीव के आध्यात्मिक विकास की परिमापक (सूचक) रेखाएं हैं। आत्मशक्तियों को गुण कहा गया है। उनके स्थानों अर्थात् अभिव्यक्ति की तरतमभावापन्न अवस्थाओं को ही गुणस्थान कहा गया है।

जैन श्वेताम्बर आगम साहित्य में कहीं भी गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। समवायांग में गुणस्थान पर जीवस्थान शब्द आता है। क्योंकि चौदह जीवस्थान कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदि भावों के कारण उत्पन्न होने वाली जीव की अवस्थाएं हैं।

दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित गुणस्थान शब्द का मुख्य आधार संभवतः कार्मग्रन्थिक परम्परा रही है। पञ्चसंग्रह, षट्खण्डागम तथा गोम्मटसार उसी परम्परा के संपोषक हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने भी समयसार में गुणस्थान शब्द का प्रयोग किया है। कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम एवं परिणमन के फलस्वरूप जीव को गति, इन्द्रिय, ज्ञान, दर्शन आदि विविध गुणों की प्राप्ति होती है। जीव के ह्रास-विकास की कहानी वस्तुतः इन्हीं की कहानी है। अतः परिणाम और परिणामी के अभेदोपचार से जीव को गुण भी कहा जा सकता है। फलतः आगमों में प्रयुक्त जीवस्थान शब्द को उत्तरवर्ती साहित्य में गुणस्थान संज्ञा की प्राप्ति होती है।
वाचक उमास्वाति के अनुसार मोक्षमार्ग के तीन अंग हैं—सम्यग् दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। विकास यात्रा का प्रथम पड़ाव है सम्यग् दर्शन और उसका शीर्ष बिन्दु है—चारित्र का पूर्णतः सम्यक् होना—कथनी और करनी में अविसंवाद। दर्शन यदि सम्यग् है तो ज्ञान मिथ्या हो नहीं सकता। इसी प्रकार यथाख्यात चारित्र पूर्ण विशुद्ध चारित्र की प्राप्ति का अनिवार्यतम परिणाम है—कैवल्य (सम्पूर्ण ज्ञान)। इसीलिए आत्मा के क्रमिक विकास की अवधारणा में सम्यक्तव एवं चारित्र को मुख्य स्थान प्राप्त है।

24.1 उद्देश्य– इस अध्ययन से गुणस्थान का सम्यक् ज्ञान हो सकेगा।

24.2 चौदह क्रमिक अवस्थाओं में वर्गीकरण का आधार

गुणस्थान की अवधारणा का मुख्य आधार है—कर्म विशोधि। समवाओं में कहा है—'कम्मविसोहिमग्गणं पडुच्च चउद्दस जीवट्ठाणा पण्णत्ता।' जैनदर्शन के अनुसार कर्मों की मुख्य प्रकृतियां आठ हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र और अन्तराय। मोहकर्म को उसमें राजा कहा जाता है क्योंकि मोह की पकड़ ढीली होते ही अन्य कर्म अकिञ्चित्कर हो जाते हैं। मोहनीय कर्म दर्शन और चारित्र को विकृत करता है। अतः उसके मुख्यतः दो रूप हैं—1. दर्शनमोह—दृष्टि को विकृत करने वाला। 2. चारित्रमोह—चारित्र (आचरण) को विकृत करने वाला। पहले से लेकर चौथे गुणस्थान की अवधारणा का मुख्य आधार है दर्शनमोह। सम्यग् दृष्टि के आविर्भाव का अभिप्राय है आत्मशक्तियों के जागरण का उषाकाल। एक बार सम्यक्त्व की उपलब्धि हो गई इसका अर्थ है आत्मा अब पूर्ण घोरमिथ्यात्व की अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। अब उसे मुक्त होना ही है, समय चाहे जितना लगे।

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

आत्मस्वरूप की उपलब्धि के लिए चारित्री होना आवश्यक है। अन्यथा मुक्ति की कल्पना अधूरी रह जाएगी। चारित्री के अनेक प्रकार हैं—देशविरति, सर्वविरति, अप्रमत्तता आदि। पांचवें गुणस्थान में आरुण होने का अभिप्राय है—विरति—इच्छा नियंत्रण की दिशा में प्रयाण। यहां से आत्मा का चारित्रमोह के साथ युद्ध प्रारंभ हो जाता है। पहले वह संयम की दिशा में आंशिक अभिक्रम प्रारंभ करता है, फिर पूर्ण संयमी बनता है फिर धीरे-धीरे प्रमाद (आध्यात्मिक अनुत्साह) एवं कषाय (क्लेशात्मक रागद्वेष के परिणामों) पर विजय प्राप्त करता है। संयम अप्रमत्तता और निष्कषायता की पूर्ण प्राप्ति का नाम है—यथाख्यात चारित्र—वीतरागता। ग्यारहवां और बारहवां गुणस्थान इसी अवस्था की सूचक परिणतियां हैं। मोहनीय कर्म के ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक क्षय का परिणाम है—त्रिविध घातिकर्मों—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय का क्षय। तेरहवें गुणस्थान में आत्मा घातिकर्मों के शिकंजे से पूर्णतः मुक्त हो जाती है। फलतः केवलज्ञान, केवलदर्शन, निरन्तराय (अनन्तशक्ति) प्राप्त कर अर्हत् बन जाती है। चौदहवां गुणस्थान पारिणामिक भाव-आत्मा की सहज परिणति है क्योंकि वह किसी कर्म के क्षय, क्षयोपशम से उपलब्ध नहीं होता। जब योगी पूर्णतः कृतकाम हो जाता है, संसार से अलविदा लेने से पूर्व वह पूर्णतः निष्प्रकम्प बन जाता है—मन, वाणी और शरीर की सूक्ष्मतम प्रवृत्ति के भी अभाव से जो अवस्था प्राप्त होती है वही अयोगी केवली गुणस्थान है।

मोह और मन, वचन, काय की प्रवृत्ति के कारण जीव के अंतरंग परिणामों में प्रतिक्षण होने वाले उतार-चढ़ाव का नाम गुणस्थान है। परिणाम यद्यपि अनन्त हैं, परन्तु उत्कृष्ट मलिन परिणामों से लेकर उत्कृष्ट विशुद्ध परिणामों तक तथा वीतराग परिणाम से वीतराग परिणाम तक की अनन्तों वृद्धियों के क्रम में वक्तव्य बनाने के लिए उनको 14 श्रेणियों में विभाजित किया गया है। वे 14 गुणस्थान कहलाते हैं। साधक अपने अंतरंग प्रबल पुरुषार्थ द्वारा अपने परिणामों को चढ़ाता है, जिसके कारण कर्मों व संस्कारों का उपशम, क्षय व क्षयोपशम होता हुआ अंत में जाकर संपूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है, वही उसका मोक्ष है।

कर्मशास्त्र की भाषा में आवेग की चार स्थितियां बनती हैं—1. तीव्रतम-अनन्तानुबंधी, 2. तीव्रतर-अप्रत्याख्यानी, 3. मंद प्रत्याख्यानी, 4. मंदतर-संज्वलन।

प्रथम कोटि का आवेग दृढ़तम होता है। उस स्थिति में राग-द्वेष की गांठ इतनी कठोर होती है कि सम्यक्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, सत्य को सत्य के रूप में स्वीकार करने की तैयारी नहीं होती। उसके उदय से भौतिक जीवन इतना मूर्च्छामय, इतना प्रगाढ़ निद्रामय हो जाता है कि व्यक्ति सत्य को देखने का प्रयत्न ही नहीं करता, जागृति के बिन्दु पर पहुंचने का प्रयत्न ही नहीं कर पाता। जीवन में केवल मूर्च्छा व्याप्त रहती है। दृष्टि मूर्च्छित रहती है। यथार्थ हाथ नहीं लगता। निंदियाई आंखों से आदमी ठीक देख नहीं पाता, उसे यथार्थ का बोध नहीं होता क्योंकि वह मत्त होता है, सुप्त होता है। जब तक आवेग की यह अवस्था बनी रहती है, राग-द्वेष की तीव्र ग्रंथि होती है तब तक सत्य का दर्शन नहीं होता। सम्यक् दर्शन उसे प्राप्त नहीं होता। वह मिथ्यादृष्टि होता है। उसका दर्शन मिथ्या होता है। तत्त्व का विपर्यय होता है। जीवन में सारा विपर्यय होता है। इस तीव्र आवेग की ऐसी रासायनिक प्रक्रिया होती है कि वह व्यक्ति के चिन्तन-मनन को विकृत कर देती है, चिन्तन-मनन विपर्यस्त हो जाता है। जब उस आवेग की तीव्रता कम होती है, उसका परिशोधन होता है, उसका तनुभाव होता है, वह क्षीण होता है तब दूसरी अप्रत्याख्यान की अवस्था प्राप्त होती है। जिस व्यक्ति में आवेग की तीसरी अवस्था प्रत्याख्यान का उपशम या क्षय नहीं होता तब तक वह मुनि साधक नहीं बन सकता, फिर चाहे वह कितनी ही बार दीक्षित क्यों न हो जाए। जबतक आवेग की चौथी अवस्था (संज्वलन) का क्षय नहीं होता, तब तक व्यक्ति वीतराग नहीं बन सकता, वह चारित्र की उत्कृष्ट कोटि—यथाख्यात को नहीं पा सकता। अतः आत्मा की क्रमिक विशुद्धि को गुणस्थान कहा गया है।

24.3 गुणस्थान के प्रकार

गुणस्थान के चौदह प्रकार हैं—1. मिथ्यादृष्टि 2. सास्वादन सम्यग्दृष्टि 3. सम्यग् मिथ्यादृष्टि 4. अविरत सम्यग्दृष्टि 5. विरताविरत 6. प्रमत्तसंयम 7. अप्रमत्तसंयत 8. निवृत्तिबादर 9. अनिवृत्तिबादर 10. सूक्ष्मसंपराय 11. उपशान्तमोह 12. क्षीणमोह 13. संयोगी केवली 14. अयोगी केवली।

1. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिथ्यादृष्टि का अर्थ है विपरीत श्रद्धा, गलत दृष्टिकोण। एक व्यक्ति चाहे कितना ही विपरीत दृष्टि वाला हो उसमें अल्पतम मात्रा में ही सही, यथार्थ श्रद्धान एवं विधायक गुणों का विकास होगा ही क्योंकि

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

वे आत्मा के मूल स्वभाव हैं। एक जीव धर्म को अधर्म मान सकता है, अन्य जीवों को अजीव मान सकता है पर कम से कम वह स्वयं को तो जीव ही मानेगा। तीव्रतम क्रोधी स्वभाव वाला व्यक्ति भी कभी न कभी तो क्षमा अवश्य करता ही है। अतः मिथ्यादृष्टि जीव में जो गुणों का विकास है वह उस अल्पतम विकसित श्रेणी का नाम है—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान।

मोहकर्म का उदय मिथ्यादर्शन (मिथ्यात्व) कहलाता है। उसके तीन प्रकार हैं—अभिनिवेश, मतिमोह और संप्लवन। गोष्ठामाहिल, जमालि और श्रावक—ये क्रमशः इनके उदाहरण हैं। मिथ्यादृष्टि प्राणी का गुणस्थान मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहलाता है। मिथ्यादृष्टि के दो प्रकार हैं—1. आभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि—सांख्य, आजीवक, तापस, निह्नव, बोटिक आदि। 2. अनाभिग्रहिक मिथ्यादृष्टि—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और दर्शन के अभिप्राय से शून्य पञ्चेन्द्रिय जीव।

24.3.2 सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोह की प्रकृति पर आत्मा की अल्पकालीन विजय का नाम है—उपशम सम्यक्त्व। उपशम सम्यक्त्व वाला व्यक्ति अन्तर्मुहूर्त्त काल के लिए सम्यक्त्व को विकृत करने वाली सातों प्रकृतियों को दबा लेता है। मनोविज्ञान के अनुसार जिसका दमन होता है वह पुनः उभर आता है। वे दमित प्रकृतियां जब पुनः प्रभावी होती हैं तब व्यक्ति पुनः मिथ्यात्व की ओर अग्रसर होता है। उपशम सम्यक्त्व से मिथ्यात्व की ओर जाने वाले जीव के संक्रमणकाल में सास्वादन सम्यक्त्व होता है। जिसकी जिन प्रवचन में अत्यल्प रुचि है, वह सास्वादन सम्यग्दृष्टि है।

इसका कालमान है—दह आवलिका। यह सम्यक्त्व उस व्यक्ति के समान है, जो वृक्ष से गिर रहा है पर अभी तक भूमि तक नहीं पहुंचा है, अंतरालवर्ती है। इस सम्यक्त्व वाले प्राणी का गुणस्थान सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है।

24.3.3 सम्यग् मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

जीव मिथ्यात्व पुद्गलों को विशुद्ध कर मिथ्यात्व के उदय को सम्यक् मिथ्यात्व के उदय रूप में परिणत करता है, तब वह जिन वचनों पर श्रद्धा और अश्रद्धा करता है—यह सम्यक् मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान है। इसका कालमान है—अंतर्मुहूर्त्त।उसके पश्चात् वह सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्व को प्राप्त करता है।

जिनमें मति दौर्बल्य के कारण एक ही वस्तु अथवा उसके पर्याय में एकान्तरूप से सम्यक् ज्ञान और मिथ्याज्ञान का अभाव है—न एकान्ततः सम्यक् श्रद्धा है और न एकान्ततः विप्रतिपत्ति है, वे सम्यग्-मिथ्यादृष्टि हैं।

सम्यग् मिथ्यादृष्टि निश्चित रूप से भवस्थ पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय होता है। वह पहले मिथ्यादृष्टि होता है, फिर शुभ अध्यवसायों के प्रयोग से उपचित मिथ्यात्व-पुद्गलों को तीन भागों में विभक्त करता है—मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व।

24.3.4 अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

दर्शनमोह तथा अनन्तानुबंधी चतुष्क के क्षय, क्षयोपशम और उपशम के फलस्वरूप जीव क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है पर अप्रत्याख्यान के उदय के कारण उसमें त्याग की क्षमता का विकास नहीं होता। वह अविरत सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान के अधिकारी नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव—चारों गति के जीव हो सकते हैं। इस चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीव महाव्रत या अणुव्रत को स्वीकार नहीं कर सकते।

24.3.5 विरताविरत गुणस्थान

जो जीव इन्द्रिय-विषय और हिंसा से एक सीमा तक विरत होता है उसे विरता-विरत कहा जाता है। षट्खण्डागम में इसे संयतासंयत कहा गया है।

विरताविरत गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य और तिर्यंच पंचेन्द्रिय हैं। ये आंशिक रूप में मूलगुण और उत्तरगुण सम्बन्धी प्रत्याख्यान करते हैं। ये नियमतः संज्ञी पंचेन्द्रिय और पर्याप्त ही होते हैं।

24.3.6 प्रमत्तसंयत गुणस्थान

संकल्प स्वीकार करना और उसका पूर्णतः परिपालन करना दोनों सर्वथा भिन्न अवस्थाएं हैं। एक व्यक्ति हिंसा का पूर्णतः त्याग कर देता है फिर भी अजागरूकता के कारण अथवा रागद्वेषमय चित्त की परिणतियों के कारण वह पूर्ण अहिंसक नहीं रह पाता। समय-समय पर उस संकल्प में स्खलना होती रहती है। इस

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

स्खलना या आध्यात्मिक अनुत्साहपूर्ण अवस्था का नाम है प्रमाद। प्रमत्त के दो प्रकार हैं—कषायप्रमत्त और योगप्रमत्त।

कषायप्रमत्त—जो क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत है, वह कषायप्रमत्त है।

योगप्रमत्त—जिसके मन, वाणी और काया के प्रणिधान दूषित हैं, वह योगप्रमत्त है। वह शब्द, रूप आदि इन्द्रिय विषयों में आसक्त होता है, ईर्या आदि पांच समितियों से असमित होता है। वह उद्‌गम-उत्पाद-एषणा से शुद्ध आहार, उपधि और स्थान के ग्रहण में जागरूक नहीं होता। छठे गुणस्थान का साधु इन दोनों ही दृष्टियों से प्रमत्त हो सकता है अत: वह प्रमत्त संयत कहलाता है।

24.3.7 अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

प्रमत्त के समान अप्रमत्त के दो प्रकार हैं—कषाय-अप्रमत्त और योग-अप्रमत्त।

कषाय-अप्रमत्त—जिसका कषाय क्षीण है, वह कषाय अप्रमत्त है। क्रोध के उदय का निरोध अथवा उदय प्राप्त क्रोध का विफलीकरण—यही उसकी अप्रमत्तता है।

योग-अप्रमत्त—मन, वचन और काया—जो इन तीनों योगों से गुप्त है, वह योग-अप्रमत्त है।

जो अकुशल मन-वचन-काययोग का निरोध (निवर्तन) तथा कुशल मन-वचन-काययोग की उदीरणा (प्रवर्तन) करता है, वह योग-अप्रमत्त है।

जो मन को एकाग्र करता है, वचन और काया को स्थिर करता है, वह योग-अप्रमत्त है।

जो इन्द्रिय विषयों की सावद्य प्रवृत्ति से निवर्तन तथा प्राप्त विषयों में राग-द्वेष का निग्रह करता है, वह योग-अप्रमत्त है।

अप्रमत्त कौन?

जो सतत् उपयोगशील/जागरूक रहते हैं, वे अप्रमत्त हैं। अप्रमत्तसंयत, जिनकल्पिक, परिहार-विशुद्धिक, यथालंदक और प्रतिमाप्रतिपन्न अनगार अप्रमत्त होते हैं।

24.3.8 निवृत्तिबादर गुणस्थान

जब जीव मोहनीय कर्म का क्षय अथवा उपशम करता है तब अप्रमत्तसंयत प्रशस्ततर अध्यवसान स्थानों में वर्तमान होकर मोहनीय कर्म का क्षय करता है। और जब तक हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा के उदय का उच्छेद नहीं होता तब तक वह अनगार अंतर्मुहूर्त्त काल तक निवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है। आठवें गुणस्थान से आत्मा श्रेणी का आरोहण करता है। श्रेणी के दो प्रकार हैं—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी।

श्रेणी का आरोहण कब?

सम्यक्त्व के प्राप्तिकाल में मोहकर्म की जितनी स्थिति अवशिष्ट रहती है, उस स्थिति में से पल्योपम पृथकत्व (दो से नौ पल्योपम) स्थितिखण्ड के क्षय होने पर जीव देशविरति को प्राप्त करता है। संख्यात सागरोपम के क्षीण होने पर सर्वविरति प्राप्त करता है। उसमें से संख्यात सागरोपम क्षीण होने पर उपशम श्रेणी, उसमें से संख्यात सागरोपम क्षीण होने पर क्षपक श्रेणी प्राप्त करता है।

उपशम श्रेणी : मोह-उपशम की प्रक्रिया

मोहकर्म की प्रकृतियों के उपशम का क्रम-अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क-युगपत्
दर्शनत्रिक-युगपत्
नपुंसकवेद
स्त्रीवेद
हास्यषट्‌क
अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान क्रोध-युगपत्
संज्वलन क्रोध
अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान मान-युगपत्
संज्वलन मान
अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान माया-युगपत्
ससंज्वलन माया
अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान लोभ-युगपत्

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

संज्वलन लोभ

विशेष-श्रेणी प्रारम्भ करने वाला यदि नपुंसक हो तो पहले स्त्रीवेद फिर पुरुष वेद और अंत में नपुंसक वेद का उपशमन करता है। यदि श्रेणी प्रारम्भ करने वाली स्त्री हो तो पहले नपुंसक वेद फिर पुरुषवेद और अंत में उपशमन करती है।

उपशम श्रेणी के अधिकारी

उपशम श्रेणी में आरोहण करते समय जीव अप्रमत्त संयत होता है। उपशम श्रेणी से गिरने पर वह पुनः प्रमत्त संयत अथवा अविरत हो जाता है। कुछ आचार्य ऐसा मानते हैं कि अविरत, देशविरत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत—इनमें से कोई भी जीव उपशम श्रेणी पर आरोहण कर सकता है।

कर्मग्रन्थ की मान्यता है—उपशम श्रेणी से गिरने पर वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक चला जाता है।

उपशमश्रेणी और गति

बद्धायुष्क कोई जीव उपशमश्रेणी का आरोहण करता है, वह श्रेणी के मध्यवर्ती गुणस्थानों में अथवा उपशांतमोह की अवस्था में यदि काल करता है तो अनुत्तर विमान में पैदा होता है।

अबद्धायुष्क जीव उपशांतमोह गुणस्थान में अंतर्मुहूर्त्त रहकर कषाय का उदय होने पर नियमतः श्रेणी के प्रतिलोम क्रम से नीचे लौट आता है।

उपशम श्रेणी वाला उस भव में मोक्ष को प्राप्त नहीं होता। वह उत्कृष्टतः अर्धपुद्गलावर्तकाल तक संसार में भ्रमण कर सकता है।

सैद्धान्तिक मत के अनुसार उपशम श्रेणी वाला उसी भव में क्षपकश्रेणी नहीं ले सकता और उसके बिना मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकता।

क्षपकश्रेणी : कर्मक्षय की प्रक्रिया

कर्म प्रकृतियों के क्षय का क्रम इस प्रकार हैं—1. नरकगति नाम 2. नरकानुपूर्वीनाम 3. तिर्यंचगतिनाम 4. तिर्यंचानुपूर्वीनाम 5. एकेन्द्रिय जातिनाम 6. द्वीन्द्रियजातिनाम, 7. त्रीन्द्रिय जातिनाम 8. चतुरीन्द्रिय जातिनाम 9. आतप नाम 10. उद्योतनाम 11. स्थावर नाम 12. सूक्ष्मनाम, 13. साधारण 14. निद्रानिद्रा 15. प्रचलाप्रचला 16. स्त्यानर्द्धि।

अवशिष्ट अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यान कषाय अष्टक
नपुंसक वेद
स्त्री वेद
हास्यषट्क (हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा)
पुरुषवेद
संज्वलन क्रोध
संज्वलन मान
संज्वलन माया
संज्वलन लोभ

जीव छद्मस्थकाल (क्षीणमोह गुणस्थान) के दो समय शेष रहने पर निद्रा आदि प्रकृतियों का क्षय करता है।

प्रथम समय में होने वाली प्रकृतियां—
निद्रा
प्रचला
देवगति नाम
देवानुपूर्वी नाम
वैक्रिय नाम
संहनन (वज्रऋषभनाराच को छोड़कर)
संस्थान नाम
तीर्थंकर नाम
आहारक नाम

दूसरे समय (छद्मस्थ काल के अंतिम समय) में क्षीण होने वाली प्रकृतियां—
ज्ञानावरण पंचक

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

दर्शनावरण चतुष्क
अंतराय पंचक।
इन सब प्रकृतियों के क्षीण होने पर केवलज्ञान प्राप्त होता है।

क्षपक श्रेणी : अकलेवर श्रेणी

सिद्ध अकलेवर होते हैं। उनकी श्रेणी की तरह जो श्रेणी है, जिससे उत्तरोत्तर शुभ परिणामों की प्राप्ति होती है और अंत में सिद्धिपद में आरोहण होता है, उसको अकलेवरश्रेणी/क्षपकश्रेणी कहते हैं।

क्षपकश्रेणी का अधिकारी

अविरत, देशविरत, प्रमत्त संयत और अप्रमत्त संयत में से कोई शुद्ध ध्यानोपगत चित्त वाला जीव क्षपकश्रेणी का आरोहण कर सकता है।

श्रेणी आरोहण : बद्धायु-अबद्धायु

श्रेणी-आरोहण के उपक्रम में जो जीव बद्धायु होता है, वह अनंतानुबंधीचतुष्क और दर्शन-मोहत्रिक—इन सात प्रकृतियों के क्षीण होने पर नियमतः रुक जाता है। अबद्धायु यदि प्रकृतिक्षय के इस क्रम से उपरत न हो तो वह सम्पूर्ण क्षपकश्रेणी को प्राप्त करता है। क्षपकश्रेणी-प्रतिपत्ता बद्धायुष्क जीव अनंतानुबंधी चतुष्क क्षय होने पर यदि मरता है, तब उसके मिथ्यात्व उदय में रहता है, इसलिए वह अनंतानुबंधी चतुष्क का संग्रहण पुनः कर लेता है। अनंतानुबंधी चतुष्क के क्षीण होने पर कोई मरता है, उसका परिणाम शुभ होता है तो वह देवलोक में उत्पन्न होता है। यदि परिणामधारा प्रतिपतित हो जाये तो वह मरकर अपनी मति के अनुसार किसी भी गति में उत्पन्न हो सकता है। दर्शनसप्तक के क्षीण होने पर कोई मरता है तो वह भी देवलोक में उत्पन्न होता है।

24.3.9 अनिवृत्तिबादर गुणस्थान

जब जीव बादर कषायों से निवृत्त होकर आगे प्रशस्ततर अध्यवसाय स्थानों में उपयुक्त होता है और हास्यषट्क का उदय व्युच्छिन्न हो जाने पर जब तक माया के उदय का व्यवच्छेद नहीं होता, तब तक उसमें वर्तमान अनगार अंतर्मुहूर्त्तकाल तक अनिवृत्तिबादर गुणस्थान में होता है।

24.3.10 सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान

सम्पराय का अर्थ है—कषाय। जिसमें सूक्ष्म लोभांश अवशेष रहता है जीव की वह अवस्था सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान है। अथवा सूक्ष्मसांपरायिक कर्मबंध होता है, वह सूक्ष्मसांपरायिक गुणस्थान है। सूक्ष्म का अर्थ है—अल्प। वह अल्प इसलिए कि आयुष्य और मोहनीय को छोड़कर शेष छह कर्म प्रकृतियों का बंध शिथिल, अल्पकालस्थिति वाला, मंद अनुभाव वाला तथा प्रदेशाग्र वाला होता है। इस प्रकार उसमें अल्प सांपरायिक कर्मबंध होता है अथवा इसका अर्थ है—जिसमें सूक्ष्म राग की विद्यमानता होती है, वह सूक्ष्मसम्पराय है। वह असंख्येय समय वाले अंतर्मुहूर्त्त की स्थितिवाला, विशुध्यमान परिणाम वाला अथवा प्रतिपति वाला होता है। उप संख्येय भाग के चरम खण्ड के असंख्येय खण्ड करता है। उन असंख्येय खण्डों को एक-एक समय में क्षीण करता है। जब तक लोभ का एक अंश रहता है, तब तक सूक्ष्म-सम्पराय गुणस्थान होता है।

24.3.11 पशान्तमोह गुणस्थान

उपशांतमोह गुणस्थान में जीव मोहकर्म की अट्ठावीस प्रकृतियों का सर्वथा उपशम करता है, किञ्चित मात्र भी वेदन नहीं करता। उपशमश्रेणी में आरोहण करने वाले जीव का निश्चित ही देश प्रतिपात अथवा सर्वप्रतिपात होता है।

24.3.12 ीणमोह गुणस्थान

क्षीणमोह गुणस्थान में जीव सम्पूर्ण मोहकर्म को नष्ट कर देता है। वह अपने विशुध्यमान परिणाम से नियमतः अंतर्मुहूर्त्त के बाद केवलज्ञान प्राप्त करता है।

24.3.13 योगी केवली गुणस्थान

सयोगी केवली के तीनों योग होते हैं। धर्मकथा करने, शिष्यों पर अनुशासन करने तथा प्रश्न आदि का व्याकरण करने के लिए वाक्योग होता है। खड़े होने, बैठने, सोने, उठने, पार्श्व परिवर्तन करने तथा विहार आदि करने के निमित्त काययोग होता है। मनोयोग की उनमें भजना होती है—उनका मनोयोग दूसरों के लिए प्रवर्तित होता है। जब अनुत्तरोपपातिक देव तथा अन्य देव या मनुष्य अपने मन से उन केवलियों को कोई प्रश्न पूछते हैं

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

तब वे केवली उनके संशय को मिटाने के लिए, प्रश्नों का समाधान देने के लिए मनःप्रायोग्य पुद्गलों को ग्रहण कर, मन को मन रूप में परिणत करते हैं और मन से ही उन प्रश्नों का उत्तर देते हैं। अनुत्तरोपपातिक आदि देव के मन को जान लेते हैं, तब उनका संशय व्युच्छिन्न हो जाता है। यही केवली के मन का प्रयोजन है, अन्यथा उनका मन से क्या प्रयोजन? इसलिए उनके मनोयोग का निषेध सकारण किया गया है।

24.3.14 योगी केवली गुणस्थान

मन, वचन, काया—इन तीनों योगों का निरोध होते ही अयोगी—शैलेशी अवस्था प्राप्त हो जाता है, उसे अयोगी केवली गुणस्थान कहा जाता है। पांच ह्स्व अक्षरों—क, ख, ग, घ और ङ का उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतने समय तक अयोगी अवस्था रहती है। उसके पश्चात् अयोगी केवली सब कर्मों से मुक्त हो सिद्ध हो जाता है।

24.4 शैलेशी और कर्मबंध

पहले, दूसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें गुणस्थान में आयुबंधकाल में आठ कर्मों का बंध होता है। आयुबंध से व्यतिरिक्त काल में आयुवर्जित सात कर्मों का बंध होता है। तीसरे, आठवें, और नवें गुणस्थान में भी इन सात कर्मों का बंध होता है। दसवें गुणस्थान में छह कर्मों (आयुमोह वर्जित) का बंध होता है। ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थान में केवल सातवेदनीय का बंध होता है। चौदहवें गुणस्थानवर्ती जीवों और सिद्धों के कर्मबंध नहीं होता क्योंकि वहां योग नहीं है।

कर्मबंध	**गुणस्थान**
आठकर्म	1, 2, 4, 5, 6, 7
सातकर्म (आयुवर्जित)	1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, 8, 9
छहकर्म (मोह और आयुवर्जित)	10वां
एक कर्म (सात वेदनीय)	11, 12, 13
अबंध	14वां सिद्ध।

24.5 सारांश

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि चौदह जीवस्थानों में चतुर्थ से क्रमिक ऊर्ध्वारोहण होता है। द्वितीय में अपक्रमण होता है। प्रथम और तृतीय अध्यात्म-विकास के न्यूनतम स्थान हैं। योगविद् जैन आचार्यों ने चौथे से बारहवें जीवस्थान की तुलना संप्रज्ञातयोग और तेरहवें-चौदहवें जीवस्थान की तुलना असंप्रज्ञातयोग से की है।

24.6 अभ्यास प्रश्नावली

निबन्धात्मक प्रश्न

1. गुणस्थान के बारे में एक सारगर्भित निबंध लिखें।

लघूत्तरात्मक प्रश्न

1. चौदह क्रमिक अवस्थाओं में वर्गीकरण का आधार क्या है?
2. शैलेशी अवस्था में कर्मक्षय की प्रक्रिया क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. पांचवें गुणस्थान में आरुढ़ होने का अभिप्राय है .... की दिशा में प्रयाण।
2. वाचक उमास्वाति के अनुसार मोक्षमार्ग के कितने अंग हैं?
3. समवाओ में गुणस्थान के स्थान पर .... शब्द आता है।
4. दिगम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित गुणस्थान शब्द का मुख्य आधार संभवतः ..... परम्परा रही है।
5. सातवें गुणस्थान का नाम क्या है?
6. दर्शनमोह की प्रकृति पर आत्मा की अल्पकालीन विजय का नाम है .... ।
7. सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का कालमान कितना है?
8. निवृत्तिबादर गुणस्थान ...... गुणस्थान का नाम है।
9. क्षीणमोह गुणस्थान में जीव .... को नष्ट कर देता है।
10. सूक्ष्मसम्पराय गुणस्थान किसे कहते हैं?

☆☆☆

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. जैनयोग, आचार्य महाप्रज्ञ (तृतीय संस्करण 1988) आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन चुरू (राज.)
2. महावीर की साधना का रहस्य, आचार्य महाप्रज्ञ (1985-98) आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन चुरू (राज.)
3. जैन योग का आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ. अर्हद्दास (1981) पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी
4. जैन साधना पद्धति में ध्यानयोग, डॉ. साध्वी प्रियदर्शना (1986) प्रकाशक श्री रत्नजैन पुस्तकालय, आचार्यश्री आनन्द ऋषि जी मार्ग, अहमदनगर
5. जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप (एक समीक्षात्मक अध्ययन), डॉ. सीमारानी जैन (1992) पीयूष भारती (जैन मंदिर के पास) बिजनौर, उत्तर प्रदेश
6. प्राचीन जैन साधना पद्धति, साध्वी राजीमती (1976) प्रकाशक सुराना हाऊस, सी-स्कीम, जयपुर (राज.)
7. Dr. K.K. Dixit, Yogadrastisamuccaya and Yogavimsika, Bhartiya Sanskrit Vidya Mandir, Ahmedabad.
8. जैनयोग और बौद्धयोग का तुलनात्मक अध्ययन, सुधा जैन (1995) (शोध प्रबंध, अप्रकाशित), जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं (राज.)
9. ध्यान शतक तथा ध्यानस्तव, सं. बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, प्रका. वीरसेवा मंदिर, 21, दरियागंज, दिल्ली-6
10. ठाणं, वा.प्र.—आ. तुलसी, संपादक-विवेचक—मुनि नथमल,प्र. जैन विश्व भारती,लाडनूं(राज.),वि.सं. 2033
10. अतीत का अनावरण, आचार्य तुलसी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली
11. संस्कृति के दो प्रवाह, युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्र. जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.),प्रथम संस्करण सित. 1991
12. प्रेक्षाध्यान: सिद्धान्त और प्रयोग, समाकलन—मुनि किशनलाल शुभकरण सुराणा, जैन विश्व भारती प्रकाशन, लाडनूं (राजस्थान)
13. अपना दर्पण: अपना बिम्ब, युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशन—तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.)
14. Preksha Meditation, Edited by Muni Mahendra Kumar, Published Jain Vishva Bharati, Ladnun (Raj.), Second Edition, January, 1994.
15. नया मानव : नया विश्व, आचार्य महाप्रज्ञ (1996) :
16. आगम और आगमेतर स्रोत, मुनि धर्मेश (1996) जैन विश्व भारती, लाडनूं
17. जीवन विज्ञान की रूपरेखा, मुनि धर्मेश (1996) : जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं
18. अमूर्त्त चिन्तन—युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं , तृ. संशोधित, संस्करण 1892
19. सर्वार्थसिद्धि—आचार्य पूज्यपाद, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली-3, तृ. संस्करण, 1985
20. अध्यात्म तरंगिणी—सोमदेवाचार्य, अहिंसा मंदिर प्रकाशन, दिल्ली।
21. उत्तरज्झयणाणि, भाग-2—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती संस्थान, मान्य विश्वविद्यालय, लाडनूं।
22. प्रज्ञापनासूत्र—वृत्ति सहित, श्यामाचार्य, वृत्ति मलयगिरि, आगमोदय समिति, मेसाणा
23. उत्तराध्ययन: एक समीक्षात्मक अध्ययन—वाचना प्रमुख- आचार्य तुलसी, विवेचक एवं संपादक मुनि नथमल (आचार्य महाप्रज्ञ), श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी सभा, कलकत्ता।
24. लेश्या और मनोविज्ञान—मुमुक्षु डॉ. शांता जैन—जैन विश्व भारती, लाडनूं।
25. पातञ्जल योगदर्शनम्—संपा. श्री मत्स्वश्री हरिहरानन्द, प्रकाशन—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
26. पातञ्जलयोग प्रदीप—श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, प्रकाशन—गीता प्रेस, गोरखपुर
27. योगदर्शन (व्यासभाष्य के परिप्रेक्ष्य में), लेखक—सुनृता विद्यालंकार, प्रकाशक—क्लासिकल पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली
28. पातंजल योग प्रदीप—श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, प्रकाशन—मोतीलाल जालान, गीता प्रेस, गोरखपुर
29. षड्दर्शन रहस्य—प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, आचार्य शिवपूजन सहाय मार्ग, पटना
30. अतीन्द्रिय ज्ञान—प्रकाशक: के. जैन पब्लिशर्स, 429, हिरण मगरी, सेक्टर नं. 11, उदयपुर (राज.)
    योगदर्शन—प्रकाशक : उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ
31. भारतीय दर्शन—प्रकाशक : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी, पटना, मद्रास, बंगलौर।

Jain Vishva Bharati Institute, (Deemed University), Ladnun

32. पातञ्जल योगदर्शन, हिन्दी व्याख्याकार—स्वामी श्री ब्रह्मलीनमुनि, प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
33. पातञ्जलयोगदर्शनम्, श्रीमत्स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली
34. पातञ्जलयोगप्रदीप, श्री स्वामी ओमानन्द तीर्थ, प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीता प्रेस गोरखपुर
35. बौद्धधर्म-दर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेव
36. बौद्ध दर्शन मीमांसा—आचार्य बलदेव उपाध्याय
37 जैनदर्शन और संस्कृत—आचार्य महाप्रज्ञ, जै.वि.भा. लाडनूं
38. जैन कर्म-सिद्धान्त का उद्भव और विकास—डॉ. रवीन्द्रनाथ मिश्रा, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस
39. जीव-अजीव—आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्व भारती, लाडनूं
40. जैन कर्म-सिद्धान्त और मनोविज्ञान—डॉ. रतनलाल जैन, बी. जैन पब्लिशर्स, दिल्ली
41. कर्म-सिद्धांत—पं. दलसुखभाई मालवणिया
42. Studies in Jain Philosophy— Dr. N.M. Tatia
43. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—आचार्य श्री महाप्रज्ञ
44. आचार्य महाप्रज्ञ—कर्मवाद, आचार्य महाप्रज्ञ—जीवाजीव
45. आचार्य महाप्रज्ञ—जैन दर्शन और संस्कृति
46. डॉ. सागरमल जैन—जैन बौद्ध और गीता में आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1
47. आचार्य कुन्दकुन्द—समयसार
48. आचार्य महाप्रज्ञ—कर्मवाद
49. आचार्य महाप्रज्ञ—जीवाजीव
50. बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन, भाग-1 —डॉ. सागरमल जैन
51. पं. सुखलालजी द्वारा संपादित—कर्मग्रंथ
52. कर्मवाद, लेखक—आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चूरू
53. लेश्या और आभामण्डल, लेखिका—डॉ. मुमुक्षु शांता जैन, जैन विश्वभारती, लाडनूं
54. जैन कर्म-मीमांसा और मनोविज्ञान, लेखक—डॉ. रतनलाल जैन, बी. जैन पब्लिशर्स, दिल्ली
55.जैन दर्शन और विज्ञान, समाकलन, मुनि महेन्द्र कुमार, प्र. जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान),सन्, 1992.
56. आचारांगभाष्यम्—भाष्यकार—आचार्य महाप्रज्ञ, प्र. जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूं (राजस्थान),दिसम्बर, 1994.
57. जैन परामनोविज्ञान, डॉ. राजेन्द्र मुनि 'रत्नेश', साध्वी डॉ. प्रभाश्री, प्र. अयन प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992.
58. मैं मृत्यु सिखाता हूं, आ. रजनीश, गाइड पाकेट बुक्स, अहमदाबाद
59. कर्मवाद, यु.महाप्रज्ञ, प्र. आदर्श साहित्य संघ, चूरू (राजस्थान), 1985.
60. सन्मतिप्रकरण—आचार्य सिद्धसेन दिवाकर
61. जैन दर्शन : मनन और मीमांसा—आचार्य महाप्रज्ञ
62. जैन दर्शन—पं. महेन्द्र कुमार न्यायाचार्य
63. गणधरवाद की प्रस्तावना—पं. दलसुखभाई मालवणिया
64. श्री भिक्षु आगम विषय कोश, वाचना प्रमुख—गणाधिपति तुलसी, प्रधान संपादक—आचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशन—जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय) लाडनूं (राज.) सितम्बर, 1996
65. समवाओ, वाचना प्रमुख—आचार्य तुलसी, संपादक-विवेचक—युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशक—आगम और साहित्य प्रकाशन, जैन विश्व भारती, लाडनूं (राज.), 1984
66. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, जिनेन्द्र वर्णी, प्रकाशन—भारतीय ज्ञानपीठ, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड़, नई दिल्ली-110 003, द्वितीय संस्करण, 1985
67. श्री पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ, देवेन्द्र मुनि शास्त्री, प्रकाशन—अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, मुम्बई/उदयपुर
68. चित्त और मन, युवाचार्य महाप्रज्ञ, प्रकाशन—तुलसी अध्यात्म नीडम्, जैन विश्व भारती, लाडनूं 341 306 (राज.), द्वितीय संस्करण: मार्च, 1992

Jain Vishva Bharati Institute (Deemed University), Ladnun